

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

३६१२

क्रम संख्या

२

जै

काल न०

स्थान





ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क ११]

पण्डितप्रवर आशाधर विरचित

[स्वोपज्ञ-विवृति-युत]

जिनसहस्रनाम

श्रुतमागरमृारि-विरचित टीका-समन्वित



हिन्दी-भाषानुवाद और विभूत प्रस्तावना सहित



सम्पादक—

पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रथम आवृत्ति
एक सहस्र प्रति

फाल्गुन, वीर ति० सं० २४८०

वि० सं० २०१०

फलयगी १६२४

मूल्य ४ रु०

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तन्मुपुत्र माहृ ज्ञानिप्रसादजीद्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

संस्कृत ग्रंथांक ११

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, आरभेर, हिन्दू, बज्ज, नासिक, आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध आचार्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आदिग्रन्थ और ऐतिहासिक आदि विविध विषयक
श्रेष्ठ आदिग्रन्थों अनुव्यञ्जानपूर्वकें सम्पादन की। इसके अन्तर्गत और अध्यात्मिक
अनुभव आदिकें साथ सम्पादन होगा। जैन-ग्रन्थमाली मूर्तिदेवी
निष्ठाश्रम-संघमें विहित विद्वानोंके सम्पादन-ग्रन्थ की। आकाङ्क्षितकारों
श्रेष्ठ-आदिग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में सम्पादन होगा।

ग्रन्थमाला म.सं. २६

प्रकाशक

डॉ० हीरालाल जैन,

एम० ए०, बी० ए०

अयोध्याप्रसाद शोषणीय,

एम्पी, भारतनाथ ज्ञानपीठ काशी

डॉ० आदिनाथ जेठिनाथ उपाध्याय,

एम० ए०, बी० ए०

दुर्गाकुण्ड रोड बनारस

स्थापनाम्ब
आरम्भ कृत्य १
वीर वि० १९००

सर्वाधिकार सुरक्षित

विक्रम सं० २०००
१० अक्टूबर १९४३



JNANA-PITHA MURTIDEVI JAIN GRANTHAMALA

SANSKRIT GRANTHA No. 11

SVOPAJNA VIVRITI YUTA
JINA SAHASRANAMA

OF

PANDIT ASHADHAR

WITH HINDI TRANSLATION AND INTRODUCTION
WITH THE COMMENTARY OF SRUTA SAGAR SURI



Translated and Edited

BY

PANDIT HIRALAL JAIN.

Siddhant - Shastri, Nyayatirtha

Published by

BIHARATIYA JNANAPITHA, KASHI

First Edition
1000 Copies.

PHALGU'S VIR NIRVANA SAMVAT 2080
VIRRAMA NAM' AT 2010
FEBRUARY 1954.

Price
Rs. 4/

FOUNDED BY

SETH SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE REVEREND MOTHER

SHRI MURTI DEVI

BHARATIYA JNANA-PITHA MURTI DEVI JAIN GRANTHAMALA

SANSKRIT GRANTHA NO. 11

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMA, PURANAS, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN HINDI, SANSKRIT, PRAKRT, KANNADA AND TAMIL WILL BE PUBLISHED IN THEIR BEST FORM AND ALSO WITH THEIR TRANSLATIONS IN WORKEN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BRADJANAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF ACHARYAS SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

General Editors

PUBLISHER

Dr. Hiralal Jain, M. A. D. Litt. AYC DHYA PRASAD GOYALIYA
Dr. A. N. Upadhye, M. A. D. Litt. Secy., BHARATIYA JNANAPITHA,
DURGAKUND ROAD, BANARAS

Printed at the Press of the Bharatiya Jnanapitha, Durgakund Road, Banaras

Founded in
Phalguna Krishna 9.
Vira Sam. 2470

All Rights Reserved

Vikrama Samvat 2000
14th Febr. 1944

समर्पण

१७० अक्षय विहार्ण व० बनस्पामदासजी स्वामीर्ण

श्री
पवित्र
स्मृतियों
संविनय
समर्पित



जिनके चरुओंके अर्थात् बँडकः ही अक्षरोपः ज्ञान
प्राप्त किया और जिन्होंने सदा उन्नत एवं
विशुद्ध भावनाओंसे प्रोत्साहन देकर
ज्ञान-पथोंके मार्ग पर
अग्रसर किया



अर्थात्—
दीनदत्त

विषयानुक्रमणिका

प्राथमिक वक्तव्य	७	ब्रह्मशातक	१०८
सम्पादकीय वक्तव्य	६	बुद्धशातक	११६
आदर्श प्रतियौका परिचय	११	अन्तःकृच्छ्रतक	१३०
प्रस्तावना	१३	भुतसागरी टीका	१४१-२५७
एक हजार आठ नाम ही क्यों	१३	जिनशातक	१४१
सहस्रनामोंकी तुलना	१५	सर्वशशातक	१४६
आशाधर-सहस्रनाम पर एक दृष्टि	१६	यशार्हशातक	१५४
जिनसहस्रनामका माहात्म्य	२१	तीर्थकृच्छ्रतक	१६५
एक पुनर्बक्ति	२१	नाथशातक	१७२
ग्रन्थकारका परिचय	२१	योगशातक	१८१
जन्मभूमि, वंश परिचय और समय	२२	निर्वाणशातक	१८५
ग्रन्थ-रचना	२३	ब्रह्मशातक	२०७
आशाधरके गुह और शिष्यवर्ग	२७	बुद्धशातक	२२१
भुतसागरका परिचय	२८	अन्तःकृच्छ्रतक	२४३
समय-विचार	२८	टीकाकार प्रशस्ति	२५८
ग्रन्थ-रचना	२९	परिशिष्ट	२५९-२८६
भुतसागरी टीकाके विषयमें	२९	दर्शन परिचय	२५९
भुतसागरका पाण्डित्य	३०	जिनसहस्रनाम-अकाराद्यनुक्रमणिका	२६१
भुतसागर पर एक आगेप	३०	स्वोपसृटीकागत पद्यसूची	२७४
भुतसागरी टीका-गत कुछ विशेष बातें	३१	" " गद्यांशसूची	२७४
आशाधरकृत जिनसहस्रनाम मूलपाठ	४२	" " व्याकरणसूत्रानुक्रमणिका	२७४
जिनसेन " "	४६	स्वोपसृतिवृत्तिगत-घातुपाठः	२७५
सकलकीर्ति " "	५०	भुतसागरीटीकागत-सूत्रानुक्रमणिका	२७५
हमचन्द्र " "	५३	" " संस्कृत पद्यानुक्रमणिका	२७८
मूलग्रन्थ स्वोपसृतिवृत्ति और हिन्दी व्याख्या सहित	५७	" " प्राकृत "	२८२
जिनशातक	५७	" " अनंकार्यक पद्य-सूची	२८३
सर्वशशातक	६३	" " सूत्रवाक्यांश-सूची	२८३
यशार्हशातक	७०	भुतसागर विरोचित पद्यानुक्रमणिका	२८४
तीर्थकृच्छ्रतक	७८	भुतसागरी टीकागत पौराणिकनामसूची	२८४
नाथशातक	८४	" " ग्रन्थनामसूची	२८४
योगशातक	९०	" " ग्रन्थकारनामसूची	२८५
निर्वाणशातक	९८	" " दार्शनिकनामसूची	२८५
		ग्रन्थनाम-संकेतसूची	२८६

प्राथमिक वक्तव्य

ज्ञानपीठ भूर्तिदेवी जैन ग्रंथमालाकी संस्कृत शाखाके अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रंथको पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। यह बड़े सन्तोषकी बात है कि यह ग्रंथमाला अखिरत रूपसे अपने कर्तव्य-पालनमें उन्नति कर रही है। इसका परम श्रेय है ज्ञानपीठके संस्थापक धर्मशुचि श्रीमान् सेठ शान्तिप्रसादजी और उनकी साहित्य-प्रिय पत्नी श्रीमती रमारानीजीको, जो ज्ञानपीठके संचालन, और विशेषतः धार्मिक साहित्यके प्रकाशनमें अत्यन्त उदार रहते हैं। प्रकाशन-कार्यको गतिशील बनाये रखनेमें ज्ञानपीठके मंत्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय तथा संस्थाके अन्य कार्य-कर्ताओंकी तत्परता और अभ्यवसाय भी प्रशंसनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक विशेषता रखता है, और वह यह है कि इसका विषय कोई कथानक, दार्शनिक विवेचन व आचारादि सम्बन्धी उपदेश न होकर जिनभगवान्की सहस्रनामात्मक स्तुति है। एक सहस्र नामोके उल्लेख द्वारा भगवान्की वन्दना करनेकी परम्परा प्राचीन-कालसे हिन्दू तथा जैनधर्ममें समान रूपसे प्रचलित रही है। न केवल इतना ही, किन्तु सबसे बड़ी ध्यान देने योग्य बात यह है कि परमात्माके नाम-निर्देशमें वैदिक, बौद्ध और जैनधर्मोंके परस्पर भेद सब विलुप्त होकर उनके बीच एकीकरणकी भावना पाई जाती है। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत आशाधर कृत जिनवहस्रनाममें 'ब्रह्मशतम्' और 'बुद्धशतम्' नामक परिच्छेदोंको देखिये, जहाँ जिन भगवान्के ब्रह्मा, चतुर्मुख, विधाता, कमलासन, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि स्पष्टतः वैदिक परम्पराके ईश्वरमिथानों तथा बुद्ध, दशबल, शाक्य, सुगत, मारजित्, बोधिसत्व आदि बौद्धधर्मके सुविख्यात बुद्धनामोंका भी संग्रह किया गया है। यह कोई चोरी या अज्ञात अनुकरणकी बात नहीं है क्योंकि कवि स्पष्टतः जान-बूझकर और सोच-समझ कर इन अन्य धर्म-विख्यात नामोंको ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा करनेमें उनका अभिप्राय निस्सन्देह यही है कि भक्त जन भगवान्के विषयमें ऐक्यकी भावनाका अनुभव करें। हिन्दू, जिन्हें ब्रह्मा और विधाता कहते हैं, एवं बौद्ध बुद्ध व शाक्य आदि कहते हैं, उन्हीं परमेशोंको जैन, जिन व अरहन्त कहते हैं। हाँ, ईश्वरके सम्बन्धमें जैनियोंकी दार्शनिक मान्यता अन्य धर्मोंसे भिन्न है। अतएव उस विषयमें भ्रान्ति उत्पन्न न हा, इसीलिए संभवतः कविने स्वयं अपनी रचनाकी टीका लिखना भी आवश्यक समझा, जिसमें उन्होंने अपनी प्रतिभाके बलसे उक्त नामोंकी व्युत्पत्ति अपने धर्मकी मान्यतानुसार बिठलाकर बतला दी है। यही तो भारतीय संस्कृतिकी, और विशेषतः जैन-अनेकान्तकी वह दिव्य सर्वतोयुक्ती दृष्टि है, जो भेदमें अभेद और अभेदमें भेदकी स्थापना कर, इतर जनोंके मनमें एक उलझन व विस्मय उत्पन्न कर देती है। यही हमारे प्राचीन ऋषियोंकी वह प्रेरणा है जो आज भी हमसे गान करा रही है—

बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।

भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो ॥

अथवा

ईश्वर अल्लाह तेरे नाम।

सबको सन्मति दे भगवान् ॥

आजकालके सम्प्रदायवादी, प्राचीन आचार्योंकी इस उदार और उदात्त भूमिकाको समझें और अपनावें, इसीमें स्वहित और लोककल्याण है।

इस ग्रंथके सम्पादनमें पं० हीरालालजी शास्त्रीने जो परिश्रम किया है वह ग्रन्थावलोकनसे पाठकोंको स्पष्ट हो जावेगा । अपनी प्रस्तावनामें उन्होंने ग्रन्थके विषय और ग्रन्थकार सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातोंपर पर्याप्त प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है । टीकाके संशोधनमें लूब सावधानी रखी गई है, और अनुवाद भी मार्मिक ढंगसे किया गया है, जिससे शब्द-व्युत्पत्ति जैसी शुष्क चर्चा भी सरस और रोचक हो उठी है और उसके द्वारा अनेक जैन-ग्रन्थताओंका स्पष्टीकरण भी हो गया है । शब्दानुक्रमणिका द्वारा यह ग्रन्थ एक कोश-विशेषका भी काम दे सकेगा । इस परिश्रमके लिए हम सब पंडितजीके कृतज्ञ हैं ।

हमें आशा और भरोसा है कि ग्रन्थमालाके अन्य प्रकाशनोंके समान इस ग्रन्थका भी समुचित सम्मान और उपयोग होगा ।

हीरालाल जैन

आदिनाथ उपाध्ये

[ग्रन्थमाला - सम्पादक]

प्रकाशन-व्यय

८६६।=) कागज़ २२ × २६=२८ पौंड	५५८) सम्पादन पारिश्रमिक
४० रीम १० दिस्ता	
७६८) छपाई ३) प्रति पृष्ठ	१५०) कार्यालय-व्यवस्था प्रूफ-संशोधनादि
५५०) जिल्द बंधाई	२२५) भेंट आलोचना ७५ प्रति
४०) कवर कागज़	७५) पोस्टेज ग्रंथ भेंट भेजनेका
२०) कवर डिजाइन तथा ब्लाक	१७०) विज्ञापन
४०) कवर छपाई	६२५) कमीशन २५ प्रतिशत

कुल लागत ४४९६।=)

१००० प्रति छपी । लागत एक प्रति ४।।)

मूल्य ४ रुपये

सम्पादकीय

आजसे ठीक ३५ वर्ष पूर्व जब मैं स्व० अद्वैत वं० बनरयामदासजी न्यायतीर्थ (महारीनी) के चरण-साक्षिभूमिमें बैठकर अपनी जन्मभूमिस्थ पाठशालामें अध्ययन कर रहा था, तब भुतपंचमीके दिन पंडितजीने हम लोगोंके साथ स्थानीय मन्दिरके शास्त्र-भंडारकी छान-बीन की और एक रद्दी-पत्रोंके बस्तेको संभालते हुए वे सहसा आनन्दोद्वासाके साथ विरमय और दुःख प्रकट करते हुए बोल उठे कि देखो, कितना सुन्दर अपूर्व ग्रन्थ यह रद्दीके बरतोंमें बंधा हुआ है। उन्होंने तभी एक पृथक् वेष्टनमें उस प्रतिको जामा, उस पर अपने हाथसे 'सहस्रनामसटीक' लिखा और हम लोगोंको बताया कि यह पंडित आशाधरजीके सहस्रनामकी सुन्दर टीका है। उनके हाथसे नाम लिखे वेष्टनमें यह प्रति आज भी सुरक्षित है।

पंडितजीकी उक्त बात मेरे हृदयमें अंकित हो गई और अध्ययन-समाप्तिके बाद जबसे मैं ग्रन्थोंके सम्पादनादि कार्योंमें लगा, तभीसे सोच रहा था कि कब वं० आशाधरजीके सटीक सहस्रनामका सम्पादन करूं। मैं इस टीकाको वं० आशाधरजीकी स्वोपशृष्टि ही समझ रहा था ? किन्तु एक बार जब सुप्रसिद्ध साहित्यज्ञ वं० नाथूरामजी प्रेमीके साथ बम्बईमें आशाधरजीके सहस्रनामकी बात चल रही थी, तो मैंने कहा कि उनकी लिखी टीका मेरे गांवके शास्त्र-भंडारमें है। श्री प्रेमीजी बोले, वह स्वोपशृष्टि न होकर भुत-सागरी टीका होगी, जाकर देखना। जब मैं देश आया और उसे देखा तो प्रेमीजीका कदना यथार्थ निकला। तभीसे मैं आशाधरजीकी लिखी सहस्रनाम टीकाकी खोजमें रहने लगा। दो वर्ष पूर्व जब मैं वसुनन्दिआवका-चारके सम्पादनमें व्यस्त था और उसकी प्राचीन प्रतिकी खोजमें ललितपुरके बड़े मन्दिरजीके शास्त्र-भंडारके शास्त्रोंके घेष्टन खोल-खोलकर उनकी छान-बीन कर रहा था, तब अकस्मात् मुझे पंडितजीके सहस्रनामकी वह स्वोपशृष्टि प्राप्त हुई; जो कि आज तक अन्यत्र अप्राप्य थी और जिसे श्री प्रेमीजी आजसे लगभग ४५ वर्ष पूर्वसे खोजनेका प्रयत्न कर रहे थे। मैं हर्षसे फूला न समाया, अधिकारियोंसे आज्ञा लेकर घर ले आया और उसकी प्रतिलिपि कर, उसके सम्पादनका समुचित अवसर देखने लगा।

हर्ष है कि इन दो वर्षोंमें अनेक आपत्तियोंके आने पर भी मैं श्री जिनेन्द्रके स्तवन-स्वरूप इस पवित्र ग्रन्थको उन्हींके प्रसादसे सम्पादित कर सका।

प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन अ ज द् और स प्रतियोंके आधारसे किया गया है। प्रयत्न करने पर भी अन्य भंडारोंकी प्रतियोंको मैं प्राप्त नहीं कर सका। फिर भी अधिक चिन्ताकी कोई बात इसलिए नहीं है कि अ और स ये दोनों ही प्रतियां अत्यन्त शुद्ध थीं और उनको ही आदर्श मानकर उक्त दोनों टीकाओंकी प्रेस-कापी तैयार की गई है।

प्रस्तुत संस्करणमें सबके ऊपर मूल श्लोक, उसके नीचे स्वोपशृष्टि और उसके बाद हिन्दीमें मूल श्लोकका अर्थ शब्दशः देकर उसके नीचे दोनों टीकाओंके आधारसे लिखी व्याख्या दी गई है और यह प्रयत्न किया है कि मूल नामके अर्थको व्यक्त करनेवाला दोनों टीकाओंका अभिप्राय उसमें व्यक्त कर दिया जाय।

प्रस्तावनामें यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि सहस्रनामोंकी प्रथा कबसे वा कैसे चली। प्रस्तुत संस्करणमें वं० आशाधरजीके सहस्रनामके अतिरिक्त आ० जिनसेन, आ० हेमचन्द्र और भट्टारक सकलकीर्तिके जिनसहस्रनामोंका भी संकलन किया है। पाठकगण इन चारों सहस्रनामोंके पाठ करनेके अनन्तर यह जान सकेंगे कि साहित्यके भीतर परस्परमें कितना आदान-प्रदान होता रहा है।

प्रस्तावनामें आशाधर सहस्रनामकी विशेषताको व्यक्त करनेका प्रयास किया गया है, उसमें मैं कितना सफल हो सका हूँ, यह पाठकोंको उतका अध्ययन करने पर शत हो सकेगा। प्रारंभमें भुतसागरी टीकागत कुछ सात्व्य विशेषताओंका भी उल्लेख किया गया है। परिशिष्टमें मूल श्लोकोंकी, सहस्र नामोंकी, टीकामें

उद्धृत व्याकरण-सूत्रोंकी और पद्योंकी अकाराद्यनुक्रमणिका दी गई है। टीकामें उद्धृत पद्य किस ग्रन्थके हैं, यह जहाँतक मेरेसे बन सका, कोष्ठक () में निर्देश कर दिया है और अज्ञात स्थलोंके आगे कोष्ठकको रिक्त छोड़ दिया गया है। पाठक गण्य उन्हें अपने भुक्ताध्ययनके साथ स्थल परिज्ञात होने पर पूरा कर सकते हैं।

मैंने श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीके द्वारा लिखे गये पं० आशाधर और भुक्तसागरसूरि सम्बन्धी दोनों लेखोंका उनकी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकसे लेकर अपनी प्रस्तावनामें भर-पूर उपयोग किया है, अतः मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

पं० आशाधरजीको स्वोपज्ञवृत्ति और भुक्तसागरी टीका ये दोनों ही विद्यार्थियोंके संस्कृत-ज्ञानके लिए बहुत ही उपयोगी हैं। प्रत्येक नामकी निरुक्तिसे उन्हें संस्कृतका परिष्कृत ज्ञान हो सकेगा। जैन परीक्षालयोंको चाहिए कि ये इसे विशारद परीक्षाके पठनक्रममें पाठ्य-पुस्तकके रूपमें स्वीकार करें। इसके प्रारम्भिक तीन शतक विशारद प्रथम खंडमें, मध्यवर्ती तीन शतक विशारद द्वितीय खंडमें और अन्तिम चार शतक विशारद तृतीय खंडमें पढ़ानेके योग्य हैं। इनसे छात्रोंका व्युत्पत्ति-ज्ञान तो बढ़ेगा ही, साथ ही वे जैन सिद्धान्तके उन अनेक महत्वपूर्ण विषयोंसे भी परिचित हो सकेंगे, जिनका कि परिज्ञान उन्हें अनेकों शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी नहीं हो सकता है। मैं तो अपने जैन विद्वानोंसे आग्रह करूंगा कि वे ऐसे व्याकरण, धर्म और न्याय-विषयक व्युत्पत्ति करानेवाले ग्रन्थोंको राजकीय-संस्कृत महाविद्यालय बनारस और हिन्दू विश्वविद्यालय काशीकी मध्यमा परीक्षाके पाठ्यक्रममें स्वीकार करानेका प्रयत्न करें।

प्रस्तुत ग्रन्थके सुन्दर सम्पादनके लिए मैंने यथाशक्ति समुचित प्रयत्न किया है, फिर भी पाठकगण रह गईं त्रुटियोंसे मुझे अवगत करावेंगे, जिसे उनका आगामी संस्करणमें यथास्थान संशोधन किया जा सके।

दर्याब निवास
साहूमल, पो० मझावर (शांसी)
१५।१२।५३

विनम्र—
हीरालाल

आदर्श प्रतियोंका परिचय

अ प्रति—आशाधर-सहस्रनामकी स्वोपसृष्टि सहित यह प्रति ललितपुरके श्री बड़े मन्दिरजीके मंडारकी है। इसका आकार १०२ × ६ इंच है। पत्र-संख्या ५४ है। प्रति पत्र पंक्ति-संख्या ११ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३१-३३ है। वि० सं० १९५४ के आवण शुद्धा १० की लिखी हुई है। किसी प्राचीन प्रति परसे इसकी प्रतिलिपि की गई है। वह संभवतः अतिजीर्ण-शीर्ण रही होगी, अतएव जहाँ पर पत्र टूट जानेसे वह पढ़ी नहीं जा सकी वहाँ लेखकने..... इस प्रकार किन्दुओंको रखकर स्थान छोड़ दिया है। मध्यमें संभवतः उस प्राचीन प्रतिके २-३ पत्र भी गायन रहे हैं, जिससे 'इस प्रतिमें मूल सहस्रनामके श्लोकाङ्क ६३ ते ६८ तककी टीका नहीं लिखी हुई है। प्रस्तुत प्रतिके मध्यमें श्लोकाङ्क १०३ की टीकाके अनन्तर लिखा है—

“मुनिधीविनयचन्द्रेण कर्मज्ञयायं लिखितम्”। तथा अन्तिम पुष्पिकामें लिखा है—“इत्याशाधर-सूरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम्। मुनिधीविनयचन्द्रेण लिखितम् ॥ × × × पंचाचारदि-व्रततोद्योगानयमनियमेत्यादिसमस्तपापदोष प्रायश्चित्तनिः..... समस्तकर्मज्ञयविनाशननिःशुद्धचिद्रूप-प्राप्तिनिमित्तवपधरेण मुनिधिनयचन्द्रेण भावना भाषिता” ॥

इस प्रकार तीन वार मुनिधिनयचन्द्रका नामोल्लेख होनेसे विदित होता है कि ये वही विनयचन्द्र मुनि हैं, जिनका उल्लेख स्वयं पंडितजीने ‘भयवचकोरचन्द्रः’ कह कर किया और जिनकी प्रेरणासे इष्टो-पवेशाकी टीका लिखी है। यदि यह सत्य है, तो निःसन्देह वह प्रति अति प्राचीन और प्रामाणिक रही होगी। ललितपुरके शास्त्र मंडारके जीर्ण-शीर्ण पत्रोंका कई वार अनुसन्धान करने पर भी उस प्राचीन प्रतिके पत्रोंका कुछ भी पता नहीं लग सका। अभी तक आशाधरजीकी स्वोपसृ टीकाकी यही एक मात्र प्रति उपलब्ध हुई है, जो कि अभीकी लिखी होने पर भी बहुत शुद्ध है। इसीके आधार पर स्वोपसृष्टिकी प्रेसकापी तैयारकी गई है।

अ प्रति—यह जयपुरके तेष-पंथी बड़े मन्दिरकी प्रति है। इसका आकार ११ × ६ इंच है। पत्र संख्या ११० है। प्रति पत्र पंक्ति-संख्या १३ है और प्रति पंक्ति-अक्षर-संख्या ४०-४२ है। प्रति लेखन-काल १८५८ है। इस प्रतिमें प्रारंभसे ६वें अध्याय तक सहस्रनामके मूल श्लोक नहीं हैं; किन्तु ७वें अध्यायसे टीकाके साथ मूल श्लोक भी लिखे गये हैं। इसमें प्रायः ‘व’ के स्थान पर ‘ब’ लिखा गया है। प्रति प्रायः अशुद्ध है। कई स्थलोंपर दो दो पंक्तियां छूट गई हैं, फिर भी इससे अनेक स्थलों पर पाठ-संशोधनमें सहायता मिली है। प्रति हमें श्रीमान् पं० कर्त्तूरचन्द्रजी शास्त्री एम. ए. जयपुरकी कृपासे प्राप्त हुई। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

ब प्रति—यह देहलीके पंचायती मन्दिर (खजूर मसजिद) की है। इसका आकार ५॥ × १०॥ इंच है। पत्र संख्या २१३ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या ११ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या २५-२६ है। कागज मोटा बदामी रंगका है। इसकी अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है :—

सं० १८११ वर्षे भाद्रपदमासे कृष्णपक्षे ६ चन्द्रयासरे लिखितं मित्र हरिश्चन्द्रस्य इदं पुस्तकं। लिखा-इतं विषयं लालमनि तत्पुत्र लाला भगवानदासस्य पंडितदयारामस्य पठनार्थं दत्तं। विरोचमये चन्द्रप्रभु चैत्यालये जिनसहस्रनामटीका संपूर्ण ॥ श्रीः ॥

स प्रति—यह मेरी जन्मभूमि साबूरल (झांसी) के जैनमन्दिरकी भुतसगरी टीकाकी प्रति है जो अत्यन्त शुद्ध और प्राचीन है। इसका उद्धार आक्टो ३५ वर्ष पूर्व स्व० पं० घनश्यामदासजीने रहीं पत्रोंके साथ बंधे बलेमेंसे किया था। इसका अन्तिम पत्र न होनेसे प्रति लिखनेका समय तो शत नहीं हो सका, पर

आकार-प्रकार, कागज, स्थाई आदिको देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह क्रमसे क्रम ३०० वर्ष पुरानी तो अवश्य है। इसका आकार ५ × ११ इंच है। पत्र संख्या १४६ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ११ और प्रतिपंक्ति अक्षर संख्या ३८-४० है। प्रति अल्पतः शुद्ध है। सहस्रनामका प्रत्येक नाम लाल रंगसे चिन्हित है, जिससे उसकी व्याख्याका प्रारम्भ सहजमें श्राव्य हो जाता है। प्रतिके सबसे ऊपरी पत्रके ऊपर लिखा हुआ है:—

“म० श्रीधर्मकीर्त्तिपते म० श्रीपद्मकीर्त्तिने पुस्तक आपज्यो” सिरोजनगर वास्तव्य ॥ शुभं भवतु ॥
ब्रह्मभीसुमतिवागरेख प्रेषिता । श्रीसूतनगरत् ॥ श्रीरखु ॥

इस लेखसे विदित होता है कि यह प्रति सूत (गुजरात) से ब्रह्म श्रीसुमतिवागरेने सिरोज (मध्य भारत) नगरवासी भट्टारक श्रीपद्मकीर्त्तिने पास भेजी थी। वहासे यह हमारे ग्राममें कब कैसे आई, इसका कुछ पता नहीं चलता। इतना श्राव्य अवश्य हुआ कि आजसे लगभग १०० वर्ष पूर्वतक हमारे ग्रामके मन्दिरमें सोनागिर-भट्टारककी गद्दी थी, संभव है, वहाके भट्टारकजीके साथ वह यहां आई हो।

स और द इन दोनों प्रतिषोंमें कई बातोंमें समानताएं पाई जाती हैं। एक अन्तिम बातकी समानता तो यह माननेके लिए विवश करती है कि द प्रतिकी प्रतिलिपि स प्रतिके आधारसे ही हुई है। वह समता यह है कि स प्रतिमें भी भुतवागरेकी प्रशस्तिको दूसरे श्लोकके दूसरे चरखका ‘दिवेन्द्रकीर्त्ति’ तकका पाठ स प्रतिमें पाया जाता है और इतना ही द प्रतिमें भी। इसके अतिरिक्त स प्रति सूतसे सिरोज भेजी गई और यह द प्रति भी सिरोजमें ही लिखी गई। इसलिए बहुत संभव यही है कि यतः स प्रतिमें अन्तिम पत्र नहीं होनेसे भुतवागरेकी प्रशस्ति अधूरी थी, अतः उससे प्रतिलिपि की जानेवाली द प्रतिमें भी वह अधूरी ही लिखी गई। दूसरे इससे एक बात और सिद्ध होती है कि जब द प्रति पूरे २०० वर्ष प्राचीन है, तो जिसके आधार पर यह लिखी गई है, वह अवश्य इससे अधिक प्राचीन होगी। साथ ही यह भी पता चलता है कि आजसे २०० वर्ष पूर्व ही स प्रतिका अन्तिम पत्र गायत्र हो चुका था।

द प्रति यद्यपि अपेक्षाकृत अशुद्ध लिखी गयी है, तथापि उससे उन कई स्थलोंपर पाठ-संशोधनमें मुझे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है, जो कि स प्रतिकी प्राचीन लिखावट होनेसे मुझसे ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सके थे।

भुतवागरेकी प्रशस्तिकी पूर्ति श्री० प्रेमीजीकी पुस्तक “जैनसाहित्य और इतिहास” के भुतवागरेके लेखसे की गई है, जिसमें कि उनकी प्रशस्ति सेठ भाषिकचंद्रजी बम्बईके ग्रन्थ-संग्रहकी प्रति जिनसहस्रनाम-टीकासे उद्धृतकी गई है।

स प्रे०—यह सोलापुरके श्री ब० जीवराज गौतमचन्द्रजी दोशीके निजी भंडारकी प्रेस कापी है, जो कि ईडर भंडारकी प्रति परसे कर्पाई गई है इस प्रतिमें भी अनेक स्थलोंपर पाठ छूटे हुए हैं, फिर भी अनेक पाठोंके शुद्ध करनेमें हमें इससे साहाय्य प्राप्त हुआ है। यह प्रेस कापी ३१-१-५१ को लिखकर तैयारकी गई है। इस प्रेस कापीमें टीकाके पूर्व सर्वत्र मूल श्लोक दिये हुए हैं। और अन्तमें भुतवागरी टीकाका प्रमाय श्लो० १०७५ दिया हुआ है। यह प्रेस कापी जीवराज ग्रन्थमालाके संस्थापक श्रीमान् ब० जीवराजजी गौतमचन्द्रजी दोशी सोलापुरकी कृपासे प्राप्त हुई है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

प्रस्तावना

श्री मूलाचारमें स्तव या स्तवनके छह भेद बतलाये गये हैं—नामस्तवन, स्थापनास्तवन, द्रव्यस्तवन, क्षेत्रस्तवन, कालस्तवन और भावस्तवन । नामस्तवनकी व्याख्या टीकाकार वसुनन्दि आचार्यने इस प्रकारकी है :—

‘चतुर्विंशतिलीखंकराणां यथाधार्तुगतैश्छोटोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभिः स्तवनं चतुर्विंशतिनामस्तवः’ ।
(मूलाचार, ७, ४१ टीका)

अर्थात् चौबीस तीर्थकरोंके वास्तविक अर्थवाले एक हजार आठ नामोंसे स्तवन करनेको नामस्तव कहते हैं ।

मूलाचारके ही आधार पर ५० आराधनजीने भी अपने अनन्यधर्माभूतके आठवें अध्यायमें स्तवनके ये ही उपयुक्त छह भेद बताये हैं और नामस्तवका स्वरूप इस प्रकार कहा है :—

अष्टोत्तरसहस्रस्य नामान्त्वर्थमर्हताम् । वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः ॥ ३३ ॥

अर्थात् वृषभादि वीरान्त तीर्थकर परमदेवका एक हजार आठ सार्थक नामोंसे स्तवन करना सो नामस्तवन है ।

जैनवाक्यका परिशीलन करनेसे विदित होता है कि यह एक अनादिकालीन परम्परा चली आती है कि प्रत्येक तीर्थकरके केवल ज्ञान होने पर इन्द्रके आदेशसे कुबेर आकर भगवान्के समवस्त्रण (सभार्मडप) की रचना करता है और देव, मनुष्य तथा पशु-पक्षी आदि तीर्थच तीर्थकर भगवान्का उपदेश सुननेके लिए पहुंचते हैं । उक्त समय उदाके नियमानुसार इन्द्र भी आकर भगवान्की वन्दना करता है और एक हजार आठ नामोंसे उनकी स्तुति करता है । आचार्य जिनसेनेने अपने महापुराणमें इन्द्रके द्वारा भगवान् शृषभ-नाथकी इसी प्रकारसे स्तुति कराई है ।

एक हजार आठ नाम ही क्यों ?

तीर्थकरोंकी अष्टोत्तर सहस्रनामसे ही स्तुति क्यों की जाती है, इस्से कम या अधिक नामोंसे क्यों नहीं की जाती, यह एक जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर देना आसान नहीं है । शास्त्रोंके आलोचन करने पर भी इसका सीधा कोई समुचित उत्तर नहीं मिलता है । फिर भी जो कुछ आधार मिलता है उसके ऊपरसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि तीर्थकरोंके शरीरमें जो १००८ लक्षण और व्यञ्जन होते हैं, जो कि सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शरीरके शुभ चिन्ह या सुलक्षण माने गये हैं, वे ही सम्भवतः एक हजार आठ नामोंसे स्तुति करनेके आधार प्रतीत होते हैं । (देखो आचार्य जिनसेनेके सहस्रनामका प्रथम श्लोक) ।

अन्य मतवाल्गाम्बियोंने भी अपने-अपने इष्टदेवकी स्तुति एक हजार नामोंसे की है और इसके सवाही विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम, गणेशसहस्रनाम अम्बिकासहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम आदि अनेक सहस्रनाम हैं । शिवसहस्रनामकार शिवजीसे प्रश्न करते हैं :—

सव नामान्वनन्ताणि सन्ति यद्यपि शङ्कर । तथापि तानि विष्णानि न ज्ञानन्ते मयाऽपुनः ॥ १६ ॥

प्रियायि सव नामानि सर्वाणि शिव यद्यपि । तथापि कानि रम्याणि तेषु म्रियतमानि वै ॥ १७ ॥

[शिवसहस्रनाम]

अर्थात्—हे शंकर, यद्यपि तुम्हारे नाम अनन्त हैं और वे सभी दिव्य हैं, तथापि मैं उन्हें नहीं जानता हूँ । और यद्यपि वे सभी नाम तुम्हें प्रिय हैं, तथापि उनमेंसे कौन-कौनसे नाम अधिक प्रिय या प्रियतम हैं, सो मुझे बताओ ?

इस प्रश्नके उत्तरमें शिवजी कहते हैं :—

विष्णान्वनन्तनामानि सन्निवृत्तं सध्वर्यं परम् । अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नां प्रियतरं मम ॥३१॥ [शिवसहस्रनाम]

अर्थात्—यद्यपि मेरे अनन्त दिव्य नाम हैं, तथापि मुझे उनमेंसे ये मन्ववर्ती एक हजार आठ नाम अति प्रिय हैं ।

इस भूमिकाके पश्चात् शिवसहस्रनाम प्रारम्भ होता है ।

अत्र जरा विष्णुसहस्रनामकी भूमिका देखिए । युधिष्ठिरने भीष्मसे पूछा—

किमेकं दैवतं लोके किं वाऽप्येकं परायणम् । स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ २ ॥

[विष्णुसहस्रनाम]

अर्थात्—यह कौनसा एक अतिपरायण देव है कि जिसकी स्तुति और अर्चा करते हुए मनुष्य कल्याणको प्राप्त होषे ? इस प्रश्नपर भीष्मने उत्तर दिया :—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् । लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखानि नो भवेत् ॥ ६ ॥

×

×

×

तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते । विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापमयापहम् ॥ १२ ॥

यानि नामानि गौष्णानि विख्यातानि महात्मनः । ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥ १३ ॥

[विष्णुसहस्रनाम]

अर्थात्—अनादि निधन, लोकाध्यक्ष और सर्वलोकके महेश्वर विष्णु हैं, और उनकी स्तुति करनेसे मनुष्य सर्व दुःखोंसे विमुक्त हो जाता है । उस लोक-प्रधान विष्णुके हजार नामोंको मैं कहता हूँ, सो सुनो, जिन्हें कि महर्षियोंने गाया है और जो सार्यक एवं जगत्-विलयात हैं ।

इस भूमिकाके साथ विष्णुसहस्रनाम प्रारम्भ होता है ।

गणेश सहस्रनामकी भूमिका इन सबसे भिन्न है । उसमें कहा गया है कि गणेशजीके पिता स्वयं शंकरभगवान् गणेशजीकी विना पूजा किये ही त्रिपुरासुक्के जीतनेके लिए चले, तो उनके अनेक विघ्न आ उपस्थित हुए । तब शंकरजीने मनोबलसे इसका कारण जाना और गणेशजीसे विघ्न-निवारणका कारण पूछा । तब गणेशजीने प्रसन्न होकर अपने सहस्रनामको ही सर्वविघ्न-निवारक और सर्व अमीष्ट-पूरक बताया । देव एवं पुराणरतिपुरस्त्रयज्योद्यमे । अर्चनाद् गणेशस्य जातो विघ्नान्कुलः किल ॥ २ ॥

मनसा स विनिर्धाय ततस्तद्भिन्नकारणम् । महागणपतिं भक्त्या समम्यर्च्य यथाविधि ॥ ३ ॥

विघ्नप्रहानमोपायमपृच्छद्दपराजितः । संतुष्टः पूजया शम्भोर्मेहागणपतिः स्वयम् ॥ ४ ॥

सर्वविघ्नैकदशं सर्वकामफलप्रदम् । ततस्तस्मै स्वकं नाम्ना सहस्रमिदमवधीत् ॥ ५ ॥ [गणेशसहस्रनाम]

इस उत्थानिकाके पश्चात् गणेशसहस्रनाम प्रारम्भ होता है । इन तीनों ही सहस्रनामोंकी यह विशेषता है कि उन्हें स्वयं शिवजी, विष्णुजी या गणेशजीके मुखसे कहलाया गया है और तीनोंमें ही यह बतलाया गया है कि जो सहस्रनामसे मेरी स्तुति करते हैं और भक्तिये पूजते हैं, उनके सर्व दुःख दूर हो जाते हैं ।

जैन शास्त्रोंमें सर्वप्रथम हमें आचार्य जिनसेन-प्रणीत महापुराणमें ही जिनसहस्रनामके दर्शन होते हैं । उसमें समवसरणस्थित श्रुपभदेवकी स्तुति करता हुआ इन्द्र कहता है कि :—

अलमास्ता गुणस्तोत्रमनन्तास्तावकाः गुणाः । स्वस्वामस्तुतिमामेव परमं शं प्रशामहे ॥ ६८ ॥

प्रसिद्धासहस्रज्ञेयवचस्यं गिरापतिः । नाम्नामसहस्रज्ञेयं त्वां स्तुमोऽभीष्टसिद्धये ॥ ६९ ॥

[महापुराण पर्व २१]

अर्थात्—हे भगवन्, हम आपके गुणोंकी क्या स्तुति कर सकते हैं, क्योंकि आपके गुण अनन्त हैं। हम तो तुम्हारे नामके स्मरण मात्रसे ही परम शान्तिको प्राप्त करते हैं। भगवन्, यतः आप १००८ लक्षण-युक्त हैं, अतः एक हजार अष्ट नामोंसे ही आपकी स्तुति करता हूँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ हमें शिवसहस्रनाम, विष्णुसहस्रनाम, या गणेशसहस्रनाम आदिमेंसे किसीमें भी इस शंकाका समाधान नहीं मिलता है कि उनकी सहस्रनामसे ही स्तुति क्यों की जाती है, वहाँ हमें जिनसेनके सहस्रनाममें उक्त श्लोकके द्वारा इसका सयुक्तिक उत्तर मिल जाता है।

सहस्रनामोंकी तुलना

मूलाचारके उपर्युक्त उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट है कि सहस्रनामकी प्रथा प्राचीन है। पर वर्तमानमें उपलब्ध वाङ्मयके भीतर हमें सर्वप्रथम सहस्रनामोंका पता हिन्दू पुराणोंसे ही लगता है। उपरि लिखित तीनों सहस्रनामोंमेंसे मेरे ख्यालसे विष्णुसहस्रनाम सबसे प्राचीन है; क्योंकि, वह महाभारतके अत्रशालन-पूर्वके अन्तर्गत है।

जैनवाङ्मयमें इस समय चार सहस्रनाम उपलब्ध है, जिनमें जिनसेनका सहस्रनाम ही सबसे प्राचीन है। जिनसेनाचार्य काव्य, अलंकार, धर्मशास्त्र, न्याय आदिके प्रौढ विद्वान् और महाकवि थे, और इसका साक्ष्य स्वयं उनका महापुराण है।

आ० जिनसेनके पश्चात् दूसरे जिनसहस्रनामके रचयिता आ० हेमचन्द्र हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हेमचन्द्र एक महान् आचार्य हो गये हैं और इन्होंने प्रत्येक विषय पर अपनी लेखनी चलाई है। आपको परमती आचार्योंने 'कलिकालसर्वेश' नामसे सम्बोधित किया है। हेमचन्द्रने अपने सहस्रनामका नाम 'अर्हत्सहस्रनाम' रखा है। इस अर्हत्सहस्रनामका मिलान जब हम आ० जिनसेनके सहस्रनामके साथ करते हैं, तो इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता कि कुछ श्लोकों और नामोंके हेर-फेरसे ही अर्हत्सहस्रनामकी रचना की गई है। नवम शतककी रचना अवश्य स्वतंत्र है। शेष शतकोंमें तो प्रायः जिनसेन-सहस्रनामके श्लोक साधारणसे शब्द-परिवर्तनके साथ ज्योंके त्यों रख दिये गये हैं। पाठक प्रस्तुत संस्करणमें दिये गये हेमचन्द्रके सहस्रनामके साथ मिलान कर स्वयं इसका निर्णय कर लेंगे।

उक्त दोनों जिनसहस्रनामोंके पश्चात् पण्डित आशाधरके प्रस्तुत सहस्रनामका नम्बर आता है। आशाधरके सहस्रनामका गंभीरता-पूर्वक अध्ययन करनेसे पता चलता है कि उन्होंने अपने समय तक रचे गये समस्त जैन या जैनेतर सहस्रनामोंका अवगाहन करनेके पश्चात् ही अपने सहस्रनामकी रचना की है। यही कारण है कि उनमें जो त्रुटि या अश्रंगति उन्हें प्रतीत हुई, उसे उन्होंने अपने सहस्रनाममें क्लिप्त कर दिया। यही नहीं, बल्कि अपने सहस्रनाममें कुछ ऐसे तत्त्वोंका समावेश किया, जिससे उसका महत्त्व अपने पूर्ववर्ती समस्त सहस्रनामोंसे कई सहस्रगुणा अधिक हो गया है। पं० आशाधरजीने संभवतः अपनी इस विशेषताको स्वयं ही भली-भाँति अनुभव किया है और यही कारण है कि उसके अन्तमें स्वयं ही उन्हें लिखना पड़ा कि "यही परम मंगल है, लोकोत्तम है, उल्लेख्य शरणा है, परम तीर्थ है, इष्ट साधन है और समस्त वंशेश तथा संश्लेशके क्षयका कारण है।" अन्तमें उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि इस सहस्रनामके अर्थका जाननेवाला तो जिनके समान है। इससे अधिक और क्या महत्त्व बताया जा सकता था।

महात्मा सकलकीर्तिसिने एक संक्षिप्त आदिपुराणकी रचना की है, चौथा जिनसहस्रनाम उसीसे ही उद्धृत किया गया है। यह कविका रखा है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, तथापि यह आशाधर-सहस्रनामसे पीछेका ही है, इतना सुनिश्चित है। यह कई जगह अशुद्ध है, दूसरी प्रति न मिलनेसे सर्वत्र शुद्ध नहीं किया जा सका। इसकी रचनाका आधार आ० जिनसेन और आशाधरका सहस्रनाम है, ऐसा इसके पाठ से ज्ञात होता है।

आशाधर-सहस्रनाम पर एक दृष्टि:—

पं० आशाधरजीके प्रस्तुत जिनसहस्रनामका आद्योपांत गम्भीर एवं वैज्ञान्य करने पर निम्न बातें हृदय पर स्वयमेव अंकित होती है:—

१—आशाधरजीने शिवसहस्रनाम आदिके समान भगवानके सहस्रनामोंको न तो उनके मुखसे ही कहलाया है और न जिनसेनके सहस्रनामके समान उसे इन्द्रके मुखसे ही कहलाया है। किन्तु स्वयं ही संवारके दुःखोंसे संतप्त होकर वे कन्यासागर वीतपग भगवान्के सम्मुख उपस्थित होकर प्रार्थना करते हैं:—

‘हे प्रभो, मैं संवार, देह और भोगोंसे विरक्त एवं दुःखोंसे सन्तप्त होकर आप जैसे कन्या-सागरको पाकर यह विनती करता हूँ कि अनादिकालसे लेकर आज तक मैं सुलकी लालसासे मोहका माया इधर-उधर ठोकरें खाता हुआ माया-मार्यं फिय, मगर कहीं सुलका लेश भी नहीं पाया और सुलका देनेवाला आपका नाम तक भी मैंने इसके पूर्व नहीं सुना। आज मेरे मोहग्रहका आवेश कुछ शिथिल हुआ है और गुब्बनों से आपका नाम सुना है, अतः आपके सामने आकर स्तुति करनेको उद्यत हुआ हूँ। मेरी मक्ति मुझे प्रेरित कर रही है कि रात-दिन आपकी स्तुति करता रहूँ, पर शक्ति उसमें बाधक होकर मुझे इतोंसाह कर रही है; क्योंकि मैं अल्प शक्ति और अल्प शानका धारक हूँ, अतएव केवल अष्टोत्तर सहस्रनामसे स्तुतिकर अपनेको पवित्र करता हूँ। (देखो आशाधर-सहस्रनाम श्लोक १ से ४)

इसके पश्चात् वे दश शतकोंमें सहस्रनामोंके कहनेकी प्रतिज्ञा भी विधिवत् करते हैं और प्रतिज्ञानुसार ही स्तवन प्रारम्भ करते हैं। यतः वे जिन भगवान्का स्तवन करनेके लिए उद्यत हुए हैं, अतः उन्होंने सर्व-प्रथम जिनशतक रचा है और तदनुसार इस शतकमें जिन, जिनेन्द्र, जिनगद् आदि नामोंका उल्लेख समावेश किया है। ‘जिन’ यह पद जिन नामों है, या जिनके आगे प्रयुक्त है, ऐसे लगभग ७० नाम इस शतकमें सञ्चिष्ट हैं। ‘जिन’ पदका अर्थ ‘जीतनेवाला’ होता है। उक्त विविध जिनपद विभूयित नामोंके द्वारा ग्रंथकार मानों जिन भगवानसे कह रहे हैं कि हे भगवन, आपने अपने राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओंको जीत लिया है, अतएव आप निर्विघ्न हैं, नीरज हैं, शुद्ध हैं, निर्मोह हैं, वीतपग हैं, निरुप्य हैं, निर्भय हैं, और निर्विषाद हैं, अतएव अजर, अमर हैं, और निश्चिन्त हैं।

द्वितीय शतकका नाम सर्वेशशतक है; क्योंकि, यह सर्वेश नामसे प्रारम्भ होता है। इस शतकमें प्रयुक्त नामोंके पर्यवेक्षणसे विदित होता है कि मानों स्तोता अपने इष्ट देवतासे कह रहा है कि यतः आप सर्वेश, सर्वदर्शी, अनन्तविक्रमी और अनन्तसुखी हैं, अतः आप परतेजः हैं, परधाम हैं, परव्योति हैं, परमेष्ठी हैं, श्रेष्ठतमा हैं, अनन्त शक्ति हैं। और इसी कारण आप जगत्के दुःख-संतप्त प्राणियोंको शरणके देनेवाले हैं।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार जिनभगवान्की स्तुति करनेके लिए एक क्रमबद्ध शैलीका आश्रय लेते हैं। उनकी दृष्टि सबसे पहले तीर्थंकर भगवान्के पंच कल्याणों पर जाती है और वे उनको आधार बना करके ही भगवान्का स्तवन प्रारम्भ करते हैं।

ग्रन्थकारने पंचकल्याणकोमें इन्द्रादिके द्वारा की जानेवाली महती पूजाको ही यज्ञ माना है और इसी-लिए वे तीर्थंकर शतकको प्रारम्भ करते हुए भगवान्से कहते हैं कि आप ही यज्ञार्थ हैं, अर्थात् पूजनके योग्य हैं, पूज्य हैं, इन्द्र-पूजित हैं, आराध्य हैं। और इसके अनन्तर ही वे कहते हैं कि आप गर्भ, जन्म, तप, शान और निर्वाण, इन पंचकल्याणोंसे पूजित हैं। इसके पश्चात् वे क्रमशः पाँचों कल्याणोंकी खास-खास बातोंको लक्ष्य करके उनके आश्रयसे भगवान्के विभिन्न नामोंकी रचना करते हैं। पाठकाण्य, जय इन नामों पर ध्यान देंगे, तो ज्ञात होगा कि उन नामोंसे भगवान्का स्तवन करते हुए ग्रंथकारने किसी भी कल्याणकी कोई भी बातको छोड़ा नहीं है। पाठकोंकी जानकारीके लिए इस शतकके नामोंका क्रमशः पाँचों कल्याणोंमें वर्गीकरण किया जाता है:—

१. गर्भकल्प्याणक—इस कल्प्याणकके विभिन्न कार्योंके प्रगत करनेके लिए ग्रन्थकारने १ वसुधापरिचितास्पद, २ सुवप्रदर्शी, ३ दिव्यौजा, ४ शचीर्षेवितमातृक, ५ रत्नगर्भ, ६ श्रीपूतगर्भ, ७ गर्भोत्सोचोच्छ्रत, ८ दिव्योपचरोपचित, ९ पद्ममू और १० निष्कल ये दशा नाम कहे हैं । इन नामोंके कहनेके पूर्व एक सबसे बड़ी महत्त्वकी बातको प्रगत करनेके लिए एक ज्ञान और दिव्य है—दम्बिष्ठुद्धिगयोपदम् । इस नामके द्वारा ग्रन्थकारने यह सूचित किया है कि जिस व्यक्तिने पूर्वजन्में इरान्निष्ठुद्ध्यादि जोखड़ कारख भावनाओंको भली-भांति भाकरके तीर्थङ्कर नामकर्मका खंजव किया है, वही व्यक्ति तीर्थङ्कर होनेका अधिकारी है, और वही गर्भकल्प्याणकादिका पात्र है; अन्य नहीं । इसके पश्चात् गर्भकल्प्याणकके समय सर्व प्रथम जो खास अति-साय चमत्कारों काबं होता है, वह है आकाशसे माताके रहस्यगममें रत्न-स्वर्णादिककी वर्षा । तीर्थकारोंके गर्भावतरणके छद्म मास पूर्वसे ही यह अतिशय-पूर्वा कार्य प्रारम्भ हो जाता है, इस बातको प्रगत करनेके लिए ग्रन्थकारने सबसे पहले 'सुवधापरिचितास्पद' नाम दिया है । इस नामकी स्वोपलक्षितमें ग्रन्थकारने जो व्याख्या की है, उससे सर्व-साधास्याका एक शरीर जन्म दूर हो जाता है । अभी तक हम लोग समझे हुए थे कि यह सुवर्ण-रत्न वर्षा सारी नगरीमें होती है । किन्तु इस नामकी व्याख्या बतलाती है कि यह सुवर्ण-रत्न-वृष्टि सारी नगरीमें न होकर जिनमाताके रहनेके भूकानके केवल आंगणमें ही होती है, अन्यत्र नहीं । इसके अनन्तर माताको सुन्दर जोखड़ रूप दिखाई देते हैं, इस बातको व्यक्त करनेके लिए 'सुवप्रदर्शी' नाम दिया गया है । इसी समय शचीकी आशासे भी, ही, आदि छुपन कुमारिका देवियां माताकी सेवा करनेके लिए उपस्थित होती हैं और माताकी सर्व प्रकारसे सेवा करती हैं, यह बात 'शचीर्षेवितमातृकः' नामसे सूचित की गई है । इन कुमारिक-देवियोंके अन्य विविध कार्योंमें से एक सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है माताके गर्भका शोभना । वे देवियां सोचती हैं कि जिस कूलमें तीन लोकाका नाथ जन्म होनेवाला है, यदि उसमें कोई योग रहेगा, तो उत्पन्न होनेवाले बालक पर उसका अत्यन्त अवश्य पड़ेगा । इसलिए भी देवी एक कुशल लेडी-डॉक्टर (ली-चिकिस्सिका) के समान माताके गर्भका शोभन करती हैं और उसे सर्वप्रकारके विकारोंसे रहित कर देती हैं; यह बात 'श्रीपूतगर्भ' नामसे प्रकट की गई है । गर्भगत तीर्थङ्कर भगवान् इस दिव्य या अलौकिक विशेषताके साथ वृद्धिको प्राप्त होते हैं कि माताको कष्टकर जय सा भी अनुभव नहीं होता । यहां तक कि उनके उदरकी त्रिबलीका भंग तक भी नहीं होता । गर्भकी इस अनुभव एवं दिव्य विशेषताको बतलानेके लिए ही ग्रन्थकारने 'दिव्यौजाः' और 'स्वगर्भः' ये दो नाम दिये हैं । देवगण भारी ठाठ-बाटसे गर्भोत्सव मनाते हैं और विविध दिव्य उपचारोंसे माता-पिताकी सेवा करते हुए गर्भकी रक्षा करते हैं, यह बात 'गर्भोत्सोच्छ्रतः' और 'दिव्योपचरोपचितः' इन दोनों नामोंसे व्यक्त की गई है । भगवान् गर्भकालमें माताके उदरमें निज पुण्यजनित अष्टदल-कमल पर विराजमान रहते हुए ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं और रक्त मल-मूत्रादि सर्व अप्रियत्र द्रव्योंसे निर्लसित रहते हैं, यह बात 'पद्ममू और निष्कल' इन दो नामोंसे सूचित की गई है । इसप्रकार हम देखते हैं कि इन दश नामोंके द्वारा गर्भकल्प्याणक-सम्बन्धी सभी बातें प्रगत कर दी गई हैं और कोई भी खास बात कहनेसे नहीं छूटने पाई है ।

२. जन्मकल्प्याणक—उक्त दश नामोंके आगे सत्ताईस नामोंके द्वारा जन्मकल्प्याणककी सारी बातें प्रकट की गई हैं । भगवान्का जन्म माताको बिना किसी कष्टके और बिना किसी धाव आदिकी सहायताके स्वयं ही हो जाता है, यह बात 'स्वजः' नामसे प्रकट की गई है । भगवान्का जन्म होते ही तीनों लोकोंमें आनन्द छा जाता है, यहां तक कि नाकियोंको भी एक ज्ञाके लिए सुख नवीन हो जाता है । इसप्रकार उनका जन्म सर्वको हिलकारक है, यह बात 'सर्वविजन्म' नामसे सूचित की गई है । भगवान्का शरीर जय आदि अपवित्र आकस्त्रसे रहित होता है, जन्मसे ही भगवान्के शरीरमें मल-मूत्रादि नहीं होते, यह बात 'पुण्यांग' नामसे प्रकट की गई है । भगवान्के जन्म लेते ही उनके शरीरकी प्रभासे सौर-रश्मिके रत्नदीपक भी पीके पड़ जाते हैं, यह बात 'भाल्लान्' नामसे व्यक्त की गई है । भगवान्के जन्म लेते ही उनके उदयागत प्रबल पुण्यसे पिताके सर्वशत्रु वैरम्यत्र मूलकर और जिनको अवनत होकर मृत आदि ले-लेकर उनके समीप उपस्थित होते हैं, यह 'उद्भवतदैक' नामसे सूचित किया गया है । भगवान्का जन्म होते ही ऊर्ध्वलोकमें

रहनेवाले कल्पवासी देवोंके घरोंमें घंटा घिना बनाये ही बच्चे लगते हैं, मध्यलोकवासी ज्योतिषी देवोंके घरोंमें सिंहनाद होने लगता है, पाताल लोकवासी भवनवासी देवोंके यहां शंख-ध्वनि होने लगती है और सर्वत्र रहनेवाले व्यन्तरोके आवाजोंमें नगाड़े गरजने लगते हैं, इन्द्रका आसन कंपने लगता है। इसप्रकार शिविव चिन्होंसे तीनों लोकोंमें भगवान्का जन्म स्वयं शत हो जाता है, यह बात 'विरचिष्वातसंभूति' नामके द्वारा व्यक्त की गई है। तदनन्तर चारों प्रकारके देवगण भगवानकी जन्मभूमि पर आते हैं और नगरीकी प्रदक्षिणा देते हैं। इन्द्रायी प्रसूति-ग्रहमें जाकर मायामयी बालक रचकर और उसे माताके पास सुलाकर तथा भगवान्को उठाकर इन्द्रको सौंपती है। इन्द्र भगवान्का रूप देखता हुआ तृप्त नहीं होता है और इसीलिए अपने एक हजार नेत्र बनाकर भगवान्को देखता है। इन सब बातोंको क्रमशः बतलानेके लिए 'विश्वदेवाग-माद्भुतः, शचीस्त्वष्ट्रप्रतिच्छन्दः और सहस्राक्षइष्टुत्सवः' ये तीन नाम दिये गये हैं। तदनन्तर नाचते हुए ऐरावतके ऊपर भगवान्को बैठाकर इन्द्र सुमेरुपर्यंत पर उन्हें ले जाता है। भगवान्को देखकर सर्व इन्द्र उन्हें नमस्कार करते हैं। चारों निकायके देव हर्षके मारे उछलते-कूदते और जय जयकार करते हुए सुमेरु पर जाते हैं। इन सर्व कार्योंको बतलानेके लिए क्रमशः 'दृत्वंदैववतासीनः, सर्वशक्रनमस्कृतः, और हर्षाङ्गुलामरखगः' ये तीन नाम दिये गये हैं। इसके आगे 'चारुशर्मितोत्सवः' यह नाम भगवान् महावीरको लक्ष्यमें रखकर दिया गया है, जिसके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि किसी चारु-सुगल ऋषिको कोई तत्त्व-गत शंका थी, उन्हें सुमेरु पर जाते हुए भगवान्के ऊपर फहरती हुई ध्वजाके दर्शन हो जानेसे उनकी शंकाका समाधान हो गया और इसलिये उन्होंने स्वयं हर्ष मनाया था।

देवगण क्षीरसागरसे जल लाकर १००८ कलशोंसे भगवान्का अभिषेक करते हैं, उस समय एक लाल योजनका सुमेरुपर्यंत भी स्नान करनेकी चौकीके समान प्रतिभासित होता है और क्षीरसागर अपने-आपको धन्य मानकर निजमें तीर्थपूजककी कल्पना करता है। इस बातको बतलानेके लिए 'स्नाननीपीठाधि-ताद्रिराट्' और 'तीर्थशम्भन्यदुर्गाधिः' नाम दिये गये हैं। भगवान्के अभिषिक्त जलमें स्नान कर इंद्रादि-गण अपने-आपको कृतकृत्य मानते हैं। ईशानेन्द्र उस अभिषेकके जलको सर्व और क्षेपण करता है, मानों उसके द्वारा वह त्रैलोक्यको पवित्र करता है। इन दोनों कार्योंको बतलानेके लिए क्रमशः 'स्नानान्मुस्तात-वासवः' और 'गन्धाङ्गुपूतत्रैलोक्यः' ये दो नाम दिये हैं। अभिषेकके अनन्तर इन्द्रायी भगवान्के शरीर-स्थित जलकणोंको पोंछकर और उन्हें वस्त्राभूषण पहना कर अपने ह्थोंको कृतार्थ मानती है। इन्द्र वज्र-सूची हाथमें लेकर भगवान्का कर्ण वेधन संस्कार करता है। पुनः दह खड़े होकर भगवान्का नाम-संस्कार करके उपस्थित देव-समूहको उसकी घोषणा करता है और उसके पश्चात् ही इन्द्र आनन्दसे विभोर होकर नृत्य करता है। इन सब कार्योंको बतलानेके लिए ग्रन्थकारने क्रमशः 'वज्रवृत्तीशुचिभवाः, कृतार्थितराचीदस्तः, शक्रोदधुष्टेष्टनामकः और शक्रारब्धानन्दतृप्त्यः' ये चार नाम दिये हैं। इन्द्र अपने परिवारके साथ सुमेरुसे आकर भगवान्के जन्म-स्थल पर जाता है, इन्द्रायी प्रसूति-ग्रहमें जाकर भगवान् माताको सौंपती है; माता अपने पुत्रके ऐसे वैभव और रूपको देखकर भारी विरिमत होती है। उसी समय इन्द्र जाकर भगवान्के पिताको पुत्र-जन्मके समाचार देता है और ताण्डव नृत्य धारम्भ करता है। कुबेर याचक जनोंको सुंहमांगा दान देता है और सर्व याचकोंके मनोरथोंको पूर्ण करता है। इन सब कार्योंको प्रगट करनेके लिए ग्रन्थकारने क्रमशः 'शचीविस्मापिताम्बिकः, इन्द्रनृत्यन्तपितृकः और रैदमूर्धमनोरथः' ये तीन नाम दिये हैं। इसप्रकार जन्माभिषेकके कार्यको मली-भाति सम्पन्न करके, तथा भगवान्की सेवामें अनेक देवोंको नियुक्त करके इन्द्र स्वर्गलोक चला जाता है और भगवान्के दीक्षा लेनेके समय तक समय-समय पर आकर भगवान्की आराधना इच्छुक होकर उनकी सेवामें सदा तत्पर रहता है। इस बातको व्यक्त करनेके लिए 'आशार्थीन्द्रकृतासेवः' नाम दिया गया है।

३ दीक्षाकल्याणक - जब तीर्थकर भगवान् किसी कारणसे संसार, देह और भोगोंसे विपरिष्कार अनुभव करते हैं, तब लौकान्तिक देव, जिन्हें कि देवोंमें ऋषिके तुल्य होनेसे देवर्षि कहा जाता है—आकर भगवान्के विरक्त होने और शिव प्राप्तिके उद्यमकी प्रशंसा करते हैं, यह बात 'देवर्षीन्द्रशिबोधमः' नामके द्वारा

व्यक्त की गई है। जब लोगोंको पता चलता है कि भगवान् संघारसे विरक्त होकर वनवासके लिए जा रहे हैं, तो साथ जगत् चोभित हो उठता है और एकत्रित होकर उनके पीछे-पीछे दीक्षा-स्थल तक जाता है। सभी राजे-महाराजों और इन्द्रादिक आकर उनकी पूजन करते हैं, इस बातकी सूचना 'दीक्षाक्षयञ्ज्वलगत' और 'ममू' वः स्वः पतीडितः' इन दो नामोंसे दी गई है।

४ ज्ञानकल्याणक—सप्तशतकके प्रभाव और आत्म-साधनाके बलसे जब भगवान्को कैवल्यकी प्राप्ति होती है, तब इन्द्रके आदेशसे कुबेर आस्थान-मण्डप (समवसरण) की रचना करता है, उसे पूरे वैभवके साथ सजाता है और समवसरणकी बारह सभाओंके द्वारों पर दीनजनोंको दान देनेके लिए नौ निधि-योंको स्थापित करता है, इस बातको प्रगट करनेके लिए 'कुबेरनिर्मितास्थानः' और 'श्रीयुक्' ये दो नाम दिये गये हैं। समवसरणमें सती योगिजन आकर भगवान्की अर्चा करते हैं और उनका धर्मोपदेश सुनकर कृतकृत्य होते हैं। इन्द्र भी सपरिवार आकर भगवान्की पूजा करता है, यह बात 'योगीश्वरचितः' नामसे लेकर 'संहृतदेवसंघातः' तकके नामोंसे प्रकट की गई है। समवसरणमें भगवान्के आठ प्रतिहार्य होते हैं, यह बात क्रमशः १ भामण्डली, १ चतुःषष्टिचामरः, ३ देयदुन्दुभिः, ४ वागस्पृष्टासनः (दिव्यध्वनिः) ५ छत्रत्रयपटः, ६ पुष्पवृष्टिमाक, ७ दिव्याशोक और ८ पद्मयान (कमलासन) इन आठ नामोंसे प्रकट की गई है। समवसरणमें देवगण जय-जयकार करते हैं और सदा संगीत-पूर्वक भगवान्का गुण-गान करते रहते हैं, यह बात 'जयध्वजी' और 'संगीताह' नामोंसे सूचित की गई है। समवसरणके चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ होते हैं, और उन्हें देखकर बड़ेसे बड़े अभिमानियोंके मानका भी मर्दन हो जाता है, यह बात 'मानमर्दा' नामसे व्यक्त की गई है। समवसरणमें गणकुटीकी मध्य कटनी पर आठ मंगल द्रव्य विद्यमान रहते हैं, यह बात 'अष्टमंगलः' नामसे सूचित की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस यशशतकमें भगवान्के गर्भसे लेकर कैवल्यप्राप्ति तकके चार कल्याणकोका अच्छी तरह वर्णन किया गया है।

चाथे तीर्थकृच्छ्रतकमें भगवान्के तीर्थ-प्रवचनको आश्रय करके उनके विविध नामोंका निर्देश किया गया है। जिसके द्वारा संघार-सागरसे पार उतरते हैं, ऐसे द्वादशांगवाणी रूप उपदेशको तीर्थ कहते हैं। इस प्रकारके तीर्थके प्रवर्तन करनेसे भगवान्के तीर्थकर, तीर्थकर, तीर्थकृत्, तीर्थस्ट्ट आदि नाम कहे गये हैं। यह तीर्थ-प्रवर्तन भगवान्की सत्य, अमोघ एवं दिव्यवाणीका ही फल है, अतएव दिव्यध्वनिका आलम्बन लेकर विविध अर्थोंके प्रकट करनेवाले पूरे ७५ नाम कहे गये हैं। इन नामों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करनेसे अनेक नई शतव्य बातों पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही दिव्यध्वनिसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेकों शंकाओंका उनसे सहजमें ही समाधान हो जाता है। पाठक-गण, इस शतकका स्वाध्याय करते समय स्वयं ही इसका निर्णय करेंगे। यहां पर उनमेंसे केवल २-३ बातोंका ही दिग्दर्शन करया जाता है:—

१—अव्यक्तब्रह्मणुः—भगवान्के इस नामसे यह ध्वनि निकलती है कि यद्यपि सभी भव्य-अभय जीव समवसरणमें जाते हैं, किन्तु भगवान्का उपदेश केवल भव्य जीवोंको ही सुनाई देता है। (४, ५६)

२—प्राश्निकणुः—इस नामसे ज्ञात होता है कि जब गणधरादि कोई भगवान्से प्रश्न करता है, तभी भगवान् बोलते हैं, अन्यथा नहीं। (४, ६१)

३—नियतकालणुः—इस नामसे प्रकट है कि भगवान् प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रिके मध्य-भाग इन चार नियत कालोंमें ही धर्मोपदेश देते हैं, अन्य कालमें नहीं। (४ ६१)

पांचवां नाद्यशतक है। यतः भगवान् प्राणिमात्रके हितैषी हैं और उन्हें संघारके दुःखोंसे पार उतारना चाहते हैं; अतः वे सर्वके स्वामी भी हैं। इस दृष्टिसे स्वामी-वाचक विविध नामोंकी रचना कर उनके स्वामित्वका गुण-गान इस शतकके पूरे सौ नामोंके द्वारा किया गया है।

छठा योगिशतक है। यतः भगवान् योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप आठों अंगोंके धारक हैं, अतः सत्यार्थ योगी हैं, इस निकटका आश्रय लेकर किसी

महायोगी या सच्चे साधुके जितने भी नामोंकी कल्पना उनके विविध सुयोग्य आलापन करके की जा सकती है, वह ग्रन्थकारने की है और उन सभी नामोंसे भयबन्धन मुक्त-गान्ध किया है। इन नामों पर गहरी दृष्टि डालनेसे साधुके क्या-क्या कर्तव्य होते हैं, उनमें कौन-कौनसे मुखा होना चाहिए, वह अच्छी तरह धिदिह हो जाता है।

केवलज्ञान-सम्बन्धी दश अतिशयोंको चौथे, पाँचवें और छठवें शतकमें 'निर्ममेष' आदि विभिन्न नामोंके द्वारा सूचित कर दिया गया है।

सातवां निर्वाणशतक है। इस शतकमें भरतक्षेत्र-सम्बन्धी भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालीन चौबीस तीर्थंकरोंके नामोंका निर्देश किया गया है, साथ ही भगवान् महावीरके सम्प्रति, वर्धमान, आदि नामोंके साथ कुछ अन्य भी गुण-प्रधान नाम इस शतकमें सम्मिलित किये गये हैं। चूँकि, यह सहस्रनाम-स्तन सामान्य है, किसी व्यक्ति विशेषके नाम पर नहीं रचा गया है, अतः जो भी कर्म-शत्रुओंको जीतकर 'जिन' संज्ञाको धारण करता है, उसीका यह स्तवन है, इस अभिप्रायसे ग्रन्थकारने तीनों काल-सम्बन्धी चौबीसों तीर्थंकरोंके नामोंका संग्रह इस शतकमें किया है।

आठवें ब्रह्मशतकमें 'त्वामेव धीतमसं परवादिनोऽपि नूनं विभो हरि-हरदिविषया प्रपन्नाः' को दृष्टिमें रखकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सूर्य, चन्द्र और अश्विनेके विविध नामोंका संकलन कर और उनके गुणपरक अर्थोंको लेकर जिन भगवान्का स्तवन किया गया है।

नवें बुद्धशतकमें बुद्ध, यौग, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक, चावांक आदिके विविध नामोंको लेकर भगवान्के गुणोंका स्तवन किया गया है।

आठवें और नवें शतकके नामोंको देखते हुए यह कल्पना पड़ेगी कि आशाधरजीके सहस्रनामकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। यद्यपि पाञ्चकेसरी, अक्षयानक आदि पूर्ववर्ती आचार्योंने भी ब्रह्मा, विष्णु आदि नामोंसे जिनन्द्र देवका स्तवन किया है, पर उनके प्रायः सर्व नामोंका इस प्रकार संग्रह करके स्तवन करनेका महान् साहस करना आशाधर जैसे प्रखर चार्मिक एवं प्रखर विद्वान्का ही कार्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके इन नामोंसे प्रभावित एवं विस्मित हुए लोगोंके आग्रहसे ही पण्डितजीने सहस्रनाम पर स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है और उन सब नामोंका अर्थ बखलकर जिन भयबन्धनों संभवित अर्थ व्यक्त कर सकना संदेह दूर कर दिया है। शाब्दिक दृष्टिसे आठवां और दार्शनिक दृष्टिसे नवां शतक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

दशवा अन्तःकृच्छ्रशतक है। इसके भीतर तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें और चौदहवें गुणस्थानमें होने वाले कार्योंका ग्रन्थकारने बड़ी ही परिष्कृत एवं व्यवस्थित शैलीसे निरूपण किया है और अन्तमें मोक्षको गमन करते हुए किंच प्रकाश चौदहवें गुणस्थानके अन्त्य और उपान्त्य समयमें कितनी प्रकृतियोंका क्षय होता है, शरीरसे विमुक्त होने पर आभाका क्या और कैसा स्वरूप रहता है, इत्यादि बातोंका चित्रण करनेवाले बहुत सुन्दर और अर्थपूर्ण नामोंका सर्जन करके ग्रन्थकारने अपने ज्ञान-गौरवको व्यक्त किया है। संक्षेपमें दशवें शतकको निर्याणकल्याणका परिचायक कह सकते हैं।

उपसंहार और समीक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि १० आशाधरजीने अपने इस सहस्रनाममें एक क्रमबद्ध शैलीको अपनाया है और अपने इहदेवकी गर्मसे लेकर निर्वाण प्राप्त करने तककी समस्त घटनाओंको एक व्यवस्थित क्रमसे विभिन्न नामोंके द्वारा व्यक्त किया है।

प्रस्तुत सहस्रनाममें वहाँ पण्डितजीने अपने पूर्ववर्ती समस्त सहस्रनामोंकी विशेषताओंको अपना कर अपने बहुश्रुतत्वका परिचय दिया है, वहाँ पर ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवोंके, बुद्ध, सांख्य, और यौगादि दार्शनिकोंके विभिन्न नामों और सत्सत्त-सम्मत तत्त्वोंका नामात्मके संग्रहकर अपनी सर्व-तत्त्व-समन्वयकारिणी विभक्त बुद्धि, अनुपम प्रतिभा और महान् साहसका भी परिचय किया है। जिससे अत होता है कि वे

स्याद्वाद-विधाके यथार्थ रहस्यके अन्वेषे जाता ये। उनके इस सहस्रनामको देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह सत्यन द्वादशार्थवाणीके आधारभूत नामों अनुयोगिक वेदोंके मन्थनसे समुत्पन्न वीर्य-निष्पन्न है और प्रत्येक व्यक्ति इसे भक्ति-पूर्वक पान करने अजर-अमर हो सकता है।

इदमष्टोत्तरं नामां सहस्रं भक्तितोऽर्थात् । योऽन्वेषतावासाजीतेऽसौ मुक्त्यन्तर्गं भक्तिसंयुते ॥१४०॥

[प्रस्तुत सहस्रनाम]

जिनसहस्रनामका माहात्म्य

पंडित आशाधरजीने जिनसहस्रनामका माहात्म्य बतलाते हुए उसके अन्तमें लिखा है कि यह जिन-सहस्रनामरूप स्तन ही लोकमें उत्तम है, जीधोंको फस शरण देनेवाला है, ऊँछ मंगल है, परम पावन है श्रेष्ठ तीर्थ है, इष्ट-साधक है और सर्वश्रेष्ठ और श्रेष्ठेशका त्त्य करनेवाला है। जो कोई इन नामोंमेंसे एक भी नामका उच्चारण करता है, वह पापोंसे मुक्त हो जाता है। फिर जो सर्वका उच्चारण करेगा, उसका तो कहना ही क्या है, आदि। वारतकमें जिननामकी ऐसी ही महिमा है, जो उसे स्मरण करता है, वह सर्व दुःखोंसे छूट जाता है और अजर-अमर बन जाता है।

श्रुतसागरने नाथशतकके प्रारम्भमें सहस्रनामका महत्त्व बतलाते हुए लिखा है कि—

नामसहस्रज्ञानं तीर्थं कृतमवपकोऽभ्युपायोऽयम् । तीर्थं करनमिच्छते श्रुतसागरसुरभिः प्रविशति ॥

अर्थात्—शास्त्रपारगामी आचार्योंने तीर्थकरोंके सहस्र नामोंके शानको तीर्थकर नामकमेंके उपासन करनेका एक छोटा सा सरल उपाय बताया है।

इससे अधिक सहस्रनामका और क्या माहात्म्य बताया जा सकता है ?

एक पुनरुक्ति

पं० आशाधरजीने जिन भगवानके जो नाम दिये हैं, वे सभी अपुनरुक्त या नवीन हैं। केवल एक 'अमृत' नाम ही इतका अपवाद है, क्योंकि यह दो धार प्रयुक्त हुआ है। पहली धार तीसरे शतकमें ७१ वें नामके रूपमें और दूसरी धार दशवें शतकके ३१ वें नामके रूपमें। मूल और वीणाको देखने पर पता चलता है कि प्रथम धार वह नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त हुआ है और दूसरी धार पुस्तकमेंके रूपमें। संभवतः ग्रन्थकारने इसी विशेषताके कारण यह नाम दो धार कहा है।

ग्रन्थकारके परिचय

प्रस्तुत जिनसहस्रनामके रचयिता पं० आशाधरजी एक बहुत बड़े विद्वान् हो गये हैं। शायद दिगम्बर सम्प्रदायमें उनके बाद उन जैसा बहुभुत, प्रतिभाशाली, प्रौढ़ ग्रन्थकर्ता और जैनधर्मका उद्योतक दूसरा नहीं हुआ। न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र योगशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयों पर उनका पूर्ण अधिकार था। इन सभी विषयों का उनकी अस्सलित लेखनी चली है और अनेक विद्वानोंने चिरकाल तक उनके निकट अभ्यसन किया है।

उनकी प्रतिभा और पांडित्य केवल जैन शास्त्रों तक ही सीमित नहीं था, जैनतर शास्त्रोंमें भी उनकी अबाध गति थी। यही काव्य है कि उनकी रचनाओंमें समग्रतः सभी शास्त्रोंके प्रचुर उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं और इसी कारण वे अष्टांगद्वय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रन्थों पर टीका लिखनेके लिए प्रवृत्त हुए। यदि वे केवल जैनधर्मके ही विद्वान् होते, तो महाकाव्यके अर्थानुसंगी मुक्त बालसरस्वती महाकवि मदन उनके निकट काव्यशास्त्रक अभ्यसन न करते और विन्धवर्मके सन्धिप्रिया-मंथरी कवीरा मित्रहय उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा न करते।

१-यह परिचय श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी मेनी-शिक्षित "जैनसाहित्य और इतिहास" नामक पुस्तकसे सम्भूत उद्धृत किया जाता है।—अमरकोश

पं० आशाधरजीका अध्ययन बहुत विशाल था। उनके प्रश्नोंसे पता चलता है कि उन्होंने अपने समयमें उपलब्ध समस्त जैनवाक्यावलीका गहन अवगाहन किया था। विविध आचार्यों और विद्वानोंके मत-भेदोंका सामंजस्य स्थापित करनेके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है, वह अपूर्व है। वे 'आर्य संदीप्त, न तु विघटयेत' के माननेवाले थे; इसलिए उन्होंने अपना कोई स्वतन्त्र मत तो कहीं प्रतिपादित नहीं किया है; परन्तु तमाम मत-भेदोंको उपरिधत करके उनकी दिशाद चर्चा की है और फिर उनके बीच किस प्रकार एकता स्थापित हो सकती है, यह बतलाया है।

पंडितजी ग्रहस्थ थे, मुनि नहीं। पिछले जीवनमें वे संसारसे विलक अवश्य हो गये थे, परन्तु उसे छोड़ा नहीं था, फिर भी पीछेके ग्रन्थकर्त्ताओंने उन्हें सूरि और आचार्य कल्प कहकर स्मरण किया है, तथा तत्कालीन भट्टारकों और मुनियोंने उनके निकट विद्याध्ययन करनेमें भी कोई संकोच नहीं किया है। इतना ही नहीं, मुनि उदयसेनेने उन्हें 'नर्यावश्वचक्षु' तथा 'कालि-कालिदास' और मदनकीर्ति यातिपतिने 'प्रशापुञ्ज' कहकर अभिनन्दित किया था। वादीन्द्र विशालकीर्तिको उन्होंने न्यायशास्त्र और भट्टारकदेव विनयचन्द्रको धर्मशास्त्र पढ़ाया था। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि वे अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे।

जन्मभूमि, वंश-परिचय और समय

पंडितजी मूलमें मांडलगड (मेवाड़) के रहनेवाले थे। शहाबुद्दीन गोरोंके आक्रमणोंसे बस्त होकर चारित्रकी रक्षाके लिए वि० सं० १२४६ से लगभग वे मालवाकी राजधानी धारामें बहुतेरे लोगोंके साथ आकर बस गये थे। पीछे वे जैनधर्मके प्रचारके लिए धाराको छोड़कर नलकच्छपुर (नालछा) में रहने लगे। उस समय धारानगरी विद्याका केन्द्र बनी हुई थी। वहाँ भोजदेव, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानोंका सम्मान करनेवाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदनको 'पारिजातमञ्जरी' के अनुसार उस समय विशाल धारा नगरीमें चौरासी चौरेह थे और वहाँ नाना दिशाओंसे आये हुए विविध विद्याओंके वेत्ताओं और कला-कोविदोंकी भीड़ लगी रहती थी। वहाँ 'शारदा सदन' नामका दूर-दूर तक ख्याति पाया हुआ विद्यापीठ था। स्वयं आशाधरजीने भी धारामें ही आकर व्याकरण और न्यायशास्त्रका अध्ययन किया था। ऐसी धाराको भी जिसपर हरएक विद्वान्को मोह होना चाहिए, पंडितजीने जैनधर्मके ज्ञानको लुप्त होते हुए देखकर उसके प्रचारके लिए छोड़ दिया और अपना सारा जीवन इसी कार्यमें लगा दिया। वे लगभग पैंतीस वर्षके लम्बे समय तक नालछामें ही रहे और वहाँके नेमि-चैत्यालयमें एक-निष्ठ होकर जैनसाहित्यकी सेवा और ज्ञानकी उपासना करते रहे। उन्होंने अपने प्रायः सभी प्रण्योंकी रचना यहीं की और यहाँ पर ही वे अध्ययन-अध्यापनका कार्य करते रहे। बहुत संभव है कि धाराके 'शारदा-सदन' के समान ही उन्हें 'आदक-संकुल' नालछामें जैनधर्मके प्रचारके लिए कोई विद्यापीठ बनानेकी भावना उत्पन्न हुई हो! क्योंकि, जैनधर्मके उद्धारकी भावना उनमें प्रबल थी।

पंडितजी व्याघ्रेश्वर (बघेरेश्वर) जातिमें उत्पन्न हुए थे, जो कि राजस्थानकी एक प्रसिद्ध वैश्य-जाति है। उनके पिताका नाम सख्तचण, माताका श्रीरबी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका छाहड़ था। इन चारके सिवाय उनके परिवारमें और कौन-कौन थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवका मारुपद सुदी १५ बुधवार सं० १२७२ का लिखा एक दानपत्र मिला है, जिसके अन्तमें लिखा है—'रचितमिदं महासान्धि० राजा सलखणसम्भतेन राजगुहया मदेनेन।' अर्थात् यह दानपत्र महासान्धि-विग्रहिक-मन्त्री राजा सलखणकी सम्भतिसे राजगुह-मदेनेन रचा। इन्हीं अर्जुनवर्मके राज्यमें पंडितजी नालछामें आकर रहे थे और ये राजगुह मदन भी वही हैं, जिन्हें कि पं० आशाधरजीने काव्य शास्त्र पढ़ाया था। इससे अनुमान होता है कि उक्त राजा सलखण ही संभव है कि आशाधरजीके पिता सख्तचण हों। पंडितजीने प्रशस्तियोंमें सांभरको शावम्भरी, नालछाको नलकच्छपुर और बघेरेश्वरको व्याघ्रेश्वरशास्त्र आदि संस्कृत नामोंसे जिसप्रकार उल्लिखित किया है, संभव है कि उचीप्रकार अपने पिताके

सलखन नामको सल्लक्षण नामसे निर्दिष्ट किया हो। पर उक्त दानपत्रमें राजशुभ मदनने उन्हें सर्वजन प्रसिद्ध सलखवा नामसे ही उल्लिखित करना समुचित समझा हो।

जिस समय पंडितजीका परिवार धारमें आया था, उस समय विन्ध्यवर्माके सन्धि-विग्रहिक-मन्त्री (परराष्ट्र-सचिव) बिलहर कशीश थे। उनके बाद कोई आश्वयं नहीं, जो अपनी योग्यताके कारण पंडितजीके पिता सल्लक्षणने भी यह पद प्राप्त कर लिया हो और सम्मान-सूचक राजाकी उपाधि भी उन्हें मिली हो। पं० आशाधरजीने 'अत्यात-रहस्य' नामका ग्रन्थ अपने पिताकी आशासे रचा था। यह ग्रन्थ वि० सं० १२६६ के बाद किसी समय रचा गया होगा; क्योंकि इसका उल्लेख वि० सं० १३०० में बनी हुई अनगार-धर्माभूत टीकाकी प्रशस्तिमें तो है, परन्तु १२६३ में बने हुए जिनयज्ञकल्पमें नहीं है। यदि यह सही है, तो मानना होगा कि पंडितजीके पिता १२६६ के बाद भी कुछ समय तक जीवित रहे, और उस समय वे बहुत ही वृद्ध थे। सम्भव है कि उस समय उन्होंने राजकार्य भी छोड़ दिया हो।

पंडितजीने अपनी प्रशस्तिमें अपने पुत्र छाद्दको एक विशेषण दिया है—'रंजितार्जुनमूपतिम्'। अर्थात् जिसने राजा अर्जुनवर्मको प्रसन्न किया। इससे अनुमान होता है कि राजा सलखयके समान उनके पोते छाद्दको भी अर्जुनवर्मदेवने कोई राज्यपद दिया होगा। प्रायः राज्य-कर्मचारियोंके वंशजोंको एकके बाद एक राज्य-कार्य मिलते रहे हैं। पण्डित आशाधरजी भी कोई राज्यपद पा सकते थे, मगर उन्होंने उसकी अपेक्षा जिनशासन और जैन-साहित्यकी सेवाको अधिक श्रेयस्कर समझा और आजीवन उन्हींमें लगे रहे। उनके पिता और पुत्रके उक्त सम्मानसे स्पष्ट है कि एक सुसंस्कृत और राजमान्य कुलमें उनका जन्म हुआ था।

वि० सं० १२४६ के लगभग जब शहाजुद्दीन गोरीने पृथ्वीराजको कैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था और अजमेर पर अपना अधिकार कर लिया था, तभी सम्भवतः पण्डितजी मांडलगढ़ छोड़कर धारमें आये होंगे। उस समय वे किशोर ही होंगे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र बड़ी आकर पढ़ा था। यदि उस समय उनकी उम्र १५-१६ वर्षकी रही हो, तो उनका जन्म वि० सं० १२३५ के आसपास हुआ होगा। पण्डितजीकी अन्तिम उपलब्ध कृति अनगारधर्माभूतटीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० है। उसके बाद वे कब तक जीवित रहे, यह पता नहीं। फिर भी ६५ वर्षकी उम्र तो उन्होंने अवश्य पाई, इतना तो कमसे कम सुनिश्चित है।

ग्रन्थ-रचना

पं० आशाधरजीने वि० सं० १३०० तक जितने ग्रन्थोंकी रचना की, उनका विवरण इस प्रकार है:—

१-प्रमेयरत्नाकर—इसे पण्डितजीने स्वयं स्याद्वाद विधाका विशद प्रसाद और निरवध गद्य पीयूष पूर वाला तर्क-प्रबन्ध कहा है। यह अभीतक अप्राप्य है।

१-प्रेसा प्रतीत होता है कि प्रमेयरत्नाकर पंडितजीकी सर्वोत्तम कृति है। यद्यपि यह अद्यावधि अप्राप्य है, तथापि इसके नाम पर और उसकी प्रशंसामें लिखे गये पद्य पर गंजीरता पूर्वक विचार करनेसे विदित होता है कि यह श्वेतार्कवाचार्य वादिदेवसूरि-रचित स्याद्वादरत्नाकरको लक्ष्यमें रखकर रचा गया है। वादिदेवसूरि पंडितजीसे लगभग १५० वर्ष पूर्व हुए हैं। उन्होंने परीक्षासुखका अनुकरण कर प्रमायानवतर्क-लोक रचा और उस पर स्वयं ही स्याद्वादरत्नाकर नामक विशाल भाष्य लिखा। इसमें उन्होंने प्रभावन्दा-चार्यके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें किये गये कीमुक्तिखण्डनके खंडनका प्रयास किया है। यतः स्याद्वादरत्नाकर, सरस, अनुप्रासच्छटाशुक्त खन्ने समासवाली गद्यमें रचा गया था, अतः संभव है कि पंडितजीने भी उसी ही शैलीमें अपने प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना करना समुचित समझा हो।

पंडितजीने प्रमेयरत्नाकरके परिचयमें जो पद्य अपनी प्रशस्तियोंमें लिखा है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि 'स्याद्वादरत्नाकर' से प्रभावित होकर ही पंडितजीने अपने ग्रन्थका नाम 'प्रमेयरत्नाकर' रखा है। वह पद्य इस प्रकार है :—

स्याद्वादविद्याविज्ञानप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ।

तर्कप्रबन्धो निरवधपद्यपीयूषपुरी वहति स्म यस्मात् ॥ १० ॥ अन्ग० प्रशस्ति

अर्थात् प्रमेयरत्नाकर नामका यह तर्क प्रबन्ध स्याद्वाद विद्याका विशद प्रसाद है, और उससे निरवध विषयरूप अमृतका पूर प्रवाहित होता है।

इस पद्यमें प्रयुक्त 'स्यद्वाद' शब्द खास तौंसे विचारणीय है। पंडित आशाचरजीके समयमें स्वेतांबर जैनोका प्रभाव दिन पर दिन बढ़ रहा था, और वे उससे दुखी थे, यह उनके अनगार धर्मामृतके दूखे अत्रायमें दिये गये एक पद्यसे प्रकट है। वह पद्य इस प्रकार है :—

अन्तस्खलच्छयमिव प्रविष्टं रूपं स्वमेव स्ववधाय येषाम् ।

तेषां हि भान्यैः कश्चित् नूनं तपस्यलं लोकविवेकममम् ॥ २, ८ ॥

अर्थात् जिनके अन्तःकरणमें क्ली मुक्ति होती है, या नहीं; केवली कवलाहार कहते हैं या नहीं; इत्यादि रूपसे संशयमिष्यात्व शल्पके समान प्रवृष्ट होकर उन्हें पीड़ित कर रहा है; दुःख है कि उनके भाव्यसे यह कलिकाल मी लोगोंके विवेकका भक्षण करवा तदनुकूल ही खूब तप रहा है।

इसकी टीकामें पंडितजी लिखते हैं :—

“नूनं निश्चितमहमेवं मन्ये—तपति निरंकुशं विजृम्भते। कोऽसौ ? एष प्रतीयमानः कलिदुःखमकालः। किं कुर्वन् ? अरन्न् भक्षयन् संहरन्। कम ? लोकविवेकं ध्वजद्वृजनानां युक्तयुक्तिविचारम्। कथम् ? अलं पर्याप्तम्। कैः ? भान्यैः पुण्यैः। केयम् ? तेषां हि तेषामेव सितपटानाम्। येषां किम् ? येषां भवति। किं तत् ? स्वमेव रूपं। किं केवली कवलाहारी उतस्विदन्यथेत्यादि दोलायितप्रतीतिलक्षणमात्मस्वरूपम् + + + कलिरित्यनेन कलिकाले श्वेतपटमतमुदभूदिति शययति।

अतः सम्भव है कि पंडितजीने स्याद्वादरत्नाकरमें क्ली मुक्ति-मंडन और कवलाहार-सिद्धिके लिए दी गई युक्तियोंका उत्तर दिया हो।

२-भरतेभ्वराभ्युदय काव्य - यह संभवतः महाकाव्य है और स्वोपश टीका सहित है इनके नामसे विदित होता है कि इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्तिके अभ्युदयका वर्णन होगा। इसे पंडित जीने 'सिद्धयन्त्र' कहा है, अर्थात् इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम छन्दमें 'निद्रि' शब्दका प्रयोग किया गया है^१। यह अप्राप्य है।

३-धर्मामृत - यह जैन आगमके मन्थनसे समुत्पन्न धर्मशास्त्रका धर्मरूप अमृत है। इस ग्रन्थके दो भाग हैं :—प्रथम भागका नाम अनगारधर्मामृत है, इसमें गुनिधर्मका वर्णन किया गया है। द्वितीय भागका नाम सागारधर्मामृत है और इसमें श्रावकधर्मका विशद वर्णन किया गया है^२। ये दोनों ग्रन्थ मुद्रित हो चुके हैं।

४-ज्ञानदीपिका—यह धर्मामृतकी स्वोपश पंजिका है। प्रत्येक पदके अर्थको जो निरुक्तिपूर्वक व्यक्त करे, उसे पंजिका टीका कहते हैं^३। यह धर्मामृतकी मुद्रित भव्य कुमुदचन्द्रिका टीकासे बहुत विस्तृत रही है, इसका साक्षी स्वयं पंडितजीका एक उल्लेख है। सागारधर्मामृतकी टीकाके प्रारम्भमें पंडितजी लिखते हैं कि—

१ सिद्धयन्त्रं भरतेरभराभ्युदयसत्कामं शिवशोभज्वलं यच्च विद्यकवीन्द्रबोहनमयं स्वभवेसेजरीरचत् ।

२ सोऽहं ह्यन्यदसं विदुषश्चरिणं श्रमकं च धर्मामृतं निर्माय न्यदधाम्मुमुक्षुविद्युषामानन्दसागरे हवि ॥ ११ ॥

३ निबन्धश्चरिणं—स्वयंकृतज्ञानदीपिकाख्यपंजिकया रत्नयाथिव ।

अवगार० प्रशस्ति

समर्थनादि यन्त्रात् नृपे व्यासभवात्कवचित् । तज्ज्ञानदीपिकास्यैतत्पञ्जिकायां बिलोक्यताम् ॥ सागार० पृ० १

अर्थान् विस्तारके मन्त्रे जो समर्थन आदि यहाँ नहीं कह रहा हूँ, उसे ज्ञानदीपिका नामकी पञ्जिकामें देखना चाहिए। कहते हैं कि कोल्हापुरके जैन मठमें इसकी एक कनड़ी प्रति थी, जिसका उपयोग स्व० पं० कल्लाप्पा भर्मणाप्पा निटवेने सागारवर्माश्रितकी मराठी टीकामें किया था और उसमें टिप्पणियोंके तौरपर बहुत कुछ अंश उद्धृत भी किया था। दुःख है कि वह कनड़ी प्रति बलकर नष्ट हो गई। अन्यत्र किसी मंडारमें अभी तक इस पञ्जिकाका पता नहीं लगा।

५-अष्टाङ्गहृदयोद्योतिनी टीका—यह आयुर्वेदाचार्य वाग्भटके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वाग्भट अपरनाम अष्टाङ्गहृदयकी टीका है जो अप्राप्य है।

६-मूलाराधना टीका*—यह सुप्रसिद्ध भगवती-आराधना नामक प्राकृत ग्रन्थकी टीका है, जो कि उक्त ग्रन्थकी अन्य टीकाओंके साथ शोलापुरमें मुद्रित हो चुकी है।

७-इष्टोपदेश टीका*—यह आचार्य पूज्यपादके इष्टोपदेशकी संस्कृत टीका है। इसे पंडितजीने मुनि विनयचन्द्रकी प्रेरणामें बनाया था। यह टीका माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमालाके तत्त्वानुरासनादिवर्षमें प्रकाशित हो चुकी है।

८-आराधनासार टीका—यह आचार्य देवसेनके आराधनासार नामक प्राकृत ग्रन्थकी संस्कृत टीका है, जो आज अप्राप्य है।*

९-भूपालचतुर्विंशतिका टीका—भूपाल कविके सुप्रसिद्ध और उपलब्ध स्तोत्रकी यह टीका भी अब तक नहीं मिली।

१०-अमरकोप टीका*—अमरसिंहके सुप्रसिद्ध अमरकोपकी यह संस्कृत टीका भी अद्यावधि अप्राप्य है।

११-क्रिया-कलाप*—पंडितजीने यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्यके क्रियाकलापके बंगपर स्वतंत्र रचा है। इसकी एक प्रति बम्बईके एलक सरस्वती भवनमें है। जिसमें ५२ पत्र हैं और जो १६७६ श्लोक-प्रमाण है।

१२-काव्यालंकार टीका§—अलंकार शास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रके काव्यालंकार पर लिखी गई यह टीका भी अप्राप्य है।

१३-सहस्रनामस्तवन सटीक§—यह प्रस्तुत स्वोपन सहस्रनाम है, जिसका विस्तृत परिचय प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। आन्के पहले यह अप्राप्य था। ललितपुरके बड़े मन्दिरमें इसकी एक प्रति मिली है, जिसके आधार पर यह मुद्रित किया गया है। इसकी अन्तिम पुष्पिकासे विदित होता है कि इस ग्रन्थकी टीकाकी रचना भी मुनि विनयचन्द्रकी प्रेरणामें हुई है और संभवतः उन्होंने इसको सर्वप्रथम अपने हाथमें लिखा है।

१ आयुर्वेदविद्यामिष्टी व्यक्तं वाग्भटसंहिताम् । अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसज्जयः ॥ १२ ॥

२ यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् । व्यक्तममरकोपे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १३ ॥

३ आदिः आराधनासार-भूपालचतुर्विंशतिस्तवनाद्यर्थः । उज्जगौ उच्छ्रुतं कृतवान् ॥

४ रौद्रतस्य व्यधाःकाव्यालंकारस्य निबन्धनम् । सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽहंताम् ॥ १४ ॥

सागार० प्रशस्ति ।

* × × × मुनिश्री विनयचन्द्रेण कर्मस्यार्थं लिखितम् ।

(सहस्रनाम श्लोक १०३ की टीकाके अन्तमें)

इत्याशाधरसुरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् । मुनिश्री विनयचन्द्रेण लिखितम् ।

श्री सूक्तसंघे सरस्वती गच्छे ××× तच्छिष्य मुनिश्रीविनयचन्द्र-पठेत्तार्थं । ग्रन्थाम् ११७५ ।

शुभं भवतु ॥

५ अ प्रसिका अन्तिम पत्र)

१५-जिनयज्ञकल्प सटीक—जिनयज्ञकल्पका दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार है। यह मूल ग्रन्थ तो मुद्रित हो चुका है, पर टीका अभी तक अप्राप्य है। इस ग्रन्थमें प्रतिष्ठासम्बन्धी सभी क्रियाओंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। पापा साधुकी प्रेरणासे इस ग्रन्थकी रचना हुई है।^१ इसकी आद्य पुस्तक केल्ह्याने लिखी और उन्होंने ही जिनयज्ञकल्पका प्रचार किया था।^२ मूलग्रन्थकी रचना वि० सं० १२८५ में हुई है और टीकाकी रचना वि० सं० १२८५ और १२९६ के मध्य हुई है।

१५-त्रिषष्टिरमृतिशास्त्र सटीक—इसमें त्रिसठशालाका पुरुषोंका चरित जिनसेनके महापुराणके आधार पर अत्यन्त संक्षेपसे लिखा गया है। पंडितजीने इसे नित्य स्वाध्यायके लिए आज्ञाक पण्डितकी प्रेरणासे रचा था।^३ इसकी आद्य पुस्तक खण्डेलवाल कुलोत्पन्न धीनाक नामक आदकने लिखी थी।^४ इस ग्रन्थकी रचना वि० सं० १२९२ में हुई है।

१६-नित्यमहोद्योत—यह जिनाभिषेक-सम्बन्धी स्नानशास्त्र है, जो कि श्रुतमागरसूत्रिकी संस्कृत टीका सहित प्रकाशित हो चुका है।^५

१७-रत्नत्रयविधान—इसमें रत्नत्रयविधानके पूजन-माहात्म्यका वर्णन किया गया है।^६ यह ग्रन्थ बम्बईके ऐलक सरस्वतीभवनमें है, जिसकी पत्र संख्या आठ है।

१८-सागारधर्मासुतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका—पण्डितजीने महीचन्द्र साहुकी प्रेरणासे इसे रचा और महीचन्द्र साहुने इसकी प्रथम पुस्तक लिखकर तैयार की। इस टीकाकी रचना वि० सं० १२९६ जौष बदी ७ शुक्रवारको हुई है।^७ इसका परिमाण ४५०० श्लोक प्रमाण है।

- १ खंडिल्यान्वयमूषयाल्लखसुतः सागारधर्म स्तो वास्तव्यो नल्लकच्छुचाल्नरारे कर्ता परोपक्रियाम् । सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमर्थोद्योतप्रतिष्ठाप्रणीः पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥ १९ ॥ जिनयज्ञ० प्रज्ञास्ति
- २ मंथास्त्राण्डिल्यवंशोत्थः केल्हयो न्यासविचरः । लिखितो येन पाठार्थमस्य पथमपुस्तकम् ॥ २३ ॥ जिनयज्ञ० प्रज्ञास्ति
- ३ संक्षिप्यती पुराणानि नित्यस्वाध्यायसिद्धये । इति पण्डितजाजाकाद्विज्ञप्तिः प्रेरिकात्र मे ॥ ६ ॥ त्रिषष्टि० प्रज्ञास्ति ।
- ४ खंडिल्यवंशे महाकमलश्रिसुतः सुहृत् । धीनाको वर्धता येन लिखितास्याद्युस्तिका ॥ १४ ॥ त्रिषष्टि० प्रज्ञास्ति ।
- ५ जोऽन्महाभिषेकाचाविधिं मोहतमोरविम् । चक्रं नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशानाम् ॥ १७ ॥ अनगार० प्रज्ञास्ति ।
- ६ रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् । रत्नत्रयविधानास्य शास्त्रं विततनुते स्म यः ॥ १८ ॥ अनगार० प्रज्ञास्ति ।
- ७ षण्णवहृथे कसंस्थानविक्रमाङ्कलसात्ये । सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धं च नन्दताश्चिरम् ॥ २१ ॥ अनगार० प्रज्ञास्ति । श्रीमान् श्री द्विससुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय-म्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात् । चक्रं श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाज्ञाघरो ग्रन्थस्थास्य च खेख्तोऽपि विद्धे येनादिमः पुस्तकः ॥ २२ ॥ अनगार० प्रज्ञास्ति ।

१६-राजीमती विप्रलम्भ—यह एक खण्ड काव्य है, जिसमें नेमिनाथके विवाह और राजकुले परित्यागका वर्णन किया गया है ।^१ यह भी अप्राप्य है ।

२०-अध्यात्मरहस्य—पण्डितजीने अपने पिताके आदेशसे इसकी रचना की थी । इसमें योगके विविध अंगोंका विशद वर्णन किया गया है ।^२ दुःख है कि यह भी अप्राप्य है ।

२१-अनगारधर्माभूतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका—पण्डितजीने धणचन्द्र और हरदेवकी प्रेरणासे इस टीकाकी रचना वि० सं० १३०० कार्तिकसुदी ५ सोमवारको की है ।^३ इस टीकाका परिमाण १२२०० श्लोकके लगभग है ।

प्रमेयरत्नाकरसे लेकर जिनसहस्रनाम स्तवन तकके १३ ग्रन्थोंकी रचना वि० सं० १८८५ से पूर्व और नालछा पहुँचनेके पश्चात् मध्यरातों समयमें हुई है । इनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ अप्राप्य हैं, अतः उनकी प्रशस्ति आदिके न मिलनेसे उनके रचना-कालका ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता । वि० सं० १२८५ में रचे गये जिनयशकल्पमें उनका उल्लेख होनेसे उसके पूर्व ही उनका रचा जाना सिद्ध है । शेष ग्रन्थोंकी रचना वि० सं० १६८५ और १३०० के बीच हुई है । पण्डितजीके रचनाओंमें अनगारधर्माभूत टीका सबसे अन्तिम रचना है । इसके पश्चात् रचे गये किसी अन्य ग्रन्थका न तो पता लगता है और न यही विदित होता है कि पण्डितजी कब तक जीवित रहे ।

पं० आशाधरके गुरु और शिष्यवर्ग

१-पं० महावीर—पं० आशाधरजीने धारामे आकर इनसे जैनन्द्र व्याकरण और न्यायशास्त्र पढ़ा था ।

२-मुनि उदयसेन—इन्होंने पं० आशाधरजीको 'कलिकालिदास' कहकर अभिनन्दित किया था ।

३-यतिपति मदनकीर्ति—इन्होंने पण्डितजीको 'प्रशयुञ्ज' कह कर अभिनन्दित किया था ।

पं० जीने अपनी सहस्रनाम टीकाके प्रारम्भमें इन तीनोंको गुरुभावसे स्मरण किया है ।

४-विरहणकवीश—इन्होंने पण्डितजीको 'सरस्वती पुत्र' कह कर अभिनन्दित किया था ।

५-वादीन्द्र विशालकीर्ति—इन्होंने पं० जीसे न्यायशास्त्र पढ़ा था ।

६-पं० देवचन्द्र—इन्होंने पं० जीसे व्याकरणशास्त्र पढ़ा था ।

७-मुनि विनयचन्द्र—इन्होंने पं० जीसे धर्मशास्त्र पढ़ा था ।

८-महाकवि मदनोपाध्याय—इन्होंने पं० जीसे काव्यशास्त्र पढ़ा था ।

१-राजीमतीविप्रलम्भ नाम नेमादेवराजुगम् ।

व्यञ्जत खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥ १२ ॥

२-आदेहात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यञ्जत् ।

शास्त्रं प्रसङ्गाग्भीरं प्रियमादव्ययोगिनाम् ॥ १३ ॥

३-हरदेवेन विश्रुतो धणचन्द्रोपरोधतः ।

पण्डितराधाधरश्चक्रे टीकां शोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥

नलकण्ठपुरे श्रीमन्नेमिवैत्याख्येऽसिधत् ।

विक्रमाब्दशतेष्वेवा प्रबोद्धराजु कार्ष्णिधे ॥ ३१ ॥ अनगार प्रशस्ति ।

सहस्रनामके टीकाकार श्रुतसागरका परिचय

श्री श्रुतसागरस्य मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलाकाश्यायमें हुए हैं और इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था । विद्यानन्दि देवेन्द्रकीतिके, और देवेन्द्रकीतिके पद्मनन्दिके शिष्य और उत्तराधिकारी थे । विद्यानन्दिके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक पद पर आसीन हुए थे । श्रुतसागर शायद गद्दी पर नहीं बैठे । मल्लिभूषणको उन्होंने अपना गुरुमार्ह लिखा है ।

विद्यानन्दि सम्भवतः गुजरातमें ही किसी भट्टारक-गद्दी पर आसीन थे, किन्तु कहां पर, इसका कुछ पता नहीं चलता । वैराग्यमणिमालाकार श्रीचन्द्रने श्रुतसागरको गुरुभावसे स्मरण किया है । आराधना-कथाकोश, नेमिपुराण आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता ब्रह्मनेमिदत्तने भी, जो मल्लिभूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरु-भावसे स्मरण किया है और मल्लिभूषणकी वही गुरुपरम्परा दी है जो कि श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है । उन्होंने सिद्धनन्दिका भी उल्लेख किया है जो मालवाकी गद्दीके भट्टारक थे और जिनकी प्रार्थनासे श्रुत-सागरने यशस्तिलककी टीका लिखी थी ।

श्रुतसागरने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकथिचक्रवर्ती, व्याकरणकमलमार्तण्ड, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवतिमहामहावादिविजेता, आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है ।

समय-विचार

श्रुतसागरने अपने किसी भी ग्रन्थमें रचनाका समय नहीं दिया है, परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रमकी १६ वीं शताब्दिमें हुए हैं । क्योंकि—

१—महाभियेक टीकाकी प्रशस्ति वि० सं० १५८२ में लिखी गई है और वह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्र० ज्ञानसागरके पढ़नेके लिए दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपने टीका-ग्रन्थोंमें कई जगह किया है ।

२—ब्र० नेमिदत्तने श्रीपालचरित्रकी रचना १६० सं० १५८५ में की थी और वे मल्लिभूषणके शिष्य थे । आराधना-कथाकोशकी प्रशस्तिमें उन्होंने मल्लिभूषणका गुरुरूपमें उल्लेख किया है और साथ ही श्रुत-सागरका भी जयकार किया है^१, अर्थात् कथाकोशकी रचनाके समय श्रुतसागर मौजूद थे ।

३—स्व० बाबा दुलीचन्द्रजीकी सं० १६५४ में लिखी गई ग्रन्थसूचीमें श्रुतसागरका समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है ।

४—पट्टभाभूतटीकामें लोकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं । कहा जाता है कि यह वि० सं० १५३० के लगभग स्थापित हुआ था । अतएव उससे ये कुछ समय पीछे ही हुए होंगे । सम्भव है, ये लोकाशाहके समकालीन ही हों ।

१ यह परिचय भी श्रीमान् पं० नाथुरामजी प्रेमी-लिखित "जैनसाहित्य और इतिहास" नामक पुस्तकसे साभार उद्धृत किया गया है ।

—सम्पादक

२ श्रीमहाकर्मल्लिभूषणगुरुर्वात्सर्ता शर्मणे ॥ ६३ ॥

३ जीवान्से सुविषयो ब्रतनिचयसत्पुण्यपण्यः श्रुताधिः ॥ ७१ ॥

ग्रन्थ-रचना

भुतसागरके उपलब्ध ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि उन्होंने अधिकतर टीकाओंकी ही रचना की है। अब तक जो उनकी रचनाएँ सामने आई हैं, उनका परिचय इस प्रकार है :—

१-**यशस्तिलकचन्द्रिका**—आचार्य सोमदेवके प्रसिद्ध ग्रन्थ यशस्तिलकचन्द्रिकाकी यह टीका है, जो कि मूल ग्रन्थके साथ मुद्रित हो चुकी है। यद्यपि इसकी प्रतियाँ अन्य अनेक भंडारोंमें पाई जाती हैं, तथापि वह सर्वत्र अपूर्ण ही है। प्रारम्भसे लेकर पाचवें आश्रासके लगभग दो तिहाई भाग तककी ही टीका मिलती है। जान पड़ता है, यह उनको अन्तिम रचना है।

२-**तत्त्वार्थवृत्ति**—आ० उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादने जो सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति लिखी है, उसे आधार बनाकर भुतसागरने नौ हजार श्लोक प्रमाण यह टीका बनाई है। यह भारतीय शानपीठ कारीसे मुद्रित हो चुकी है।

३-**तत्त्वार्थप्रकाशिका**—आ० शुभचन्द्रके शानार्णवमें जो गद्य भाग है, यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्र पानाचन्द्र बम्बईके ग्रन्थ-संग्रहमें मौजूद है।

४-**औदार्यचिन्तामणि**—यह प्राकृत व्याकरण है, जो हेमचन्द्र और त्रिविक्रमके व्याकरणोंसे बड़ा है। इसकी एक प्रति बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें है, जिसकी पत्रसंख्या ५६ है। यह स्वोपश-वृत्तियुक्त है।

५-**महाभयकटीका**—पं० आशाधरके नित्यमहोद्योतकी टीका है। यह उस समय बनाई गई है, जब कि भुतसागर देशमती या ब्रह्मचारी थे।

६-**व्रतकथाकोश**—इसमें आकाशपञ्चमी, मुकुटसमयी, चन्दनपट्टी, अष्टाङ्गिका आदि व्रतोंकी कथाएँ हैं। इसकी भी एक प्रति बम्बईके ऐलक सरस्वतीभवनमें है और वह भी उनकी प्रारम्भिक-रचना है।

७-**श्रुतस्कन्धपूजा**—यह छोटो सी नौ पत्रोंकी रचना है, इसकी भी एक प्रति उक्त मस्वती-भवनमें है।

८-**जिनसहस्रनामटीका**—पं० आशाधर-रचित जिनसहस्रनामकी यह प्रस्तुत टीका है। इस भुतसागरने पं० आशाधरजीकी स्वोपशवृत्तिको आधार बनाकर, या उसे आत्मसात् करके रचा है। पं०जीकी स्वोपशवृत्तिका परिमाण केवल ११४५ श्लोक-प्रमाण है, जब कि भुतसागरसूरिने उस पञ्चावत कर लगभग छह हजार श्लोक प्रमाण रचा है।

इनके अतिरिक्त भुतसागरके नामसे अन्य अनेकों ग्रन्थोंके नाम ग्रन्थ-सूचियोंमें मिलते हैं, परन्तु उनके विषयमें अब तक वे देल न लिए जायें, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत श्रुतसागरी टीकाके विषयमें

१-**पिष्टपेषण**—जिनसहस्रनामकी प्रस्तुत भुतसागरी टीकाके आयोर्पात अवलोकन करने पर जहाँ एक ओर उनके विशाल पाण्डित्यका परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी ओर अनेक स्थलोंपर कई बातोंकी पुनर्लक्षित देखकर आश्चर्य भी होता है। उदाहरणके तौरपर भुतसागरने ८४०००० चौरासी लाख उत्तर गुणोंका निरूपण तीन स्थलों पर किया है। सर्व प्रथम छठे शतकमें 'महाशाल' नामकी व्याख्या करते हुए, शीलके अद्धारह हजार भेद बतानेके अनन्तर बिना ही प्रकरणके 'अथ गुणाः कथ्यन्ते ८४०००००' कहकर उनका वर्णन किया है, जो कि बिलकुल ही अप्रकृत है। दूसरी बार इसी शतकके 'गुणाम्भोधिः' नामकी व्याख्यामें 'अथ गुणानां चतुरशीतिलक्षानां अम्भोधिः' कहकर चौरासी लाख गुणोंकी दुबारा गिनाना प्रारम्भ कर दिया है। यहाँ भी यह वर्णन कुछ असङ्गतसा ही लगता है। तीसरी बार दशवें शतकमें 'चतुरशीतिलक्षगुणः' की व्याख्यामें चौरासी लाख उत्तरगुण गिनाये गये हैं, जो कि प्रकरण-संगत हैं। वास्तवमें यहाँ पर ही इन गुणोंका वर्णन होना चाहिए था, इसके पूर्व दोनों बारका निरूपण अप्रकृत है।

इसीप्रकार शीलके अष्टादह हजार मेंदोंको भी दो बार गिनाया गया है, पहली बार 'छठे शतकमें 'महाशील' नामकी व्याख्या करते हुए, और दूसरी बार दशमें शतकमें 'अष्टादशसहस्रशीलाश्वः' नामकी व्याख्या करते हुए। यद्यपि शीलके उक्तमेंद गिनानेके लिए दोनों स्थल उपयुक्त हैं, फिर भी प्रथमकी अपेक्षा द्वितीय स्थल ही अधिक प्रकरण-सङ्गत है।

२-असम्बद्ध - दशमें शतकमें 'भूतार्थदूर' नामकी व्याख्या करते हुए, 'आचार्य समन्तभद्रकी अंतिम कारिका 'इतोयमातर्गामांश' उद्धृत करके उसको भी व्याख्या प्रारम्भ कर दी है, जो कि जितकुल ही असङ्गत प्रतीत होती है। इसीप्रकार चौरासी लाल उत्तरगुण गिनाते हुए अननारधर्मांमृतके श्लोकको उद्धृत करके उनकी भी व्याख्या करना असंगत जंचता है। द्वितीय शतकके अन्तिम 'महाबल' नामकी व्याख्या करते हुए ५० आशाधर्वांके नामका निर्देश कर और 'नार्यव्यान्' आदि श्लोक उद्धृत कर उसकी भी व्याख्या की गई है, जो कि असम्बद्ध प्रतीत होता है। जिस कथानकके दनके लिए इतना भ्रम किया है, वह उक्त श्लोक और उसका व्याख्याके बिना भा लिया जा सकता था। इसी प्रकार और भी २-४ स्थलों पर ऐसा ही किया गया है।

३-साम्प्रदायिकता—भुतसागरमें कहीं-कहीं खीच-तान करके भगवान्के नामसे साम्प्रदायिकताका भी परिचय दिया है। (दिला—नवें शतकमें निर्विकल्पदर्शन आदि का व्याख्या)

दशवें शतकके 'अत्यन्त' नामको व्याख्यामें समन्तभद्रको आगामों उत्सर्पिणीकालमें तीर्थकर होनेका उल्लेख कर उनका एक श्लोक उद्धृत किया है।

भुतसागरका पाण्डित्य

भुतसागरमें जिनसहस्रनामकी प्रस्तुत टीकामें लगभग ३१ आचार्योंके नामोंका, और १२ ग्रन्थोंका नाम उल्लेख कर उनके श्लोकोंका उद्धृत किया है जिनसे उनके अग्रगण्य भुतधरत्वका परिचय मिलता है।

कुछ स्थल पर ता एक-एक नामके दशस भी अधिक अर्थ करके अपने व्याकरण और कांष विषयक विशाल ज्ञानका परिचय दिया है। विश्वशम्भुमुनि—प्रणोत एकाक्षर नामभाला तो आपकी मानों कंठस्थ ही थी। इसके लगभग ५० पद्योंका भुतसागरमें अपनी टीकामें उद्धृत किया है। इसी प्रकार नामोंके निरुक्तार्थको प्रमाणित करनेके लिए कांतव आदि व्याकरणके द्वासीस भी ऊपर सूत्रोंका उद्धृत किया गया है। नवें बुद्धशतकमें पड़दाशनिर्वाणके नामकी व्याख्यामें उनके मतोंका उन तत्सम्मत तत्त्व एवं पदार्थोंका जो पाण्डित्यपूर्ण दार्शनिक विवेचन किया है, उससे भुतसागरके न्याशास्त्रका अग्रगण्य विद्वत्ताका परिचय मिलता है। दशवें शतकका व्याख्यामें भुतसागरने अपने सैद्धान्तिक विद्वत्ताका यथेष्ट परिचय दिया है।

संक्षेपमें जिनसहस्रनामका टीकाका देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने लिए जो व्याकरणकमलमासण्ड, ताकिशिरामण्ड, परमागमप्रवाण और 'शब्दरत्नप्रभेदनं निपुणः' आदि पद-विभूति कहा है, वह सर्वथा उचित और उनके नामके अनुरूप ही है।

भुतसागर पर एक आरोप

प्रस्तुत सहस्रनामकी पाण्डित्य आशाधरकृत स्वोपशुद्धिको ही आधार बनाकर भुतसागरसूत्रमें अपनी टीकाका निर्माण किया है, फिर भी उन्होंने कहीं भी इसका जरा सा भी संकेत नहीं किया है। दोनों टीकाओंको सामने रखकर देखने पर यह बात हृदय पर स्वतः ही अङ्कित हो जाती है कि उन्होंने आशाधरजीकी स्वोपशुद्धिको उलीप्रकार पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया है, जिस प्रकार पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिको अपनी तत्त्वार्थसिद्धिमें। यदि आज पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि और पाण्डित्य आशाधरकी स्वोपशुद्धि तृथक उपलब्ध न होती, तो इस बातकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि भुतसागर अपनी टीकाओंमें अन्य आचार्योंकी टीकाओंको भी आत्मसात् कर गये हैं। उनपर यह एक आरोप है, जिससे वे इनकार नहीं कर सकते और जो इन दोनों ग्रन्थोंके अन्यासियोंसे अप्रकट नहीं रह सकता है।

श्रुतसागरी टीकागत कुछ विशेष बातें

१-धर्मचक्र—जब तीर्थंकर भगवान् भव्यबीजोंको धर्मोपदेश देनेके लिए मूलतः पर विहार करते हैं, तब यह भगवान्के संपर्के आगे-आगे आकाशमें निराधार धूमता हुआ चलता है। श्रीदेवनन्दी आचार्यने इसके विषयमें लिखा है कि इसके एक हजार अक्षरे होते हैं, नाना प्रकारके महारत्नोंसे यह जड़ा हुआ होता है और इसकी कान्ति सूर्यकी प्रभाको भी लज्जित करनेवाली होती है। (२, ७१)

२-महाबल—जिनभगवानका यह भी एक नाम है। इसके विषयमें आशाधरजीने लिखा है कि एक बार जब भगवान् महावीर कुमार थे और अन्य राजकुमारोंके साथ कुंडभामके उद्यानमें एक वृक्षके ऊपर क्रीड़ा कर रहे थे, तब लीधर्म-इन्द्रकी सभामें चर्चा चली कि इन समय मूलतः पर श्रीवीरप्रभु सबसे अधिक बलवान् हैं। संगमक नामक एक देवको उस पर विश्वास नहीं हुआ और वह भगवान् की परीक्षाके लिए एक अजगरका रूप बनाकर उस वृक्ष पर लिपट गया, जिसपर कि राजकुमारोंके साथ भगवान् क्रीड़ा कर रहे थे। सांपको वृक्षसे लिपटता और ऊपर चढ़ता हुआ देखकर सब राजकुमार भयमें विह्वल हो वृक्षसे कूदकर भाग गये, पर श्रीवीरकुमार उसके लपलपाती हुई नैकड़ों जीभ धाले फखामंडल पर पैर रखते हुए वृक्षसे नीचे उतरे और उसके साथ बहुत देर तक क्रीड़ा करते रहे। संगमकदेव यह देखकर अति विभ्रित हुआ और आप महाबलशाली हैं, ऐसा कहकर और भगवान्को नमस्कार करके अपने स्थानका चला गया। (२, १००)

३-दृग्विशुद्धि—पचीन दोग-रहित, अष्टगुण-सहित और चर्मजल, घृत, तैल आदि अभ्यन्त्र मन्त्र-वर्जित सम्पत्क्षणके धारण करनेको दृग्विशुद्धि कहते हैं। (३, २०)

४-छादश गण—तीर्थंकर भगवान्की व्याख्यान-सभाका समवसरण या आस्थानमंडप कहते हैं। उक्तमें श्रोताओंके बैठनेके बारह कक्ष या प्रकोष्ठ होते हैं। उनमें प्रदक्षिणास्वरूपे क्रमशः निर्ग्रन्थ मुनि, सोलह स्वर्गोंकी देवियाँ, आर्यिकाएँ अन्य मनुष्य स्त्रियाँ, ज्योतिष्क देवियाँ, व्यन्त्रदेवियाँ, भवनवासिनी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्त्रदेव, ज्योतिष्कदेव, कल्पवासीदेव, मनुष्य और पशु गण बैठकर भगवान्का धर्मोपदेश सुनते हैं। ये बारह सभा-सत्ता जीव हैं। भगवान्के द्वादश गण कहालाते हैं। (३, २०)

५-द्विदय अनिशय—भगवान्के पवित्र-मन्त्रिण्यका यह दिव्य अतिशय बतलाया गया है कि जन्मान्ध लोग भी देखने लगते हैं, बहरे मनुष्य सुनने लगते हैं, गूंग बोलने लगते हैं और पंगुजन भले प्रकारसे गमन करने लगते हैं। (३, २०)

६-सुस्वप्नदर्शी—जब तीर्थंकर भगवान् माताके गर्भमें आते हैं, तब उसके पूर्व ही माताका १६ स्वप्न दिखाई देते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—१ ऐरावत गज, २ वैल, ३ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ दो मालाएँ, ६ चन्द्रमा, ७ सूर्य, ८ मीन-सुगल, ९ पूर्णचंद्र, १० कमलपुष्प करोंर, ११ समुद्र, १२ सिंहासन, १३ देव-विमान, १४ नागभवन, १५ रत्नपिंड और १६ निर्धूम आग्नि। इन सोलह स्वप्नोंके देखनेके अनन्तर माताको ऐरावत हाथी सुखमें प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है। उपर्युक्त सुन्दर स्वप्नोंके दिखानेके कारण लोग भगवान्को सुस्वप्नदर्शी कहते हैं। (३, २२)

७-पद्मम्—गर्भकालमें माताके गर्भाशयमें भगवान्के पुण्य-प्रभासे एक दिव्य कमलकी रचना होती है। उस कमलकी कर्षिका पर एक सिंहासनकी सृष्टि होती है, उसपर विराजमान गर्भ गत भगवान् वृद्धिको प्राप्त होते हैं, इसलिये लोग उन्हें पद्मम्, अम्बम् आदि नामोंसे पुकारते हैं। (३, २६)

८-चारणार्थि—क्रिया विषयक श्रुद्धि दान प्रकारकी हाती है:—चारणश्रुद्धि और आकाशगामित्व श्रुद्धि। अग्निकी शिला, जलका उपरितल, वृक्षोंके पत्र, पुष्प और फल आदिआलाभनकर उनके संस्पर्शके बिना ही अधर-गमन करनेको चारणश्रुद्धि कहते हैं। बैठे-बैठे ही अथवा खड़े-खड़े ही निराधार आकाशमें गमन करनेको आकाशगामित्वश्रुद्धि कहते हैं। इस श्रुद्धिवाले साधु बिना पैरोंके चलाये हुए ही पक्षियोंके

समान आकाशमें उड़ते चले जाते हैं, और पृथ्वीपर पैरोंके उठाने-रखनेके समान आकाशमें पाद-निक्षेप करते हुए भी गमन करते हुए जाते हैं। जिन साधुओंको ये दोनों प्रकारकी अथवा एक प्रकारकी श्रुति प्राप्त होती है, उन्हें चारुण्यि कहते हैं। (३, ४३) (८, ६)

६-शुक्रारब्धानम् नृत्य और इन्द्रनृत्यन्तपितृक—इन दो नामोंके द्वारा यह सूचित किया गया है कि सौधर्म-इन्द्र दो वार स्वयं नृत्य करता है। एक वार तो मेघशिवर पर जन्माभियेकके पश्चात् भगवानके आगे और दूसरी भगवान् माताको सौंपकर तदनन्तर भगवानके पिताके सामने। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य अवसरोंपर इन्द्र स्वयं नृत्य नहीं करता है, किन्तु उसके आदेशमें अन्य देव या देवियां नृत्य करती हैं।

१०-देवर्षि देवोंके समान आकाशमें गमन करनेवाले ऋषियोंको देवर्षि कहते हैं। (६, २०) तथा देवोंमें जो ऋषियोंके समान ब्रह्मचारी रहते हैं, मदा तत्त्व-चिन्तन करते हुए परम उदासीन जीवन-यापन करते हैं और तीर्थयात्राके निकमण कल्याणकके अवसर पर उन्हें सम्बोधनके लिए आते हैं, जिन लौकिक दैत्योंकी भी देवर्षि कहते हैं। (३, ५८)

११-कुचेरनिर्मितास्थान—समवसरणमें मानस्तम्भ, सर्वेश्वर, प्राकार, कोट, खाई, वापी, वाटिका, नाट्यशाला, कल्पवृक्षा, स्तूप, आदिकी रचना होती है। इन्द्रके आदेशसे कुचेर पूर्ण वैभवसे उसे सजित करता है, इत्यलए समवसरण कुचेर-निर्मित-आस्थान कहलाता है। (३, ६१)

१२-सत्यशासन—भगवानका शासन अर्थात् धर्मोपदेश पूर्वापर विरोधसे रहित होता है, अतएव वह सत्यशासन कहलाता है। परमता-बलनिर्भरका शासन पूर्वापर-विरुद्ध होता है। वे एक स्थलपर जा घात करते हैं, दूसरे स्थलपर उससे तिलकुल विपरीत करते हैं। जैसे—ब्राह्मणकी नहीं मारना चाहिए, शराब नहीं पीना चाहिए, ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिए, इत्यादि कहकर भी अन्यत्र कहते हैं कि ब्रह्म-प्राप्तिके लिए ब्राह्मणको मारे, सौत्रान्तर्णिक यज्ञमें शराबके पीनेमें कोई पाप नहीं, गोमूत्र यज्ञके अन्तमें माना और बहिनके साथ भी भोग कर सकता है, इत्यादि। एक वार कहते हैं कि जो तिलमर भी मांस खाता है, वह नरकमें जाता है, दूसरी वार कहते हैं कि श्रोत्रिय ब्राह्मणके आतिथ्यके लिए यैलका वध करे, आदि। एक वार कहते हैं कि किसी भी प्राणीको नहीं मारना चाहिए, दूसरे स्थलपर कहते हैं कि ये पशु यज्ञके लिए ही बनाये गये हैं, इत्यादि। अतएव उनके शासनको सत्य नहीं माना जा सकता है। (४, २०)

१३-त्रिभंगीश इन नामकी व्याख्यामें बताया गया है संनारों जीवोंकी परभव-सम्बन्धी आयुका बन्ध विभागमें होता है और एंश अवसर एक जीवके मुख्यमान आयुके भीतर आठ वार आते हैं। कल्पना कीजिए कि किसी जीवकी वर्तमान भवकी आयु ६५६१ वर्षकी है। इसमें तीनका भाग देनेपर जब दो भाग व्यतीत हो जायें और एक भाग-प्रमाण २१८७ वर्ष शेष रहे तब प्रथम वार आगामी भवसम्बन्धी आयुके बन्धका अन्तमुहूर्त तक अवसर आता है। यदि किसी कारणसे उस समय आयु-बन्ध न हो सके, तो उक्त अवशिष्ट आयुके भी जब दो भाग बीत जायें और ७२६ वर्ष-प्रमाण एक विभाग शेष रहे, तब आगामी आयुके बन्धका अवसर आवेगा। यदि इसमें भी आयुका बन्ध न हो सके तो पुनः २४३ वर्ष वर्तमान आयुके शेष रहने पर आगामी आयु-बन्धनेका अवसर आवेगा। तदनन्तर ८१ वर्ष, २७ वर्ष, ९ वर्ष, ३ वर्ष और १ वर्ष शेष रहने पर आगामी आयुके बन्धनेके अवसर प्राप्त होंगे। यदि इन आठों ही अवसरोंमें परभवकी आयुका बन्ध न होवे, तो मरणके समय आसंक्षेपाद्धा काल शेष रहने पर नियमसे परभवकी आयुका बन्ध हो जाता है। इस प्रकारकी त्रिभंगीके उपदेश होनेसे भगवान् त्रिभंगीश कहलाते हैं। (४, ८४)

१४-श्रुद्धीश—तपोबलसे जो बौद्धिक, शारीरिक, वाचिक या मानसिक विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, उसे श्रुद्धि कहते हैं। ये श्रुद्धियाँ बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, क्षय, बल, औषध, रस और क्षत्रके भेदसे आठ प्रकारकी होती हैं। इनमेंसे बुद्धि श्रुद्धिके अठारह भेद हैं—१ केवलज्ञान, २ मनः पर्यवसान,

३ अक्षिज्ञान, ४ बीजबुद्धि, ५ कोष्ठबुद्धि, ६ पदानुसारित्व, ७ संमिश्र संभ्रोतृत्व, ८ दूरास्वादन्त्व, ९ दूर-स्पर्शनत्व, १० दूरदर्शनत्व, ११ दूराभ्रायात्व, १२ दूरभवयात्व, १३ दशपूर्वित्व, १४ चतुर्दशपूर्वत्व, १५ अष्टांगमहानिमित्तकुशलत्व, १६ प्रज्ञाभमयात्व, १७ प्रत्येकबुद्धत्व और १८ वादित्व ।

इनका संक्षेपमें अर्थ इस प्रकार जानना चाहिए :—

१ केवलज्ञान—त्रैकालिक सर्व पदार्थोंके अनन्त गुण-पर्यायोंको युगपत् जानना ।

२ मनःपर्ययज्ञान—पर-मनोगत पदार्थोंको स्पष्ट जानना ।

३ अक्षिज्ञान—रूपी पदार्थोंको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको अपेक्षा स्पष्ट जानना ।

४ बीजबुद्धि—एक बीज पद सुनकर समस्त ग्रन्थको जान लेना ।

५ कोष्ठबुद्धि—विभिन्न प्रकारके तत्त्वोंका स्वबुद्धिमें व्यवस्थित रूपसे धारण करना ।

६ पदानुसारित्व—किसी भी ग्रन्थ आदिके आदि, मध्य या अन्तमें जिस किसी भी पदको सुनकर समस्त ग्रन्थके अर्थका अवधारण करना ।

७ संमिश्रसंभ्रोतृत्व—नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बे चक्रवर्तीके कटकमें रहनेवाले हाथी, घोड़े, ऊँट, मनुष्य आदिकों नाना प्रकारकी बोलियोंको स्पष्ट रूपसे पृथक् सुननेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

८ दूरास्वादन्त्व—सैकड़ों योजनकी दूरीपर स्थित रखके आस्वाद लेनेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

९ दूरस्पर्शनत्व—अनेक सहस्र योजन दूरस्थ पदार्थोंके छूनेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

१० दूरदर्शनत्व—सहस्रों योजन दूरस्थ पदार्थोंके देखनेको शक्तिका प्राप्त होना ।

११ दूराभ्रायात्व—सहस्रों योजन दूरवर्ती गन्धके सूँघनेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

१२ दूरभवयात्व—सहस्रों योजन दूरके शब्दको सुननेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

१३ दशपूर्वित्व—आचारगाम्दि दश पूर्वोंका ज्ञान प्राप्त होना ।

१४ चतुर्दशपूर्वित्व—चौदह पूर्वोंका ज्ञान प्राप्त होना ।

१५ अष्टांगमहानिमित्तकुशलत्व—अन्तरित्त, भौम, अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न; इन आठके आधार पर भविष्यत्कालमें होनेवाले हानि-लाभको जाननेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

१६ प्रज्ञाभमयात्व—परम प्रतिभाशालिनी बुद्धिका प्राप्त होना ।

१७ प्रत्येकबुद्धत्व—बिना किसी अन्यके उपदेशके स्वयं ही प्रबोधको प्राप्त होना ।

१८ वादित्व—महावादियोंको भी शास्त्रार्थमें हरा देनेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

(२) क्रियाश्रुद्धिके दो भेद हैं:—जंघादिचारणत्व और आकाशगामित्व । इनमेंसे जंघादि-चारणत्वके नौ भेद हैं:—

१ जंघाचारणत्व—भूमिके चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करना ।

२ श्रेणिचारणत्व—आकाश प्रदेशपर्यन्तके अनुसार अधर गमन करना ।

३ अग्निशिखाचारणत्व—अग्निकी शिखाके ऊपर गमन करना ।

४ जलचारणत्व—जलके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

५ पत्रचारणत्व—पत्रके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

६ फलचारणत्व—फलके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

७ पुष्पचारणत्व—पुष्पके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

८ बीजचारणत्व—बीजके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये गमन करना ।

९ तन्तुचारणत्व—तन्तुके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

आकाशगामित्व—वैश्वेके उठाने या रखनेके बिना ही आकाशमें गमन करना, पग रखते हुए गमन करना, पद्मसन या खड्गासनसे अवस्थित दशमें ही आकाशमें गमन करना ।

(३) **विक्रिया**—श्रुद्धिके—अग्निमा आदि अनेक भेद हैं ।

१ अग्निमा—शरीरको अत्यन्त छोटा बना लेना । कमलनालमें भी प्रवेश कर जाना, उसमें बैठकर चक्रवर्तीकी विभूतिको बना लेना ।

२ महिमा—सुमेरुपर्वतसे भी बड़ा शरीर बना लेना ।

३ लघिमा—शरीरको वायु या आकाशकी रईसे भी हलका बना लेना ।

४ गरिमा—शरीरको वज्रसे भी भारी बना लेना ।

५—प्राप्ति—भूमि पर स्थित रहते हुए भी अंगुलिके अग्रभागसे सुमेरुकी शिखर, सूर्य, चन्द्र आदिके स्पर्श करनेकी शक्तिको प्राप्त करना ।

६ प्राकाम्य—जलमें भूमिकी तरह चलना, भूमिपर जलके समान डूबना, उलरना और अनेक जातिके क्रिया, गुण, द्रव्यादिका बनाना ।

७ ईशत्व—तीन लोक पर शासन करनेकी शक्तिका पाना ।

८ यशित्व—सर्व जीवोंको वशमें करनेकी शक्तिका पाना ।

९ अग्रतीघात—विना किसी रुकावटके पर्वत आदिके मध्यमें चले जाना ।

१० अन्तर्धान—अदृश्य रूपको बनानेकी शक्तिका पाना ।

११ कामरूपित्व—इच्छानुसार नाना प्रकारके रूपोंको बनानेकी शक्तिका पाना ।

(४) **तप श्रुद्धिके सात भेद हैं**—१ उग्रतप, २ दीप्ततप, ३ तप्ततप, ४ महातप, ५ घोरतप, ६ घोरपराक्रमत्व और ७ घोरगुण ब्रह्मचारित्व । इनमें उग्रतपके दो भेद हैं—उग्रोग्रतप और अवस्थितोग्रतप ।

१ उग्रतप—जो एक उपवास करके पारणाके पश्चात् दो दिन उपवास करते हैं, पुनः पारणा करके तीन दिनका उपवास ग्रहण करते हैं । पुनः पारणा करके चार दिनका उपवास ग्रहण करते हैं । इसप्रकार जीवनपर्यन्त एक-एक दिनका उपवास बढ़ाते हुए विचरनेको उग्रोग्रतप कहते हैं । जो दीक्षा दिवसके उपवासके पश्चात् पारणा करके एक उपवास और एक पारणा करते हुए विचरते हैं, उन्हें यदि किसी कारणवश पारणाके दिन आहारका लाभ न हो, और दो उपवास लगातार हो जायें, तो वे निरन्तर बेला यानी दो उपवासके पश्चात् पारणा करते हुए विचरते हैं । यदि किसी दिन पारणा न हो और लगातार तीन उपवास हो जायें, तो वे पुनः तेलाके अनन्तर ही पारणा करते हुए विचरते हैं, इसप्रकार आगे भी अवस्थित रूपसे उपवास और पारणाके साथ तपश्चरण करनेको अवस्थितोग्रतप कहते हैं । उक्त दोनों प्रकारके उग्रतप करनेवाले साधु अपनी तपश्चर्याको बढ़ाते ही जाते हैं, पीछे कभी नहीं मुड़ते ।

२ दीप्ततप—महोपवास करने पर भी जिनका शारीरिक, वाचनिक और मानसिक बल प्रवर्धमान रहता है, मुखसे दुर्गन्ध नहीं आती, प्रत्युत कमलके समान सुगन्धित निःस्वास निकलता है, ज्यों-ज्यों तपश्चर्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों जिनका शरीर उत्तरोत्तर प्रभा और कान्तिसे युक्त होता जाता है, ऐसे महान् तपको दीप्त तप कहते हैं ।

३ तप्ततप—तपे हुए तपे पर गिरी हुई जलकी बिन्दु जैसे तत्काल सूख जाती है, इनी प्रकार उपवासके अनन्तर अल्प आहारके ग्रहण करते ही उसका रस रश्मि आदिके रूपसे परिणत हो जाना और मल-मूत्रादिका न होना तप्ततप कहलाता है ।

४ महातप—पद्म, मास, चतुर्मास, छह मास और एक वर्षका उपवास करना महातप है । इस महातपके अनुष्ठायी अस्तीर्णादि, सर्वौषधि आदि अनेक श्रुद्धियोंसे युक्त होते हैं ।

५ घोरतप—वात, पित्तादिके प्रकुपित हो जानेसे अनेक प्रकारके रोग हो जानेपर भी अनशानादि तपोंके अनुष्ठानमें दृढ़ रहना घोर तप कहलाता है । इस तपके करनेवाले तपस्वी बढ़ीसे बढ़ी बीमारी हो

जानेपर भी यदि अनशन तप कर रहे हों, तो छह मास तकका उपवास कर डालते हैं, अवमोदर्य तप करते हुए एक प्रात आहार पर ही वर्षों वसर कर लेते हैं, वृत्तिपरिर्वख्यान तप करते हुए तीन-चार घंटे अधिक नहीं जाते, रत्नपरित्याग तप करते हुए केवल उष्ण जल और चावल पर जीवन निर्वाह कर लेते हैं, विविक्त-शय्यासन तककी अपेक्षा भयानक स्मशानागम, पर्वतोंकी कन्दराओं और गुफाओंमें, सिंह, चीता, व्याघ्रादिके भरे वनोंमें जीवन-पर्यन्त रहते हैं और आतप, वर्षा और शीतका प्रबल कायक्लेश सहन करते हैं ।

६ घोरपराक्रमत्व—जो घोर तपस्वी साधु एहीत तपको उत्तरोत्तर बढ़ाते रहते हैं और उसके द्वारा वे ऐसे पराक्रमको प्राप्त करते हैं कि जिलके द्वारा यदि वे चाहें, तो मूर्मडलको उलट-पुलट कर दें, पर्वतोंको भी चला दें, सागरको भी सुखा दें और अग्नि, जल तथा पापास्यकी भी वर्षा कर दें । ऐसे महान् तपको घोरपराक्रमतप कहते हैं ।

७ घोरगुणब्रह्मचारित्व—चिरकाल तक तपश्चरण करते हुए अस्खलित ब्रह्मचारी रहना, दुःस्वप्नोका नहीं आना, जिनके तपोमाहात्म्यसे भूत, प्रेत, डाकिनी-शाकिनी आदि तुरन्त भाग जायें, बड़ी-बड़ी बीमारियों शान्त हो जायें और वैर, कलह तथा दुर्मिज्ञादि भी मिट जायें, ऐसे महान् तपको घोर गुणब्रह्मचारित्व कहते हैं ।

५ बल ऋद्धिके तीन भेद हैं—मनोबल, वचनबल, और कायबल ।

मनोबल—अन्तर्मुहूर्तमें सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुतके अर्थ-चिन्तनकी सामर्थ्यका पाना ।

वचनबल—अन्तर्मुहूर्तमें सकल श्रुतके पाठ करनेकी शक्तिका प्राप्त करना ।

कायबल—एक मास, चार मास, छह मास और एक वर्ष तक कायोत्सर्ग करके प्रतिमा योगको धारण करनेपर भी क्रेश-रहित रहना और कनीयसी (छोटी) अँगुलीके द्वारा तीनों लोकोको उठाकर अन्यत्र रखनेकी सामर्थ्यका होना ।

(६) ऋषिषि ऋद्धिके आठ भेद हैं—१ आमर्षा, २ च्चेल, ३ जल्ल, ४ मल, ५ विट्, ६ सर्वौषधिप्राप्त, ७ आस्याविष, ८ दृष्टबाविष ।

१ आमर्षा—हस्त, पाद आदिके स्पर्शसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना ।

२ च्चेल—निडीवन (शूक) कफ, लार आदिके संयोगसे रोगियोंके रोगोंका नष्ट हो जाना ।

३ जल्ल—प्रखेद (पसेव या पसीना) के आभ्रयसे संचित रजोमलके द्वारा रोगियोंके रोगोंका नष्ट हो जाना ।

४ मल—कान, नाक, दँत और आँखके मलसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना ।

५ विट्—विष, मूत्र, शुक्र आदिके संयोगसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना ।

६ सर्वौषधिप्राप्त—शरीरके अंग-प्रत्यंग आदि किसी भी अवयवके संस्पर्शसे, अथवा अवयव-संस्पृष्ट वायुके संस्पर्शसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना ।

७ आस्याविष—उम्र विषसे मिश्रित भी आहार जिनके सुखमें जाते ही निर्विष हो जाय, अथवा जिनके वचनोंको सुनकर महान् विषसे व्याप्त भी पुरुष विष-रहित हो जायें ।

८ दृष्टबाविष—जिनके अत्रलोकन मात्रसे ही जीवोंके शरीरमें व्याप्त भयंकरसे भी भयंकर विष दूर हो जाय । अथवा दृष्टिबिष सर्पादिकोंका विष जिनकी दृष्टिसे दृष्टि मिलते ही दूर हो जाय ।

(७) रस ऋद्धिके छह भेद हैं—१ आस्याविष, २ दृष्टिबिष, ३ क्षीरास्त्रावी, ४ मध्यास्त्रावी, ५ सर्पिणस्त्रावी और ६ अमृतास्त्रावी ।

१ आस्याविष—क्रोधविषमें किसी प्राण्यसे 'मर जाओ' ऐसा कहनेपर तत्काल उसका मरण हो जाय, ऐसी सामर्थ्यका प्राप्त होना ।

२ दृष्टिद्विष—क्रोधावेशमें जिसकी और देखें उसका तत्क्षण मरण हो जाय ।

३ क्षीणस्वाधी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन दूधके समान स्वादयुक्त हो जाय । अथवा जिनके वचन श्रोताओंको दूधके समान सन्तोष और पोषणको दें ।

४ मध्वास्वाधी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन मधुके समान मिष्ट हो जाय । अथवा जिनके वचन श्रोताओंको मधुके समान मिष्ट प्रतीत हो ।

५ सर्पिणस्वाधी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन धीके समान स्वादयुक्त हो जाय । अथवा जिनके वचन श्रोताओंको धीके समान मधुर प्रतीत हो ।

६ अमृतास्वाधी—जिनके हाथमें रखा हुआ रुखा भी भोजन अमृतके स्वाद-समान परिखत हो जाय । अथवा जिनके वचन श्रोताओंको अमृत-तुल्य प्रतीत हो ।

(८) श्रेष्ठश्रद्धिके दो भेद हैं—अक्षीण महानस श्रद्धि और अक्षीणमहालय श्रद्धि ।

१ अक्षीणमहानस श्रद्धि—इस श्रद्धिके धारक साधु जिस रसोई घरमें भोजन कर आवें, उस दिन उसके यहाँ चक्रवर्तीके परिवारके भोजन कर लेनेपर भी भोजनकी कमीका न होना ।

२ अक्षीणमहालय श्रद्धि—इस श्रद्धिके धारक साधु जिस मठ, वसतिगा आदि स्थानपर बैठे हो, वहाँ पर समस्त, देव, मनुष्य, तिर्यक आदिके निवास करने पर भी स्थानको कमीका न होना ।

इस प्रकार बुद्धिश्रद्धिके १८, क्रियाश्रद्धिके १०, धिक्रियाश्रद्धिके ११, तपोश्रद्धिके ८, बलश्रद्धिके ३, औपनिषदश्रद्धिके ८ और रसश्रद्धिके ६ ये सब भेद मिलाने पर (१८ + १० + ११ + ८ + ३ + ८ + ६ = ६४) चौंसठ भेद हो जाते हैं । जिनेन्द्र भगवान् इन सभी श्रद्धियोगके और श्रद्धिधारक साधुओंके स्वामी होते हैं, अतएव उन्हें श्रद्धीश्वर कहते हैं । (५, ६६)

१५—योगी—जिसके योग पाया जाय, उसे योगी कहते हैं । ध्यानकी अष्टांग सामग्रीका योग कहते हैं । वे आठ अंग ये हैं :—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । हिसादि पंच पापोंके यावज्जीवन त्यागको यम कहते हैं । कालकी मर्यादा सहित भोगोपभोग-सामग्रीके त्यागको नियम कहते हैं । चंचलता-रहित हाकर स्थिरतापूर्वक बैठने या खड़े रहनेका आसन कहते हैं । श्वालो-छ्वासके निरोधका प्राणायाम कहते हैं । मनको पाँचों इन्द्रियोंके विषयसे हटाकर ललाटपट्ट पर 'अहं' अक्षरके ऊपर लगानेका प्रत्याहार कहते हैं । आर्त्त-गैद्र परिणामोंका परित्याग कर आत्मकल्याणके चिन्तनको ध्यान कहते हैं । आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेको समाधि कहते हैं । इस प्रकारकी समाधिके प्राप्त करनेके लिए जो विशेष चिन्तन किया जाता है, उसे धारणा कहते हैं । उस धारणाके ५ भेद हैं :—पार्थिवी-धारणा, आग्नीधारीधारणा, मास्तीधारणा, वायुधारीधारणा और तात्त्विक धारणा ।

(१) पार्थिवीधारणाका स्वरूप—इस मध्यलोकको क्षीरसमुद्रके समान निर्मल जलसे भर्य हुआ चिन्तन करे । पुनः उसके बीचमें जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन चौड़ा, एक हजार पत्तोंवाला तथाये हुए स्वर्णके समान चमकता हुआ एक कमल विचारे । कमलके मध्यमें कर्णिकोंके समान सुवर्णमयी सुमेरु पर्वत चिन्तन करे । उसके ऊपर पांडुकनमें पांडुक शिलापर स्फटिक मणिमयी सिंहासन विचारे । फिर यह सोचे कि उस सिंहासन पर मैं आसन लगाकर इसलिए बैठा हूँ कि अपने कर्मोंको जलाकर आत्माको पवित्र कर डालूँ । इस प्रकारके चिन्तन करनेको पार्थिवीधारणा कहते हैं ।

(२) आग्नीधरी धारणाका स्वरूप :—उसी सुमेरु पर्वतके ऊपर बैठा हुआ वह प्यानी अपनी नामिके भीतर ऊपरकी और उठा हुआ, एवं खिले हुए सोलह पत्तोंका सफेद कमल विचारे । उसके प्रत्येक पत्तेपर पीतवर्णके सोलह स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ल, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, झं, झः) लिखे हुए विचारे । इस कमलके मध्यमें श्वेतवर्णकी कणिका पर 'हं' अक्षर लिखा हुआ सोचे । पुनः

दूसरा कमल ठीक इस कमलके ऊपर आधा नीचेकी ओर मुझ किये फैले हुए, आठ पत्तोंवाला सोचे । इसका धुँआँ जैसा कुछ मैला रंग विचारे । इसके प्रत्येक पत्तेपर क्रमशः काले रंगसे लिखे हुए ज्ञानावस्थायी दर्शनावस्थायी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मोंको विचारे । पुनः नामिकमलके बीचमें जो 'ई' लिखा है, उसके रफसे धुँआँ निकलता विचारे । पुनः धीरे-धीरे उससे अग्निकी शिखाको निकलती हुई विचारे । यह अग्निकी शिखा बढ़ती हुई ऊपरको आकर आठ कर्म दलवाले कमलको जला रही है, ऐसा विचारे । फिर वह अग्निकी शिखा कमलका मध्यभाग जलाकर ऊपर मस्तक पर आ जावे और उसकी एक लकीर दाहिनी ओर आ जावे । फिर नीचेकी ओर आकर दोनों कोनोंको मिलाकर एक अग्निमयी लकीर बन जावे अर्थात् अपने शरीरके बाहर तीन कोनका अग्निमंडल ध्यात हो गया है, ऐसा विचारे । इस त्रिकोण अग्निमंडलकी तीनों लकीरोंमें १ २ २ २ अग्निमय लिखा विचारे । फिर इस त्रिकोणके बाहर तोनों कोनोंपर सांघियाका अग्निमयी सोचे । भीतर तीनों कोनोंमें 'अहं' ऐसा अग्निमय लिखा हुआ विचारे । फिर यह सोचे कि भीतर तो आठ कर्मोंको और बाहर इस शरीरको यह अग्निमंडल जला रहा है, जलाते-जलाते सर्व कर्म वा शरीर राख हो गये हैं और अग्नि धीरे-धीरे शान्त हो रही है और आत्मा स्फटिक बिम्बदृश दिखाई दे रहा है । इस प्रकारके चिन्तन करनेको आग्नेयी-धारणा कहते हैं ।

(३) मास्ती धारणाका स्वरूप:—फिर वही ध्यानी ऐसा चिन्तन करे कि चारों ओर बड़े जोरसे निर्मल वायु वह रही है और मेरे चारों तरफ वायुने एक गोल मंडल बना लिया है ! उस मंडलमें आठ जगह बेरमें 'सायं सायं' सफेद रंगसे लिखा हुआ है । वह वायु कर्म व शरीरकी भस्मको उड़ा रही है और आत्माको स्वच्छ कर रही है । इस प्रकारके चिन्तन करनेको मास्ती धारणा कहते हैं ।

(४) वास्वी धारणाका स्वरूप:—फिर वह ध्यानी ऐसा विचार करे कि आकाशमें मेघोंके समूह आ गये, बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे और सूब जोरसे पानी बरसने लगा है । अपनेको बीचमें बैठा हुआ विचार करे अपने ऊपर अर्धचन्द्राकार पानीका मंडल विचार । उसे 'प प प प' जलके बीजाक्षरसे लिखा हुआ चिन्तन करे और यह सोचे कि यह जल मेरे आत्मापर लगी हुई थलकी धाँकर साफ कर रहा है और मेरा आत्मा स्वच्छ दर्शयवत् निर्मल हो रहा है । ऐसा विचार करनेको वास्वी धारणा कहते हैं ।

(५) तार्विकी धारणाका स्वरूप—तदनन्तर वह ध्यानी चिन्तन करे कि मैं समवस्तरणके मध्यवर्ती सिंहासनपर बैठा हुआ हूँ, मेरा आत्मा केवलशानसे मंडित है, कोटि सूर्य चन्द्रकी कान्तिको तिरस्कृत कर रहा है और द्वादश सभाके सर्व जीव मुझे नमस्कार कर रहे हैं । अब मैं शुद्ध, सुद्ध, दृढदृढ्य, परम वीरपग सर्वत्र हो गया हूँ । मेरा आत्मा अखंड चैतन्य-पिंड स्वरूप है, अनन्त गुणोंका धाम है और मैं अब सर्वथा निर्लेप, अजर, अमर पदको प्राप्त हो गया हूँ । इस प्रकारके चिन्तन करनेको तार्विकी धारणा कहते हैं ।

(६, १)

१६-**करुणायक**—आत्माके जो परिणाम कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात करनेमें सहायक होते हैं, उन्हें करुण कहते हैं । उनके तीन भेद हैं:—अधः प्रवृत्तकरुण, अपूर्वकरुण और अनि-वृत्तिकरुण । जब जीव सत्यन्तर, देश संयम, सकल संयम, उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणीको प्राप्त करनेके लिए उद्यत होता है, तब वह इन्हीं तीनों परिणामविशेषोंके द्वारा अपना अमीष्ट सिद्ध करता है । जिस समय जीवके परिणाम प्रतिज्ञया उत्तरोत्तर विशुद्धिको लिए हुए बढ़ते हैं और आगे-आगेके समयोंमें उनकी विशुद्धिता बराबर बढ़ती जाती है, परन्तु फिर भी जो उपरितन समयवर्षी परिणाम अधस्तन समयवर्षी जीवोंके साथ समता लिए हुए पाये जाते हैं, उन्हें अधः प्रवृत्तकरुण कहते हैं । जिन परिणामोंमें विशुद्धि उत्तरोत्तर अनन्तरगुणी अपूर्वता लिए हुए पाई जाती है और जिसके द्वारा प्रतिज्ञया कर्मोंका असंख्यात्तगुणी निर्जय होने लगती है, तथा उनकी स्थिति और अनुभाग भी बढ़ी तेजीसे घटने लगते हैं, ऐसे परिणामोंको अपूर्वकरुण कहते हैं । इसके अनन्तर वेही परिणाम जब और भी अधिक विशुद्धिको लेकर बढ़ते हैं और

जिनके द्वारा कपोंकी स्थिति और अनुभागका घात होने लगता है, तथा जिनके द्वारा ही जीव सम्यक्त्व, देशसंयम, सकलसंयम आदिको प्राप्त करता है, ऐसे विशिष्ट परिणामोंको अनिष्टतिकरण कहते हैं। भगवान्ने ऐसे विशिष्ट जातिके करण-परिणामोंका प्रवर्तन किया है, इसलिए उन्हें करणनायक कहते हैं। (६, १६)

१७-निर्ग्रन्थनाथ—सर्व ब्रह्म और आन्यन्तर परिग्रहसे रहित साधुओंको निर्ग्रन्थ कहते हैं। निर्ग्रन्थ साधुओंके चार भेद हैं—१. ऋषि, २ यति, ३ मुनि और ४ अनगर। ऋषि-सम्बन्ध साधुओंको ऋषि कहते हैं। अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञानी साधुओंको मुनि कहते हैं। कर्माओंके उपशमन या क्षय कहनेवाले साधुओंको यति कहते हैं और जो घर छाड़कर वनमें निवास करते हैं, तथा शुद्ध मूलगुण और उत्तरगुणोंका पालन करते हैं, उन्हें अनगर कहते हैं। भगवान् इन चारों ही प्रकारके साधुओंके नाथ हैं, अतः उन्हें निर्ग्रन्थनाथ कहते हैं। (६, २०)

१८-महाशील शीलके अठारह हजार भेदोंके धारण करनेसे भगवान्को शीलेश या महाशील नामसे पुकारते हैं। शीलके अठारह हजार भेद इस प्रकार निष्पन्न होते हैं—अशुभ मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको शुभ मन, वचन, कायके द्वारा रोकनेसे (३ × ३-६) नौ भेद होते हैं। इन नौ भेदोंको आहार, भय, मिथुन और परिग्रहरूप चारों संशयोके परित्यागसे गुणित करनेपर (६ × ४ = २४) छत्तीस भेद हो जाते हैं। इन्हें पाँचों इन्द्रियोंके निरोधसे गुणित करनेपर (२४ × ५ = १२०) एकलौ अस्ती भेद हो जाते हैं। इन्हें पृथ्वी, अग्नि, तेज, वायु, वनस्पति, दीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंश्लेषेन्द्रिय और संश्लेषेन्द्रिय इन दश प्रकारके जीवोंको रक्षाके द्वारा गुणित करनेसे (१२० × १० = १२००) अठारहौं भेद हो जाते हैं। उन्हें उत्तम जमादि दश धर्मोंसे गुणित करने पर (१२०० × १० = १२०००) अठारह हजार शीलके भेद हो जाते हैं। कुछ आचार्योंके मतसे अन्य प्रकार अठारह हजार भेद उत्पन्न होते हैं—स्त्रियों तीन जातिकी होती हैं। देवी, मानुषी और तिरस्त्री। इनका मन, वचन कायसे त्याग करने पर (३ × ३ = ६) नौ भेद होते हैं। इन्हें कृत, कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर (६ × ३ = १८) सत्कार्य भेद होते हैं। इन्हें पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विषयोंसे गुणित करने पर (१८ × ५ = ९०) एकलौ पतंतीस भेद हो जाते हैं। इन्हें द्रव्य और भावसे गुणित करने पर (१३५ × २ = २७०) दो सौ सत्तर भेद हो जाते हैं। इन्हें चार संशयोके त्यागसे गुणा करने पर (२७० × ४ = १०८०) एक हजार अस्ती भेद हो जाते हैं। इन्हें अनन्तानुग्रहो आदि सोलह कर्मायके त्यागसे गुणित करने पर (१०८० × १६ = १७२८०) सत्तर हजार दो सौ अस्ती भेद हो जाते हैं। ये चेतन स्त्री-सम्बन्धी भेद हुए। अचेतन स्त्री काष्ठ, पाषाण और लोपक भेदसे तीन प्रकारका होती है। इन तीनोंका मन और कायसे त्याग करने पर (३ × २ = ६) छह भेद हो जाते हैं। उनका कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करने पर (६ × ३ = १८) अठारह भेद हो जाते हैं। उन्हें स्वर्ण आदि पाँच विषयोंसे त्याग करने पर (१८ × ५ = ९०) भेद होते हैं। उन्हें द्रव्य-भावसे गुणा करने पर (९० × २ = १८०) एक सौ अस्ती भेद होते हैं। उन्हें क्रोधादि चार कर्मायोंसे त्याग करने पर (१८० × ४ = ७२०) माल सौ अस्ती भेद अचेतन स्त्रीके त्याग सम्बन्धी होते हैं। इस प्रकार चेतन स्त्री-त्याग सम्बन्धी १७२८० भेदोंमें इन ७२० भेदोंके मिला देनेपर कुल १८००० शीलके भेद हो जाते हैं। (६, ३५। १०, ७२)

१९-आचार्यपरमेष्ठीके ३६ गुण—इस प्रकार बतलाये गये हैं—१ पंचाचारका धारण करना, २ संघ और श्रुतका धारण करना, ३ भोजन-पान, स्थान-शय्या आदिमें व्यवहारवान् होना, ४ शिष्योंके अवगुणोंको दूसरोंके सामने प्रगट न करना, ५ साधुके लज्जित होनेपर दोषका दांफना, ६ अन्य साधुके सामने दूसरे साधुके दोष न कहना, ७ दूसरोंके अभिभाषणमें सन्तुष्ट रहना, ८ किसी साधुके परीषदादिके न सह सकनेके कारण उद्विग्न या चल-चिन्त होनेपर नाना प्रकारके सुन्दर उपदेश देकर उसे स्वधर्ममें स्थापित करना। ९ स्थितिकल्पों होनेपर भी वलका त्यागी रहना, १० अनुदिष्टाहारभोजी होना, ११ जिस ग्राममें निद्रा ले,

दूसरे दिन उम ग्राममें भोजन न करे, १२ विरक्तचित्त हो, १३ दीक्षा-दिवससे लेकर नित्य ही समता-भाव-पूर्वक प्रतिक्रमण करना, १४ स्वयोग्य क्रतुका धारण करना, १५ संघमें सर्वसे ज्येष्ठ होना, १६ पात्रिक प्रत्याख्यान करने-करानेवाला होना, १७ पण्मासिक योगका धारण करनेवाला होना, १८ एक मासमें दो निषिधाका अवलोकन करना। बारह तपोको धारण करना और छह अवश्यकोका पालना ये आचार्य परमेष्ठीके ३६ गुण कहे गये हैं। (६, ८६)

२०-साधुपरमेष्ठीके २२ गुण—दस सम्यक्त्वगुण, मत्यादि पाँच ज्ञानगुण और तेरह प्रकारका चारित्र, ये साधुके २८ गुण माने गये हैं। इनमेंसे सम्यक्त्वके दस गुण इस प्रकार हैं :—१ आशासम्यक्त्व, २ मार्गसम्यक्त्व, ३ उपदेशसम्यक्त्व, ४ मूत्रसम्यक्त्व, ५ बीजसम्यक्त्व, ६ संक्षेपसम्यक्त्व, ७ विस्तारसम्यक्त्व, ८ अर्थसम्यक्त्व, ९ अबगाढसम्यक्त्व और १० परमावगाढसम्यक्त्व। इनका संक्षेपमें अर्थ इस प्रकार है :—

- १ आशासम्यक्त्व—वीतराग भगवान्की आशाका ही दृढ़ भ्रष्टान करना।
- २ मार्गसम्यक्त्व—तिरिस्त शलाका पुरुषोंका चरित सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।
- ३ उपदेशसम्यक्त्व—धर्मका उपदेश सुनकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना।
- ४ मूत्रसम्यक्त्व—आचार-मूत्रको सुनकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना।
- ५ बीजसम्यक्त्व—द्वादशांगके बीज पदोंको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।
- ६ संक्षेपसम्यक्त्व—तत्त्वोंको संक्षेपसे ही जानकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।
- ७ विस्तारसम्यक्त्व—विस्तारसे द्वादशांगको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।
- ८ अर्थसम्यक्त्व—परमागमके किसी प्रवचनके अर्थको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।
- ९ अबगाढसम्यक्त्व—अंगबाह्य प्रवचनका अवगाहन कर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।
- १० परमावगाढसम्यक्त्व—केवलज्ञानके साथ अत्यन्त अवगाढ सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानगुण और पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुतिरूप तेरह प्रकारका चारित्र सर्वविदित ही हैं। (६, ८६)

२१-सागर—यद्यपि यह भूतकालकी चौबीसमैसे दूसरे तीर्थकरका नाम है, तथापि टीकाकारने निश्चितपूर्वक एक नवीन अर्थका उद्भावन किया है। वे कहते हैं कि गर नाम विषका है, जो गरके साथ रहे, उसे सागर कहते हैं। इस प्रकारकी निश्चित सागर शब्द धरत्येन्द्रका वाचक हो जाता है। भगवान् तीर्थकर उनके अपत्यके समान हैं, अतः उन्हें सागर कहते हैं। भगवान्का धरत्येन्द्रका पुत्र कहनेका अभिप्राय यह बतलाया गया है कि जब तीर्थकर भगवान् बाल-अवस्थामें होते हैं तब धरत्येन्द्र उन्हें अपनी गार्दमें लेकर सिंहासन पर बैठाता है और पुत्रवत् प्यार करता है। (७, २)

२२-निर्मल—इस नामका अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि तीर्थकर, उनके माता-पिता-नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, बलभद्र, देव और भोगभूमियोंके आहार तो होता है, पर नीहार अर्थात् मल मूत्र नहीं होता है। (७, ६८)

२३-रात्रिभोजनका फल—जो मनुष्य रात्रिको भोजन करता है, वह विरुप, विकलांग, अल्पायु, सदायोगी, दुर्भागो और नीच कुलमें उत्पन्न होता है। (८, ६३)

२४-रात्रिभोजनत्यागका फल—जो पुरुष रात्रिके भोजनका सर्वथा त्याग करता है, वह सुरूप, सकलांग, दीर्घायु, सदा नीरोगी, सौभाग्य-सम्पन्न, उच्च कुलीन होता है और जगत्पति या तीर्थकरके वैभव को प्राप्त होता है। (८, ६३)

२५-पुरुषकी बहत्तर कलाएँ—कलानिधि नामकी व्याख्या करते हुए भूतसागर सूत्रिने पुरुषकी बहत्तर कलाओंके नाम इस प्रकार बतलाये हैं :—१ गीतकला, २ वाद्यकला, ३ बुद्धिकला, ४ शौचकला, ५ नृत्यकला, ६ वाच्यकला, ७ विचारकला, ८ मंत्रकला, ९ वास्तुकला, १० विनोदकला, ११ नेपथ्यकला,

१२ विलासकला, १३ नीतिकला, १४ शकुनकला, १५ क्रीडनकला, १६ चित्रकला, १७ संयोगकला, १८ हस्तशास्त्रकला, १९ कुसुमकला, २० इन्द्रजालकला, २१ सूचीकर्मकला, २२ स्नेहकला, २३ पानकला, २४ आहारकला, २५ विहारकला, २६ सौभाग्यकला, २७ गन्धकला, २८ वस्त्रकला, २९ रत्नपरीक्षा, ३० पत्रकला, ३१ विद्याकला, ३२ देशभाषितकला, ३३ विजयकला, ३४ वायिज्यकला, ३५ आयुधकला, ३६ युद्धकला, ३७ नियुद्धकला, ३८ समयकला, ३९ वर्चनकला, ४० गव्यपरीक्षा, ४१ तुरङ्गपरीक्षा, ४२ पुरुषपरीक्षा, ४३ स्त्रीपरीक्षा, ४४ पक्षिपरीक्षा, ४५ भूमिपरीक्षा, ४६ लेपकला, ४७ काष्ठकला, ४८ शिल्पकला, ४९ वृक्षकला, ५० लृक्षकला, ५१ प्रश्नकला, ५२ उत्तरकला, ५३ शास्त्रकला, ५४ शास्त्रकला, ५५ गणितकला, ५६ पठनकला, ५७ लिखितकला, ५८ वस्तुत्वकला, २९ कवित्वकला, ६० कथाकला, ६१ वचनकला, ६२ व्याकरणकला, ५३ नाटककला, ६४ छन्दकला, ६५ अलंकारकला, ६६ दर्शनकला, ६८ अवधानकला, ६८ धातुकला, ६९ धर्मकला, ७० अर्थकला, ७१ कामकला, और ७२ शरीरकला । (८, ८३)

२६-**पोड्यार्थवादी**—इस नामकी व्याख्यामें नैयायिकों द्वारा माने गये सोलह पदायोंका और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका नाम निर्देश किया गया है । (९, ३२)

२७-**पंचार्थवर्णक**—इस नामकी व्याख्या करते हुए चौबीस तीर्थंकरोंके शारीरिक वर्णोंका वर्णन कर नैयायिक, बौद्ध, कारणाद, जैमिनीय और सांख्य मत वालोंके द्वारा माने गये तत्व, देव, प्रमाण, वाद और मोक्षके स्वरूपकी विस्तारसे चर्चा की गई है । साथ ही बतलाया गया है कि नैयायिक-वैशेषिक नैगम नयानुसारी हैं, सभी मीमांसकविशेष संग्रहनयानुसारी हैं, चार्वाक व्यवहारनयानुसारी हैं, बौद्ध ऋषुत्तरनयानुसारी हैं और वैश्याकरणादि शब्दनयानुसारी हैं । (९, ३३)

२८-**पंचविंशतितत्त्वचिन्त**—इस नामकी व्याख्यामें सांख्य-सम्मत पच्चीस तत्वोंका निर्देश करते तथा अहिंसादि पांचों प्रतीकों पच्चीस भावनाओंका, स्वोत्प्रेषण करके पच्चीम क्रियाओंका मवार्थविधि टीकाके अनुसार विस्तारसे वर्णन किया गया है । (९, ४१)

२९-**ज्ञानवैतन्थ्यदृक्**—इस नामकी व्याख्या करते हुए भावभ्रुतके त्रिस भेदोंका गो० जीयकांडकी संस्कृत टीकाके अनुसार विस्तारसे वर्णन किया गया है । साथ ही द्रव्यभ्रुतके भेद बताकर उनके पद परिमाण आदिका भी विस्तृत विवेचन किया है । (९, ४३)

३०-**बहुधानक**—इस नामकी व्याख्यामें एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके तिर्यचों, मनुष्यों, देवों और नाकियोंकी उत्कृष्ट और जवन्य आयुका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है । (९, ७१)

३१-**नर्थाघयुक्**—इस नामकी व्याख्यामें नयोके स्वरूप, भेद आदिका विस्तृत विवेचन कर बताया गया है कि नैगम, संग्रह आदिक भेद आगम-भाषाकी अपेक्षासे कहे गये हैं । किन्तु अप्याप्त-भाषाकी अपेक्षा शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, सद्भूतव्यवहारनय, अमद्भूतव्यवहारनय आदि भेद जानना चाहिए । (९, १००)

३२-**परमनिर्जर**—इस नामकी व्याख्यामें असंख्यातगुणश्रेणीरूप निर्जरवाले दश स्थानोंका विशद विवेचन किया गया है । (९, २३)

३६-**चतुरशीतिलक्षगुण**—इस नामकी व्याख्यामें चौगधी लाल उतरगुणोंकी उत्पत्ति इसप्रकार बतलाई गई है:—१ हिसा, २ झट, ३ चोरी, ४ कुशील, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ १० रति, ११ अरति, १२ भय, १३ जुगुप्सा, १४ मन, बचन, कायकी दुष्टता १५, १६, १७ मिथ्यात्व, १८ प्रमाद, १९ पिशुनत्व, २० अज्ञान और २१ इन्द्रिय इनके निग्रहरूप २१ गुण होते हैं । इनका पालन अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार और अनाचार-रहित करनेसे (२१ X ४ = ८४) चौगधी गुण हो जाते हैं । इन्हें आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना और अज्ञान इन दश

शुद्धियोंसे गुणा करनेपर (८५ × १० = ८५०) आठ सौ चालीस भेद हो जाते हैं। इन्हें पाँचों इन्द्रियोंके निग्रह और एकेन्द्रियादि पाँच प्रकारके जीवोंकी रत्नारूप दश प्रकारके संयमसे गुणित करनेपर (८५० × १० = ८५००) चौगुनी सौ भेद हो जाते हैं। इन्हें आक्रभित अनुमानित, दृढ, बादर, सूत्रम, लज्ज, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तसेवी इन आलोचना-संबंधी दश दोषोंके परिहारसे गुणित करने पर (८५०० × १० = ८५०००) चौगुनी हजार गुण हो जाते हैं। इन्हें उत्तमज्ञान, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्कि-चन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंसे गुणित करनेपर (८५००० × १० = ८५०००००) चौगुनी लाख उत्तर गुण निष्पन्न होते हैं। (६, ३५, ६, ६०, १०, ३६)

३४-अधिष्ठासंस्कारनाशक—इस नामकी व्याख्यामें बताया गया है कि अधिष्ठा या अज्ञानका अज्ञातलीस संस्कारोंके द्वारा नाश करे। उनके नाम इस प्रकार हैं:—१ सदर्शनसंस्कार, २ सम्प्रज्ञानसंस्कार, ३ सञ्चारित्रसंस्कार, ४ सतपःसंस्कार, ५ वीर्यवतुष्कसंस्कार, ६ अष्टमात्प्रवेशसंस्कार, ७ अष्टशुद्धिसंस्कार, ८ परीपह जयसंस्कार, ९ त्रियोगासंयमव्युत्तिशीलसंस्कार, १० त्रिकल्पासंयमापतिसंस्कार, ११ दशासंयमोपरमसंस्कार, १२ अज्ञानिर्जयसंस्कार, १३ संज्ञानिग्रहसंस्कार, १४ दशधर्मवृत्तिसंस्कार, १५ अष्टादशशीलसहस्रसंस्कार, १६ चतुरशीतिलक्षगुणसंस्कार, १७ विशिष्टधर्मध्यानसंस्कार, १८ अतिशयसंस्कार, १९ अप्रमत्तसंयमसंस्कार, २० दृढभ्रुततेजोऽर्कप्रकाशश्रेण्यारोहणसंस्कार, २१ अनन्तगुणशुद्धिसंस्कार, २२ अप्रवृत्तिकृतिसंस्कार, २३ पृथक्त्ववितर्कनीचारध्यानसंस्कार, २४ अपूर्वकल्पसंस्कार, २५ अनिष्टुक्तिरक्षणसंस्कार, २६ बादरकषायकृष्टिकल्पसंस्कार, २७ सूत्रमकषायकृष्टिकरणसंस्कार, २८ बादरकषायनिलैपनसंस्कार, २९ सूत्रमकषायकृष्टिनिलैपनसंस्कार, ३० सूत्रमकषायचरणसंस्कार, ३१ प्रज्ञोद्यमोहत्वसंस्कार, ३२ यथाख्यातचारित्रसंस्कार, ३३ एकत्ववितर्काविचार ध्यानसंस्कार, ३४ धातिघातनसंस्कार, ३५ केवलज्ञान-दर्शनोद्गमसंस्कार, ३६ तीर्थप्रवर्तनसंस्कार, ३७ सूत्रमक्रियाध्यानसंस्कार, ३८ श्लेशीकरणसंस्कार, ३९ परमसंवरवृत्तिसंस्कार, ४० योगकृष्टिकल्पसंस्कार, ४१ योगकृष्टिनिलैपनसंस्कार, ४२ समुच्छिन्नक्रियसंस्कार, ४३ परमनिर्जात्रप्रयणसंस्कार, ४४ सर्वकर्मज्ञयसंस्कार, ४५ अनादिभवपर्ययविनाशसंस्कार, ४६ अनन्तसिद्धत्वादिगतिरसंस्कार, ४७ अदेहसद्भजज्ञानोपयोगैश्वर्यसंस्कार, और ४८ देहसद्भजज्ञानोपयोगैश्वर्यसंस्कार। (१०, ४०)

३५-इदमेध परं तीर्थम्—इस श्लोककी व्याख्यामें इस जिनसहस्रनामस्तवनको परम तीर्थ बतलाते हुए तीर्थक्षेत्रोंके नामोंका उल्लेख किया गया है, जो कि इस प्रकार हैं :—१ अष्टापद (कैलाश) २ गिरनार, ३ चम्पापुरी, ४ पावापुरी, ५ अयोध्या, ६ शत्रुंजय, ७ तुंगीगिरि, ८ गजसंभ ९ चूलगिरि, १० सिद्धवरकूट, ११ मेरुगिरि, (मुक्तागिरि) १२ तारगिरि, (तारंगा) १३ पावागिरि, १४ गोमटस्वामि, १५ माणिक्यंदेव १६ जीयवलि, १७ रेवातट, १८ रजपुर १९ हस्तिनापुर, २० वाणारखी और २१ राजगृह आदि। (श्लोक-नं० १४२)

३६-स्वध्वस्तपरमासन—इस नामकी जो दोनों टीकाकारोंने व्याख्या की है, उससे विदित होता है कि केवलज्ञान होनेके पश्चात् तीर्थकर भगवान विहारके समय भी पद्मासन्स्थित ही गगनविहारी रहते हैं। इसे देखते हुए, जो लोग भक्त्यामरस्तोत्रके 'पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र भक्तः पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति' का आशय लेकर अरहंत अवस्थामें भी तीर्थकर भगवानके पाद-निक्षेप मानते हैं वह मान्यता विचारणीय हो जाती है। (६-१०)

जिनसहस्रनामस्तवन

(पं० आशाधरविरचितम्)

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विषयो दुःस्वभीरुकः । एष विज्ञापयामि त्वां शरपर्यं करुणार्थवम् ॥ १ ॥
सुखलालसया मोहप्व् भ्राम्यन् बहिरितस्ततः । सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥
अथ सोद्वद्राहादेशार्थिख्यात्किञ्चिदुपमुखः । अनन्तगुणमासेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः ॥ ३ ॥
भक्त्या प्रोत्सार्थमात्थोऽपि वृं शक्त्या निरस्कृतः । त्वां नत्मादसहस्रैश्च स्तुत्वाऽऽत्मानं पुनाम्यहम् ॥ ४ ॥
जिन-सर्वज्ञ-यज्ञाहं-तीर्थकृन्नाथ-योगिनाम् । निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धांतकृतां चाष्टोत्तरैः शनैः ॥ ५ ॥

१ अथ जिनशतम्

जिनो जिनेन्द्रो जिनराट् जिनपृष्ठो जिनोत्तमः । जिनाधिपो जिनाधोगो जिनस्वामी जिनेश्वरः ॥ ६ ॥
जिननाथो जिनपतिर्जिनराजो जिनाधिराट् । जिनप्रभुर्जिनविभुर्जिनभक्तो जिनाधिभूः ॥ ७ ॥
जिनेता जिनेशानो जिनेनो जिननाथकः । जिनेट् जिनपरिचूढो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥
जिनाधिराजो जिनपो जिनेशो जिनशासिता । जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिर्जिनपालकः ॥ ९ ॥
जिनबन्धो जिनादित्यो जिनाकोर् जिनकुंजरः । जिनेन्दुर्जिनधैर्यो जिनधुर्मां जिनोत्तरः ॥ १० ॥
जिनवर्षो जिनवरो जिनसिंहो जिनोद्भवः । जिनर्षभो जिनवृषो जिनरत्नं जिनरोसम् ॥ ११ ॥
जिनेशो जिनशाहूँतो जिनाग्रयं जिनपुंगवः जिनहंसो जिनोत्तं सो जिननागो जिनाग्रयोः ॥ १२ ॥
जिनप्रथेकश्च जिनद्रामयीर्जिनसत्तमः । जिनप्रवर्हः परमजिनो जिनपुरोगमः ॥ १३ ॥
जिनश्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुक्यो जिनाग्रिमः । श्रीजिनश्रोतमजिनो जिनवृन्दारकोऽरिजित् ॥ १४ ॥
निर्विशो विरजाः शुद्धो निस्तमस्को निरज्जनः । घातिकर्मान्तकः कर्ममर्माधिकर्महानयः ॥ १५ ॥
वीतरागोऽबुद्धो निर्मोहो निर्मदोऽगदः । विन्द्यो निर्ममोऽसंगो निर्मयो वीतविस्मयः ॥ १६ ॥
अस्वभो निःश्रमोऽजन्मा निःस्वेदो निर्जरोऽमरः । अरत्यतीनो निश्चिन्तो निर्विषादन्निपट्टिजित् ॥ १७ ॥

२ अथ सर्वज्ञशतम्

सर्वज्ञः सर्वविस्सर्वदर्शी सर्वोवलोकनः । अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखात्मकः ॥ १८ ॥
अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदृशाऽखिलार्थहृत् । नृपसदृशश्चतुर्विधचक्रुरोपवित् ॥ १९ ॥
आनन्द परमानन्दः सदानन्दः सदादयः । नित्यानन्दो महानन्दः परानन्दः परोदयः ॥ २० ॥
परभोजः परतेजः परंधाम परंमहः । प्रत्यक्षयोतिः परंज्योतिः परंब्रह्म परंरहः ॥ २१ ॥
प्रथगत्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदयः । परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतनः ॥ २२ ॥
परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठितः । ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरुद्धात्मा दृढात्माहृत् ॥ २३ ॥
पृकविषो महाविषो महाब्रह्मपदेश्वरः । पंचब्रह्ममयः सार्वः सर्वविघ्नेश्वरः स्वभूः ॥ २४ ॥
अनन्तवीरनन्तात्माऽनन्तशक्तिरनन्तहृत् । अनन्तानन्तवीरशक्तिरनन्तचिद्वनन्तमुत् ॥ २५ ॥
सदाप्रकाशः सर्वार्थसाक्षात्कारी समग्रधीः । कर्मसाक्षो जगच्चरुलक्ष्यात्माऽचलस्थितिः ॥ २६ ॥
निराबाधोऽप्रत्यक्षात्मा धर्मचक्री विदांबरः । मृतात्मा सहजज्योतिर्विश्वज्योतिरतीन्द्रियः ॥ २७ ॥
केवली केवलालोको लोकालोकरिखोकनः । विविक्तः केवलोऽम्बकः शरदयोऽचिन्त्यवैभवः ॥ २८ ॥
विश्वदृष्टिश्चरुत्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः । विश्वम्बापी स्वर्ज्योतिरचिन्त्यात्माऽमितप्रभः ॥ २९ ॥
महोदर्यो महाधोधिर्महाज्ञानो महोदयः । महोपभोगः सुगतिर्महाभोगो महाबलः ॥ ३० ॥

१ 'प्रोत्साहमानोऽपि' इत्यपि पाठः ।

३ अथ यज्ञार्हशतम्

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महाहो मधवार्षितः । भूतार्थयज्ञपुरवो भूतार्थक्रतुवीर्यः ॥३१॥
 पूज्यो भृष्टरक्तप्रभवानन्नभवाग्मिहान् । महामहाहस्तत्रायुस्ततो दीर्घापुरर्ष्यवाक् ॥३२॥
 आराध्यः परमाराध्यः पंचकल्याणपूजितः । हृदिकशुद्धिगणोदमो बसुधाराचिंतास्पदः ॥३३॥
 सुस्वप्नदर्शी दिव्यीजाः शचीसेवितमातृकः । स्याद्भक्तगर्भः श्रीपूतगर्भो गर्भोस्त्रिबोच्छ्रुतः ॥३४॥
 दिव्योपचारोपचितः पद्मभूमिक्लृप्तः स्वजः । सर्वीयजन्मा पुत्रयोगो भास्वानुद्भूतद्वैवतः ॥३५॥
 विश्वविज्ञातसंभूतिर्विश्वदेवागमाद्भुतः । शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः सहस्राष्टगुत्सवः ॥३६॥
 नृत्यदैरावतासीनः सर्वशक्रनमस्कृतः । हर्षाङ्कुलामरस्वगभ्रारक्षिर्मतोत्सवः ॥३७॥
 ध्योम विष्णुपदारुणा स्नानपीठायिताद्रिराद् । तीर्थेशंमन्यदुग्धाग्निः स्नानाम्बुस्नातवासवः ॥३८॥
 गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यो वज्रसूचीशुचिध्रवा । कृतार्थितशचीहस्तः शक्रोद्बुद्धेष्टनामकः ॥३९॥
 शक्रारञ्जानन्दनृत्यः शचीविस्मापिताम्बिकः । इन्द्रनृत्यन्तपितृको रैवपूर्यमनोरथः ॥४०॥
 आज्ञार्थान्द्रकृणासेवो देवर्षिष्टशिवोद्यमः । दीक्षाचण्डकुब्जजगद्भूषुं बःस्वपतीडितः ॥४१॥
 कुबेरनिर्मितास्थानः श्रीयुयोगीश्वराचितः ब्रह्मेच्छो मह्यविद्वेषो याज्ञो यज्ञपतिः क्रतुः ॥४२॥
 यज्ञगमभ्युत्तं यज्ञो हविः स्तुत्यः स्तुतीधरः । भावो महामहप्रतिमहायज्ञोऽभ्रयाजकः ॥४३॥
 दयायागो जगत्पूज्यः पूजाहो जगद्विभूतः । देवाधिदेवः शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरुः ॥४४॥
 संहृतदेवसंघार्च्यः पद्मयानो जयध्वजी । भामयडली क्षुःपष्टिचामरो देवदुन्दुभिः ॥४५॥
 वागसृष्टासनः वृत्रत्रयराद् पुण्यवृष्टिभाक् । दिव्याशोको भानमर्दी संगीताहोऽष्टमंगलः ॥४६॥

४ अथ तीर्थकृच्छ्रतम्

तीर्थकृतीर्थसुद् तीर्थकरस्तीर्थकरः सुहृद् । तीर्थकर्ता तीर्थभर्ता तीर्थेशस्तीर्थनायकः ॥४७॥
 धर्मतीर्थकरस्तीर्थप्रथेता तीर्थकारकः । तीर्थप्रवर्षकस्तीर्थषेधास्तीर्थविधायकः ॥४८॥
 सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेष्वस्तैधिकतारकः । सत्यवाक्याधिपः सत्यशासनोऽप्रतिशासनः ॥४९॥
 स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरव्याहृतार्थवाक् । पुण्यवागार्थ्यवागर्षवागधीयोक्तिरिद्धवाक् ॥५०॥
 अनेकान्तदिगेकान्तध्वान्तमिद् दुर्णयान्तकृत् । सार्थवागप्रयत्नोक्तिः प्रतितोर्थमद्भवाक् ॥५१॥
 स्यात्कारञ्जजगतीहापेतवागचलोद्धवाक् । अपौरुषेयवाक्कुलास्ता रुद्धवाक् सतमंगिवाक् ॥५२॥
 अवर्थांगीः सर्वभाषामयगीर्भ्यंकवर्थांगीः । अमोबवागक्रमवागवाच्यान्तवागवाक् ॥५३॥
 अद्भूतगीः सुन्दतगीः सत्यानुभयगीः सुगीः । योजनव्यापिगी शीरगौरगीस्तीर्थकृत्वगीः ॥५४॥
 मन्वैकप्रव्यगुः सद्गुम्बिन्नगुः परमार्थगुः । प्रशान्तगुः प्राक्षिकगुः सुगुर्नियतकालगुः ॥५५॥
 सुभ्रुतिः सुभ्रुतो याज्यभ्रुतिः सुभ्रुन्महाभ्रुतिः । धर्मभ्रुतिः भ्रुतिपतिः भ्रुत्युद्धर्ता भ्रुवभ्रुतिः ॥५६॥
 निबोध्यामागदिव्यागदेशकः सर्वमागदिक् । सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥५७॥
 देष्टा वाम्नीश्वरो धर्मशासको धर्मदेशकः । वागीश्वरस्त्रीनाथस्त्रिभंगीशो गिरां पतिः ॥५८॥
 सिद्धाज्ञः सिद्धवागाज्ञासिद्धः सिद्धैकशासनः । जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः सिद्धमंत्रः सुसिद्धवाक् ॥५९॥
 शुचिध्रवा निरुक्तोक्तिस्तत्रकृन्वायशाकृत् । महिष्ठवाम्महानादः कवीन्द्रो हुन्दुभिस्वनः ॥६०॥

५ अथ नाथशतम्—

नाथः पतिः परिवृद्धः स्वामी भर्ता विशुः प्रभुः । ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥
 ईशोऽधिपतिरीशान ह्य इन्द्रोऽधिपोऽधिभूः । महेश्वरो महेशानो महेशः परमेशिता ॥६२॥
 अधिदेवो महादेवो देवविभ्रुवनेश्वरः । चिरवेशो विश्वभूतो चिरवेद चिरवेश्वरोऽचिराद् ॥६३॥
 लोकेश्वरो लोकपति लोकेनाथो जगत्पतिः । त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभुः ॥६४॥

पिताः परः परतरो जेता जिष्णुर्नीश्वरः । कर्ता प्रभृच्छुभ्रांजिष्णुः प्रभविष्णुः स्वर्षप्रभुः ॥६२॥
 लोकजिद्विश्वजिद्विश्वजिजेता विश्वजिस्वरः । जगज्जेता जगज्जैत्रो जगज्जिष्णुर्गज्जयी ॥६६॥
 अग्रणीप्रामखीनेता भृशुं वःस्वरधीश्वरः । धर्मनायक ऋद्धीरो भूतनाथश्च भूतभृत् ॥६७॥
 गतिः पाता वृषो वर्यो मंत्रकृच्छुभलक्ष्याः । लोकाज्यक्षो दुराचर्षो भव्यबन्धुर्मिस्तुक्तः ॥६८॥
 धीरो जगद्विदोऽज्यक्षिजगत्परमेश्वरः । विश्वासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वरः ॥६९॥
 त्रिजगद्ब्रह्मस्तु गक्षिजगन्मंगलोद्यः । धर्मचक्रापुषः सद्यो जातस्त्रैलोक्यमंगलः ॥७०॥
 वरदोऽप्रतिघोऽज्यक्षो दृढीयानभयंकरः । महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥७१॥

६ अथ योगिशतम्

योगी प्रव्यक्तनिर्वेदः साम्यारोहणतत्परः । सामयिकी सामयिको निःप्रमादोऽप्रतिक्रमः ॥७२॥
 यमः प्रधाननियमः स्वभ्यस्तपरमासनः । प्राणायामचयाः सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रियः ॥७३॥
 धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठः समाधिराट् । स्फुरत्समरसीभाव एकी करखनायकः ॥७४॥
 निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्रः ऋषिः साधुर्यतिमुनिः । महर्षिः साधुधीरेवो यतिनाथो मुनीश्वरः ॥७५॥
 महासुनिर्महामौनी महाध्यानी महाव्रती । महाचमो महाशीलो महाशान्तो महादमः ॥७६॥
 निर्लेपो निर्ग्रमस्वान्तो धर्माज्यक्षो दयाज्वलः । ब्रह्मयोगिनः स्वर्षभुदो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्ववित् ॥७७॥
 पूतात्मा ज्ञातको दान्तो भदन्तो वीतमत्सरः । धर्मवृक्षाधुषोऽद्योयमः प्रपूतात्माऽस्युतोद्भवः ॥७८॥
 मंत्रमूर्तिः स्वसीम्यात्मा स्वतंत्रो ब्रह्मसंभवः । सुप्रसन्नो गुणाम्भोधिः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥७९॥
 सुसंभूतः सुगुणात्मा सिद्धात्मा निरुपप्लवः । महोदको महोपायो जगदेकपितामहः ॥८०॥
 महाकारुणिको गुण्यो महाज्ञेशकुशः शुचिः । अरिजंबः सदायोगः सदानोगः सदापतिः ॥८१॥
 परमीदासितानाश्वाप्ती सत्याशीः शान्तनायकः । अपूर्ववैद्यो योगज्ञो धर्मसंस्तिरधर्मञ्जक् ॥८२॥
 ब्रह्मट्ट महाब्रह्मपरितः कृतकृत्यः कृतकृतुः । गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रयः ॥८३॥
 सूरिः सुनयतवज्ञो महार्मत्रीमयः समी^१ । प्रणीश्वबन्धो निद्वन्द्वः परमर्षिरन्तगतः ॥८४॥

७ अथ निर्वाणशतम्

निर्वाणः सागरः प्राज्ञर्महासाधुस्दाहृतः । विमलाभोऽथ शुद्धाभः श्रीधरो दत्त इत्यपि ॥८५॥
 भमलाभोऽप्युद्धरोऽग्निः संयमश्च शिवस्तथा । पुण्याज्ञिः शिवगण उल्साहो ज्ञानतंशुकः ॥८६॥
 परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधरः । कृप्यो ज्ञानमतिः शुद्धमतिः श्रीमद् शान्तयुक्तः ॥८७॥
 वृषभस्तद्वदजितः संभवश्चाभिनन्दनः । सुमिभिः सुमतिः पद्मप्रभः प्रोक्तः सुपारवकः ॥८८॥
 कन्दप्रभः पुष्पदन्तः शीतलः श्रेय आह्वयः । वासुपुत्रश्च विमलोऽनन्तजिद्धर्म इत्यपि ॥८९॥
 शान्तिः कृष्णुरो मन्त्रिः सुमतो नमिरप्यतः । नेमिः पार्श्वो वर्षमानो महावीरः सुवीरकः ॥९०॥
 सम्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ । महापद्मः सुरदेवः सुप्रभश्च स्वर्षप्रभः ॥९१॥
 सर्वाधुषो जयदेवो भवेदुद्यदेवकः । प्रभादेव उदकश्च प्रभकीर्तिर्जयाभिधः ॥९२॥
 पूर्णबुद्धिर्निष्कषायो विज्ञेयो विमलप्रभः । बह्वजो निर्मलश्चित्रगुप्तः समाधिगुप्तः ॥९३॥
 स्वयम्भुश्चापि कन्दर्पो जयनाथ इतीरितः । श्रीविमलो विष्यवादोऽनन्तवीरोऽप्युदीरितः ॥९४॥
 पुस्वदेवोऽथ सुविधिः प्रज्ञापरमितोऽज्ययः । दुराणपुरुषो धर्मसारथिः शिवकीर्तनः ॥९५॥
 विश्वकर्माऽश्वरोऽक्षुष्मा विश्वभूषिन्नायकः । दिगम्बरो निरातको निरारेको भवान्तकः ॥९६॥
 दृढमतो नयोत्तुंगो निकर्लकोऽकलाधरः । सर्वज्ञेशापहोऽज्ययः शान्तः श्रीदृष्टलक्ष्यः ॥९७॥

१ 'शमी' इत्यपि पाठः ।

८ अथ ब्रह्मशतम्

ब्रह्मा ऋतुस्रो धाता विधाता कमनासनः । अञ्जमूरात्मन्तः ऋष्टा सुरज्येष्ठः प्रजापतिः ॥१६८॥
 हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदांगो वेदपारगः । अजो मनुः शतानन्दो ईसयानकधीमयः ॥१६९॥
 विष्णुस्त्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः । वैकुण्ठः पुंडरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वम्ः ॥१७०॥
 विश्वम्भरोऽसुरध्वंसी माघवो बलिबन्धनः । अघोरजो मधुद्रेपी केशवो विष्टरश्रवः ॥१७१॥
 श्रीवत्सलाम्बुनः श्रीमानप्युतो नरकान्तकः । विश्वक्सेनक्षक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दनः ॥१७२॥
 श्रीकण्ठः शंकरः शम्भुः कपालो वृषकेतनः । श्वेत्युजयो विरूपाक्षो वामदेवस्त्रिलोचनः ॥१७३॥
 उन्नापतिः पशुपतिः स्मरारिस्त्रिपुरान्तकः । अर्धनारीश्वरो रुद्रो भवो भर्गः सदाशिवः ॥१७४॥
 जगत्सांस्त्वकारातिरनादिनिघ्नो हरः । महासेनस्तारकजिदृगणनाथो विनायकः ॥१७५॥
 विरोचनो वियद्गलं द्वादशाभा विभावसुः । द्विजाराज्यो बृहद्भानुस्त्रिभानुस्तनूनपात् ॥१७६॥
 द्विजराजः सुधाशोचिरीषधीशः कलानिधिः । नक्षत्रनाथः शुभ्राष्ट्रः सोमः कुमुदबान्धवः ॥१७७॥
 लेख्यर्भोऽमिन्नः पुण्यजनः पुण्यजनेश्वरः । धर्मराजो भोगिराजः प्रवेत्ता भूमिन्धनः ॥१७८॥
 सिंहाकतनयरक्षयानन्दनो बृहतीपतिः । पूर्वदेवोपदेष्टा च द्विजराजसमुद्भवः ॥१७९॥

९ अथ बुद्धशतम्

सुद्धो दशबलः शाक्यः षडभिज्ञस्तथागतः । समन्वभद्रः सुगतः श्रीघ्नो भूतकोटिद्विक् ॥११०॥
 सिद्धार्थो मारजिष्णुस्ता चण्डिकेकमुल्लक्षणः । बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽङ्गव्यापयि ॥१११॥
 महाकुपालुनैरात्म्यवादी सप्तानशासकः । सामान्यलक्षणचयः पंचस्कन्धमयात्महृक् ॥११२॥
 भूतार्थभावनासिद्धः ऋतुभूमिकशासनः । ऋतुार्थसत्यवक्ता निगम्यचिद्व्यवयः ॥११३॥
 योगो वैशेषिकस्तृष्णाभावाभ्यर्थावर्धहृक् । नैयायिकः षोडशार्थवादी पंचार्थवर्थाकः ॥११४॥
 ज्ञानान्तराज्यबोधः समवायवशार्थमित् । श्रुतैकसाध्यकर्मन्तो निर्विशेषगुणव्यस्तुतः ॥११५॥
 सांख्यः समीप्यः कपिलः पंचविंशतितरववेत् । व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेदहृक् ॥११६॥
 अस्वसंविदितज्ञानवादी सत्कार्यवादस्तात् । त्रिःप्रमाथोऽष्टप्रमाथः स्याद्वाहंकारिकाचक्रिक् ॥११७॥
 श्वेत्तश्च आत्मा पुरुषो नरो ना चेतनः पुमान् । अकर्त्ता निर्गुणोऽमूर्त्तौ भोक्ता सर्वगतोऽक्रियः ॥११८॥
 दृष्टा तदस्यः कृत्स्थो ज्ञाता निर्बन्धनोऽभवः । बहिर्विकारो निर्मोचः प्रधानं बहुधानकम् ॥११९॥
 प्रकृतिः क्यातिरारूढप्रकृतिः प्रकृतिप्रियः । प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरम्यो विकृतिः कृती ॥१२०॥
 मीमांसकोऽस्तसर्वज्ञः श्रुतिपूतः सदोत्सवः । परोक्षज्ञानवादीष्टपावकः सिद्धकर्मकः ॥१२१॥
 आर्वाको भौतिकज्ञानो भूतानिष्यकचेतनः । प्रत्यक्षैकप्रमाथोऽस्तपरलोको गुरुश्रुतिः ॥१२२॥
 पुरन्दरविद्वक्यो वैदान्ती संविद्वहृथी । शब्दाहंती स्फोटवादी पाषंडो नयौघयुक् ॥१२३॥

१० अथ अन्तकृच्छ्रतम्

अन्तकृत्परकृत्तीरमाशः परितमः स्थितः । त्रिदशदी दृष्टिद्वारातिज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥१२४॥
 संकृतध्वनिरुद्धयोगः सुसाध्योपमः । योगज्ज्ञेहापहो योगकिङ्किर्निर्लोपनोद्यतः ॥१२५॥
 स्थितस्वृक्षवपुर्योगो गर्भेनोयोगकार्द्वर्कः । सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थः सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः ॥१२६॥
 सूक्ष्मकार्द्विमास्थायी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा । एकर्द्वी च परमहंसः परमसंबदः ॥१२७॥
 मैःकर्णसिद्धः परमनिर्जरः प्रज्वलत्प्रभः । मोघकर्मा मुठकर्मपाशः शैलेस्वर्बंकृतः ॥१२८॥
 एककाररसात्वादी धिरवाकाररसाकुलः । अजीवकश्चलोऽजाप्रदसुतः शून्यतामयः ॥१२९॥

१ 'दत्सक-' इत्यपि पठः

प्रेषानयोगी क्त्वरशीतिलक्षगुणोऽशुष्यः । निःपीतानन्तपर्यायोऽविद्यासंस्कारनाशकः ॥१३०॥
 बृद्धो निर्वचनीयोऽक्षुरशीयाननशुभ्रियः । प्रेङ्गः स्थेयान् स्थिरो निष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः सुनिष्ठितः ॥१३१॥
 भूतार्थशूरो भूतार्थदूरः परमनिर्गुणः । व्यवहारसुपुत्रोऽतिजागरूकोऽतिसुस्थितः ॥१३२॥
 उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिमः । अमेयमहिमात्यन्तशुद्धः सिद्धिस्वर्धवरः ॥१३३॥
 सिद्धानुजः सिद्धपुरीपात्यः सिद्धगत्यातिथिः । सिद्धसंगोन्मुखः सिद्धाखिरयः सिद्धोपगृहकः ॥१३४॥
 पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलारवः पुण्यशंभलः । वृत्ताप्रयुग्यः परमशुद्धलेश्योऽपचारकृत् ॥१३५॥
 श्रेयिष्ठोऽन्यक्षयसखा पंचलध्वजरस्थितिः । द्वास्ततिप्रकृत्यासीन्नयोद्दशकल्पिप्रशुन् ॥१३६॥
 अवेदोऽथाजकोऽयज्योऽयाज्योऽनक्षिपरिग्रहः । अन्नभिहोत्री परमनिःस्पृहोऽत्यन्तनिर्द्वयः ॥१३७॥
 अशिष्योऽशासकोऽदीप्योऽदीप्तकोऽदीप्तितोऽक्षयः । अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥१३८॥
 महायोगीश्वरो द्रव्यसिद्धोऽदेहोऽपुनर्भवं । ज्ञानैकचित्जीवचनः सिद्धो लोकप्रणामुकः ॥१३९॥

जिनसहस्रनामस्तत्रनफलम्

इदमष्टोत्तरं नामां सहस्रं भक्तियोऽर्हताम् । योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां भक्तिमरनुते ॥१४०॥
 इदं लोकोत्तमं पुंसांमिदं शरयामुक्त्वयाम् । इदं मंगलमप्रोयमिदं परमपावनम् ॥१४१॥
 इदमेव परमतीर्थमिदमेवेष्टसाधनम् । इदमेवाखिलज्जेशसंज्ञेशक्षयकारयाम् ॥१४२॥
 एतेषामेकमप्यहंभ्राजामुच्चारयन्नयैः । मुच्यते किं पुनः सर्वाण्यर्थशस्तु जिनायते ॥१४३॥

जिनसहस्रनाम

(आचार्य जिनसेनकृतम्)

प्रसिद्धाष्टसहस्रं ब्रह्मलक्षणं त्वां गिरांपतिम् । नाम्नामष्टसहस्रं च तोऽपुमोऽभीष्टसिद्धये ॥१॥

१ अथ श्रीमदादिशतम्

श्रीमान् स्वयम्भूर्त्तपमः शम्भवः शम्भुरात्मभूः । स्वयंप्रभः प्रभुर्मेका विश्वभूरपुनर्भवः ॥२॥
 विश्वात्मा विश्वलोकेजो विश्वतःप्रचुरश्चरः । विश्वविद्विषविषं शो विश्वयोनिरमश्वरः ॥३॥
 विश्वहन्ता विभुर्घाता विश्वेको विश्वजोचनः विश्वम्पापी विधिर्वेधाः श्लाघतो विश्वतोमुखः ॥४॥
 विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । विश्वहृक् विश्वभूतेहो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥५॥
 जिनो जिष्णुरमेवात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः । अनन्तजिद्विन्त्यात्मा भव्यवन्धुरवचनः ॥६॥
 युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठो सनातनः ॥७॥
 स्वयंप्रज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिर्योनिजः । सोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥८॥
 प्रशान्तातिरनन्तात्मा योगी योगीश्वराश्रितः । ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्याविषयीश्वरः ॥९॥
 बृद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः । सिद्धः सिद्धान्तविद् ज्येष्ठः सिद्धसाभ्यो जगद्धितः ॥१०॥
 सहिष्णुश्चतुस्रोऽनन्तरः प्रभविष्णुर्महोज्ञवः । प्रभूष्णुरजरोऽजयो भ्राजिष्णुर्धारीश्वरोऽम्बयः ॥११॥
 विभावसुर्लभूष्णुः स्वयंभूष्णुः पुरातनः । परमात्मा परंशोतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥१२॥

२ अथ दिव्यादिशतम्

दिव्यभाषापतिर्विन्धः पूतवाक् पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्वर्माध्वजो दमीरवरः ॥१३॥
 श्रीपतिर्नैगवानहर्हरजा विरजाः शुधिः । दीर्घकृत्वकीशानः पूजाहः क्षातकोऽमलः ॥१४॥
 अमन्तदीप्तिसान्नात्मा स्वर्बकुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेरवरः ॥१५॥
 निरङ्गनो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिर्निरामयः । अचलस्थितिरधोभ्यः कृतस्थः स्थायुरध्वजः ॥१६॥
 अग्रशीर्षामधीर्नेता प्रथेता न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥१७॥
 वृषध्वजो वृषाधीरो वृषकेतुर्बृषायुधः । वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्गो वृषोज्ज्वः ॥१८॥
 हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद्भूतभावनः । प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवान्तकः ॥१९॥
 हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोज्ज्वः । स्वर्धप्रभुः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्प्रभुः ॥२०॥
 सर्वादिः सर्वहृक् सर्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित् सर्वलोकजित् ॥२१॥
 सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुक सुवाक् सुरिर्बहुश्रुतः । विश्रुतो विरवतः पादो विरवशीर्षः शुचिश्रवाः ॥२२॥
 सहस्रशीर्षः श्रेष्ठशः सहस्राक्षः सहस्रपाद् । भूतमन्वभवज्ञतां विरवविद्यामहेरवरः ॥२३॥

३ अथ स्थविष्ठादिशतम्

स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठः वृष्टः प्रेष्ठो वरिष्ठधीः । स्थेष्ठो गरिष्ठो ब्रह्मिष्ठःश्रेष्ठोऽधिष्ठो गरिष्ठगो ॥२४॥
 विश्वभृद्द्विरवसृद् विरवेद् विरवभुविरवनायकः । विश्वशीर्षिविरवरूपात्मा विश्वजिज्ञित्जितान्तकः ॥२५॥
 विभवो विभवो वीरो विद्योको विरुजो जरन् । विरागो विरलोऽसंगो विविक्तो वीतमस्तरः ॥२६॥
 विनेयजनताभुविर्जीनाशोषकहृत्सपः । वियोगो योगविद्धिद्वान् विघाता सुविधिः सुधीः ॥२७॥
 चान्तिभाक् पृथिवीमूर्तिः शान्तिभाक् सजिलालम्कः । वायुमूर्तिस्संगात्मा बहिर्मूर्तिरधर्मधक् ॥२८॥
 सुवजश यत्रमानात्मा सुन्वा सुत्रामपूजितः । ऋत्विग्यज्ञपतिर्थाज्यो यज्ञांगमस्तुतं हविः ॥२९॥
 ऽपोममूर्तिरमूर्त्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः । सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥३०॥
 मंत्रविन्मंत्रकृन्मन्त्री मंत्रमूर्तिरनन्तगः । इत्रतंत्रस्तंत्रकृत्स्वान्तः कृतान्तान्तः कृतान्तकृत् ॥३१॥
 कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । नित्यो ऽस्तु ज्योऽस्तुस्त्वुरस्तुलात्माऽस्तुतोज्ज्वः ॥३२॥
 महानिष्ठः परंब्रह्म महात्मा महासंभवः । महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेद् महाब्रह्मपदेरवरः ॥३३॥
 सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभुः । प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा पुराणपुरहोत्सवः ॥३४॥

४ अथ महाशोकध्वजादिशतम्

महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविहरः । पद्मेशः पद्मसंभृतिः पद्मानभिरनुत्तरः ॥३५॥
 पद्मथोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुलीरवरः । स्तवनहोर् हृषीकेशो जितजेयः कृतक्रियः ॥३६॥
 गद्याधिपो गद्याज्येष्ठो गद्यः पुष्टयो गद्याग्रधीः । गुद्याकरो गुद्याम्भोधिर्गुद्याज्ञो गुद्यानायकः ॥३७॥
 गुद्यादरो गुयोच्छेदी निर्गुण्यः पुष्टयगीर्गुण्यः । शरत्यः पुष्टयवाक् पूतो वरेयः पुष्टयनायकः ॥३८॥
 अगद्यः पुष्टयधीर्गुण्यः पुष्टयकृत्पुष्टयशासनः । धर्मोरामो गुद्याग्रामः पुष्टयापुष्टयनिरोधकः ॥३९॥
 पापानेपो विपापात्मा विपाप्मा वीतकहृत्सपः । निहृन्दो निर्मदः शान्तो निर्महो निरुपद्रवः ॥४०॥
 निर्निमेषो निराहारो भिःक्रियो निरुपद्रवः । निष्कलको निरस्तेना निधूतागो निरासवः ॥४१॥
 विरागो विपुलज्योतिरतुल्लोऽधिन्त्यवैभवः । सुसंहृतः सुगुप्तात्मा सुभूत्सुनयत्सवित् ॥४२॥
 एकविधो महाविधो मुनिःपरिवृढः पतिः । वीशो विद्यानिधिःसाक्षी विनेता विहतान्तकः ॥४३॥
 पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः । त्राता निष्करो बर्धो वरयः परमः पुमान् ॥४४॥
 कविः पुराणपुरहो वर्षीयान् वृषभः पुरुः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुभुवनैकपितामहः ॥४५॥

५ अथ श्रीबृहलक्ष्मणादिशतम्

श्रीबृहलक्ष्मणः क्षत्रियो लक्ष्मणः शुभलक्ष्मणः । निरुधः पुंडरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्ष्मणः ॥४६॥
 सिद्धिद्वयः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः । बुद्धयोष्यो महाबोधिवर्धमानो महर्षिकः ॥४७॥
 वेदांगो वेदविद्गो ज्ञानरूपो विदांबरः । वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेद्यो वृत्तांबरः ॥४८॥
 अनादिनिधनोऽव्यक्तो व्यक्तवाक्यमन्त्रासनः । युगादिकृष्णगाभारो युगादिजगदादिजः ॥४९॥
 अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो महेंद्रोऽतीन्द्रिवार्धदृक् । अनिन्द्रियोऽहमिन्द्रार्धो महेंद्रमहितो महान् ॥५०॥
 उन्नवः कारुण्यं कर्ता पाशो भवतारकः । अगाढो गहनं गुह्यं परार्णवः परमेस्वरः ॥५१॥
 अमन्तद्विंदमेयद्विंदविन्पर्यधिः समप्रधीः । प्राण्यः प्राग्रहोऽभ्यग्रयः प्रल्बोऽग्रयोऽग्रिमोऽग्रजः ॥५२॥
 महातपाः महातेजा महोदकं महोदयः । महायथा महाधामा महासत्त्वो महाशुतिः ॥५३॥
 महाजैयं महाधीर्यं महासम्पन्नहाबलः । महाशक्तिर्महाज्ञोतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥५४॥
 महासतिर्महानोतिर्महाशान्तिर्महोदयः । महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकविः ॥५५॥
 महामहा महाकोसिमहाकान्तिर्महावपुः । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥५६॥
 महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपंचकः । महाप्रभुर्महाप्रातिहाय्यधीरो महेश्वरः ॥५७॥

६ अथ महामुन्यादिशतम्

महामुनिर्महामीनो महाध्यानी महादमः । महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥५८॥
 महाव्रतपतिर्महो महाकान्तिचरोऽविपः । महामैत्रीमयोऽमैयो महोपायो महोभयः ॥५९॥
 महाकारुण्यिको मंता महामंत्रो महामतिः । महानादो महावोषो महैश्वरो महसोपतिः ॥६०॥
 महाश्वरधरो धुर्यो महोदर्यो महिष्ठवाक् । महात्मा महसोधाम महपिर्महितोदयः ॥६१॥
 महाक्रोडाकुटाः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः । महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥६२॥
 महाभवाविश्वसंनारी महामोहाद्रिसूदनः । महागुणारकः सान्तो महायोगीश्वरः शमी ॥६३॥
 महाध्यानपतिर्न्याता महाधर्मं महाव्रतः । महाकर्मादिहामज्ञो महादेवो महेशिता ॥६४॥
 सर्वज्ञेशापहःसातुः सर्वदोषहरो हरः । असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥६५॥
 सर्वयोगीश्वरोऽखिन्वःश्रुतात्मा विष्टरश्रवाः । दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः ॥६६॥
 प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः । प्रसीखबन्धः कामारिः क्षेमकृत् क्षेमशासनः ॥६७॥
 प्रणवः प्रणयः प्राण्यः प्राण्यदः प्रण्येस्वरः । प्रमाथं प्रसिद्धिर्दुषो दृच्छिषोऽव्ययुर्श्वरः ॥६८॥
 आनन्दो नन्दनो नन्दो वैद्योऽजिन्योऽजिनन्दनः । कामहा कामदः काम्यः कामधेनुररिजयः ॥६९॥

अथ असंस्कृतादिशतम्

असंस्कृतः सुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तकृत् । अन्तकृत्कान्तिगुः कान्तखिन्तामखिरभीष्टदः ॥७०॥
 अजितो जितकामारिर्मितोऽमितशामनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितज्ञेयो जितान्तकः ॥७१॥
 जिनेन्द्रः परमानन्दो मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः । महेंद्रबन्धो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दनः ॥७२॥
 नामेयो नाभिनोऽजातः सुत्रजो मनुस्वमः । अमेथोऽनत्ययोऽनारवानधिकोऽचिरुहःसुधीः ॥७३॥
 सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो विकल्पुकः । विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनोऽजवः ॥७४॥
 जैमी जैमंकरोऽख्यः जैमधर्मपतिः क्षमी । अग्रज्ञो ज्ञाननिप्राढो ध्यानगम्यो निरुत्तरः ॥७५॥
 सुकृती धातुरिज्याहः सुनयश्चनुराननः । श्रीनिवाससम्बुध्वंशप्रभुरास्यभ्रमुस्तः ॥७६॥
 सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसम्मानः सत्यः सत्यपरायणः ॥७७॥
 स्वेषान् स्वेषीवान् नेदीवान् दवीवान् वृददर्शनः । अथोरथीचाननगुंस्तपो गरीयसात् ॥७८॥

श्रीशः श्रीशिवपादाङ्गो वीतभीरमर्षकरः । उस्तन्नदोपो निर्विभो निश्चलो लोकवस्तवः ॥११३॥
 लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्रपारधीः । धीरधीर्बुद्धसम्भार्यः शुद्धः सृष्टुत्पूतवाक् ॥११४॥
 प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः । भद्रतो भद्रकृद् भद्रः कल्पवृक्षो वरमद् ॥११५॥
 समुत्प्लवितकर्मारिः कर्मकाष्ठशुशुभधिः । कर्मपयः कर्मतः प्रांशुर्हेयादेयविचक्षयाः ॥११६॥
 धनन्तशक्तिरक्षेत्राखिलपुराखिलोचनः । त्रिनेत्रलम्बकस्त्यक्ः केवलज्ञानवीक्षयाः ॥११७॥
 समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः । सूक्ष्मदर्शी जितार्णवः कृपाशुर्धर्मदेशकः ॥११८॥
 शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यवराशिरनामयः । धर्मपालो जगत्यालो धर्मसाप्राप्तनायकः ॥११९॥
 धार्ष्ट्यापने तवामूनि नामान्यागमकोविदः । समुच्चितान्बन्धुव्यायन् पुष्यान् प्लस्तुतिभवेन् ॥१२०॥

—)०(—

जिनसहस्रनाम

(भट्टारकसकलकीर्त्ति-विरचितम्)

त्वामादी देव त्वानम्य स्तोष्ये त्वज्ञान लब्धये । षष्टोत्तरसहस्रेण नाम्ना सार्येन भक्तिभिः ॥ १ ॥
 जिनेन्द्रो जिनचौर्यो जिनस्वामी जिनाप्रथीः । जिनेद्यो जिनशार्दूलो जिनाधीरो जिनोत्तमः ॥ २ ॥
 जिनराजो जिनयेष्टो जिनेशी जिनपालकः । जिननाथो जिनश्रेष्ठो जिनमहो जिनोन्नतः ॥ ३ ॥
 जिनेतज्ञो जिनस्रष्टा जिनेट् जिनपतिर्जिनः । जिनदेवो जिनादिप्यो जिनेशिता जिनेश्वरः ॥ ४ ॥
 जिनवर्यो जिनारण्यो जिनार्ष्यो जिनपुंगवः । जिनाधिपो जिनप्येयो जिनमुख्यो जिनेद्रितः ॥ ५ ॥
 जिनसिंहो जिनप्रबो जिनवृद्धो जिनोत्तरः । जिनसान्धो जिनस्तुत्यो जिनप्रभूर्जिनोद्गहः ॥ ६ ॥
 जिनपूज्यो जिनाकाङ्क्षी जिनेन्दुर्जिनसत्तमः । जिनाकारो जिनोक्तुंगो जिनपो जिनकुञ्जरः ॥ ७ ॥
 जिनभक्त्या जिनाप्रत्यो जिनभृजिनचक्रभाक् । जिनवक्त्री जिनाद्याधो जिनसेव्यो जिनाधिपः ॥ ८ ॥
 जिनकान्तो जिनप्रीतो जिनाधिराट् जिनप्रियः । जिनधुर्यो जिनावाहिर्जिनाग्रिमो जिनस्तुतः ॥ ९ ॥
 जिनहंसो जिनप्राता जिनर्षभो जिनाप्रगः । जिनशृजिनचक्रेशो जिनदाता जिनात्मकः ॥१०॥
 जिनाधिको जिनालक्षो जिनभान्तो जिनोत्कृष्टः । जिनाश्रितो जिनाह्लादी जिनातत्क्यो जिनाम्बितः ॥११॥
 जैनो जैनवरो जैनस्वामी जैनपितामहः । जनेच्छो जैनसंघार्थ्यो जैनभृजैनपालकः ॥१२॥
 जैनहृजैनचौर्यो जनेरो जैनभूपतिः । जनेद् जनाग्रिमो जैनपिता जैनहितंकरः ॥१३॥
 जैननेताऽथ जैनाब्धो जैनवृजैनद्वाराट् । जैनाधिपो हि जैनात्मा जैनचक्रभृत् ॥१४॥
 जितापो जितकंदर्पो जितकामो जितार्थयः । जिनैना जितकर्मारिर्जिनेन्द्रो जितारिखिलः ॥१५॥
 जितशत्रुर्जिनादीषो जितत्रेयो जितात्मभाक् । जितलोभो जितक्रोधो जितसानो जितान्नकः ॥१६॥
 जितरागो जितद्रोषो जितमोहो जिनेश्वरः । जिताऽजय्यो जितारोपो जितेशो जितदुर्भतः ॥१७॥
 जितवादी जितज्ञेयो जितमुग्धो जितामृतः । जिनदेवो जिनशान्तिजितक्षेत्रो जितारतिः ॥१८॥
 यतीशितो यतीशार्थ्यो यतीरो यतिनायकः । यतिमुखो यतिप्रेषवो यतिस्वामी यतीश्वरः ॥१९॥
 यतिचैतितरो यथाराण्यो यतिगुहस्तुतः । यतिश्रेष्ठो यतिज्येष्ठो यतिभक्त्या यतीहितः ॥२०॥
 यतिपुर्यो यतिश्रष्टा यतिनाथो यतिप्रभुः । यत्याकरो यतिप्राता यतिबन्धुर्चैतिप्रियः ॥२१॥
 योगीन्द्रो योगिराट् योगिपतिर्योगिनायकः । योगीश्वरोऽथ योगीशो योगी योगपरायणः ॥२२॥
 योगिपूज्यो हि योगान्नो योगवाच्य योगपारगः । योगश्रुयोगारूपात्मा योगभारयोगभूषितः ॥२३॥
 योग्याप्तो योगिकवपारो योगिहृद्योगिवेदितः । योगिभूषोतिमुखाच्यो योगिभूर्योगिभूषितः ॥२४॥

सर्वज्ञः सर्वबोधः सर्वदृक् सर्वतत्त्ववित् । सर्वज्ञेयसहः सार्वः सर्वबन्धुश्च सर्वराट् ॥२२॥
 सर्वाग्निरोऽथ सर्वात्मा सर्वेशः सर्वद्वानः । सर्वेभ्यः सर्वैर्बर्मागः सर्वजीवदयावहः ॥२३॥
 सर्वेष्वेष्टो हि सर्वाधिकः सर्वत्रिजगद्धितः । सर्वकर्मभयः सर्वैश्वर्यामी सर्वगुणाग्रितः ॥२४॥
 विश्वविद्विष्वनाथात्सर्वो विरवेष्टो विश्वबान्धवः । विश्वनाथोऽथ विश्वाहो विश्वात्मा विश्वकाकः ॥२५॥
 विरवेष्ट विश्वपिता विश्वपते विश्वाभयंकरः । विरवन्ध्यापि हि विरवेष्टी विरवद्विरवभूमिपः ॥२६॥
 विरवधीविरवकल्याणो विरवद्विरवपारगः । विरवद्वृद्धोऽपि विरवागिरवको विरवरोषकः ॥२७॥
 जगकर्ता जगद्गता जगप्राता जगज्जयी । जगन्मान्यो जगज्ज्येष्ठो जगज्जुष्टो जगत्पतिः ॥२८॥
 जगद्दृष्टो जगन्नाथो जगद्भ्येयो जगत्सुतः । जगत्प्राता जगद्वाता जगत्संभ्यो जगद्धितः ॥२९॥
 जगत्स्वामी जगत्सूत्रो जगत्साधो जगद्धितः । जगद्भ्येता जगत्सुजगद्गरीर्षो जगत्पिता ॥३०॥
 जगत्काण्ठो जगद्दान्तो जगद्ज्ञाता जगद्धितः । जगद्दीरो जगद्दीरो जगद्गान्तो जगत्प्रियः ॥३१॥
 महाज्ञानी महाध्यानी महाकृती महाव्रतो । महाराजो महायज्ञो महातेजो महातपः ॥३२॥
 महाजेता महान्त्यो महाचान्तो महादमः । महादान्तो महाशान्तो महाकान्तो महाखलो ॥३३॥
 महादेवो महापूतो महायोगी महाधनी ॥ महाकामी महाशूरो महाभटो महाभयः ॥३४॥
 महानादो महास्तुष्यो महामहपतिर्महान् । महाधीरो महावीरो महाबन्धुर्महाश्रमः ॥३५॥
 महाधारो महाकारो महाशायी महाश्रयः । महायोगी महाभोगी महाब्रह्मा महाधरः ॥३६॥
 महापुत्रो महावीर्यो महादर्शी महायवित् । महाभर्ता महाकर्ता महासीलो महागुणी ॥३७॥
 महाधर्मा महामीनी महाभ्रमो महाभ्रमः । महासह्य महातीर्थो महात्प्रातो महाहितः ॥३८॥
 महाधन्यो महाधोरो महारूपी महामुनिः । महाविभुर्महाकीर्तिर्महादाता महारहितः ॥३९॥
 महाकृपो महाराष्यो महाश्रेष्ठो महायतिः । महाचाभिमहालोको महानेत्रो महासंकुट् ॥४०॥
 महाधर्मी महायोग्यो महाशायी महादमी । महेशेयो महेशाला महेशार्थो महेशराट् ॥४१॥
 महानन्तो महागुप्तो महाहरो महाधरः । महर्षीयो महाभागो महास्थानी महन्त्यकः ॥४२॥
 महीद्वर्णो महाकार्यो महाकेवलखण्डिभाक् । महाशिष्टो महानिष्ठो महाद्वयो महाखलः ॥४३॥
 महाकपो महायज्ञो महाविद्वान् महात्मकः । महैज्याहो महानाथो महानेता महापिता ॥४४॥
 महामना महाचिन्त्यो महासारो महायमी । महैन्द्रार्थ्यो महाबंधो महाबादी महानुतः ॥४५॥
 परमात्मा पराम्बुजः परंज्योतिः परार्थकृत् । परमस्य परमस्यरूपो परतटः परः ॥४६॥
 परमेशः परेज्याहः परार्थी परकार्यकृत् । परस्वामी परज्ञानी परधीराः परेहकः ॥४७॥
 सत्यवादी हि सत्यात्मा सत्यांगः सत्यशासनः । सत्यार्थः सत्यवागीशः सत्याधारोऽतिसत्यवाक् ॥४८॥
 सत्यायः सत्यविशेषः सत्यधर्मी हि सत्यनाक् । सत्याशयोऽतिसत्योऽकमतः सत्यहितंकरः ॥४९॥
 सत्यतिथोऽतिसत्याब्धः सत्यासः सत्यतीर्थकृत् । सत्यसीमाधरः सत्यधर्मतीर्थप्रसर्पकः ॥५०॥
 लोकेषो लोकनाथात्सर्वो लोकलोकविलोकनः । लोकविलोकमूढस्यो लोकनाथो ह्यलोकवित् ॥५१॥
 लोकदृक् लोककार्यार्थी लोकज्ञो लोकपालकः । लोकेष्टो लोकमांगस्यो लोकोत्तमो हि लोकराट् ॥५२॥
 तीर्थकृतीर्थभूतात्मा तीर्थशस्तीर्थकारकः । तीर्थभूतीर्थकर्ता तीर्थप्रथेता सुतीर्थनाक् ॥५३॥
 तीर्थाधीशो हि तीर्थात्मा तीर्थशस्तीर्थनायकः । तीर्थाब्धस्तीर्थसद्राजा तीर्थदृतीर्थवर्षकः ॥५४॥
 तीर्थकरो हि तीर्थशस्तीर्थोऽस्तीर्थपालकः । तीर्थसुहाऽस्तीर्थोऽस्तीर्थप्रस्तीर्थेशकः ॥५५॥
 निःकर्मा निर्मलो निरयो निराबाधो निरामयः । निस्तमस्को निरीपन्थो निःकलंको निरायुधः ॥५६॥
 निर्दोषो निष्कलोऽत्यन्तनिर्दोषो निर्जराग्रणीः । निस्वप्नो निर्भयोऽतीवनिःप्रमादो निराश्रयः ॥५७॥
 निरंशो निरातंको निरभूषो निर्मच्छाशयः । निर्मदो निरतीचरो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥५८॥
 निर्बिकारो निराजरो निरीहो निर्मलागभाक् । निर्जरो निरजस्कोऽथ निरायो निर्बिरोषवित् ॥५९॥
 निर्बिसेधो निराकारो निरलो निरतिक्रमः । निर्बेदो निष्कवायात्मा निर्बन्धो निरुद्राग्रमः ॥६०॥

विरजा विमलात्मजो विमलो विमलाम्तरः । विरतो विरताधीशो विरागो वीरमत्सरः ॥६४॥
 विमलो विमलाम्तरस्यो वीररागो विचारकृत् । विभासी विगताबाधो विचारज्ञो विशारदः ॥६५॥
 विषेकी विगतप्रस्थो विविक्तोऽव्यक्तसंस्थितः । विजयी विजितारारिबिन्दहारिविचिक्कृतः ॥६६॥
 त्रिशेखरशिखीरिषसिखिलोकशुक्लिकावल् । त्रिदयद्वयशिलोकराशुक्लद्राशुक्लनूमिपः ॥६७॥
 त्रिशखरारिखिलोर्षसिखिलोकपतिसंखितः । त्रियोगी त्रिकसंवेगस्त्रैलोक्यखिलोकराट् ॥६८॥
 अनन्तोऽनन्तसीक्याफिरनन्तकंबलेषयाः । अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तगुणाकरः ॥६९॥
 अनन्तविक्रमोऽनन्तस्ववेत्ताऽनन्तशक्तिमान् । अनन्तमहिमास्त्रोऽनन्तज्ञोऽनन्तशर्मदः ॥७०॥
 सितदो बुद्धः प्रसिद्धात्मा स्वयंबुद्धोऽतिबुद्धिमान् । सिद्धिदः सिद्धभागस्थः सिद्धार्थः सिद्धसाधनः ॥७१॥
 सिद्धसाधोऽतिबुद्धात्मा सिद्धिहृत्सिद्धिदासनः । सुसिद्धान्तविशुद्धाख्यः सिद्धरामी बुधाधिपः ॥७२॥
 अप्युतोऽप्युतनाथेशोऽचलचित्तोऽचलस्थितिः । अतिप्रभोऽतिसौम्यात्मा सोमरूपोऽतिक्रान्तिमान् ॥७३॥
 बरिष्ठः स्थविरो ज्येष्ठो गरिष्ठोऽनिष्टदूरगः । ब्रह्मा पुष्टो विशिष्टात्मा स्रष्टा धाता प्रजापतिः ॥७४॥
 पद्मासनः सपद्माक्षः पद्मयानभ्रतुमुलः । श्रीपतिः श्रीनिवासो हि विजेता पुरुषोत्तमः ॥७५॥
 धर्मचक्रधरो धर्मी धर्मनार्थप्रवचकः । धर्मराजोऽतिधर्मात्मा धर्माधारः सुधर्मदः ॥७६॥
 धर्ममूर्धिरधर्मप्रभो धर्मचक्रो सुधर्मधीः । धर्मकृद्दर्मभूधर्मशीलो धर्माधिनायकः ॥७७॥
 धर्ममूर्तिः सुधर्मज्ञो धर्मो धर्ममयोऽद्भुतः । तेजस्वी विक्रमी स्वामी तपस्वी संयमी यमी ॥७८॥
 कृती धर्ती कृतायांत्मा कृतकृतः कृताविधिः प्रभुविभुर्गुर्योगी गरीयान् गुरुकर्मकृत् ॥७९॥
 वृषभो वृषभाधीशो वृषकिहो वृषाश्रयः । वृषकगुर्वृषाधारो वृषमेन्द्रो वृषप्रदः ॥८०॥
 ब्रह्मात्मा ब्रह्मनिष्ठ्यात्मा ब्रह्मा ब्रह्मपदधरः । ब्रह्मज्ञो ब्रह्मभूतात्मा ब्रह्मा च ब्रह्मपालकः ॥८१॥
 पूषोऽर्हन् भगवान् स्तुत्यः स्तवनाहः स्तुतीधरः । वंशो नमस्कृतोऽव्यन्तप्रखामवीर्य ऊर्जितः ॥८२॥
 गुर्बी गुणकरोऽनन्तगुणाधिः गुणभूषणः । गुणादरी गुणग्रामो गुणार्थी गुणपारगः ॥८३॥
 गुणरूपो गुणातीतो गुणदो गुणवेष्टितः । गुणाश्रयो गुणात्माक्तो गुणसक्तोऽगुणात्नकृत् ॥८४॥
 गुणाधिपो गुणान्तस्थो गुणभृद्गुणपोषकः । गुणाराधो गुणान्येष्टो गुणाधारो गुणाग्रदः ॥८५॥
 पवित्रः पूतसर्वांगः पूतवाक् पूतशासनः । पूतकमःऽतिपूतात्मा शुचिः शीवात्माकोऽमलः ॥८६॥
 कर्मातिः कर्मशुभ्रः कर्मरातिनिकन्दनः । कर्मधिन्वंसकः कर्मोन्वेदी कर्मगनाशकः ॥८७॥
 सुसंवृत्तकिगुणात्मा निराश्रवस्त्रिगुप्तिवान् । विद्यामयोऽतिविद्यात्मा सर्वविद्येश आत्मवान् ॥८८॥
 मुनिवतिरनागारः पुराण्यपुरुषोऽभ्यवः । पिता पितामहो भक्तो कर्ता दान्तः चमः शिवः ॥८९॥
 ईश्वरः शंकरो धीमान् श्रुत्युज्वलः सनातनः । दक्षो ज्ञानो शर्मा ध्यानी सुरशीलः शीलसागरः ॥९०॥
 ऋषिः कविः कवीन्द्रायः ऋषीन्द्रः ऋषिनायकः । वेदांगो वेदविद्द्वैयः स्वसंवेधोऽमलस्थितिः ॥९१॥
 दिगम्बरो हि दिग्यासा जातरूपो विदांबरः । निर्ग्रन्थो ग्रन्थदूरस्थो निःसंगो निःपरिग्रहः ॥९२॥
 धीरो वीरः प्रशान्तात्मा धर्मशाली सुलक्षणाः । शान्तो गंभीर आत्मज्ञः कलभृत्तिः कलाधरः ॥९३॥
 पुरादिपुरुषोऽन्यक्तो व्यक्तज्ञान् व्यक्तशासनः । अनादिनिधनो दिव्यो दिव्यांगो दिव्यधीधनः ॥९४॥
 लपोधनो विद्यदगामी जागरुक्तोऽप्यतीन्द्रियः । अनन्तद्विरधिन्व्यद्विरमेयद्विः पराद्वर्धभाक् ॥९५॥
 मीनी धुवो भटः शूरः सार्यबाहः शिवाज्वगः । सायुर्गयी सुताधारः पाठकोऽदीन्द्रियार्थहृक् ॥९६॥
 आदीश आदिभूभक्ता आदिम आदिजिनेरवरः । आदितोथंकरश्चादिष्टिहृक्चादिदेवकः ॥९७॥
 आदिब्रह्माऽऽदिनाथोऽर्घ्य आदिचट्कर्मदेसकः । आदिधर्मविधाताऽऽदिधर्मराजोऽग्रजोऽग्रिमः ॥९८॥
 श्रेयान् श्रेयस्करः श्रेयोऽग्रधीः श्रेयःसुखाहः । श्रेयोदः श्रेयवाराशिः श्रेयवान् श्रेयसंभवः ॥९९॥
 अज्ञितो जितसंसारः सम्प्रतिः सम्प्रतिप्रियः । संस्कृतः प्राकृतः प्राज्ञो ज्ञानमूर्तिरप्युतोपमः ॥१००॥
 नाथेय आदिप्रयोगीन्द्र उषसः सुव्रतो मनुः । शायुज्वलः सुमेधावी नाथोऽप्याथोऽस्त्रिज्ञार्थिवल् ॥१०१॥
 जेमो कुलकरः कामो देवदेवो निरस्तुकः । जेमः जेमंकरोऽग्रज्ञो ज्ञानगम्यो निरुत्तरः ॥१०२॥
 श्येनास्तुतः सदाधारो सुबोधः सन्मुखः सुखी । बाम्नी बागीरवरो वाचस्पतिः सद्बुद्धिरुलकः ॥१०३॥

उदारो मोक्षगामी च मुक्तो मुक्तिप्ररूपकः । भव्यसार्वाधिपो देवो मनीषी सुहितः सुहृद् ॥१०४॥
 मुक्तिभर्त्साऽप्रतर्क्यात्मा विष्यदेहः प्रभास्वरः । मनःप्रियो मनोहारी मनोज्ञो मनोहरः ॥१०५॥
 स्वस्थो भूतपतिः पूर्णः पुराणपुरवोऽक्षयः । शरत्स्थः पंचकल्याणपूजाहोऽम्बुशुभाण्ववः ॥१०६॥
 कण्ठवाद्यात्मा सुकण्ठवाद्यः कण्ठवाद्यः प्रकृतिः प्रियः । सुभगः कान्तिमान् दीप्तो गूढात्मा गूढगोचरः ॥१०७॥
 जगन्मूर्त्तमविस्तुषो दिव्यभार्मंडलः सुधीः । महौजाऽतिस्फुरत्कान्तिः सूर्यकोट्यधिकप्रभः ॥१०८॥
 निदृष्टकनकच्छायो हेमवर्णः स्फुरद्द्युतिः । प्रतापी प्रबलः पूर्वांस्तोजोराशिर्गोविपमः ॥१०९॥
 शान्तेशः शान्तकर्मरिः शान्तिकृच्छ्रान्तिकारकः । भुक्तिदो मुक्तिदो दाता ज्ञानाग्निः शीखरसागरः ॥११०॥
 स्पष्टवाक् पुष्टिदः पुष्टः शिष्टेष्टः शिष्टसेवितः । स्पष्टाक्षरो विशिष्टांगः स्पष्टवृत्तो विशुद्धितः ॥१११॥
 निष्किंचनो निराक्षम्बो निपुणो निपुण्याभितः । निर्ममो निरहंकारः प्रशस्तो जैनवत्सलः ॥११२॥
 तेजोमयोऽमितउपयोतिः शुद्धमूर्त्तिस्तमोपहः । पुण्यदः पुण्यहेत्वात्मा पुण्यवान् पुण्यकर्मकृद् ॥११३॥
 पुण्यमूर्त्तिर्माहापुण्यः पुण्यवाक् पुण्यशासनः । पुण्यभोक्ताऽतिपुण्यात्मा पुण्यशाली दृढाशयः ॥११४॥
 अग्निद्रावुरतन्द्राबुधुं मुमुक्षुं किबल्लभः । मुक्तिप्रियः प्रजाबन्धुः प्रजाकरः प्रजाहितः ॥११५॥
 श्रीशः श्रीभितपादाब्जः श्रीविरागो विरक्तपीः । ज्ञानवान् बन्धमोचको बन्धनो बन्धवूरगः ॥११६॥
 वनवासी जटाधारी ज्ञेशातीतोऽतिसौख्यवान् । आसोऽमूर्त्तः कनकवायः शकः शक्तिमयो वृषः ॥११७॥
 हताक्षो हतकर्माहितमोहो हितार्थितः । हतमिथ्यात्व आत्मस्थः सुरूपो हतदुर्नयः ॥११८॥
 स्याद्वादी च नयप्रोक्ता हितवादी हितध्वनिः । भव्यबृहामधिर्मन्योऽस्मोऽसमगुण्याभयः ॥११९॥
 निर्विज्ञो निश्चलो लोकवत्सलो लोकलोचनः । आदेवादिम आदेवो हेयादेवप्ररूपकः ॥१२०॥
 भद्रो भद्राशयो भद्रशासनो भद्रवाक् कृती । भद्रकृद्भद्रभष्यात्नो भद्रबन्धुरतमयः ॥१२१॥
 केवली केवलः लोकः केवलज्ञानलोचनः । केवलेशो महर्द्धीशोऽश्लेषोऽभेयोऽतिवृषभनृत् ॥१२२॥
 सूक्ष्मदर्शी कृपामूर्त्तिः कृपालुश्च कृपावहः । कृपाम्बुधिः कृपावान्यः कृपोपदेशतत्परः ॥१२३॥
 द्यानिधिर्दयादर्शीत्यमूनि सार्थकान्यपि । सहस्राष्टकनामाभ्यर्हंतो ज्ञेयानि कोविदः ॥१२४॥
 देवानेन महानामराशिस्तवकलेन मे । चंचलं देहि सर्वाधि त्वन्नामानि गुणैः समम् ॥१२५॥
 इदं नामावलीहृदयस्तोत्रं पुण्यं पठेत्सुधीः । नित्यं योऽहंवरुणान् प्राप्याप्सितोऽहं नयेद् दशाम् ॥१२६॥

—:०:—

श्रीअर्हन्नामसहस्रसमुच्चयः

(श्रीहेम चन्द्राचार्य-विरचितः)

अर्हं नामापि कर्णार्थं श्रवणं वाचा समुच्चरन् । जीवः पीवरपुण्यभीर्भते फलमुत्तमम् ॥१॥
 अतएव प्रतिप्रायः समुत्थाय मनीषिभिः । भक्त्याऽष्टाभ्यसहस्राहं नामोच्चारणे विधीयते ॥२॥
 श्रीनामहं जिनः स्वामी स्वयम्भूः शम्भुरात्मभूः । स्वयंभुः प्रभुर्भोका विश्वभूरपुत्रभवं ॥३॥
 विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चतुरधरः । विरवन्निव् विश्वविधेशो विश्वयोनिरनीश्वरः ॥४॥
 विश्वहरवा विश्वार्था विरवेशो विरवलोचनः । विश्व्यापी विपुर्वेदाः कारवतो विरवतोमुखः ॥५॥
 विरवतो विश्वतःपातो विरवशीर्षः शुषिजवाः । विरवहण् विरवभूतेशो विश्वज्योतिरनरवरः ॥६॥
 विरवहृद् विरवसुर्विरवेद् विरवमुक् विरवनाथकः । विश्वामी विरवभूतात्मा विरवनिव् विरवपादाकः ॥७॥
 विरवकर्मा जगद्विरवो विरवमूर्त्तिजिनरवरः । भूतभाविभचक्रता विरववैशो वतीरवरः ॥८॥
 सर्वाधिः सर्वहृद् सार्धः सर्वशः सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्वविद् सर्वलोकजित् ॥९॥
 सर्वगः सुसुतः सुभः सुवाक् सर्वाधिः सुसुतः । सहस्रशीर्षः जेज्जः सहजायः सहस्रपाद् ॥१०॥

सुगाविपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः । ब्रह्मविद् ब्रह्मतरुवज्जो ब्रह्मयोनिरयोनिजः ॥११॥

ब्रह्मनिष्ठः परब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसम्भवः । ब्रह्मेद् ब्रह्मपतिर्ब्रह्मचारी ब्रह्मपदेवरः ॥१२॥

विष्णुर्जिष्णुर्जयो जेता जिनेन्द्रो जिनपुंगवः । परः परतरः सूचनः परमेष्ठो सनातनः ॥१३॥

॥ १०० ॥

जिननाथो जगन्नाथो जगत्स्वामी जगत्प्रभुः । जगत्पुत्रो जगद्गन्धो जगदीशो जगत्पतिः ॥१४॥

जगन्नेता जगज्जेता जगन्मान्यो जगद्धिमुः । जगज्ज्येष्ठो जगच्छ्रेष्ठो जगद्व्येवो जगद्धितः ॥१५॥

जगदूर्ध्वो जगद्भुजंगच्छास्ता जगत्पिता । जगन्नेत्रो जगन्मैत्रो जगदीपो जगद्गुरुः ॥१६॥

स्वयंभोतिरजोऽजन्मा परंतेजः परंमहः । परमात्मा शमी शान्तः परंभोतिस्तमोऽपहः ॥१७॥

प्रशान्त्तरिनन्तात्मा योगी योगीश्वरो गुरुः । अन्नन्तजिदन्तात्मा भव्यत्रन्तुरन्नन्नः ॥१८॥

शुद्धबुद्धिः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः । सिद्धः सिद्धान्तविद् ध्येयः सिद्धः साध्यः सुधीः सुगीः ॥१९॥

सद्विष्णुश्च्युतोऽन्नतः प्रभवविष्णुर्मवोद्भवः । स्वयंभूच्छरसंभूच्छुः प्रभूच्छुरभयोऽभ्यवः ॥२०॥

दिव्यभाषापरार्तदिव्यः पूतबाक् पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥२१॥

निर्मोहो निर्मदो निरलो निर्दम्भो निरुपद्रवः । निराधारो निराहारो निर्लोभो निश्चलोऽचलः ॥२२॥

निष्कामी निर्ममो निष्कक् निष्कलंको निरंजनः । निर्गुणो नीरसो निर्मीर्निर्वापारो निरामयः ॥२३॥

निर्मिमेधो निराभाषो निद्द्रो निष्कियोऽनघः । निर्भंकश्च निरालंको निष्कलो निर्मलोऽमलः ॥२४॥

॥ २०० ॥

तीर्थंकर् तीर्थसद् तीर्थंकरस्तीर्थंकरः सुहृक् । तीर्थंकरतां तीर्थंभक्तां तीर्थंशस्तीर्थनायकः ॥२५॥

सुतीर्थोऽधिपतितीर्थंसेव्यस्तीर्थिकनायकः । धर्मतीर्थंकरस्तीर्थंसेव्यस्तोतीर्थंकरः ॥२६॥

तीर्थार्थीशो महातीर्थंस्तीर्थंस्तीर्थविधायकः । सत्यतीर्थंकरस्तीर्थंसेव्यस्तीर्थिकतायकः ॥२७॥

तीर्थनाथस्तीर्थराजस्तीर्थेद् तीर्थंकराशकः । तीर्थवंधस्तीर्थमुख्यस्तीर्थाराध्यः सुतीर्थिकः ॥२८॥

स्वविष्टः स्वविरो व्येष्टः प्रेष्टः प्रेष्ठो वरिष्ठधीः । स्व्येष्ठो गरिष्ठो वंदिष्ठो श्रेष्ठोऽधिष्ठो गरिष्ठधीः ॥२९॥

विभवो विभवो वीरो विद्योको विरजो जरन् । विरागो विभदोऽभ्यक्तो विविक्तो वीरमत्स्वरः ॥३०॥

वीररागो गवद्भो वीरतमोहो विमन्मथः । विद्योगो योगविद् विद्वान् विधाता विनयो नयो ॥३१॥

आन्तिमान् पृथिवीर्भूतिः शान्तिभाक् सजिजात्मकः । वायुमूर्त्तिरसंगात्मा वह्निमूर्त्तिरधर्मधक् ॥३२॥

सुपञ्चा यजमानात्मा सुज्जामस्तोमपूजिवः । अद्विग् यज्ञपतिर्याज्यो यज्ञांगमशुर्त हविः ॥३३॥

सोममूर्त्तिः सुसौम्यात्मा सूर्वमूर्त्तिर्महाप्रभः । व्योममूर्त्तिरमूर्त्तात्मा नीरजा वीरजाः शुचिः ॥३४॥

मंत्रविन्मंत्रकृन्मन्त्रो मंत्रमूर्त्तिरनन्तरः । स्वतंत्रः सूत्रकृन् स्वत्रः कृतान्तश्च कृतान्तकृन् ॥३५॥

॥ ३०० ॥

कृती कृतार्थः संकृत्यः कृतकृत्यः कृतकृतुः । नित्यो कृत्युज्योऽश्रुपुरस्तृतात्माऽश्रुतोद्भवः ॥३६॥

हिरण्यवर्गमः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः । स्वयंप्रभः प्रभूतात्मा भवो भावो भवान्तकः ॥३७॥

महाद्योकृष्णजोऽभोकः कः क्षष्टा पद्मविष्टरः । पद्मेष्टः पद्मसंभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥३८॥

पद्मयोजिर्गणोनिरिस्थः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनाहो हृषीकेशोऽजितो जेयः कृत्वाक्रियः ॥३९॥

विशाखो विजुलोपोतिरगुलोऽचिन्त्यवैभवः । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा शुभंयुः शुभकर्मकृन् ॥४०॥

एकविधो महावैधो भुविः परिहृष्टो हृष्टः । पतिविधानिधिः साधी विनेता विद्वान्तकः ॥४१॥

पिता वितामहः पाया पवित्रः पावनो गतिः । प्राता भिषक्वरो कर्षो वरदः पारदः पुमान् ॥४२॥

कविः पुराण्युख्यो वर्षीयाच् अचनः पुरः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुयु बर्नकपितामहः ॥४३॥

श्रीवत्सलचष्यः सृषयो लक्षय्यः शुभसाक्ष्यः । निरधः पुंडरीकाक्षः पुष्कतः पुष्कलेक्ष्यः ॥४४॥

सिद्धिदुः सिद्धलक्ष्यः सिद्धात्मा सिद्धशासनः । बुद्धयोऽप्यो महाबुद्धिर्वर्धमानो महर्षिकः ॥४५॥

वेदांगो वेदविद्यो वेधो जातरूपो विदांबरः । वेदवेधः स्वसंवेधो विवेधो वदतांबरः ॥४६॥

॥ ४०० ॥

सुधर्मा धर्मधीर्धर्मो धर्मात्मा धर्मदेशकः । धर्मचकी दयाधर्मः शुद्धधर्मो वृषध्वजः ॥४०॥
 वृषकेतुवृषधीरो वृषांकज वृषोद्भवः । हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद् भूतभावनः ॥४१॥
 प्रभवो विभवो भास्वान् मुक्तः शक्तोऽजयोऽजतः । कूटस्थः स्थाण्डुरकोम्भः शास्ता नेताऽचलस्थितिः ॥४२॥
 अग्रशीर्षामशीर्षप्रभवो गण्यगणयो गण्याग्रणीः । गण्याधियो गण्याधीरो गण्यम्बेष्टो गण्यार्थितः ॥४३॥
 गुणाकरो गुणान्मोक्षिण्युगणो गुणवान् गुणी । गुणादरो गुणोप्येदी सुगुणोऽगुणवर्जितः ॥४४॥
 शरवयः पुष्यवाक पूतो वरेथयः पुष्यगीशुंक्षः । अगण्यपुष्यथोः पुष्यः पुष्यकृत् पुष्यशासनः ॥४५॥
 अतीन्द्रोऽतीन्द्रियोऽधीन्द्रो महेन्द्रोऽधीन्द्रियार्थहृत् । अतीन्द्रियो महेन्द्रार्थो महेन्द्रमहितो महान् ॥४६॥
 उद्भवः कारव्यं कर्ता पारगो भवतारकः । अग्राह्यो गहनं गुह्यः परदिः परमेदवरः ॥४७॥
 अनन्तद्विरमेयद्विरचिन्त्यद्विः सप्तप्रधीः । प्राप्र्यः प्राप्स्यहरोऽल्पप्रः प्रत्यप्रोऽप्रोऽप्रियोऽप्रजः ॥४८॥
 प्रायकः प्रयावः प्रायः प्रायद् प्रायितेश्वरः । प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः ॥४९॥

॥ ५०० ॥

महाजिनो महाबुद्धो महाब्रह्मा महाशिवः । महाविष्णुर्महाजिष्णुर्महानथो महेश्वरः ॥५०॥
 महादेवो महास्वामी महाराजो महाप्रभुः । महाचन्द्रो महादित्यो महाग्युरो महागुरुः ॥५१॥
 महातपा महातेजा महोदको महामयः । महापशो महाषामा महासत्त्वो महाबलः ॥५२॥
 महाधैर्यो महावीर्यो महाकान्तिर्महाद्युतिः । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥५३॥
 महामतिर्महान्तीतिर्महान्तिर्महाकृतिः । महाकीर्तिर्महास्फूर्तिर्महाप्रज्ञो महोदयः ॥५४॥
 महाभागो महाभोगो महारूपो महावपुः । महादानो महाज्ञानो महाशास्ता महामहः ॥५५॥
 महामुनिर्महामौनी महाध्यानो महादमः । महाश्रमो महाशीरो महायोगो महालयः ॥५६॥
 महावनो महायज्ञो महाश्रेष्ठो महाकविः । महामन्त्रो महातन्त्रो महोपायो महानयः ॥५७॥
 महाकारुणिको मन्ता महानादो महायतिः । महाभोदो महाधोषो महेज्यो महसोपतिः ॥५८॥
 महावीरो महाधीरो महाधुर्यो महेश्वरः । महात्मा महसां धाम महर्षिर्महितोदयः ॥५९॥
 महामुक्तिर्महागुप्तिर्महासत्त्वो महाजवः । महानुद्धिर्महासिद्धिर्महाशीरो महावरी ॥६०॥
 महाधर्मो महाराजो महाशायः । महामोक्षो महासील्यो महानन्दो महोदयः ॥६१॥

॥ ६०० ॥

महाभवाग्निप्रस्तारो महामोहारिसूदनः । महायोगीश्वराराज्यो महामुक्तिप्रदेश्वरः ॥६२॥
 आनन्दो नन्दो नन्दो वन्द्यो नन्दोऽभिनन्दनः । कामहा कामदः काम्यः कामधेनुररिजयः ॥६३॥
 मनःश्लेशपहः सायुस्तमोऽघहरो हरः । असंख्येयः प्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥६४॥
 सर्वयोगीश्वरश्रियः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः । दान्तात्मा दमतीर्थयो योगात्मा योगसाधकः ॥६५॥
 प्रमायापरिधिर्दोषो दक्षिणोऽप्यधुरश्वरः । प्रचीयवन्धः कर्मारिः श्वेत्कृत्स्नमशासनः ॥६६॥
 श्वेती श्वेत्करोऽच्यवः श्वेत्धर्मा श्वापतिः । अप्राह्यो ज्ञानिविज्ञो यो ज्ञानिगम्यो जिनोत्तमः ॥६७॥
 जिनेन्दुर्जनितानन्दो मुनीन्दुर्दुन्दुभिस्वनः । मुनीन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो यतिनायकः ॥६८॥
 असंस्कृतः सुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तवित् । अन्तकृत् कान्तगुः कान्ताश्रिन्तामखिरमोष्टदः ॥६९॥
 अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्रोधो जितान्तकः ॥७०॥
 सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसन्धानः सत्यः सत्यपरायणः ॥७१॥
 सदायोगः सदाभोगः सदावृत्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासील्यः सदाविद्यः सतोदयः ॥७२॥
 सुधोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् । सुगुणो गुणिवृद् गोता गुलाचो गुत्मानसः ॥७३॥

॥ ७०० ॥

वृद्ध वृहस्पतिर्वाग्मी वाक्स्पतिकुवारीधीः । मनीषी धिष्यो धीमान् हेमुषीरो गिरांपतिः ॥७४॥
 नैकरूपो नयोक्तृ गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रत्यर्थात्मा कृतज्ञः कृतसहयः ॥७५॥

ज्ञानगर्भो द्यागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥२६॥
 ज्योतीशः सत्योऽप्यष्टो हृदयोनिर्णीशिता । मनोहरो मनोजोऽर्हो धीरो गम्भीरशासनः ॥२७॥
 धर्मयुषो द्यायागो धर्मनिमित्तुनीश्वरः । धर्मचक्रायुषो देवः कर्महा धर्मबोधकः ॥२८॥
 स्वैवान् स्वधीवान् नेदीवान् दवीवान् दूरदर्शनः । सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् सुस्थो नीरजस्को गतस्त्वहः ॥२९॥
 वर्येन्द्रियो विभुक्त्वात्मा निःस्पृहो जितेन्द्रियः । श्रीनिवासश्रुतुर्वैश्रवणुरास्यश्रुतुस्तुः ॥३०॥
 ज्ञान्यात्मगम्योऽगम्यत्मा योगात्मा योगिवन्द्ितः । सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालत्रिपर्याहृक् ॥३१॥
 शंकरः सुष्वदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायणः । स्वानन्दः परमानन्दः सुष्मवर्षी परापरः ॥३२॥
 अमोघोऽमोघवाक् स्वाज्ञो दिव्यहृदिरगोचरः । सुरूपः सुभगास्थानी मूर्तोऽमूर्तः समाहितः ॥३३॥

॥ ८०० ॥

एकोऽनेको निरालम्बोऽनीह्य नयो निरन्तरः । प्राथोऽभ्यर्थाः समभ्यर्थाश्चिजगन्मगलौदयः ॥३४॥
 ईशोऽधीशोऽधिपोऽधीन्द्रो ज्येथोऽमेथो द्यामयः । शिवः शूरः शुभः सारः शिष्टः स्पष्टः स्फुटोऽस्फुटः ॥३५॥
 हृष्टः पुष्टः ज्ञानोऽज्ञानोऽकायोऽमायोऽम्मयोऽमयः । हृथोऽहृथोऽश्रुत्यूक्तो जीर्णो नभ्यो गुरुलघुः ॥३६॥
 स्वभूः स्वात्मा स्वयंभुवः स्वेशः स्वरीश्वरः स्वरः । आद्योऽज्ययोऽपरोऽरूपोऽस्पृशोऽशाष्टोऽरिहाऽरुहः ॥३७॥
 दीप्तोऽलेरयोऽन्तोऽगन्थोऽक्लेथोऽमेथोऽजरोऽमरः । प्राज्ञो धन्यो वतिः पूज्यो मह्योऽर्च्यः प्रसामी यमी ॥३८॥
 श्रीशः श्रीन्द्रः शुभः सुश्रीरुत्तमश्रीः श्रियः पतिः । श्रीपतिः श्रीपरः श्रीपः सच्छ्रीः श्रीयुक् श्रियाश्रितः ॥३९॥
 ज्ञानी तपस्वी तेजस्वी यशस्वी बलवान् बली । दानी ध्यानी मुनिर्मोनी लघी लक्ष्यः लघी धमी ॥४०॥
 लक्ष्मीवान् भगवान् श्रेयान् सुगतः सुतनुवुंषः । बुद्धो बृहः स्वयंसिद्धः प्रोष्ठः प्रोष्ठुः प्रभाभयः ॥४१॥

॥ ८०० ॥

आदिदेवो देवदेवः पुरुदेवोऽधिदेवता । युगादीशो युगाधीशो युगसुख्यो युगोत्तमः ॥४२॥
 दीशः प्रदीशः सूर्योऽरिज्ञोऽविज्ञोऽधनो धनः । शशुभः प्रतिवस्तु गोऽसंगः स्वंगोऽप्रगः सुगः ॥४३॥
 स्याद्वादी विष्णोर्गोविन्द्यश्चिनिरुहामगीः प्रगीः । पुष्यवागर्थावगार्धमागधीयोक्तिरुदगीः ॥४४॥
 पुराणपुरयोऽपूर्वोऽपूर्वश्रीः पूर्वदशकः । जिनदेवो जिनाधीशो जिननाथो जिनाप्रथीः ॥४५॥
 शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवगतिः शिवप्रदः । शान्तिकृत् शान्तिदः शान्तिः कान्तिमान् कामितप्रदः ॥४६॥
 श्रियांनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः । सुस्थितः स्थावरः स्थाण्डुः प्रथीवान् प्रथितः प्रथुः ॥४७॥
 पुष्यराशिः श्रियोराशित्सं जेराशिरसंशयी । ज्ञानोदधिरनन्तीजा ज्योतिर्मूर्तिरनन्तधीः ॥४८॥
 विज्ञानोऽप्रतिमो भिषुसु मुचुसु निपुंगवः । धनिद्राजुरतन्द्रालुजांगरूकः प्रमाभयः ॥४९॥
 कर्मययः कर्मटोऽकुंडो रुद्रो भद्रोऽभयंकरः । लोकोत्तरो लोकपतिलोकेशो लोकवत्सलः ॥५०॥
 त्रिलोकीशास्त्रिकालज्ञनेत्रस्त्रिपुरान्तकः । न्यम्बकः केवलालोकः केवली केवलेलक्ष्यः ॥५१॥
 समन्तभद्रः शान्तादिर्धर्माचार्यो द्यानितिः । सूक्ष्मदर्शी सुमार्गजः कृपालुर्मार्गशंकरः ॥५२॥

॥ १००८ ॥

प्रातिहाङ्गोऽज्वलस्कीर्तातिशयो विमलाशयः । सिद्धान्तचतुष्कश्रीर्जीयाच्छ्रीजिनपुंगवः ॥५३॥
 प्लवट्टोत्तरं नामसहस्रं श्रीमद्वहंतः । भग्नाः पठन्तु सानन्दं महानन्दैककारणम् ॥५४॥
 हृत्वेतज्जिनदेवस्य जिननामसहस्रकम् । सबोपराधशमनं परं भक्तिविवर्धनम् ॥५५॥
 अर्घ्यं त्रिषु लोकेषु सर्वस्वैकसाधनम् । स्वर्गलोकैकसोपानं सर्वदुःखैकनाशनम् ॥५६॥
 समस्तदुःखैः सद्यः परं निर्वाणशयकम् । कामक्रोधादिभिःशोषमनोमलविशोषनम् ॥५७॥
 शान्तिदं पावनं सुधां महापातकनाशनम् । सर्वेषां प्राथिनामाद्यु सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥५८॥
 जगत्ताण्ड्यप्रशमनं सर्वविधाप्रवर्धकम् । राज्यं गन्धर्भानां रोगिणां सर्वरोगहृत् ॥५९॥
 बन्धनानां सुतदं षाड् षीथानां जीवितप्रदम् । भूत-ग्रह-विषर्षसि भवयात् पठनाजपात् ॥६०॥

इति श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितः श्रीमहेश्वरनामसहस्रसमुच्चयः समाप्तः ।

जिनसहस्रनाम

स्वोपज्ञविवृतियुतम्

भग्नो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः । एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं कल्याणवत् ॥ १ ॥
 सुखजाह्नसया मोहाद् भ्राम्यन् बहिरितस्ततः । सुखैकहेतोरगामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥
 अथ मोहप्रहावेक्षैषिव्यक्तिक्रिदुन्मुखः । अनन्तगुणभाष्येभ्यस्त्वां कृत्वा स्तोत्रमुद्यतः ॥ ३ ॥
 भक्त्या प्रोत्सार्यमाद्योऽपि दूरं शक्त्या तिरस्कृतः । त्वां नामाहसहस्रेण स्तुत्वाऽऽभार्यं पुनान्वहम् ॥ ४ ॥

(हे प्रभो, त्रिभुवनैकनाथ, एष) प्रत्यक्षीमूतोऽहं आशापरमहाकविः त्वां भवन्तं विज्ञापयामि विभक्तिं कपोमि (कथम्भूतोऽहम् ? भवाङ्गभोगेषु संसार-शरीर-भोगेषु निर्विण्णो निर्वेदं प्रातः । कस्मात्कारणात्निर्विण्ण इत्याह-दुःखभीरुकः, दुःखान्नीरुकः दुःखभीरुकः । कथम्भूतं त्वाम् ? शरण्यम् । श्रूयति भयमनेनेति शरण्यं करुणाधिकरणयोश्च युद् । शरण्याय हितः शरण्यः, यदुक्तवादितः । अस्मिन्मथन इत्यर्थः (तम्) । भूयः कथम्भूतं त्वाम् ? करुणार्णवम् । क्रियते स्वर्गगामिभिः प्राणिवर्गेषु इति कस्या, श्रुत्वात्तद्वच्यमिदार्थविभ्यः उन् । अर्थां जलं विद्यते यस्य सोऽर्णवः, सलोपश्च अस्यैवं दप्रत्ययः । कस्याया अर्णवः कस्यार्णवस्तं कस्यार्णवंच दयासमुद्रं इति याक्त् ॥१॥ सुखयति आत्मनः प्रीतिमुत्पादयतीति सुखं अचि इन् लोपः । भ्रशं पुनः पुनः वा लसनं लालसा सुखस्य शर्मण्यः सद्देवस्य सातस्य लालसया अत्याकाञ्छया (मोहाद्) अज्ञानात् पर्यटन् सन् (बहिः) कुदेनाद्यौ प्रार्थयमानः (इतस्ततः) यत्र तत्र । कथम्भूतस्य तव सुखस्य परमा- (नन्दलक्षणस्य) एकोऽद्वितीयः हेतुः कारणां सुखैकहेतुस्तस्य सुखं कहेतोः अभिधानमात्रमपि सर्वज्ञवीतरागस्य न ज्ञातवान् अहं (पुरा) पूर्वकाले अनतिकाले ॥२॥ हे स्वामिन्, (अथ, अस्मिन्,) भवे मोहः अज्ञानं मिथ्यात्वं मोहो वा, स एव ग्रहः प्राणिक्यकारित्वात् मोहग्रहः, तस्य आवेशः प्रवेशः (अ-) यथार्थप्रवर्तनं तस्य शैथिल्यं उपशमः क्षयोपशमो वा, तस्मात् । कियत् ? किञ्चित् ईप्स्यमानाक् उन्मुखः बद्धोक्तुः । कीदृशं भ्रुत्वा ? अनन्तगुणां केवलज्ञानाद्यन्तगुणसंयुक्तम् । केन्यः भ्रुत्वा ? आतेभ्यः उदयसेन-मदनकीर्त्ति-महावीरानामादि-गुरुभ्यः आचार्येभ्यः सकाशात् त्वां भगवन्तं (भ्रुत्वा) आकर्ण्य अहं उद्यमपरः संजातः ॥३॥ हे त्रिभुवनैकनाथ, अहमाशापरः । त्वां भवन्तं, स्तुत्वा स्तुतिं नीत्वा । आत्मानं निजजीवस्वरूपं पुनानि पवित्रयामि । केन कृत्वा ? स्तुत्वा नामाहसहस्रेण । कथम्भूतोऽहं ? (भक्त्या) आत्मानुसारेण (प्रोत्सार्यभाष्यः प्रकृतमुद्यमं) प्राप्यमानः त्वं (जिनवर-) स्तवनं कुर्वति प्रेयमाण्यः (दूरं) अतिशयेन (शक्त्या) तिरस्कृतः जिनवस्तावनं मा कार्पायिति निषिद्धः । अहमिष्यैकं वदन् अहसहस्रं नामाहसहस्रं तेन पवित्रयामि अहं आशापरमहाकविः ॥४॥

हे प्रभो, हे त्रिभुवनके एकमात्र स्वामी जिनेन्द्र देव ! संसार, शरीर और इन्द्रिय-विपर्ययरूप भोगोंसे अत्यन्त विरक्त और शारीरिक, मानसिक आदि नाना प्रकारके सांसारिक कष्टोंसे भयभीत हुआ यह आपके सम्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित मैं आशापर महाकवि जगज्जनोंके शरण देनेवाले और दयाके सागर ऐसे आपको पाकर यह नम्र निवेदन करता हूँ । हे भगवन्, सुखकी लालसासे मोहके कारण बाहर इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए अर्थात् कुदेवादिककी सेवा करते हुए मैंने सुखका एक-मात्र कारण आपका नाम भी पहले कभी नहीं जाना । हे स्वामिन्, आज इस भयमें मोहरूप महका आवेश शिथिल होनेसे सुमार्गकी ओर कुछ उन्मुख होता हुआ मैं (उदयसेन, मदनकीर्त्ति, महावीर आदि) गुरुजनोंसे अनन्त गुणशाली आपका नाम सुनकर आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ । हे त्रिभुवननाथ, भक्तिके द्वारा प्रोत्साहित किया गया भी मैं शक्तिके अत्यन्त तिरस्कृत हूँ, अतएव केवल एक हजार आठ नामोंके द्वारा आपकी स्तुति करके मैं अपनी आत्माको पवित्र करता हूँ ॥१-४॥

जिन-सर्वश-यज्ञार्ह-तीर्थकृन्नाथ-योगिनाम् । निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धान्तकृतौ षाष्टोत्तरैः ॥ १ ॥
जिनो जिनेन्द्रो जिनराट् जिनप्रष्टो जिनोत्तमः । जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वरः ॥ ६ ॥
जिननाथो जिनपतिर्जिनराजो जिनाधिराट् । जिनप्रभुर्जिनविभुर्जिनभर्ता जिनाधिभूः ॥ ७ ॥

समास्तु जिनश्च सर्वशब्द यज्ञार्हश्च (तीर्थ-) कृन्नाथश्च योगी च जिन-सर्वश-यज्ञार्ह-तीर्थकृन्नाथयोगिनः, तेषां, इति षट् शतानि । तथा निर्वाणश्च ब्रह्मा च बुद्धश्च अन्तकृन्नाथ निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धान्तकृतः, तेषां; इति चत्वारि शतानि । तथा-तदेव निरूपयति ॥५॥ अनेकविधमभयगहन-व्यसनप्रापणहेतुत्वं कर्मारतीन् जयति क्षयं नय-तीति जिनः, इष्ट् जि-शुचिभ्यो नक् । एकदेशेन समस्तभावेन (वा) कर्मारतीन् जितवन्तो जिनाः, सम्बद्धशब्दः भाषकाः प्रमत्तसंयताः अप्रमत्ताः अपूर्वकरणाः अनिष्टित्करणाः सुक्ष्मसाम्प्रया उपशान्तकथायाः क्षीणकथायाश्च जिनराद्येनोच्यन्ते । तेषामिन्द्रः स्वामी जिनेन्द्रः, वा जिनभ्रावाविन्द्रो जिनेन्द्रः । जिनेषु ब्रह्मलु राजते । जिनेषु बृहः प्रधानं । जिनेषु उत्तमः । जिनानामधिपः स्वामी । जिनानामधीशः स्वामी । जिनानां स्वामी । जिना-नामीश्वरः स्वामी ॥६॥ जिनानां नाथः स्वामी । जिनानां पतिः स्वामी । जिनानां राजा स्वामी । जिनानाम-धिराट् स्वामी । जिनानां प्रभुः स्वामी । जिनानां विभुः स्वामी । जिनानां भर्ता स्वामी, जिनानामधिभूः स्वामी ॥७॥

भावार्थ—भक्ति भी मेरी स्त्री है और शक्ति भी । भक्तिरूपी स्त्री तो आपकी स्तुति करनेके लिए मुझे वार-वार उत्साहित कर रही है, परन्तु शक्तिरूपी स्त्री मुझे बलात् रोक रही है, अतएव मैं द्विविधामें पड़ गया हूँ कि किसका कहना मानूँ ? यदि एकका कहना मानता हूँ, तो दूसरी कुपित हुई जाती है, ऐसा विचार कर दोनोंको ही प्रसन्न रखनेके लिए केवल कुछ नाम लेकरके ही आपकी स्तुति कर रहा हूँ ।

हे अनन्त गुणशालिन, मैं जिन, सर्वज्ञ, यज्ञार्ह तीर्थकृन्, नाथ, योगी, निर्वाण, ब्रह्म, बुद्ध और अन्तकृत नामक आठ नामों से अधिक दश शतोंके द्वारा आपकी स्तुति कर अपनी आत्माको पवित्र करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ ॥५॥

(१) अथ जिननाम शतक—

अर्थ—हे भगवन्, आप जिन हैं, जिनेन्द्र हैं, जिनराट् हैं, जिनप्रष्ट हैं, जिनोत्तम हैं, जिनाधिप हैं, जिनाधीश हैं, जिनस्वामी हैं, जिनेश्वर हैं, जिननाथ हैं, जिनपति हैं, जिनराज हैं, जिनाधिराट् हैं, जिनप्रभु हैं, जिनविभु हैं, जिनभर्ता हैं और जिनाधिभू हैं ॥६-७॥

व्याख्या—हे जिन—आपने भव-कानन-सम्बन्धी अनेक विषम व्यसनरूपी महाकष्टोंके कारणभूत कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है अतः जिन कहलाते हैं (१) । जिनेन्द्र—चतुर्थ गुण-स्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंको भी कर्मोंके एकदेश जीतनेके कारण जिन कहते हैं । इन जिनोंमें आप इन्द्रके समान हैं, अतः जिनेन्द्र कहलाते हैं (२) । जिनराट्—आप जिनोंमें अनन्त ऐश्वर्यके कारण शोभित होते हैं, अतः जिनराट् कहलाते हैं (३) । जिनप्रष्ट—आप जिनोंमें प्रष्ट अर्थात् प्रधान हैं (४) । जिनोत्तम—आप जिनोंमें उत्तम हैं (५) । जिनाधिप—आप जिनोंके अधिप (स्वामी) हैं (६) । जिनाधीश—आप जिनोंके अधीश हैं (७) । जिनस्वामी—आप जिनोंके स्वामी हैं (८) । जिनेश्वर—आप जिनोंके ईश्वर हैं (९) । जिननाथ—आप जिनोंके नाथ हैं (१०) । जिनपति—आप जिनोंके पति हैं (११) । जिनराज—आप जिनोंके राजा हैं (१२) । जिनाधिराट्—आप जिनोंके अधिराज हैं (१३) । जिनप्रभु—आप जिनोंके प्रभु हैं (१४) । जिनविभु—आप जिनोंके विभु हैं (१५) । जिनभर्ता—जिनोंके भरण-पोषण करनेके कारण आप जिनभर्ता हैं, अर्थात् उन्हें सन्मार्ग-दर्शन और सद्बोधामृत-पान करानेवाले हैं (१६) । जिनाधिभू—जिनोंके अधिवास अर्थात् आत्मामें निवास करनेके लिए निर्मल रत्नत्रयमयी भूमिको प्रदान करनेसे जिनाधिभू हैं (१७) ।

जिननेता जिनेशानो जिनेनो जिननायकः । जिनेट् जिनपरिवृद्धो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥
जिनाधिराजो जिनयो जिनेशी जिनशासिता । जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिजिनपालकः ॥ ९ ॥
जिनचन्द्रो जिनादित्यो जिनार्को जिनकुंजरः । जिनेन्दुर्जिनधौरेयो जिनधुर्यो जिनोत्तरः ॥ १० ॥
जिनचर्मो जिनबरो जिनसिंहो जिनोद्दहः । जिनर्षभो जिनवृषो जिनरत्नं जिनोरसम् ॥ ११ ॥
जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाम्भ्यं जिनपुंगवः । जिनहंसो जिनोत्सो जिननागो जिनाग्रयोः ॥ १२ ॥

जिनानां नेता स्वामी । जिनानामीशानः स्वामी । जिनानां इनः प्रभुः स्वामी । जिनानां नायकः स्वामी । जिनानामीट् स्वामी । जिनानां परिवृष्टः स्वामी जिनपरिवृद्धः । परिवृष्टदृष्टौ प्रभुबलवतोः । जिनानां देवः स्वामी । जिनानामीशिता स्वामी ॥८॥ जिनानामधिराजः स्वामी । जिनान् पातीति जिनपः, आतोऽनुपसर्गात्कः । जिनेषु ईष्टे ऐश्वर्यवान् भवतीत्येवं शीलः । जिनानां शासिता रत्नकः । जिनानामधिको नाथः । जिनानामधिपतिः स्वामी । जिनानां पालकः स्वामी ॥ ९ ॥ जिनानां चन्द्र आलहादकः । जिनानामादित्यः प्रकाशकः । जिनानामर्कः प्रकाशकः । जिनानां कुंजरः प्रधानः । जिनानामिन्दुः । जिनानां धुरि नियुक्तः । जिनानां धुर्यः । जिनेषु उत्तरः उत्कृष्टः ॥१०॥

जिनेषु क्यों मुख्यः । जिनेषु वरः श्रेष्ठः । जिनानां जिनेषु वा सिद्धः मुख्यः । जिना उद्दहः पुत्राः यत्न स जिनेद्दहः । अथवा जिनाउद्दहति ऊर्ध्वं नयति इति । जिनेषु ऋषभः श्रेष्ठः । जिनेषु वृषः श्रेष्ठः । जिनेषु रत्नं उत्तमः जिनरत्नं । जिनानामुरः प्रधानो जिनोरसं । उरः प्रधानार्थं राजादौ ॥११॥ जिनानामीशः स्वामी । जिनानां शार्दूलः प्रधानः । जिनानां अम्भ्यं प्रधानः । जिनानां पुंगवः प्रधानः । जिनानां हंसो

अर्थ—हे जगदीश्वर, आप जिननेता हैं, जिनेशान हैं, जिनन हैं, जिननायक हैं, जिनेट् हैं, जिनपरिवृद्ध हैं, जिनदेव हैं, जिनेशिता हैं, जिनाधिराज हैं, जिनप हैं, जिनेशी हैं, जिनशासिता हैं, जिनाधिनाथ हैं, जिनाधिपति हैं, जिनपालक हैं, जिनचन्द्र हैं, जिनादित्य हैं, जिनार्क हैं, जिनकुंजर हैं, जिनेन्द्र हैं, जिनधौरेय हैं, जिनधुर्य हैं, और जिनोत्तर हैं ॥ ८-१० ॥

व्याख्या—सुमार्ग पर ले जानेवालेको नेता कहते हैं । हे भगवान्, आप जिनोको मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं अतएव जिननेता हैं (१८) जेशान, इन, नायक इष्ट, परिवृद्ध, देव, इशिता, और अधिराज ये सर्व शब्द स्वामीके पर्याय-वाचक हैं, आप सम्यग्दृष्टियां स्वामी हैं, अतएव आप जिनेशान, जिनन, जिननायक, जिनेट्, जिनपरिवृद्ध, जिनदेव, जिनेशिता, और जिनाधिराज कहलाते हैं (१९-२६) । जिनोको पालन करनेसे आप जिनप हैं (२७) । जिनोमें आप ऐश्वर्यवान् हैं अतएव आप जिनेशी हैं (२८) । जिनोके शासक हैं, अतः जिनशासिता कहलाते हैं (२९) । अधिनाथ, अधिपति, पालक ये तीनों ही शब्द स्वामीके अर्थके वाचक हैं, अतः आप जिनाधिनाथ, जिनाधिपति और जिनपालक कहे जाते हैं (३०-३२) । जिनोको चन्द्रके समान आल्लाव उत्पन्न करते हैं, अतः आप जिनचन्द्र हैं (३३) । आदित्य और अर्क शब्द सूर्यके पर्याय-वाचक हैं । आप जिनोको सूर्यके समान मोक्षमार्गका प्रकाश करते हैं, अतः आप जिनादित्य और जिनार्क कहलाते हैं (३४-३५) । कुंजर नाम गजराजका है । जैसे पशुओंमें कुंजर सबसे प्रधान या बड़ा होता है उसी प्रकार आप भी जिनोमें सबसे प्रधान हैं, अतः जिनकुंजर कहे जाते हैं (३६) । जिनोमें इन्द्र अर्थात् चन्द्रके तुल्य हैं, अतः आप जिनेन्दु हैं (३७) गाड़ीकी धुरापर बैठकर जो उसको चलाता है, उसे धौरेय या धुर्य कहते हैं । आप भी मोक्षमार्ग पर ले जानेवाले रथकी धुरा पर आसीन हैं, अतएव जिनधौरेय और जिनधुर्य ये दोनों ही नाम आपके सार्थक हैं (३८-३९) । जिनोमें आप उत्तर अर्थात् उत्कृष्ट हैं, अतएव आप जिनोत्तर कहलाते हैं (४०) ।

अर्थ—हे त्रिलोकीनाथ, आप जिनवर्ष हैं, जिनवर हैं, जिनसिंह हैं, जिनेद्दह हैं, जिनर्षभ जिनवृष हैं, जिनरत्न हैं, जिनोरस हैं, जिनेश हैं, जिनशार्दूल हैं, जिनाम्भ्य हैं, जिनपुंगव हैं, जिनहंस

जिनप्रवेकः जिनग्रामणीजिनसत्तमः । जिनप्रवहः परमजिनो जिनपुरोगमः ॥१३॥
जिनभ्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुक्तो जिनाग्रिमः । श्रीजिनश्रीश्रीजिनो जिनहृदारकोऽरिजित् ॥१४॥
निर्विघ्नो विरजाः शुद्धो निस्तमस्कः निरञ्जनः । घातिकर्मान्तकः कर्ममर्माविकर्महानघः ॥१५॥

भास्करः । जिनानामुत्तमः मुकुटः । जिनानां नागः प्रधानः । जिनानामग्रणीः प्रधानः ॥१२॥ जिनां प्रवेकः प्रधानः । जिनानां ग्रामणीः प्रधानः जिनग्रामणीः, अथवा जिनग्रामान् सिद्धसमूहान् नयतीति जिनग्रामणीः । जिनानां सत्तमः श्रेष्ठः प्रधानः । जिनपु प्रवहः मुख्यः जिनप्रवहः । परया उत्कृष्टया मया लक्ष्या अभ्युदय-निःश्रेयसलक्ष्योपलक्षितया वर्तत इति परमः । परमश्चासौ जिनः परमजिनः । जिनानां पुगोगमः प्रधानः अग्रसरः ॥ १३ ॥

जिनानां श्रेष्ठः प्रशस्त्यः । जिनानां ज्येष्ठः अतिशयेन वृद्धः प्रशस्त्यो वा । जिनपु मुख्यः प्रधानः, जिनानामग्रिमः प्रधानः । अथवा अभ्युदय-निःश्रेयसलक्ष्यया लक्ष्या उपलक्षितो जिनः श्रीजिनः । उत्तम उत्कृष्टो जिनः । जिनानां वृंदागकः श्रेष्ठः । अरिं मोहं जितवान् ॥१४॥ निर्गतो विनद्यो विघ्नोऽन्तपयो यत्येति । विगतं विनष्टं रजो शान-दर्शनाचरणद्वयं यत्येति । शुद्धः कर्ममलकलकरहितः । निर्गतं तमो अज्ञानं यत्येति । निर्गतं श्रवणं यत्येति निरञ्जनः, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितः । घातिकर्मणां मोहनीय-शानाचरण-दर्शना-चरणान्तपया-(शामन्त-) को विनाशकः, कर्मणां मर्म जीवनस्थानं (वि-) प्लूतीति कर्ममर्मावित् । न हि श्रुतिद्वयव्याधिर्घचसहितनिपु विचित्रतेषु (प्रा)दि कारकायामेव दीर्घः । कर्म हन्तीति कर्महा,

हैं, जिनोत्तम हैं, जिननाग हैं, जिनाग्रणी हैं, जिनप्रवेक हैं, जिनग्रामणी हैं, जिनसत्तम हैं, जिनप्रवह हैं, परमजिन हैं और जिनपुरोगम हैं ॥ ११-१२ ॥

व्याख्या—जिनोमें वर्य अर्थात् मुख्य हैं, अतएव आप जिनवर्य हैं (४१) । वर नाम श्रेष्ठका है । जिनोमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः जिनवर हैं (४२) । जिनोमें सिंहके समान कर्मरूप गजोंका मद्भजन करनेके कारण आप जिनसिंह हैं (४३) जिनोको आप ऊपरकी ओर ले जाते हैं अतः जिनोद्धर हैं (४४) । शृणुम और वृष ये दोनों शब्द श्रेष्ठ अर्थके वाचक हैं, आप जिनोमें श्रेष्ठ हैं, अतः जिनवर्षम और जिनवृषम कहलाते हैं (४५-४६) । जिनोमें रत्नके समान शोभायमान हैं, अतः जिनरत्न हैं (४७) । उरसु नाम प्रधानका है, जिनोमें प्रधान होनेसे जिनोरस हैं (४८) । जिनोके ईश होनेसे जिनेश हैं (४९) । शार्दूल नाम प्रधानका है, जिनोमें आप प्रधान हैं अतः जिनशार्दूल नाम भी आपका सत्यक है (५०) । अप्रय नाम आगे रहनेवाले मुखियाका है । जिनोमें अप्रय होनेसे आप जिनाप्रय कहलाते हैं (५१) । जिनोमें पुंगव अर्थात् प्रधान हैं, अतः जिनपुंगव हैं (५२) । जिनोमें हंसके समान निर्मल एवं धवल हैं अतः जिनहंस हैं । हंसनाम सूर्यका भी है, जिनोमें सूर्यके समान भास्करायमान होनेसे भी जिनहंस कहलाते हैं (५३) । जिनोमें उत्तम अर्थात् मुकुटक समान शोभायमान होनेसे जिनोत्तम कहे जाते हैं (५४) । जिनोमें नाग (हाथी) के समान प्रधान होनेसे जिननाग नाम आपका है (५५) । आगे चलनेवालेको अग्रणी कहते हैं, जिनोमें अग्रणी होनेसे जिनाग्रणी कहलाते हैं (५६) । जिनोमें प्रवेक अर्थात् प्रधान हैं, अतः जिनप्रवेक हैं (५७) । ग्रामणी नाम प्रधानका है । जिनोमें ग्रामणी होनेसे जिनग्रामणी कहे जाते हैं । अथवा भक्त्योंको जिनग्राम अर्थात् सिद्ध-समूहके पास ले जाते हैं, अतः जिनग्रामणी हैं (५८) । सत्तम और प्रवह नाम श्रेष्ठ और प्रधानका है । जिनोमें श्रेष्ठ होनेसे जिनसत्तम तथा जिनप्रवह कहे जाते हैं (५९-६०) । पर अर्थात् उत्कृष्ट मा (लक्ष्मी) के धारक जिन होनेसे परमजिन कहलाते हैं (६१) । जिनोमें पुरोगम अर्थात् अग्रगामी हैं, अतः जिन पुरोगम हैं (६२) ।

अर्थ—हे भगवन्, आप जिनश्रेष्ठ हैं, जिनज्येष्ठ हैं, जिनमुख्य हैं, जिनाग्रिम हैं, श्रीजिन हैं, उत्तमजिन हैं, जिनवृन्दारक हैं, अरिजित् हैं, निर्विघ्न हैं विरज हैं, शुद्ध हैं, निस्तमस्क हैं, निरञ्जन हैं, घातिकर्मान्तक हैं, कर्ममर्मावित् हैं, कर्महा हैं, अनघ हैं, वीतराग हैं, अच्युत हैं, अद्वेष हैं,

वीतरागोऽनुबद्धो निर्मोहो निर्मदोऽगदः । वितृष्णो निर्ममोऽसंगो निर्ममो वीतविस्मयः ॥१६॥

अविद्यमानं अघं पापचतुष्टयं यस्येति ॥१५॥ वीतो विनष्टो रागो यस्येति वीतरागः, अजैर्वा । अविद्यमाना
 लुद्ध बुभुक्षा यस्येति । अविद्यमानो द्वेषो यस्येति । निर्गतो मोहो अज्ञानं यस्मादिति । निर्गतो मदोऽहंकारोऽह-
 प्रकारो यस्मादिति । अविद्यमानो गदो रोगो यस्येत्यगदः । इत्यनेन केवलानां रोगं कवलाहारं च ये कथयन्ति
 ते प्रत्युक्ताः । विगता विशेषेण विनष्टा तृष्णा विषयाभिकान्ता अभिलाषो यस्य स भवति वितृष्णः, विनष्टा
 वा तृष्णा मोक्षाभिलाषो यस्येति वितृष्णः, धीनां पक्षिणां निस्तारणे तृष्णा यस्येति वितृष्णः, तदुपलक्ष्यं
 अन्येषामपि कर्मबद्धानां पराणां संवारिणां निस्ताकेच्छ इत्यर्थः । निर्गतं ममेति मनो यस्येति निर्ममः,
 निश्चिता भा प्रमाथं यस्येति निर्मः-प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणधानित्यर्थः । निर्मः सन् पदार्थान् माति भिनोति
 भिमीते वा निर्ममः । आतोऽनुपस्पर्शात्कः । अविद्यमानः संगः परिग्रहो यस्येति असंगः, (न) सम्बन्ध
 गम्यते ध्यानं विना प्राप्यते असंगः, दो संशयामपि । निर्गतं भयं यस्य भयानां वा यस्मादिति निर्मयः ।
 अथवा निश्चिता भा दीर्घयत्र तत् निर्मा केवलाख्यं ज्योतिः, तथाति गच्छति प्राप्नोतीति निर्मयः, आतोऽ-
 नुपस्पर्शात्कः । वीतो विनष्टो विस्मयोऽद्भुतसोऽविचो मदो वा यस्येति । अथवा वीतो विनष्टो वेगवदस्य
 स्मयो गर्वो यस्मादिति । भगवान् विषं कर्मविषं च विनाशयति यस्मादिति भावः ॥१६॥

निर्मोह हैं, निर्मद हैं, अगद हैं, वितृष्ण हैं, निर्मम हैं, असंग हैं, निर्मय हैं, और वीतविस्मय हैं
 ॥ १४-१६ ॥

व्याख्या—हे भगवन् आप जिनिमें श्रेष्ठ या प्रशस्य हैं अतः जिनश्रेष्ठ हैं (६३) । जिनिमें
 अति ज्ञानवृद्ध होनेसे जिनस्येष्ठ हैं (६४) । जिनिमें सुखिया होनेसे जिनमुख्य कहलाते हैं (६५) ।
 जिनिमें अमगामी हैं, अतः जिनामिम कहे जाते हैं (६६) श्री अर्थात् अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे
 संयुक्त होनेके कारण श्रीजिन हैं (६७) । उत्तम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जिन होनेसे उत्तमजिन हैं (६८) ।
 वृन्दारक नाम श्रेष्ठ और देव अर्थका वाचक है । आप जिनिमें श्रेष्ठ भी हैं और उनके देव भी हैं
 अतः जिनवृन्दारक हैं (६९) । मोहरूप अरिके जीतनेसे अरिजित यह नाम आपका सार्थक है
 (७०) विघ्नोके करनेवाले अन्तरायकर्मके निकल जानेसे आप निर्घिन्न कहे जाते हैं (७१) । ज्ञाना-
 वरण और दर्शनावरण रूप रजके विनष्ट हो जानेसे आप विरज नामके धारक हैं (७२) । कर्म-मल-
 कलकसे रहित होनेके कारण शुद्ध हैं (७३) । तम अर्थात् अज्ञानरूप अन्धकारके दूर हो जानेसे
 निस्तमस्क कहलाते हैं (७४) । द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप अंजनके निकल जानेसे निर्-
 जन हैं (७५) । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंका अन्त
 करनेके कारण घातिकर्मान्तक कहे जाते हैं (७६) कर्मोंके मर्म अर्थात् जीवन-स्थानके वेधन करनेसे
 कर्म-मर्मावित कहलाते हैं (७७) । कर्मोंका हनन अर्थात् घात करनेसे कर्महा नामके धारक हैं (७८) ।
 अघ अर्थात् पापसे रहित हैं अतः अनाघ हैं (७९) । रागके वीत अर्थात् विनष्ट हो जानेसे वीतराग
 हैं (८०) । बुधाकी बाधाके सर्वथा अभाव हो जानेसे अचूत कहे जाते हैं (८१) । द्वेषसे रहित हैं
 अतः अद्वेष कहलाते हैं (८२) । मोहके निकल जानेसे आप निर्मोह हैं (८३) । आठों मदोंके दूर हो
 जानेसे आप निर्मद हैं (८४) । सर्व प्रकारके गद अर्थात् रोगोंके अभाव हो जानेसे आप अगद हैं
 (८५) । विषयाभिलाषरूप तृष्णाके अभाव हो जानेसे आप वितृष्ण हैं अथवा मोक्षाभिलाषारूप
 विशिष्ट प्रकारकी तृष्णाके पाये जानेसे आप वितृष्ण कहलाते हैं । अथवा 'वि' शब्द पक्षियोंका वाचक
 है, अतः उपलक्ष्यसे पशु-पक्षियों तकके भी वृद्धार करनेकी भावनारूप तृष्णा आपको रही है, अतः
 आप वितृष्ण कहे जाते हैं (८६) । ममता भावके निकल जानेसे आप निर्मम हैं । अथवा प्रत्यक्ष-
 परोक्षरूप प्रमाणको 'मा' कहते हैं । निश्चित भा अर्थात् प्रमाणके द्वारा आप संसारके समस्त पदा-
 र्थोंको जानते हैं, इस अपेक्षा भी आपका निर्मम यह नाम सार्थक है (८७) । संग अर्थात् बाध और

अस्वप्नो निःश्रमोऽजन्मा निःस्वेदो निर्जरोऽमरः । अरत्यतीतो निश्चिन्तो निर्विषादक्षिप्रश्चिद् ॥१७॥

इति जिनशतम् ॥ १ ॥

अविद्यमानः स्वप्नो निद्रा यस्येति, अप्रमत्त इत्यर्थः । अथवा असूत्र प्राणिनां प्राणान् अपोऽ-
वाप्ति जीवनं नयतीति परमकार्षणकत्वात् अस्वप्नः, अन्यत्रापि चङ्प्रत्ययः । निर्गतः श्रमः स्वेदो यस्येति,
निश्चितः श्रमो बाह्याभ्यन्तरलक्षणं तपो यस्येति वा । न विद्यते जन्म गर्भवासो यस्येति । शिशुत्वेऽपि स्वेद-
रहितः, निःस्थानां दरिद्राणां इं कामं वाञ्छितं अमीष्टं धनादिकं ददातीति । निर्गता जरा यस्मादिति । न
भ्रियते अमरः । अरतिररुचिरतया अतीतो रहितः । निर्गता चिन्ता यस्मादिति । निर्गतो विषादः पश्चात्तापो
यस्मादिति । अथवा निर्विषं पार्ष्णिपरहितं परमानन्दामृतं अत्ति आस्वादयतीति । त्रिषष्टिं कर्मप्रकृतीनां
जयतीति ॥१७॥ इति जिनशतम् ॥ १ ॥

अन्तरंग सर्व प्रकारके परिग्रहक अभाव हो जानेसे आप असंग कहलाते हैं (८८) । सर्व प्रकारके भयोंके
दूर हो जानेसे आप निर्भय हैं । अथवा निश्चितरूपसे भी अर्थात् केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा सर्व
पदार्थोंके ज्ञायक हैं, इसलिए भी आपका निर्भय नाम सार्थक है (८९) । विस्मयके वीत (नष्ट) हो
जानेसे आप वीतविस्मय हैं । अथवा वीत अर्थात् नष्ट हो गया है वि अर्थात् गरुडका स्मय अर्थात्
गर्व जिनके द्वारा इस प्रकारकी निरुक्तकी अपेक्षा भी आपका वीतविस्मय नाम सार्थक है । इसका
अभिप्राय यह है कि गरुडको सर्पविषके दूर करनेका गर्व था, पर हे भगवन्, आपको सर्पविष और
कर्मविष इन दो प्रकारके विषोंका नाशक देखकर उसका गर्व नष्ट हो गया (९०) ।

अर्थ—हे स्वामिन्, आप अस्वप्न हैं, निःश्रम हैं, अजन्मा हैं, निःस्वेद हैं, निर्जर हैं, अमर
हैं, अरत्यतीत हैं, निश्चिन्त हैं, निर्विषाद हैं और त्रिषष्टिजित हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—स्वप्न अर्थात् निद्राके अभाव हो जानेसे आप अस्वप्न हैं, अर्थात् सदा जागरुक
हैं अप्रमत्त हैं । अथवा असु अर्थात् प्राणियोंके प्राणोंके अप अर्थात् अभयदानके द्वारा पालक होनेसे
भी आप अस्वप्न कहलाते हैं (९१) । श्रम अर्थात् बाह्य आभ्यन्तर तपोंके परिश्रमसे रहित होनेके
कारण निःश्रम हैं (९२) । गर्भवासरूप जन्मसे रहित हैं, अतः अजन्मा हैं (९३) । सर्व अवस्थाओंमें
स्वेद अर्थात् पसेवसे रहित हैं, अतः निःस्वेद हैं । अथवा निःस्व अर्थात् दरिद्रोंके ई अर्थात् लक्ष्मीके
दाता होनेसे भी निःस्वेद कहलाते हैं (९४) । जरा अर्थात् वृद्धावस्थासे रहित होनेके कारण निर्जर हैं
(९५) । मरणसे रहित होनेके कारण अमर हैं (९६) । अरति अर्थात् अरुचिसे रहित होनेके कारण
अरत्यतीत हैं (९७) । सर्व प्रकारकी चिन्ताओंके निकल जानेके कारण निश्चिन्त हैं (९८) । विषाद
अर्थात् पश्चात्तापके अभाव होनेसे निर्विषाद हैं । अथवा पापरूप विषसे रहित परम आनन्दरूप
अमृतके अद अर्थात् आस्वादन करनेके कारण भी निर्विषाद यह नाम सार्थक है (९९) । कर्मोंकी
त्रेसठ प्रकृतियोंके जीतनेसे आप त्रिषष्टिजित कहलाते हैं । वे त्रेसठ प्रकृतियां इस प्रकार हैंः—ज्ञाना-
वरणकी ५, दर्शनावरणकी ९, मोहनीयकी २८, अन्तरायकी ५, इसप्रकार धातिया कर्मोंकी ४७ ।
तथा आयुर्कर्मकी मनुष्यायुको छोड़कर शेष तीन प्रकृतियां और नामकर्मकी १३ । नामकर्मकी १३
प्रकृतियां इस प्रकार हैंः—साधारण^१, आताप^२, एकेन्द्रियजाति आदि ४ जातियां^३, नरकजाति^४,
नरकगत्यालुपूर्वी^५, तिर्यग्जाति^६, तिर्यग्गत्यालुपूर्वी^७, स्थावर^८, सूक्ष्म^९ और उद्योत^{१०} (१००) ।

इस प्रकार जिनशतक समाप्त हुआ ।

२ अथ सर्वज्ञशतम्—

सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वदर्शी सर्वविलोकनः । अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखात्मकः ॥१८॥
अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदयाऽखिलाद्यैरहम् । न्यक्षद्विष्वक्त्र्युर्विश्वचक्षुरशेषवित् ॥१९॥

सर्वं त्रैलोक्य-कालत्रयवर्षिं द्रव्यपर्यायसहितं वस्त्वलोकं च जानातीति । सर्वं वेत्तीति । सर्वं दृष्टुमवलोक-
यितुं शीलमस्य स तथोक्तः । सर्वस्मिन् अवलोकनं शानचक्षुर्यस्य स तथोक्तः । अनन्तोऽपर्यन्तो विक्रमः
पराक्रमो यस्येति, केवलज्ञानेन स-(र्ष) वस्तुवेदकराकिरित्यर्थः । अथवा शरीरसामर्थ्यं-(न) मेवादि-
कानपि समु-(त्या-) टनसमर्थ इत्यर्थः । अथवा अनन्ते अलोकाकाशे विक्रमो ज्ञानेन गमनं यस्येति ।
अथवा अनन्तः शेषनागः श्रीविष्णु आकाशस्थित सूर्याचन्द्रमयादयो विशेषण क्रमयोर्नम्रीभूता यस्येति ।
अथवा अनन्तो विशिष्टः क्रमश्चारित्रं अनुक्रमो वा यस्येति । अनन्तं वीर्यं शक्तिर्यस्येति । अनन्तं सुखमात्मनो
यस्य स तथोक्तः, नद्यन्तोच्छ्रयाद्वा बहुव्रीहौ कः । अथवा अनन्तं सुखं निश्चयनयेन आत्मानं कायति
कथयति यः सोऽनन्तसुखात्मकः । 'कै नै रै शब्दे, आतोऽनुपसर्गात्कः ॥१८॥ अनन्तं सौख्यं यस्येति । विश्वं
जगत् जानातीति, नायुपमात्मीवृष्टदृष्टां कः । विश्वं दृष्टवान्, दृशोः कनिप् अतीति । अखिलात् अर्थान्
परयतीति । न्यक्षं सर्वं परयतीति, न्यक्षं इन्द्रियपहितं परयतीति वा न्यक्षदृक् । विश्वतो विश्वस्मिन् चक्षुः
केवलदर्शनं यस्येति, विश्वस्मिन् लोकालोके चक्षुः केवलज्ञानदर्शनद्वयं यस्येति । अशेषं लोकालोके
वेत्तीति ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भगवन्, आप सर्वज्ञ हैं, सर्ववित् हैं, सर्वदर्शी हैं, सर्वावलोकन हैं, अनन्तविक्रम हैं,
अनन्तवीर्य हैं, अनन्तगुणात्मक हैं, अनन्तसौख्य हैं, विश्वज्ञ हैं, विश्वदृष्टवा हैं, अखिलाद्यैरहम् हैं,
न्यक्षदृक् हैं, विश्वतश्चक्षु हैं, विश्वचक्षु हैं और अशेषवित् हैं ॥ १८-१९ ॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप त्रिलोक-त्रिकालवर्ती सर्वद्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुस्वरूपके जानने
वाले हैं, अतः सर्वज्ञ हैं (१) । सर्व लोक और अलोकके वेत्ता हैं, अतः सर्ववित् हैं (२) । सर्व
चराचर जगत् के देखनेवाले हैं, अतः सर्वदर्शी हैं (३) । सर्व-पदार्थ—जातके अवलोकन करने के
कारण सर्वावलोकन कहलाते हैं (४) । अनन्त पराक्रमके धारक होनेसे अनन्त-विक्रम कहे जाते हैं ।
अर्थात् तीर्थकर या अरिहंतदशामें आप अपने शरीर की सामर्थ्यके द्वारा सुमेरु पर्वतको भी उखाड़-
कर फेंकने की सामर्थ्य रखते हैं और अपने ज्ञानके द्वारा सर्व पदार्थोंके जानने-देखनेकी शक्ति से
सम्पन्न हैं । अथवा अनन्त अलोकाकाशमें विक्रम अर्थात् ज्ञानके द्वारा गमन करने की सामर्थ्यके
धारक हैं । अथवा अनन्त नाम शेषनाग और आकाश-स्थित सूर्य, चन्द्रमादिक का भी हैं, सो आप-
ने अपने विशेष प्रभाव के द्वारा उन्हें अपने क्रम अर्थात् चरणमें नम्रीभूत किया है । अथवा क्रम
नाम चारित्रका भी है, आप यथाख्यातरूप अनन्त विशिष्ट चारित्र के धारक हैं, अतः अनन्तविक्रम
इस नामके धारक हैं (५) । अनन्त बलके धारी होने से अनन्तवीर्य कहलाते हैं (६) । आपका आत्मा
अनन्त सुखस्वरूप है, अतः आप अनन्तसुखात्मक हैं । अथवा आपने निश्चयनयसे आत्माको
अनन्त सुखशाली कहा है, अतः आप अनन्तसुखात्मक कहलाते हैं (७) । अनन्त सौख्यसे युक्त
होनेके कारण आपका नाम अनन्तसौख्य है (८) । आप समस्त विश्वको जानते हैं, अतः विश्वज्ञ
हैं (९) । आपने सारे विश्वको देख लिया है, अतः आप विश्वदृष्टवा हैं (१०) । अखिल अर्थोंके
देखनेके कारण आप अखिलाद्यैरहम् कहलाते हैं । (११) । न्यक्ष नाम सर्वज्ञ है, आप सर्व लोकालोको
देखते हैं, अतः न्यक्षदृक् हैं । अथवा अक्ष नाम इन्द्रियका है, आप इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही
सर्वके देखनेवाले हैं, अतः न्यक्षदृक् कहलाते हैं (१२) । आप केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप चक्षु-
ओंके द्वारा सर्व विश्वके देखनेवाले हैं अतः विश्वतश्चक्षु और विश्वचक्षु इन दो नामोंसे पुकारे

आनन्दः परमानन्दः सदानन्दः सदोदयः । नित्यानन्दो महानन्दः परानन्दः परोदयः ॥२०॥
 परमोजः परतेजः परंधाम परंमहः । प्रत्यग्योतिः परंज्योतिः परंमहा परंरहः ॥२१॥
 प्रत्यागत्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदयः । परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतनः ॥२२॥

आचमन्तात् नन्दति । परम उत्कृष्ट आनन्दः सौख्यं यत्येति । सदा सर्वकालं आनन्दः सुखं यस्य ।
 अथवा सन् समीचीनः आनन्दो यत्येति । सदा सर्वकालं उदयोऽनस्तमनं यत्येति । वा सदा सर्वकालं उत्कृष्टः
 अयः शुभावहो विधिर्यस्य । नित्यः शाश्वतः आनन्दः सौख्यं यत्येति । महान् आनन्दः सौख्यं यत्येति ।
 अथवा महेन तन्त्रयपूजया आनन्दो भव्याना यस्मादिति । पर उत्कृष्ट आनन्दो यत्येति । अथवा परेषां
 सर्वाणिनामानन्दो यस्मादिति । पर उत्कृष्ट उदयोऽन्यदयो यत्येति । अथवा परेषां भव्यानामुत्कृष्टः अयः
 विशिष्टं पुण्यं शुभायुर्नामगोत्रलक्षणं निदानादिरहितं (तीर्थ-) कर्नाम-गोत्रलक्षणं पलायितं पुण्यं यस्मा-
 दिति ॥२०॥ परमतिशयवत् श्रोत्रः उक्साहरूपः । परं उत्कृष्टं तेजं धुरिभास्करप्रकाशरूपः । परमुत्कृष्टं धाम
 तेजःस्वरूपः । परमुत्कृष्टं महः तेजस्वरूपः । प्रत्यक् पाश्चात्यं ज्योतिः तेजःस्वरूपः । परमुत्कृष्टं ज्योतिःशब्दुः-
 प्रायः परंज्योतिः, लोकालोकनीचनत्वात् । परमुत्कृष्टं ब्रह्म पंचमशानस्वरूपः । परमुत्कृष्टं रहो गुह्यस्वरूपस्तत्त्व-
 स्वरूपो वा ॥२१॥ प्रत्यक् पाश्चात्यः आत्मा बुद्धिर्यस्य स तथोक्तः ।

सूर्येशो पयने चित्ते धूर्ता यत्नेऽमुमत्यपि । बुद्धौ काये मतश्चात्मा स्वभावे परमात्मानि ॥

इत्यभिधानात् । प्रबुद्धः प्रकर्षणं केवलज्ञानसहितः आत्मा जीवो यस्य स तथोक्तः । महान्
 केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापक आत्मा यस्य । आत्मनो महानुदयो यस्य, कदाचिदपि अज्ञानरहित इत्यर्थः ।
 अथवा आत्मनो महत्स्य पूजाया उदयतीर्थकनामोदयो यस्य । परम उत्कृष्टः केवलज्ञानी आत्मा जीवो यस्य ।
 प्रशान्तो धातिकर्मव्ययान आत्मा यस्य स । पर उत्कृष्टः केवलज्ञानोपेतत्वात् आत्मा यत्येति । अथवा
 परे एकैन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तः प्राणिनः आत्मानः निश्चयनेन निजममाना यस्य, आत्मेव शरीरमेव
 निकेतनं रहं यत्येति आत्मनिकेतनः व्यवहारोत्यर्थः । निश्चयनेन तु आत्मा जीवो निकेतनं रहं यस्य ॥२२॥

जाते हैं (१३-१४) । तथा अशेष अर्थात् समस्त लोक और अलोकके वेत्ता होनेसे अशेषचित् कहे
 जाते हैं (१५) ।

अर्थ—हे स्वामिन, आप आनन्द हैं, परमानन्द हैं, सदानन्द हैं, सदोदय हैं, नित्यानन्द
 हैं, महानन्द हैं, परानन्द हैं, परोदय हैं, परमोज हैं, परतेज हैं, परंधाम हैं, परंमह हैं, प्रत्यग्योति
 हैं, परंज्योति हैं, परंमहा हैं, परंरह हैं, प्रत्यागत्मा हैं, प्रबुद्धात्मा हैं, महात्मा हैं, आत्ममहोदय हैं,
 परमात्मा हैं, प्रशान्तात्मा हैं, परात्मा हैं, और आत्मनिकेतन हैं ॥ २०-२२ ॥

व्याख्या—हे अनन्त मुखके स्वामी जिनेन्द्रदेव, सर्वदा सर्वाङ्गमें आप समृद्धिशाली हैं,
 अतः आनन्दरूप हैं (१६) । परम अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दके धारक हैं, अतः परमानन्द हैं (१७) ।
 सदा-सर्वकाल मुखरूप होनेसे सदानन्द हैं, अथवा सन् अर्थात् समीचीन अविनाशी आनन्दरूप हैं,
 अतः सदानन्द कहलाते हैं (१८) । सदा उदयरूप हैं, अर्थात् किसी भी समय आपकी ज्ञानज्योति
 अस्तंगत नहीं होती है, अतः सदोदय हैं । अथवा सदाकाल उत्कृष्ट अय अर्थात् जगद्-हितकारी
 शुभावह विधिके कर्ता होनेसे भी सदोदय कहलाते हैं (१९) । नित्य आनन्दरूप होनेसे नित्यानन्द
 कहे जाते हैं (२०) । महान् आनन्दके धारक हैं, अतः महानन्द हैं । अथवा भव्य जीव आपकी
 मह अर्थात् पूजा करनेसे आनन्दको प्राप्त होते हैं, इसलिए भी आप महानन्द कहलाते हैं (२१) ।
 पर अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दके धारक हैं, अतः परमानन्द हैं । अथवा पर अर्थात् अन्य सर्व प्राणियोंको
 आनन्दके उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिए भी परमानन्द कहलाते हैं (२२) । पर उत्कृष्ट अथ्युप-
 शाली होनेसे परोदय कहलाते हैं । अथवा पर प्राणियोंके उत्-उत्कृष्ट अय अर्थात् तीर्थकरादि विशिष्ट
 पुण्य उत्पादक होनेसे भी परोदय कहे जाते हैं (२३) । परम अतिशयशाली श्रोत्र अर्थात् उक्साहके

परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठितः । ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरूढात्मा दृढात्मदृक् ॥२२॥

एकविंशो महाविद्यो महाब्रह्मपदेरवरः । पंचब्रह्ममयः सार्वः सर्वविद्येश्वरः स्वभूः ॥२३॥

परमे उक्तेषु इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-गण्डीन्द्रादिर्बदिते पदे तिष्ठतीति । अतिशयेन महान् आत्मा यस्येति । अथवा महौ अष्टमभूमौ तिष्ठति इति महिष्ठः, महिष्ठ आत्मा यस्येति । अतिशयेन प्रसृत्यः श्रेष्ठः । अथवा अतिशयेन वृद्धः लोकोलोकव्यापी श्रेष्ठः, श्रेष्ठः आत्मा यस्येति । केवलज्ञानपेक्षया सर्वव्यापी जीवस्वरूप इत्यर्थः । आत्मनि निजशुद्धबुद्धे कस्वरूपेऽतिशयेन स्थितः । ब्रह्मणि केवलज्ञाने न्यतिशयेन तिष्ठतीति । महती निष्ठा स्थितिः क्रिया यथाख्यातचारित्र्यं यस्येति, परमौदासीनतां प्राप्त इत्यर्थः । नि-अतिशयेन रुद्धनिर्मुचनदृढ आत्मा यस्येति, दृढात्मा निम्बलस्वरूपा अनन्त वज्रोपेता सत्तामानावलोकिनी दृक् दर्शनं यस्येति ॥२३॥

एका अद्वितीया केवलज्ञानलक्षणोपलब्धिता मक्तिभूतावधिमनःपर्यवर्हिता विद्या यस्येति । महती धारक है, अतः परमोज है (२४) । परम तेजके धारक होनेसे परतेज कहलाते है (२५) । धाम और मह शब्द भी तेज अर्थके वाचक है । हे भगवन्, आप परम धाम और परम महके धारक होनेसे परंधाम और परमह कहे जाते है (२६-२७) । प्रत्यक् अर्थात् पाश्चात्य ज्योतिके धारक है अतः प्रत्यज्योति है; अर्थात् आपके पीछे कीटि रविकी प्रभाका लज्जित करनेवाला भामण्डल रहता है (२८) । परम ज्योतिके धारक होनेसे परज्योति कहलाते है (२९) । परमब्रह्म अर्थात् केवलज्ञानके धारक है, अतः परंब्रह्म है (३०) । रह नाम गुण और नत्वका है, आपका स्वरूप अत्यन्त गुण अर्थात् सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है अतः आप परंरह कहलाते है (३१) । प्रत्यक् शब्द श्रेष्ठका और आत्मा शब्द बुद्धिका भी वाचक है । आप सर्व श्रेष्ठ बुद्धिके धारक है, अतः प्रत्यगात्मा है (३२) । आपका आत्मा सर्वकाल प्रबुद्ध अर्थात् जाग्रत रहता है, अतः आप प्रबुद्धात्मा है (३३) । आपका आत्मा महान् है अर्थात् ज्ञानकी अपेक्षा लोकोलोकमें व्यापक है, अतः आप महात्मा है (३४) । आप आत्माके महान् उदयशाली तीर्थंकर पदको प्राप्त है, अतः आत्ममहोदय है (३५) । आपका आत्मा परम केवल ज्ञानका धारक है, अतः आप परमात्मा है (३६) । आपने घातिया कर्मका क्षय कर उन्हें सदाके लिए प्रशान्त कर दिया है, अतः आप प्रशान्तात्मा है (३७) । पर अर्थात् उक्त आत्मा होनेसे परात्मा कहलाते है । अथवा एकेन्द्रियादि सर्व पर प्राणियोंके आत्माओंको भी निश्चयनयसे आपने अपने समान बताया है, अतः आप परात्मा कहे जाते है । (३८) । आपके आत्माका निकेतन अर्थात् रहनेका आवास (घर) आपका आत्मा ही है, बहिर्जनके समान शरीर नहीं, अतः आप आत्मनिकेतन कहलाते है (३९) ।

अर्थ—हे परमेश्वर, आप परमेष्ठी हैं, महिष्ठात्मा हैं, श्रेष्ठात्मा हैं, स्वात्मनिष्ठित हैं, ब्रह्म-निष्ठ हैं, महानिष्ठ हैं, निरूढात्मा हैं, और दृढात्मदृक् हैं ॥२३॥

व्याख्या—हे परमेष्ठिन्, आप परम अर्थात् इन्द्र, नागेन्द्र, धरणेन्द्र, गणधरादिसे वंश आर्हन्त्य पदमें तिष्ठते हैं, अतएव परमेष्ठी कहलाते हैं (४०) । अतिशय महान् आत्मस्वरूपके धारक हैं, अतः महिष्ठात्मा हैं । अथवा ईषत्याग्भार नामक आठवीं मोक्षमही पर आपका आत्मा विराजमान है, इसलिए भी आप महिष्ठात्मा हैं (४१) । श्रेष्ठ शब्द अति प्रशस्त और वृद्ध या व्यापक अर्थका वाचक है । आपका आत्मा अति प्रशस्त है और केवलज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापक है, अतः श्रेष्ठात्मा है (४२) । आप स्व अर्थात् निज शुद्ध-बुद्धस्वरूप आत्मस्वभावमें अतिशय करके अवस्थित हैं, उससे कदाचित् भी विचलित नहीं होते, अतः स्वात्मनिष्ठित कहे जाते हैं (४३) । ब्रह्म अर्थात् अनन्तज्ञानी आत्मामें विराजमान होनेसे ब्रह्मनिष्ठ कहलाते हैं (४४) । महान्निष्ठावान् हैं अर्थात् परम उदासीनतारूप यथाख्यात-चारित्र्यके धारक हैं, अतः महानिष्ठ कहे जाते हैं, (४५) । निरूढ अर्थात् त्रिभुवनमें आपका आत्मा प्रसिद्ध है, अतः निरूढात्मा है (४६) । दृढात्मा अर्थात् निम्बल स्वरूपवाले अनन्त दर्शनके धारक हैं, अतः दृढात्मदृक् है (४७) ।

अर्थ—हे, परमेश्वर आप एकविंश हैं, महाविद्य हैं, महाब्रह्मपदेरवर हैं, पंचब्रह्ममय हैं,

अनन्तधीरनन्ताभाऽनन्तशक्तिरनन्तदृक् । अनन्तानन्तधीशक्तिरनन्तचिदमन्तमुप ॥२२॥

केवलज्ञानलक्षणा विद्या यत्येति । ब्रह्मणः केवलज्ञानस्य पदं स्थानं ब्रह्मपदं, महच्च तत् ब्रह्मपदं च महाब्रह्मपदं मोक्षः, तस्य ईश्वरः स्वामी । अथवा महाब्रह्मणो गणधरदेवादयः पदयोश्चरयायोर्लोभाः महाब्रह्मपदाः, तेषामीश्वरः । अथवा महाब्रह्मपदं समवधरणं तस्येश्वरः । पंचभिः ब्रह्मभिर्मूर्तिभ्रुतावधिमनः-पर्ययकेवलज्ञानैर्निर्द्वन्द्वैः निष्पन्नः पंचब्रह्ममयः, ज्ञानचतुष्टयस्य केवलज्ञानान्तर्गमितत्वात् । अथवा पंचभिः ब्रह्मभिः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभिर्निर्द्वन्द्वैः निष्पन्नः पंचपरमेष्ठिनां गुणैरुपेतत्वात् । सर्वेभ्यः दितः सार्वः, सर्वां चासी विद्या च सर्वविद्या सकलविमलकेवलज्ञानम्, तस्या ईश्वरः । शोभना समवशरथलक्षणा मोक्षलक्षणा ईशत् (प्राग्-) भारनाम्नी भूः स्थानं यत्येति स्वभूः ॥२४॥ अनन्ता धीः केवलज्ञानलक्षणा धीः बुद्धिर्यत्येति, अथवा अनन्तस्य शेषनागत्य धीश्रित्तं यस्मिन्, अथवा अनन्ते मोक्षे धीर्यस्य, अथवा अनन्तेषु धीर्यस्य स तथोक्तः । अनन्तेन केवलज्ञानेनोपलक्षितं ब्रह्मा यत्येति वा । अनन्तो विनाशरहित आत्मा यत्येति । अथवा अनन्तानन्ता आत्मानो जीवा यस्य मते सोऽनन्तात्मा । अनन्ता शक्तिर्यत्येति । अनन्ता दृक् केवलदर्शनं यत्येति । अनन्तानन्ता धीः शक्तिर्विक्रमः प्रशान्तामर्षमष्टधा यत्येति । अनन्ता चित् केवलज्ञानं यत्येति । अनन्ता मुत् हर्षः सुखं यत्येति ॥२५॥

सार्व हैं, सर्वविद्येश्वर हैं, स्वभू हैं, अनन्तधी हैं, अनन्तात्मा हैं, अनन्तशक्ति हैं, अनन्तदृक् हैं, अनन्तानन्तधीशक्ति हैं, अनन्तचित् हैं और अनन्तमुत् हैं ॥२४-२५॥

व्याख्या—एक अर्थात् अद्वितीय केवलज्ञानरूप विद्याके धारक होनेसे एकविध हैं (४८) । केवलज्ञानलक्षण महाविद्याके धारी हैं अतः महाविद्य कहलाते हैं (४९) । महाब्रह्मरूप मोक्षपदके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपदेश्वर कहलाते हैं । अथवा हरि, हर, ब्रह्मादि लोकप्रसिद्ध महादेवता भी आपके पद-पदमोकी सेवा करते हैं, और आप महाब्रह्मपद अर्थात् गणधरादिकोंसे युक्त समवधरणके ईश्वर हैं, इसलिए भी महाब्रह्मपदेश्वर कहलाते हैं (५०) । आप पांचों ज्ञानोंसे निष्पन्न हैं, अथवा पांचों परमेष्ठियोंके गुणोंसे सम्पन्न हैं, अतएव पंचब्रह्ममय हैं (५१) । सर्व प्राणियोंके हितैषी हैं, अतः सार्व कहलाते हैं (५२) । आप लोक-प्रसिद्ध स्वसमय-परसमय सम्बन्धी^१ सर्व विद्याओंके ईश्वर हैं, तथा पर-मार्थ-स्वरूप निर्मल केवलज्ञानरूप विद्याके स्वामी हैं, अतः सर्वविद्येश्वर हैं (५३) । अरहन्त-अवस्थामें समवशरणस्वरूप और सिद्ध-दशमं सिद्धशिलारूप सुन्दर भूमिपर विराजमान होनेके कारण सुभू कहलाते हैं (५४) । अनन्तपरिमाणवाली केवलज्ञानलक्षण बुद्धिके धारक हैं, अतः अनन्तधी हैं । अथवा अनन्तकाल तक एक स्वरूप रहनेवाले तथा अनन्त सुखसे संयुक्त मोक्षमें ही निरन्तर बुद्धिके लगे रहनेसे भी अनन्तधी कहलाते हैं । अथवा अनन्त नाम शेषनागका भी हैं, उसकी बुद्धि निरन्तर आपके गुण-चिन्तनमें ही लगी रहती है, इस लिए भी आप अनन्तधी कहे जाते हैं । अथवा दीक्षाके समय अनन्त सिद्धोंमें आपकी बुद्धि लगी रही, अतः आपका अनन्तधी नाम सार्थक है (५५) । अनन्त केवलज्ञानसे युक्त आपका आत्मा है, अतः आप अनन्तात्मा हैं । अथवा जिसका कभी अन्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं, आपकी शुद्ध दशाको प्राप्त आत्माका कभी विनाश नहीं होगा, अतः आप अनन्तात्मा कहलाते हैं । अथवा आपके मतमें अनन्त आत्माएँ बतलाई गई हैं (५६) । आपकी शक्ति अनन्त है, अतः आप अनन्तशक्ति कहलाते हैं (५७) । आपका केवल दर्शन भी अनन्त है, अतः आप अनन्तदृक् हैं (५८) । आपके ज्ञानकी शक्ति अनन्तानन्त है, अतः आप अनन्तानन्तधीशक्ति कहलाते हैं (५९) । आपका चित् अर्थात् केवलज्ञान अनन्त है, अतः आप अनन्तचित् हैं (६०) । आपका मुत् अर्थात् आनन्द-सुख भी अनन्त है, अतः आप अनन्तमुत् भी कहे जाते हैं (६१) ।

१ विशेषके लिए इषी नामकी भुतवागी टीका देखिये ।

सदाप्रकाशः सर्वार्थसाक्षात्कारी समग्रधीः । कर्मसाक्षी जगद्ब्रह्मवात्साऽचलस्थितिः ॥२१॥
निराबाधोऽप्रतर्क्यात्मा धर्मचक्री विदांबरः । भूतात्मा सहजज्योतिर्विद्वज्ज्योतिरतीन्द्रियः ॥२०॥

सदा सर्वकालं प्रकाशः केवलज्ञानं यत्येति, एकसमयेऽपि ज्ञानं न युज्यति भगवत इत्यर्थः । सर्वान् अर्थान् द्रव्याणि पर्यायांश्च साक्षात्करोति प्रत्यक्षं जानाति पर्ययति चेत्येवंशीलः । समग्रा परिपूर्णा धीर्बुद्धिः केवलज्ञानं यत्येति । कर्मणां पुण्य-पापानां साक्षी शायकः, अन्वकारेऽपि प्रविश्य पुण्यं पापं वा यः कश्चित्करोति तत्सर्वं भगवान् जानातीत्यर्थः । जगतां त्रिभुवनस्थितप्राणिवर्गाणां चतुर्लोकनसमानः । अलक्ष्यः अविज्ञेयः आत्मा स्वरूपं यत्येति, छुप्रस्थानां मुनीनामपि ब्रह्मस्य इत्यर्थः । अचलो निश्चला स्थितिः स्थानं समाचारः यत्येति, आत्मनि एकलोलीमानो दृढचारित्र इत्यर्थः ॥२६॥ निर्गता आवाधा कष्टं यत्येति । अप्रतर्क्यः अविज्ञेयः अविचार्यः अन्तज्य आत्मा स्वभावः स्वरूपं यत्येति । धर्मेषांपलक्षितं चक्रं धर्मचक्रं विद्यते यस्य स तथोक्तः । विदां विद्वज्जनानां मन्ये वरः श्रेष्ठः । भूतः सत्यार्थं आत्मा यत्येति भूतात्मा, कोऽलो आत्मशब्दस्य सत्त्वा- (वाच्या-) र्थं इति (चे) बुध्यते-अत सातत्य-(गमने) इति सात्वत् धातुर्भूतं-(ते) अतति सततं गच्छति लोकांलोकस्वरूपं जानातीति आत्मा, सर्वधातुभ्यो मन्, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इत्यभिधानात् । तथा चोक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसंपदोः । अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥

इति वचनात् । भूतो लोकालोकस्य ज्ञानेन व्यापक आत्मा यत्येति भूतात्मा, न तु ग्रथिव्यनेनोवायु-लक्षणचतुर्भुतमयश्वावर्ककथित आत्मा वर्तते । सद्यं स्वाभाविकं ज्योतिः केवलज्ञानं यत्येति । विश्वस्मिन् लोके अलोके च ज्योतिः केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणं ज्योतिलोचनं यत्येति । अथवा विश्वस्य लोकस्य ज्योतिश्चतुर्विधज्योतिः लोकलोचनमित्यर्थः । अतिक्रान्तानि इन्द्रियाणि येनेति इन्द्रियज्ञानरहित इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अर्थ—हे प्रकाशपुंज, आप सदाप्रकाश हैं, सर्वार्थसाक्षात्कारी हैं, समग्रधी हैं, कर्मसाक्षी हैं, जगद्ब्रह्म हैं, अलक्ष्यात्मा हैं, अचलस्थिति हैं, निराबाध हैं, अप्रतर्क्यात्मा हैं, धर्मचक्री हैं, विदांबर हैं, भूतात्मा हैं, सहजज्योति हैं, विद्वज्ज्योति हैं, और अतीन्द्रिय हैं ॥२६-२७॥

व्याख्या—हे अलक्ष्य प्रकाशके पुंज, आप सर्वदा प्रकाशरूप हैं आपकी ज्ञानज्योति कभी बुझती नहीं है, अतः आपका नाम सदाप्रकाश है (६२) । आप सर्व अर्थोंके अर्थात् द्रव्योंके समस्त गुण-पर्यायोंके प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञाता हैं, अतः सर्वार्थसाक्षात्कारी कहे जाते हैं (६३) । समग्र अर्थात् समस्त ज्ञेयप्रमाण बुद्धिके धारक होनेसे समग्रधी हैं (६४) । पुण्य-पापरूप कर्मके साक्षी अर्थात् ज्ञाता हैं, अतएव आप कर्मसाक्षी कहे जाते हैं । यदि कोई मनुष्य घोर अन्धकारमें प्रवेश करके भी कोई भला-बुरा कार्य करे, तो भी आप उसके ज्ञाता हैं (६५) । तीनों जगत्में स्थित जीवोंके लिए आप नेत्रके समान मार्ग-दर्शक हैं, अतः आप जगद्ब्रह्म कहलाते हैं (६६) । मनः पर्ययज्ञानके धारी छद्मस्य धीतरागी साधुजनोंके लिए भी आपकी आत्मा अलक्ष्य हैं, अर्थात् ज्ञानके अगोचर हैं, अतएव योगीजन आपको अलक्ष्यात्मा कहते हैं (६७) । आपकी प्रपने आपमें स्थिति अचल है, आप उससे कदाचित् भी चल-बिचल नहीं होते, अतएव आप अचलस्थिति कहलाते हैं (६८) । आप सर्वप्रकारके कष्टोंकी बाधाओंसे रहित हैं, अतः निराबाध हैं (६९) आपके आत्माका स्वरूप हम छद्मस्य जनोके प्रतर्क्य अर्थात् विचार या चिन्तनसे परे है, अतएव आप अप्रतर्क्यात्मा हैं (७०) । जब आप भव्य जीवोंके सम्बोधनके लिए भूतल पर विहार करते हैं, तब आपके आगे-आगे धर्मका साक्षात् प्रवर्तक एक सहज अर (आरों) से रुचिर, अत्यन्त दैवीप्यमान धर्मचक्र आकाशमें निराधार चलता है, जिसके देखने मात्रसे ही जगज्जनोंके सन्ताप शान्त हो जाते हैं और समस्त जीव आपसमें वैर-भाव भूलकर आनन्दका अनुभव करते हैं । इसप्रकार धर्मचक्रके धारण करनेसे आप धर्मचक्री कहे जाते हैं (७१) । विद्व-

केवली केवलज्ञानको लोकालोकविलोकनः । विविक्तः केवलोऽव्यक्तः शरण्याोचिन्त्यवैभवः ॥२८॥
विश्वभृद्ब्रह्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः । विश्वव्यापी स्वयंज्योतिरचित्त्यात्मामितप्रभः ॥२९॥

केवलं केवलज्ञानं विद्यते यथेति । केवलोऽसहायो मतिज्ञानार्दिनरपेक्ष आलोकः केवलज्ञानोद्योतो यथेति । लोकालोकविलोकनं अवलोकनं यथेति । विविक्त्ये स्म विविक्तः सर्वावयवेभ्यः पृथग्भूतः, द्विचरं पृथग्भावे । केवलोऽसहायः, धां के बलो आत्मानं बलं यथेति । अव्यक्तः इन्द्रियाणां मनसः अगम्यः अगोचरः, केवलज्ञानेन गम्य इत्यर्थः । शरण्या साधुः शरण्याः, अर्चिमथनसमर्थ इत्यर्थः । अचिन्त्यं मनसः अगम्यं विभवं विभुत्वं यथेति ॥२८॥ विश्वं विभक्तिं धरति पुण्याति वा, विशतिं प्रविशति पर्यदति प्राणिनोऽस्मिन्निति विश्वं त्रैलोक्यं तद्रूपरतादाकार आत्मा लोकपूरणावसरे जीवो यथेति । अथवा विशान्ति जीवादयः पदार्था र्थसाम्प्रति विश्वं केवलज्ञानं विश्वरूपः केवलज्ञानरूपः आत्मा यथेति । अशा लटि खटि विशिभ्यः कः । यथा चक्षुषि स्थितं कज्जलं चक्षुर्गति, प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इत्युपचयते, तथा विश्वस्थितः प्राणिगणो विश्वशब्देनोच्यते विश्वं आत्मा निजसदृशो यथेति । विश्वं लोकालोकं केवलज्ञानेन व्याप्नोतीत्येवंशीलः । अथवा लोकपूरणप्रस्तापे विश्वं जगत् आत्मप्रदेशः व्याप्नोतीत्येवंशीलः । स्वयं आत्मा ज्योतिश्चक्षुर्गति, प्रकाशकत्वात् स्वयं सूर्य इत्यर्थः । अचिन्त्यः अवाद्मानसगोचर आत्मा स्वरूपं यथेति अचिन्त्यस्वरूपः । अमिता प्रभा केवलज्ञानस्वरूपं तेजो यथेति । अथवा अमिता प्रभा कोटिभास्कर-कोटिचन्द्रसमानशरीरतेजो यथेति ॥२९॥

ज्जनोंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः विदावर हैं (७१) । भूत अर्थात् सत्यार्थ स्वरूप का आपके आत्मा ने प्राप्त कर लिया है, अतः आप भूतात्मा हैं (७२) । सहज अर्थात् स्वाभाविक केवलज्ञानरूप ज्योतिके धारक होनेसे आप सहजज्योति कहलाते हैं (७४) । अपने अनन्त ज्ञानदर्शनसे समस्त विश्वके ज्ञाता-दृष्टा हैं और सर्वलोकके लोचनस्वरूप हैं, अतः योगीजन आपको विश्वज्योति कहते हैं (७५) । इन्द्रिय-ज्ञानसे अतीत हैं, अतः अतीन्द्रिय हैं (७६) ।

अर्थ—हे प्रकाशपुञ्ज, आप केवली हैं, केवलालोक हैं, लोकालोकविलोकन हैं, विविक्त हैं, केवल हैं, अव्यक्त हैं, शरण्या हैं, अचिन्त्यवैभव हैं, विश्वभृत् हैं, विश्वरूपात्मा हैं, विश्वात्मा हैं, विश्वतोमुख हैं, विश्वव्यापी हैं, स्वयंज्योति हैं, अचित्वात्मा हैं, और अमितप्रभ हैं ॥२८-२९॥

व्याख्या—केवल अर्थात् केवलज्ञानके धारक होनेसे मुनिजन आपको केवली कहते हैं (७७) । केवल नाम पर-सहाय-रहित एकमात्र अकेलेका है, आपका आलोक अर्थात् ज्ञानरूप उद्योत इन्द्रिय-रहित है; अतः आप केवलालोक कहलाते हैं (७८) । लोक और अलोकके अवलोकन करनेसे आप लोकालोकविलोकन कहलाते हैं (७९) । सर्व विषयोसे आप पृथग्भूत हैं, अतएव साधुजन आपको विविक्त कहते हैं (८०) । आप सदा काल पर-सहाय-रहित एकाकी हैं, अतः केवल हैं । अथवा के अर्थात् आपके आत्मानं अनन्त बल है अतएव आप केवल कहलाते हैं (८१) । आप इन्द्रिय और मनके अगम्य हैं, अतः अव्यक्त कहलाते हैं (८२) । शरणागतको शरण देकर उनके दुख दूर करते हैं अतः शरण्या कहे जाते हैं (८३) । आपका वैभव अचिन्त्य है अर्थात् मनके अगम्य है, इसलिए ज्ञानीजन आपको अचिन्त्य-वैभव कहते हैं (८४) । हे विश्वके ईश्वर, आप धर्मोपदेशके द्वारा सारे विश्वका भरण-पोषण करते हैं, अतएव आप विश्वभृत् हैं (८५) । लोकपूरणसमुद्घातके समय आपके आत्माके प्रदेश सारे विश्वमें फैल जाते हैं, इसलिए आप विश्वरूपात्मा कहलाते हैं । अथवा जाननेकी अपेक्षा जीवादि पदार्थ जिसमें प्रवेश करते हैं, ऐसा केवलज्ञान भी विश्व शब्दसे कहा जाता है, उसरूप आपका आत्मा है इसलिए भी आप विश्वरूपात्मा हैं (८६) । जिस प्रकार चक्षुमें लगा हुआ काजल चक्षु शब्दसे और प्रस्थ-प्रमित धान्य प्रस्थ शब्दसे कहा जाता है, उसी प्रकार विश्वमें स्थित प्राणिगण भी विश्व शब्दसे कहे जाते हैं । ऐसे विश्वको आप अपने समान मानते हैं, अतः आपको लोग विश्वात्मा कहते हैं । अथवा विश्व नाम केवलज्ञानका है । केवलज्ञान ही आपकी आत्माका स्वरूप है, इस-

महौदार्यो महाबोधिमहालाभो महोदयः । महोपभोगः सुगतिर्महाभोगो महाबलः ॥३०॥

॥ इति सर्वज्ञशतकम् ॥

महत् औदार्यं दानशक्तिर्यस्येति, भगवान् निर्ग्रन्थोऽपि सन् बाँझितफलप्रदायक इत्यर्थः । महती बोधि-
वैराग्यं रत्नत्रयप्राप्तिर्वा यस्येति । महान् लाभो नवकेवललब्धिलक्षणो यस्येति । महान् तीर्थकरनाभकर्मणः उदयो
विपाको यस्येति । महान् उपभोगः सङ्कत्र-चामर-सिंहासनाशोक्तप्रमुखो मुहुर्भोग्यं समभशरणादिलक्षणं वस्तु
यस्येति । शोभना मतिः केवलज्ञानं यस्येति । महाभोगः गन्धोदकवृष्टिः पुष्पवृष्टिः शीतलमृदुसुगन्धपुष्पतो वातादि-
लक्षणो भोगः सकृद् भोग्यं वस्तु यस्येति । महत् बलं समस्तवस्तुपरिच्छेदकलक्षणं केवलज्ञानं यस्येति ॥ ३० ॥

॥ इति सर्वज्ञशतकम् ॥

लिए भी आप विदधात्मा कहलाते हैं (५७) । समवसरण-स्थिति जीवोंका विश्रुतः अर्थात् चारों ओर
आपका मुख दिखाई देता है, अतः आप विदधतोमुख कहे जाते हैं । अथवा विदधतोमुख जलका
भी नाम है, क्योंकि उसका कोई एक अग्र भाग निश्चित न होनेसे सर्व ओर उसका मुख माना
जाता है । जिस प्रकार जल वस्त्रादिके मैलका प्रक्षालन करता है, वृष्टियोंका व्यास शान्त करता है
और निर्मल स्वरूप होता है, उसी प्रकार आप भी जगज्जनोंके अनन्त भव-संचित पापमलको
प्रक्षालन करते हैं, विषय-जनित तृष्णाका निवारण करते हैं और स्वयं निर्मल-स्वरूप रहते हैं, इसलिए
भी योगिजन आपको विदधतोमुख कहते हैं । अथवा आपका मुख संसारका तस्यति अर्थात् निरा-
करण करता है, इसलिए भी आप विदधतोमुख कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानके द्वारा सर्वाङ्गसे आप
सारे विदधको जानते हैं, इसलिए भी आप विदधतोमुख कहे जाते हैं (५८) । जाननेकी अपेक्षा आप
सारे विदधमें व्याप्त हैं, अथवा लोकपूरण दशमें अन्पके प्रदेश सारे विदधमें व्याप्त हो जाते हैं, इसलिए
आप विदधव्यापी कहलाते हैं (५९) । स्वयं प्रकाशमान होनेसे आप स्वयंज्योति कहलाते हैं (६०)
आपके आत्माका स्वरूप अचिन्त्य अर्थात् मन और अचनके अगोचर है अतः आप अचिन्त्यात्मा
हैं (६१) । केवलज्ञानरूप आन्तरिक प्रभा भी आपकी अपरिमित है और शारीरिक प्रभा भी कोटि
सूर्य और कोटि चन्द्रकी प्रभाको लज्जित करनेवाली है अतः आप अभितप्रभ कहलाते हैं (६२) ।

अर्थ—हे विश्वेश्वर, आप महौदार्य हैं, महाबोधि हैं, महालाभ हैं, महोदय हैं, महोपभोग
हैं, सुगति हैं, महाभोग हैं और महाबल हैं ॥३०॥

व्याख्या—हे भगवन्, आपकी औदार्य अर्थात् दानशक्ति महान् है, क्योंकि वैराग्यके समय
आप सर्वसम्पदाका दान कर देते हैं और आर्हन्त्यदशामें निरन्तर अनन्त प्राणियोंको अभय दान
देते हैं, इसलिए आप महौदार्य हैं (६३) । रत्नत्रयकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं । आप महा बोधिके
धारक हैं, अतः मुनिजन आपको महाबोधि कहते हैं (६४) । नवकेवललब्धिरूप महान् लाभके
धारक हैं अतः आप महालाभ नामसे प्रख्यात हैं (६५) । तीर्थकरप्रकृतिके महान् उदयके धारक होनेसे
आप महोदय कहलाते हैं । अथवा महान् उत्कृष्ट अय अर्थात् शुभावह विधिके धारक हैं । अथवा
कदाचित् भी अस्तंगत नहीं होनेवाले केवलज्ञानरूप सूर्यके महान् उदयके धारक हैं । अथवा महस् नाम
तेजका है और व शब्द दयाका सूचक है । आपकी दया केवलज्ञानरूप तेजसे युक्त है, इसलिए भी आप
महोदय कहलाते हैं (६६) । छत्र, चामर, सिंहासनावि महान् उपभोगके धारक होनेसे महोपभोग कहलाते
हैं (६७) । शोभन गति अर्थात् केवलज्ञानके धारक होनेसे अथवा श्रेष्ठ पंचमगति मोक्षके धारक होनेसे
आप सुगति कहलाते हैं (६८) । गन्धोदकवृष्टि, पुष्पवृष्टि आदि महान् भोगके धारण करनेसे तथा
प्रतिसमय अनन्यसाधारण शरीर-स्थितिके कारणभूत परम पवित्र नोकर्मरूप पुद्गल परमाणुओंको
ग्रहण करनेसे आप महाभोग कहे जाते हैं (६९) । बास्यावस्थामें संगम नामक देवके गर्वको खर्च
करनेसे तथा आर्हन्त्यावस्थामें अनन्त बलशाली होनेसे आपको मुनिजन महाबल कहते हैं (१००) ।

इसप्रकार द्वितीय सर्वज्ञशतक समाप्त हुआ ।

(३) अथ यज्ञार्हशतम्—

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महार्हो मववाञ्चितः । भूतार्थयज्ञपुरुषो भूतार्थकृत्पुरुषः ॥ ३१ ॥

पूज्यो भट्टारकतन्त्रमवागतमन्त्रमन्त्राह्वान् । महामहार्हस्तत्रायुस्ततो दीर्घायुर्गर्भवाक् ॥ ३२ ॥

जिनाना यजनं यज्ञः, याचिचिच्छिष्टुच्छ्रियमित्स्वपिराक्षियतां नह् । यज्ञं इन्द्र-धररोन्द्र-नागेन्द्रादिकृता-मर्हणां पूजामनन्त्यसंभाविनीमर्हतीति यज्ञार्हः, कर्मण्यम् । भगो ज्ञानं परिपूर्णैर्वचयं तपः श्रवैरगम्यं मोक्षं विधत्ते यस्य स तथोक्तः । इन्द्रादिकृतामनन्त्यसंभाविनीमर्हणामर्हतीति योग्यो भवतीति । महत्स्य यज्ञस्य अर्हो योग्यः, अथवा महमर्हतीति, कर्मण्यम् । अथवा महान्भासावर्हः महार्हः, अर्हः प्रशंसायामिति साधुः । मव-वत्ता मघोना वा शतकतुना शक्येय इन्द्रेण इन्द्रस्य वा अर्चितः पूजितः । अथवा मघं केलवं कपटं वायन्ति शोषयन्ते ये ते मघवाः जैनाः दिगम्बराः, तैरचितः मघवाचितः । इवन् युवन् मघोनां च शौ च, मघवान् मघवा वा । भूतार्थः स्तयार्थः यज्ञपुरुषः यज्ञार्हः पुरुषः अर्हः भूतार्थयज्ञपुरुषः । भूतार्थः स्तयार्थः कृत्पुरुषः यज्ञपुरुषः ॥३१॥ पूजार्थं नियुक्तः । महान् षंठितान् आरयति प्रेरयति त्यागादस्पीक्षामिति भट्टारकः । पूज्यः, पूज्यः, पूज्यः, महापूजायोग्यः इति । अर्हण्यम् । पूज्यः, पूज्यः, अर्घ्यां पूज्या वाग् यस्य सः ॥३२॥

अर्ध-हे महामह, आप यज्ञार्ह हैं, भगवान् हैं, अर्हन् हैं, महार्ह हैं, मववाचित हैं, भूतार्थ-यज्ञपुरुष हैं, भूतार्थकृत्पुरुष हैं, पूज्य हैं, भट्टारक हैं, तन्त्रमवान् हैं, अत्रमवान् हैं, महान् हैं, महामहार्ह हैं, तत्रायु हैं, दीर्घायु हैं, अर्घ्यवाक् हैं ॥३१-३२॥

व्याख्या-हे जगत्पूज्य जिनन्द्र, आप ही इन्द्र, नरेन्द्र, धररोन्द्रादि के द्वारा की जानेवाली पूजा के योग्य हैं, अतः यतिजन आपको यज्ञार्ह कहते हैं (१) । भगवान् ऐश्वर्य, परिपूर्ण ज्ञान, तप, लक्ष्मी, वैराग्य और मोक्ष इन छह अर्थोंका वाचक है, आप इन छहोंसे संयुक्त हैं, अतः योगिजन आपको भगवान् कहते हैं, (२) । आप अन्य जनोंमें नहीं पाई जानेवाली पूजाके योग्य होनेसे अर्हन् कहलाते हैं । अथवा अकारसे मोहरूप अरिका, रकारसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप रजका, तथा रहस्य अर्थात् अन्तराय कर्मका ग्रहण किया गया है । हे भगवान्, आपने इन चारों ही धानिया कर्मोंका हनन करके अरहन्त पद प्राप्त किया है इसलिए आप अर्हन्, अरहन्त और अरिहन्त इन नामोंसे पुकारे जाते हैं, (३) । आप मह अर्थात् पूजनके योग्य हैं, अथवा महान् योग्य हैं, इसलिए आप महार्ह हैं (४) । मववा नाम इन्द्रका है, आप गर्भादि कल्याणकर्मों इन्द्रके द्वारा अर्चित हैं, इसलिए मघवाचित कहलाते हैं । अथवा मघ नाम छल-कपटका है उसे जो वायन अर्थात् शोषण करते हैं वं मघवा अर्थात् दिगम्बर जैन कहलाते हैं । उनके द्वारा आप पूजित हैं, इसलिए भी आप मघवाचित कहलाते हैं, (५) । यज्ञ और कृत् एकार्थवाचक हैं भूतार्थ अर्थात् स्तयार्थ यज्ञके योग्य आप ही सत्य पुरुष हैं, इसलिए आप भूतार्थयज्ञपुरुष और भूतार्थकृत्पुरुष कहे जाते हैं (६-७) पूजाके योग्य होनेसे आप पूज्य हैं (८) । मृत् अर्थात् विद्वानोंको आप त्यागादिकी परीक्षाके लिए प्रेरणा करते हैं अतः आप भट्टारक कहलाते हैं (९) । तन्त्रमवान् और अत्रमवान् ये दोनों पद पूज्य अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । आप सर्व जगतमें पूज्य हैं अतः तन्त्रमवान् और अत्रमवान् कहे जाते हैं (१०-११) । सर्व अष्ट होनेसे महान् कहलाते हैं (१२) । महान् पूजनके योग्य होनेसे महामहार्ह कहलाते हैं (१३) । तत्रायु और दीर्घायु ये दोनों पद पूज्य अर्थके वाचक हैं । आप त्रैलोक्य-पूज्य हैं अतः तत्रायु और दीर्घायु कहलाते हैं (१४-१५) । आपकी विध्यम्भनिरूप वाणी सर्वजनोंसे अर्घ्य अर्थात् पूज्य है, अतः आप अर्घ्यवाक् हैं (१६) ।

आराध्यः परमाराध्यः पंचकल्याणपूजितः । दृग्विशुद्धिगर्भोदयो वसुधाराचितास्पदः ॥ ३३ ॥
सुखप्रददर्शी दिव्यौजाः शचीसेवितमातृकः । स्वात्मज्ञगर्भः श्रीपूतगर्भो गर्भोत्सवोच्छ्रितः ॥ ३४ ॥
दिव्योपचारोपचितः पद्मभूमिच्छतः स्वजः । सर्वायजन्मा पुण्यागो भास्वानुद्भूतवैवतः ॥ ३५ ॥
विश्वविज्ञातसंभूतिर्विश्वदेवागमाद्भुतः । शचीसुष्टप्रतिच्छन्दः सहस्राक्षरगुणस्यः ॥ ३६ ॥

पूज्यः, परमैन्द्रादिभिराययते परमाराध्यः, परमभावात्ताराध्यः परमाराध्यः । पंचसु कल्याणेषु गर्भा-
वतारः जन्माभिषेकः निःक्रमण-शान-निर्वाणेषु पूजितः । दशः सन्त्यक्तस्य त्रिशुद्धिर्निरतीचरता यस्य गणस्य
द्वादशभेदगणस्य स दृग्विशुद्धिः, दृग्विशुद्धिश्चाती गणः तस्मिन् उदग्रः उत्कर्षेण मुख्यः । वसुधापामिः रत्न-
सुवर्णादिधनवर्षणैर्यचितं पूजितं आस्पदं मातुरंगणं यस्येति ॥३३॥ सुष्ठु शोभमानं स्वमानं मातुरदर्शयतीति ।
दिव्यं अमानुषं ओजोऽवष्टम्भो दीप्तिः प्रकाशो बलं चातुः तेजो वा यस्य । शच्या शक्तस्य महादेव्या सेविता
आपचिता माता अम्बिका यस्य, नयन्तात् कृदतात् रोधाद्वा बहुव्रीहौ कः । गर्भेषु उत्तमो गर्भः रत्नगर्भः,
रत्नैरुपलक्षितो गर्भो वा यस्य स रत्नगर्भः, नक्त्राणेषु रत्नवृद्धिसंभवात् । श्रीशब्देन श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-मुद्धि-
लक्ष्मी-शान्ति-पुष्टिप्रभृतयो दिक्कुमार्यां लभ्यन्ते । श्रीमिः पूतः पवित्रितः गर्भो मातुरदरं यस्य । गर्भस्य
उत्सवो गर्भकल्याणं देवैः कृतं, तेनोच्छ्रितः उन्नतः ॥३४॥

दिव्येन देवोपनीतेनोपचारेण पूजया उपचितः पुष्टिं प्राप्तः, वा पुष्टिं नीतः । पद्मैरुपलक्षिता
अर्थ—हे महामह्य, आप आराध्य हैं, परमाराध्य हैं पंचकल्याणपूजित हैं, दृग्विशुद्धि-
गणोद्गम हैं, वसुधाराचितास्पद हैं, सुखप्रददर्शी हैं, दिव्यौज हैं, शचीसेवितमातृक हैं, रत्नगर्भ हैं,
गर्भोत्सवोच्छ्रित हैं ॥३३-३४॥

व्याख्यार—निरन्तर आराधनाके परम योग्य हैं, अतः आराध्य कहलाते हैं (१७) । विश्व-
शाली इन्द्रादिकोंके द्वारा आराधनाके योग्य होनेसे परमाराध्य कहे जाते हैं (१८) । गर्भावतार
आदि पंच कल्याणकोंमें सर्व जगत्के द्वारा पूजे जाते हैं अतः पंचकल्याणपूजित कहलाते हैं (१९) ।
सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि युक्त द्वादश भेद रूप गणमें प्रमुख होनेसे आपको लोग दृग्विशुद्धिगणो-
द्गम कहते हैं (२०) । वसुधारा अर्थात् रत्न, सुवर्ण आदि धनकी वर्षाके द्वारा जन्मभूमिरूप आस्पद
अर्थात् माताके भवनका आंगण इन्द्रादिकोंके द्वारा पूजा जाता है, अतः आप वसुधाराचितास्पद
कहलाते हैं (२१) । गर्भमें आनेके पूर्व आप माताको सुन्दर सोलह स्वप्नोंके दर्शक हैं अतः सुख-
प्रदर्शी कहलाते हैं (२२) । ओज शब्द दीप्ति, प्रकाश, बल और तेजका वाचक है । आप मनुष्योंमें
नहीं पाये जानेवाले ओजके धारक हैं, अतः दिव्यौज हैं (२३) । शची अर्थात् सौधमेन्द्रकी इन्द्राणीके
द्वारा आपकी माताकी गर्भ और जन्मके समय सेवाकी जाती है अतः आप शचीसेवितमातृक
कहलाते हैं (२४) । गर्भोंमें उत्तम गर्भको रत्नगर्भ कहते हैं । आपका माताके उदर रूप गर्भमें
निवास सर्वश्रेष्ठ है अतः आप रत्नगर्भ कहलाते हैं । अथवा नव मास तक गर्भमें रहनेके समय रत्नोंकी
वर्षा होती रहनेसे आपको रत्नगर्भ कहा जाता है (२५) । श्री, ह्री, धृति आदि दिक्कुमारियोंके द्वारा
आपकी माताका गर्भ पवित्र किया जाता है अतः आपको श्रीपूतगर्भ कहते हैं (२६) । आपके गर्भ में
आनेका उत्सव देवोंके द्वारा किया जाता है, अतः आपको लोग गर्भोत्सवोच्छ्रित कहते हैं (२७) ।

अर्थ—दिव्योपचारोपचित हैं, पद्मभूमि हैं, निष्कल हैं, स्वज हैं, सर्वायजन्मा हैं, पुण्यांग हैं,
भास्वान हैं, और उग्र तदैवत हैं, विश्वविज्ञातसंभूति हैं, विश्वदेवागमाद्भुत हैं शचीसुष्ट-प्रतिच्छन्द
हैं, सहस्राक्षरगुणस्य हैं ॥३५-३६॥

व्याख्या—हे जिनेश्वर, आप देवोपनीत दिव्य पूजारूप उपचारसे गृहस्थावस्थामें पुष्टिक
प्राप्त हुए हैं, अतः दिव्योपचारोपचित कहलाते हैं (२८) । आपके गर्भकालमें माताके भवनका
आंगण पद्मोंसे व्याप्त रहता है अतः आप पद्मभूमि हैं । अथवा गर्भकालमें आपके दिव्य पुण्यके
प्रभावसे गर्भाशयमें एक कमलकी रचना होती है, उसकी कर्षिका पर एक सिंहासन होता है, उस

नृत्यदैरावतासीनः सर्वशक्रनमस्कृतः । हर्षाकुलामरस्वगामारखर्षिमतोत्सवः ॥३०॥

भूर्मानुसुरंगत्वं यन्प्रेति । अथवा मानुषदरे स्वामिनो दिव्यशक्त्या कमलं भवति, तत्कर्णिकायां सिंहासनं भवति, तस्मिन् सिंहासने स्थितो गर्भरूपो भगवान् वृद्धिं याति इति कारणात् पद्मभूर्भगवान् भण्यते । निर्गता कला कालो यस्येति । स्वेन आत्मना जायते उत्पद्यते स्वानुभूत्या प्रत्यक्षीभवति । अथवा शोभनो रागद्वेष-मोहादिरहितः अज्ञो ब्रह्मा स्वजः । सर्वभ्यो हितं सर्वीयं, सर्वीयं जन्म यस्येति । पुण्यं पुण्योपार्जन-हेतुभूतमंगं शर्गरं यस्येति । भास्यो दीप्तयो विद्यन्ते यस्येति, चन्द्रार्ककोटेरपि अधिकतेजा इत्यर्थः । उद्भूतं उदयमागतं उज्ज्वलभूतं वा दैवतं पुण्यं यस्य सः । विश्वस्मिन् त्रिमुक्ते विज्ञाता संभूतिर्जन्म यस्येति । विश्वेया भवनवार्ता-त्यन्तर-न्येतित्क-कल्पवासिनां देवानां आगमेन आगमनेन सेवोपदीकनेन अद्भुतमाश्चर्यं यस्मात् लोकानां स तथोक्तः । शय्या इन्द्राण्या सृष्टो विक्रियया कृतः प्रतिच्छन्दः प्रतिकार्यो मायामयबालको यस्य स तथोक्तः । सद्बलाक्षस्य इन्द्रस्य दृशां लोचनानां उत्सवः आनन्दे यस्मादिति ॥३६॥ नृत्यन् नर्तनं कुर्वन् योऽसावेयवतः, तस्मिन् आसीन उग्रविष्टः । सर्वे द्वीविंशता शक्रेन्दैवैर्नर्मस्कृतः प्रणामविषयीकृतः । अमरश्व स्वगाश्च अमरस्वगाः, इषंश्च जन्माभिषेकावलोकनार्थं आकुला आधीनाः हर्षाकुलाः आनन्देन उत्सुकाः विह्वलीभूताः परमचर्मायुगं प्राप्ता अमर-स्वगाः यस्येति । चारुखर्षीणां मतोऽभीष्टः उत्सवो जन्माभिषेककल्पार्थं यस्येति ॥३७॥

पर अवस्थित गर्भरूप भगवान् वृद्धिको प्राप्त होते हैं, इस कारणसे लोग भगवानको पद्मभू, अद्भुतभू आदि नामोंसे पुकारते हैं (२६) । कला अर्थात् समयकी भव्यादासे रहित अनादि-निधन हैं, अतः आप निष्कल हैं । अथवा निश्चित कला-कौशलरूप विज्ञानसे युक्त हैं इसलिए भी लोग आपको निष्कल कहते हैं । अथवा कल शब्द रेतस् अर्थात् वीर्यरूप धातुका भी वाचक है, आपमेंसे काम-विकार सर्वथा निकल गया है, अतः आप निष्कल अर्थात् काम-विकार-रहित हैं । अथवा कल नाम अजीर्णका भी है, आप कवलाहारसे रहित हैं इसलिए भी आप निष्कल हैं । अथवा निष्क अर्थात् रज्जुमुर्खको रज्जुष्टि, पंचाश्वर्य आदिके समय भूतल पर लाते हैं, इसलिए भी लोग आपको निष्कल कहते हैं । अथवा निष्क नाम द्वारका भी है । आप राज्यकालमें एक हजार लड़ीके द्वारका अपने वचनस्थल पर धारण करते हैं, इसलिए भी आप निष्कल कहलाते हैं (३०) । आप स्व अर्थात् अपने आप जन्म लेते हैं, यानी स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं, इसलिए आप स्वज कहलाते हैं । अथवा राग-द्वेष-मोहादिसे रहित सु अर्थात् सुन्दर अज (ब्रह्मा) हैं, इसलिए भी आपको लोग स्वज (सु-अज) कहते हैं (३१) । आपका जन्म सर्वीय अर्थात् सबका हितकारक है, इसलिए आप सर्वीयजन्मा कहलाते हैं । क्योंकि, आपके जन्म-समय औरोंको तो बात क्या, नारकियोंको भी एक क्षणके लिए सुख प्राप्त होता है (३२) । आपका शरीर जगज्जनोंको पुण्यके उपार्जनका कारणभूत है, अतः आप पुण्यांग कहलाते हैं । अथवा आपके शरीर के अंग पवित्र हैं, मल-मूत्र-रहित हैं, इसलिए भी आप पुण्यांग कहलाते हैं । अथवा आपके द्वारा उपदिष्ट आचारांगादि द्वादश भूतके अंग पुण्य-रूप हैं, पूवापर-विरोधसे रहित हैं, इस कारण भी लोग आप को पुण्यांग कहते हैं । अथवा आपकी सेनाके अंगभूत हस्ती, अश्व आदि ऊर्ध्वगामी होनेसे पाप-रहित हैं, पुण्यरूप हैं, इसलिए भी आप पुण्यांग कहलाते हैं (३३) । आप कोटि चन्द्र-सूर्यसे भी अधिक दीप्ति और तेजके धारक हैं अतः भास्वान कहलाते हैं (३४) । आपके सर्वोत्कृष्ट दैव अर्थात् पुण्यका उदय प्राप्त हुआ है अतः आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं । अथवा उद्भूत अर्थात् अनन्तानन्त भवोपार्जित दैवके तक्षण (क्षय) करनेके कारण भी आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं । अथवा उत अर्थात् उत्कृष्ट भूतोंके इन्द्रादिकोंके भी आप देवता हैं, इसलिए भी आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं (३५) ।

अर्थ—हे जिनेश, आप नृत्यदैरावतासीन हैं, सर्वशक्रनमस्कृत हैं, हर्षाकुलामरस्वग हैं

व्योम विष्णुपदारक स्नानपीठायिताद्रिराट् । तीर्थेर्द्वान्मुन्युत्सववासवः ॥३२॥
गन्धान्मुपूतत्रै लोचनो वज्रसूचीशुचिश्रवाः । कृतार्थितशर्चिहस्तः । इन्द्रोदुष्टेनात्मकः ॥३३॥

विशेषेण अत्रति रक्षति प्राणिवर्गानिति व्योम । वेवेष्टि व्याप्नोति लोकमिति विष्णुः प्राणिवर्गः, 'विषेः किञ्च' इत्यनेन नृप्रत्ययः । विष्णोः प्राणिवर्गस्य पदानि चतुर्दशमार्गाण्यास्थानानि (गुणस्थानानि) च तेषामासमन्तात् रक्षा विष्णुपदारक्षा, परमकारणिकत्वात् स्वामिनः । व्योम विष्णुपदारक्षा इति नामद्वयं प्राविष्ट-
लिंगं ज्ञातव्यम् । स्नानस्य जन्माभिषेकस्य पीठं चतुष्किका, तदिवाचरति स्म स्नानपीठायिता अद्रिराट् मेरुपर्वतो यस्य स तथोक्तः । तीर्थानां जलाशयानामीशः स्वामी तीर्थेशः, तीर्थेशमात्मनं मन्यते तीर्थेशमन्यः, तीर्थेशमन्यो दुग्धाग्निः क्षीरसागरो यस्य स तथोक्तः । स्नानाम्बुना स्नानबलेन स्नातः प्रक्षालितशरीरो वासवो देवेन्द्रो यत्येति ॥३२॥ गन्धान्मुना ऐशानेन्द्रा (व) जितेन गंधोदकेन पुण्यं (पूर्तं) पवित्रीभूतं त्रैलोक्यं यत्येति । परमेश्वरस्य कर्णो किल स्वामाव्येन सङ्घिष्यो भवतः, ऊर्णनाभपटलसदृशेन पटलेन भ्रंषिती च भवतः । पश्चाद्देवेन्द्रो वज्रसूचीं गृहीत्वा तल्पटलं दूरीकरोति, कर्णच्छिद्रे (च) प्रकटीभक्तः, तत्र कुण्डले श्रापेयति । अयं आचार इति कर्णवैधं कथेति । तद्यस्तावे इदं भगवतो नाम, यत् सूच्या शुचिनी भवती कर्णो यत्येति । कृतार्थितो सफलकृतौ शय्या इन्द्रमहादेव्या हस्तौ येन स तथोक्तः । शर्केण उदुशु-
मुच्चैश्चारितं इष्टं सर्वमानितं नाम यत्येति ॥३३॥

और चारणार्थिमतोत्सव है ॥३७॥

व्याख्या—संभति नाम जन्मका है, सारे विश्व में हर्ष उत्पन्न होने के कारण आपका जन्म विश्व-विज्ञात है, इसलिए आप विश्वविज्ञातसंभति कहलाते हैं। अथवा संभति नाम समीचीन ऐश्वर्य-विभक्तिका भी है। आपका ऐश्वर्य-वैभव विश्व-विदित है, इसलिए भी आप विश्वविज्ञात-संभति कहलाते हैं (३६)। आपके पांचों कल्याणकर्मों में सब प्रकारके देवोंका आगमन होनेसे संसार आश्वर्य-चकित होता है, अतः लोग आपको विश्वदेवागमाद्भुत कहते हैं। अथवा आपके पूर्वापर-विरोधरहित आगम (शास्त्र) के श्रावणसे विश्वके देव आश्चर्यसे स्तम्भित रह जाते हैं, इसलिए भी आप विश्वदेवागमाद्भुत कहलाते हैं (३७)। आपके जन्माभिषेकके समय माताके पास सुलानेके लिए शचीके द्वारा प्रतिच्छन्द अर्थात् मायामयी बालकका रूप रचा जाता है, इसलिए आप शचीसुप्रतिच्छन्द कहलाते हैं (३८)। सहस्राक्ष अर्थात् इन्द्रके सहस्र नेत्रोंके लिए आप उत्सव-जनक हैं, अतः योगिजन आपको सहस्राक्षहृत्सव कहते हैं (३९)। जन्माभिषेकके समय सुमेरु-गिरि पर जाते और अतः समय नृत्य करते हुए ऐरावत हाथी पर आप आसीन अर्थात् विराजमान रहते हैं, इसलिए आपको नृत्यवैरावतासीन कहते हैं (४०)। सर्व शक्रोंसे नमस्कार किये जानेके कारण आप सर्वशक्रनमस्कृत कहे जाते हैं (४१)। आपका जन्माभिषेक देखनेके लिए अमर-गण और खग अर्थात् विधाधर हर्षसे आकुल-व्याकुल रहते हैं, और देखकर आनन्द-विभोर होते हैं, अतः आप हर्षाकुलामरखग कहलाते हैं (४२)। चारणशुद्धिके धारक ऋषिजनोंके द्वारा भी आपको जन्मका उत्सव मनाया जाता है इसलिए आप चारणार्थिमतोत्सव कहलाते हैं (४३)।

अर्थ—हे विश्वोपकारक, आप व्योम हैं, विष्णुपदारक हैं, स्नानपीठायिताद्रिराट् हैं, तीर्थेर्द्वान्-मन्यदुग्धाग्नि हैं, स्नानाम्बुनातवासव हैं, गन्धान्मुपूतत्रैलोक्य हैं, वज्रसूचीशुचिश्रवा हैं, कृतार्थित-शचीहस्त हैं और शक्रोदुष्टेष्टनात्मक हैं ॥३२-३६॥

व्याख्या—हे विश्वके उपकारक, आप विशेषरूपसे जगज्जीवोंकी रक्षा करते हैं, अतः व्योम कहलाते हैं (४४)। विष्णु अर्थात् विश्वव्यापी प्राणिवर्गके गुणस्थान और मार्गाण्यास्थान रूप पदोंके रक्षक होनेसे विष्णुपदारक कहलाते हैं (४५)। अद्रिराट् अर्थात् गिरिराज सुमेरुपर्वत आपके स्नानके लिए पीठ (चौकी) के समान आचरण करता है, इसलिए साधुजन आपको स्नानपीठायिताद्रिराट्

शक्राश्रकानन्दनृत्यः शचीविस्मापिताम्बिकः । इन्द्रनृत्यन्तपितृको रैदपूर्वमनोरथः ॥४०॥

आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवो देवर्षीष्टशिवाद्यमः । दीक्षाक्षयक्षुब्धजगत्सुवःस्वःपतीडितः ॥४१॥

शक्रेण सौधमैन्द्रेण आरम्भं मेरुमस्तके जिनेश्वरप्रे आनन्दनृत्यं भगवज्जन्माभिषेककरयोत्पन्नविशिष्ट-
पुण्यसमुपार्जनसमुद्भूतहर्षनाटकं कथ्येति । शच्या इन्द्राण्या सौधमैन्द्रपत्न्या विस्मापिता स्वपुत्रवैभवदर्शनेनाश्रयं
प्रापिता अम्बिका माता यत्येति । नर्तनं नृतिः स्त्रियां क्तिः । इन्द्रस्य नृतिः इन्द्रनृतिः, अन्ते अग्रे पितृव-
त्सुर्मथ्येति । नयन्तात् कृदन्तात् शोषा—(दा) बहुव्रीहौ कः । रैदेन कुबेरपत्नेण सौधमैन्द्रादेशात् पूर्वा
परिपूर्विता समाप्तिं नीताः भोगोपभोगपूरणेन मनोरथा दोहदा कथ्येति ॥४०॥

आज्ञा शिष्टिरादेश इति यावत् । आज्ञाया आदेशस्य अर्थी श्राद्धः आज्ञार्थी, स चासाविन्द्रः
आज्ञार्थीन्द्रः । आज्ञार्थीन्द्रेण कृता विहित्वा आसमन्तात् सेवा पर्युपासनं सेवनं कथ्येति । देवानां श्रुपयो
लौकान्तिकाः, देवर्षीणां लौकान्तिकदेवानामिष्टोऽमीष्टो वल्लभः शिवोद्यमः शिवस्य मोक्षस्य उद्यमो कथ्येति ।

कहते हैं (४६) । दुग्धाब्धि अर्थात् शीरसागर अपने जलके द्वारा आपका जन्माभिषेक किये जानेके कारण
अपनेको तीर्थेश अर्थात् जलाशयोका स्वामी मानता है, इसलिए योगिजन आपको तीर्थशंभन्यदुग्धाब्धि
कहते हैं (४७) । आपके स्नानके जलसे सर्व वास्तव अर्थात् इन्द्र स्नान करते हैं, इसलिए आप आना-
म्बुस्नातवासव कहलाते हैं (४८) । जन्माभिषेकके समय ऐशानेन्द्रके द्वारा सर्व ओर छोड़े गये गन्धोदक
से त्रैलोक्य पवित्र हुआ है, इसलिए आप गन्धाम्बुपुत्रत्रैलोक्य कहलाते हैं (४९) । इन्द्र चक्रसूचीसे
आपके कर्णवेधन-संस्कारको करता है इसलिए आप धञ्जसूचीशुचिश्वा कहलाते हैं । यद्यपि भगवान्
के कर्ण स्वभाव से ही छेद-सहित होते हैं, पर उनके ऊपर मकड़ीके जालके समान सफेद आवरण
रहता है । इन्द्र वज्रमयी मूर्दे हाथमें लेकर उस आवरण-पटलको दूर करता है और उनमें कुंडल
पहिनाता है, अतएव यह नाम भगवान् का प्रसिद्ध हुआ है (५०) । जन्माभिषेकके समय इन्द्राणी ही
सर्व प्रथम भगवान्को माताके पाससे उठाती है । पुनः अभिषेकके पश्चात् वह भगवान्के शरीरको
पोंछती है, वस्त्राभरण पहिराती है और चन्दन का तिलक लगाती है । इस प्रकार आने अपने जन्म
के द्वारा शचीके हस्त कृतार्थ किये हैं इसलिए आप कृतार्थितशचीहस्त कहलाते हैं (५१) । शक्रके द्वारा
ही सर्वप्रथम आपके इष्ट नामका उद्घोष किया जाता है, इसलिए आप शक्रोद्घुष्टेष्टनामक कहलाते हैं
(५२) । मेरुमस्तक पर जन्माभिषेकके पश्चात् इन्द्रके द्वारा आनन्दोत्पादक नृत्य आरम्भ किया जाता है,
इसलिए आप शक्राश्रकानन्दनृत्य कहलाते हैं (५३) । शची आपका वैभव दिखाकर माताको विस्मय-
युक्त करती है, इसलिए आप शचीविस्मापिताम्बिक कहलाते हैं (५४) । सुमेरुगिरिसे आकर इन्द्र
आपके पिताके पास ताण्डवनृत्य आरम्भ करना है, इसलिए आप इन्द्रनृत्यन्तपितृक कहलाते हैं
(५५) । रैद अर्थात् कुबेरके द्वारा आपके भोगोपभोगके सर्व मनोरथ परिपूर्ण किये जाते हैं इसलिए
आप रैदपूर्वमनोरथ कहलाते हैं (५६) । आपकी सेवा-अराधनाकी जाती है, इसलिए आप आज्ञार्थीन्द्रकृतासेव
कहलाते हैं (५७) । देवों-
के श्रुति जो लौकान्तिक देव हैं, उन्हें आपके शिव-नामका उद्यम इष्ट है, अतिवल्लभ है और इसी
कारण वे दीक्षा-कल्पशाणकके समय आपको सम्बोधन कर स्तुति करनेके लिए भूलोकमें आते हैं, इस
लिए आप देवर्षीष्टशिवाद्यम कहलाते हैं (५८) । आपके जिन-दीक्षा ग्रहण करनेके समय सारा जगत्
सोभको प्राप्त हो जाता है, इसलिए आप दीक्षाक्षयक्षुब्धजगत् कहलाते हैं (५९) । भूर नाम पाताल
लोकका है, सुवर् नाम मन्थलोकका और स्वर नाम उर्वलोकका है । आप इन तीनों लोकोंके
पतिवोंसे पूजित हैं, अतः भूर्भुवःस्वःपतीडित कहे जाते हैं (६०) ।

अर्थ—हे त्रिमूनेश, आप शक्राश्रकानन्दनृत्य हैं, शचीविस्मापिताम्बिक हैं, इन्द्रनृत्यन्तपितृक
हैं, रैदपूर्वमनोरथ हैं, आज्ञार्थीन्द्रकृतासेव हैं, देवर्षीष्टशिवाद्यम हैं, दीक्षाक्षयक्षुब्धजगत् हैं, और
भूर्भुवःस्वःपतीडित हैं ॥४०-४१॥

कुबेरनिर्मितास्थानः श्रीयुग्योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मेच्छो ब्रह्मविद्ब्रह्मो बाल्यो बहूपतिः ऋतुः ॥४२॥

यज्ञांगममृतं यज्ञो हविःस्तुत्यः स्तुतीश्वरः । भावो महामहपतिमहायज्ञोऽप्रयाजकः ॥४३॥

दीक्षाक्षणे निःक्रमणकल्प्याद्ये लुब्धं क्षेमं प्रातं जगत् त्रैलोक्यं यत्स्येति । भूर् पाताललोकः, भुवर् मध्यलोकः, स्वर् ऊर्ध्वलोकः, तेषां पतयः स्वामिनः भूमिवःस्वःपतयः; तैरिडितः स्तुतीनां कोटिभिः कथितः भूमिवःस्वःपतीडितः । वेदिकादिका एते शब्दाः रकारान्ताः अन्वयाः ज्ञातव्याः ॥४१॥

कुबेरेण ऐलविलेन राजराजेन शक्रमांडागारिणा धनदयक्षेण निर्मितं सृष्टं आस्थानं समवशरणं यत्स्येति । श्रियं नवनिधिलक्षणां द्वादशद्वारेषु दीनजनदानार्थं वा युनक्ति । अथवा श्रियां अभ्युदयानिःश्रेयसलक्ष्योपलक्षितां लक्ष्मीं युनक्ति योजयति भक्तानामिति । यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि-लक्षणा अष्टौ योगा विद्यन्ते येषां ते योगिनः, यागिनां मुनीनां ईश्वर गणधरदेवादयः, तैरर्चितः पूजितः । ब्रह्म-भिरहमिन्द्रैरीड्यः, स्वस्थानरिधतैः रत्यते । अथवा ब्रह्मनाम्ना मायाविना विद्याधरेण ईड्यः । अथवा ब्रह्मणां ज्ञानेन द्वादशांगेन ईड्यः । ब्रह्मणां आत्मानं वेत्तीति । वेदे ज्ञाने नियुक्तः, अथवा वेदितु योग्यः । यज्यते याज्यः, स्वराद्यः । यज्ञस्य पतिः स्वामी । क्रियते योगिभिर्भयानेन प्रकट्ये विधीयते ॥४२॥

यज्ञस्य अंगं अभ्युपायः, स्वामिनं विना पूच्यो जीवो न भवतीति । आविष्टालिंगं नामेदं । मरणं मृतं, न मृतं अमृतं, मृत्युरहितं इत्यर्थः, आविष्टालिंगमिदं नाम । इज्यते पूज्यते । हूयते निज्जाल्मनि लक्ष्यतया दीयते । स्तोतुं योग्यः । ऋतुतेऽश्वरः स्तुतीश्वरः, स्तुतौ स्तुतिकारणे ईश्वरा इन्द्रादयो यस्य स तथोक्तः । समवस्वण-विभूतिर्मंडितत्वात् भावः । अथवा यः पुमान् विद्वान् भवति स भावः कथ्यते, स्वर्ग-मोक्षावि (दि ?) कारण-

अर्थ—हे स्वामिन, आप कुबेरनिर्मितास्थान हैं, श्रीयुक् हे, योगीश्वरार्चित हैं, ब्रह्मेच्छ्य हैं, ब्रह्मवित हैं, वेद्य हैं, याज्य हैं, यज्ञपति हैं, ऋतु हैं यज्ञांग हैं, अमृत हैं, यज्ञ हैं, हवि हैं, स्तुत्य हैं, स्तुतीश्वर हैं, भाव हैं, महामहपति हैं, महायज्ञ हैं और अप्रयाजक हैं ॥४२-४३॥

व्याख्या—हे त्रिभुवनेके ईश, आपका आस्थान अर्थात् समवसरण कुबेरके द्वारा रचा जाता है, अतः आप कुबेरनिर्मितास्थान कहे जाते हैं (६१) । आप अपने भक्तोको निःश्रेयस-अभ्युदयस्वरूप लक्ष्मीसे युक्त करते हैं, स्वयं अन्तरंग अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे और बहिरंग समवसरणरूप लक्ष्मी से युक्त हैं और द्वादश द्वारों पर स्थापित नव निधियोंके द्वारा दीन जनोको धनादि लक्ष्मीसे युक्त करते हैं, अतएव आप श्रीयुक् कहलाते हैं (६२) । अष्टांग योगके धारण करनेवाले साधु योगी कहलाते हैं, उनके ईश्वर गणाधारदिसे आप पूजित हैं, इसलिए आप योगीश्वरार्चित कहलाते हैं । अथवा स्त्रीके संयोगसे युक्त महादेवको जगज्जन योगीश्वर कहते हैं, उसके द्वारा भी आप अर्चित हैं । ऐसा कहा जाता है कि जब महावीरस्वामी उज्जयिनीके स्मशान-में रात्रिके समय कायोत्सर्गसे स्थित थे, उस समय पार्वती-सहित महादेवने आकर उनकी परीक्षाके लिए नाना प्रकारके घोर उपसर्ग किये । परन्तु जब वह भगवान्को चल-विचल न कर सके, तब उनके चरणोंमें गिर पड़े और 'महति-महावीर' नाम देकर तथा नाना प्रकारसे उनकी पूजा करने चले गये (६३) । ब्रह्म अर्थात् अहमिन्द्रोंके द्वारा स्वस्थानसे ही आप पूजे जाते हैं, इसलिए आप ब्रह्मेच्छ्य कहलाते हैं । अथवा ब्रह्म नामक एक मायावी विद्याधरके द्वारा पूजे जानेसे भी आप ब्रह्मेच्छ्य कहलाते हैं । अथवा ब्रह्म नाम द्वादशांग श्रुतज्ञान का भी है, उसके द्वारा पूज्य होनेसे भी ब्रह्मेच्छ्य कहलाते हैं (६४) । ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपके जाननेवाले हैं, इसलिए आप ब्रह्मवित हैं (६५) । आप सदैव योगिजनोंके द्वारा भी जानने योग्य हैं, अतः वेद्य हैं (६६) । यज्ञ अर्थात् पूजनेके योग्य हैं, अतः याज्य कहलाते हैं (६७) । यज्ञके स्वामी होनेसे यज्ञपति कहलाते हैं (६८) । योगियोंके द्वारा ध्यानावस्थामें प्रकट किये जाते हैं, अतः ऋतु कहलाते हैं (६९) । आप यज्ञके अंग हैं, क्योंकि आपके विना कोई जीव पूज्य नहीं होता, अतः आप यज्ञाङ्ग हैं (७०) । आप मृत अर्थात् मरणसे रहित

दद्यान्नागो जगत्पूज्यः पूजाहो जगद्वर्षितः । देवाधिदेवः शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरुः ॥४४॥

भूतत्वात् । अथवा शब्दानां प्रवृत्तिहेतुत्वात् भावः, भगवन्तं विना शब्दाः कुतः प्रवर्तन्ते । महामहस्य महा-
पूजायाः पतिः स्वामी, अथवा महस्य यशस्य पतिर्महपतिः महाभासो महपतिश्च महामहपतिः । महान् घाति-
कर्मसंनिद्रोमलक्षणे यशो यस्य स तथोक्तः । अग्रः श्रेष्ठोऽधिको प्रथमो वा याजको यशकर्ता ॥४४॥

दद्यान्नुष्ण-निर्गुणसर्वप्राणिवर्गाणां कल्याणायः पूजा यस्य स दद्यायागः । जगतां त्रिमुक्तरिखत-
भन्वजीवानां पूज्यः । पूजाया अष्टदिघार्चनस्य अहो योग्यः । जगतां त्रैलोक्यरिखतभन्वप्राणिनां अर्चितः
पूजितः । देवाना इन्द्रादीनामर्गाधिको देवः । शक्नुपंतीति शक्रा द्वात्रिंशदिन्द्रारतेयामर्च्यं पूज्यः । देवानामिन्द्रा-
दीनामाराध्यो देवः । अथवा देवानां राशां देवो राजा देवदेवः, राजाधिराज इत्यर्थः । अथवा देवानां मेघ-
कुमारार्थां देवः परमाराध्यः । जगतां जगति स्थितप्राणिवर्गाणां गुरुः पिता धर्मोपदेशको वा महान् ॥४४॥

है, अतः अमृत कहलाते हैं । अमृत नाम रसायनका भी है, क्योंकि वह भी जरा और मरणको दूर
करता है । अमृत नाम जलका भी है । आप भी संसार, शरीर और भोगरूप वृष्णको निवारण
करते हैं, तथा जलके समान निर्मल स्वभावके धारक हैं । अथवा अनन्त सुखका दायक होनेसे मोक्ष
का भी नाम अमृत है । तथा अमृत शब्द यज्ञशेष, गोरस, घृत, आकाश, सुवर्ण आदि अनेक
अर्थोंका वाचक है । आप यज्ञशेषके समान आदर पूर्वक ग्रहण किये जाते हैं, गोरस और घृतके
समान सुस्वादु और जीवनवर्धक हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, सुवर्णके समान भास्वरूपसे युक्त
हैं, इसलिए लोग आपको अमृत कहते हैं (७१) । आप याजकोंके द्वारा पूजे जाते हैं, इसलिए आप
यज्ञ कहलाते हैं (७२) । अपने आत्मस्वरूपमें ही आप हवन किये जाते हैं, इसलिए आप हवि
कहलाते हैं (७३) । स्तुतिके योग्य होनेसे स्तुत्य कहलाते हैं (७४) । स्तुतियोंके ईश्वर होनेसे स्तुतीश्वर
कहलाते हैं (७५) । भावशब्द सत्ता, आत्मा, वस्तु, स्वभाव आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप
सदा सत्स्वरूप हैं, आत्मस्वभावको प्राप्त हैं, समयसरण-विभक्ति-मंडित हैं, अतः आपको लोग भाव
कहते हैं (७६) । महापूजाके स्वामी हैं अतः महामहपति कहलाते हैं (७७) । घातिया कर्मोंके क्षयरूप
महान् यज्ञमय होनेसे महायज्ञ कहलाते हैं । अथवा पांचों कल्याणकोंमें इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्रादिके
द्वारा महापूजाको प्राप्त करनेसे भी आप महायज्ञ कहे जाते हैं (७८) । अग्र अर्थात् श्रेष्ठ याजक होनेसे
आप अग्रयाजक कहे जाते हैं । अथवा लोकाग्र पर विराजमान सिद्धोंके दीक्षाकालमें याजक होनेसे
आप अग्रयाजक कहलाते हैं (७९) ।

अर्थ—हे दयालो, आप दयायाग हैं, जगत्पूज्य हैं, पूजाहैं हैं, जगद्वर्षित हैं, देवधिदेव हैं,
शक्रार्च्य हैं, देवदेव हैं और जगद्गुरु हैं ॥४४॥

व्याख्या—हे दयालु जिनेन्द्र, आपने सर्व प्राणियों पर दया करनेको ही यज्ञ कहा है,
इसलिए आप दयायाग हैं (८०) । आप जगत्के सर्व प्राणियोंसे पूज्य हैं, अतः जगत्पूज्य हैं (८१) ।
पूजाके योग्य होनेसे पूजाहैं कहलाते हैं (८२) । जगत्से अर्चित होनेके कारण जगद्वर्षित कहलाते हैं
(८३) । इन्द्रादिक देवोंके भी अधिनायक होनेसे देवाधिदेव कहलाते हैं । अथवा देवोंकी आधि अर्थात्
मानसिक पीडाके दूर करनेके कारण भी आप देवाधिदेव कहलाते हैं (८४) । शक्र अर्थात् चतुर्निकाय
देवोंके बत्तीस इन्द्रोंके द्वारा पूजे जानेसे शक्रार्च्य कहलाते हैं (८५) । देवोंके देव अर्थात् आराध्य होने
से देवदेव कहलाते हैं । अथवा देवशब्द राजाका भी वाचक है । आप राजाओंके भी राजा हैं अतः
देवदेव हैं । अथवा देवशब्द जलवृष्टि करनेवाले मेघकुमारोंका भी वाचक है, आप उनके परम
आराध्य हैं, क्योंकि आपके बिहारकालमें वे आगे आगे जलवृष्टि करते हुए चलते हैं (८६) । आप
जगत्के गुरु हैं, क्योंकि उसे महान् धर्मका उपदेश देते हैं (८७) ।

संहृतदेवसंघाचर्यः पद्मपानो जयध्वजी । भार्मंडली चतुःषष्टिचामरो देवदुन्दुभिः ॥४५॥

वागस्पृष्टासनरुद्धत्रयराट् पुष्पवृष्टिभाक् । दिव्याशोको मानमर्दी संगीताहोऽष्टमंगलः ॥४६॥ ६

॥ इति वक्रवर्णनकम् ॥

संहृत इन्द्रादेशोनामंत्रितो योऽसौ देवसंघः चतुर्निकायदेवसमूहः, तेन अर्च्यः पूज्यः । पद्मो न यानं गमनं यस्य । जयध्वजा विद्यन्ते (यस्य) । भार्मंडलं कोट्यर्कसमानतेजोमंडलं विद्यते यस्य । चतुःषष्टिका षष्टिः चतुःषष्टिः, चतुःषष्टिश्रामराणि प्रकीर्षकानि यस्य । देवानां संवर्धिन्यो दुन्दुभयः साढं द्वादशकोटिपटहा यस्येति ॥४५॥ वाग्मिर्वाणीमिस्सृष्टं आसनं उरःप्रभृति स्थानं यस्य स तथोक्तः । उक्तं च—

अष्टौ स्थानानि वर्षानामुरः कण्ठः शिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकेष्टौ च तालु च ॥

छत्रत्रयेषोपर्युपरि धृतेन राजते । द्वादश योजनानि व्याप्य पुष्पवृष्टिर्भवति, तानि च पुष्पाणि उपरि-
मुखानि श्रोत्रोत्तानि (च) स्युः । इहग्विषां पुष्पवृष्टिं भजते भोग्यतया यद्वाति । दिव्योऽनात्रयो
महामंडपोपरि स्थितः योजनेकप्रमाणकप्रप्तो मथिमयोऽशोकोऽशोकवृद्धो यस्य सः । मानस्तम्भचतुष्टयेन
मिथ्यावादिनां मानमहंकारं दूरादापि दर्शनमात्रेण भर्हयति शतलक्ष्मीकरोतीत्येवंशीलः । गीत-नृत्य-
वादित्रविराजमाननाट्यशालागतदेशगनानृत्ययोग्यः । अष्टौ मंगलानि प्रतिप्रतीलि यस्येति ॥४६॥

॥ इति वक्रवर्णनकम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे स्वामिन, आप संहृतदेवसंघाचर्य हैं, पद्मपान हैं, जयध्वजी हैं, भार्मंडली हैं, चतुःषष्टिचामर हैं, देवदुन्दुभि हैं, वागस्पृष्टासन हैं, छत्रत्रयराट् हैं, पुष्पवृष्टिभाक् हैं, दिव्याशोक हैं, मानमर्दी हैं, संगीताह हैं और अष्टमंगल हैं ॥४५-४६॥

व्याख्या—संहृत अर्थात् इन्द्रके आदेशसे आमंत्रित चतुर्विध देवसंघके द्वारा पूज्य हैं अतः संहृतदेवसंघाचर्य कहलाते हैं (८८) । आप विहारकालमें देवगणोंसे रचित कमलों पर पादनुयास करते हुए चलते हैं, अतः पद्मपान कहलाते हैं (८९) । आपके समवसरणमें और विहारकालमें त्रिजगद्धिजयकी सूचना देनेवाली ध्वजा-पताकाएं फहराती रहती हैं अतएव लोग आपको जयध्वजी कहते हैं (९०) । आपके पृष्ठ भागकी ओर भा अर्थात् कान्तिका वृत्ताकार पुंज सदैव विद्यमान रहता है, अतः आप भार्मंडली कहलाते हैं (९१) । आपके समवसरणमें यक्षगण चौंसठ चंवर ढोरते रहते हैं, अतः आप चतुःषष्टिचामर कहलाते हैं (९२) । समवसरणमें देवगण साढ़े बारह कोटि दुन्दुभियोंको वज्राते हैं अतः आप देवदुन्दुभि कहलाते हैं (९३) । आपकी याणी तालु, ओष्ठ आदि स्थानोंको नहीं स्पर्श करती हुई ही निकलती है, अतः आप वागस्पृष्टासन कहलाते हैं (९४) । तीन छत्रोंको धारण कर समवसरणमें विराजमान रहते हैं, अतः छत्रत्रयराट् कहे जाते हैं (९५) । आपके समवसरणमें देवगण बारह योजन तक की भूमिपर पुष्पवृष्टि करते हैं । पुष्प-
वृष्टिके समय फूलोंके मुख ऊपरकी ओर तथा ढंठल नीचेकी ओर रहते हैं । इस प्रकारकी पुष्पवृष्टिके भोक्ता होनेसे आपको लोग पुष्पवृष्टिभाक् कहते हैं (९६) । समवसरणमें महामंडपके ऊपर दिव्य अशोक वृक्ष रहता है, जिसे देखकर शोक-सन्तप्त प्राणी शोक-रहित हो जाते हैं, अतः आप दिव्याशोक कहलाते हैं (९७) । समवसरणमें चारों ओर अवस्थित मानस्तम्भोंके दर्शनमात्रसे बड़े-बड़े मानियोंके भी मानका भर्वन स्वयमेव हो जाता है, अतएव आप मानमर्दी कहलाते हैं (९८) । समवसरणस्थित संगीतशालाओं के भीतर गाने जानेवाले संगीतके योग्य होनेसे आप संगीताह कहलाते हैं (९९) । गृंगार, ताल (बीजना), कलश, ध्वजा, सांघिया, छत्र, दर्पण और चंवर ये आठ मंगल द्रव्य सौ-सौ की संख्यामें समवसरणके भीतर सदा विद्यमान रहते हैं, अतः आप 'अष्टमंगल' इस नामसे प्रख्यात हुए हैं (१००) ।

इस प्रकार कृतीय वक्रवर्णनक समाप्त हुआ ।

(४) अथ तीर्थकृच्छ्रतम्

तीर्थकृत्यसूट् तीर्थकरस्तीर्थकरः सुहृत् । तीर्थकर्ता तीर्थभर्ता तीर्थेशस्तीर्थनायकः ॥४०॥

धर्मतीर्थकरस्तीर्थप्रयोता तीर्थकारकः । तीर्थप्रवर्त्तकस्तीर्थवेधास्तीर्थविधायकः ॥४१॥

सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेव्यस्तीर्थिकतारकः । सत्यवाक्याधिपः सत्यशासनोऽप्रतिशासनः ॥४२॥

तीर्थेने संसारसागरो येन तत्तीर्थं द्वादशांगशास्त्रं तत्करोतीति । तीर्थं सृजतीति । तीर्थं करोतीति । तीर्थं करोतीति तीर्थकरः, वर्णांगमत्वात् मोऽन्तः । शोभना दृक् क्षाधिकं सम्यक्त्वं यस्य स सुहृत् । शोभन-
लोचनो वा । तीर्थस्य भर्ता स्वामी । अथवा तीर्थं विमर्शयित्वा शीलः । तीर्थस्य दशः स्वामी । तीर्थस्य
नायकः स्वामी ॥४०॥ धर्मभारित्रं, स एव तीर्थः, तं करोतीति । तीर्थं प्रणयतीति । तीर्थं-(स्य)
कारकः । तीर्थस्य प्रवर्त्तकः । तीर्थस्य वेधाः कारकः । तीर्थस्य विधायकः कारकः ॥४१॥ सत्यतीर्थ
करोतीति । तीर्थानां तीर्थभूतपुरुषाणां सेव्यः सेवनीयः । तीर्थं शास्त्रे नियुक्तास्तीर्थिकाः, वा तीर्थं गुरुः,
तस्मिन्नियुक्ता सेवापय तैर्थिकाः । अथवा तार्थं जिनपूजनं तत्र नियुक्ताः । अथवा तार्थं पुण्यक्षेत्रं गिर-
नारदि, तदाशास्त्राकाः । अथवा पात्रं त्रिविधं, तस्य दानादिनियुक्तास्तीर्थिकास्तेषां तारको मोक्षदायकस्ते-
र्थिकतारकः । त्यादि-त्यादिचयो वाक्यमुच्यते, क्रियासहितानि कारकाणि वा वाक्यं कथ्यते । सत्यानि
सत्युपयोग्यानि तानि वाक्यानि सत्यवाक्यानि, सत्यवाक्यानामधिपः स्वामी । अथवा सत्यानि वाक्यानि
येषां ते सत्यवाक्याः श्रुतयः, श्रुतयः सत्यवचसः इत्यभिधानात् । सत्यवाक्यानामधीशां दिगम्बरमुनीनां
अधिपः । अथवा सत्यवाक्यानां सत्यवादिनां आधि धर्मचिन्तां पाति रक्षति इति सत्यवाक्याधिपः ।
सत्यं शासनं शास्त्रं यस्य । अथवा सत्यं रथन्ति, असत्यं वदन्ति पूर्वापरविरोधिशस्त्रं मन्यन्ते ते सत्यशाः
जिमिनि-कृषि-कण्ठ-चर-चावी-वाक्याः, तान् अस्थतिं नियुक्तेतीति सत्यशासनः । अधिचिन्तानं प्रति-
शासनं निव्यामन्तं यत्र स तथोक्तः । अथवा अधिचिन्तानं प्रतिशं दुःखं श्रापनं (यस्य) स अप्रतिशासनः ।
भगवान् खलु वृषभनाथः किञ्चिदूनपूर्वखलकालपर्यन्तं पद्मासन एवोपविष्टो धर्मोपदेशं दत्तवान्, तथापि
दुःखं नाभूत् । कुतः, अनन्तसुखानन्तनीर्यत्वात् ॥४२॥

अर्थ—इ तीर्थेश, आप तीर्थकृत हैं, तीर्थसूट् हैं, तीर्थकर हैं, तीर्थकर हैं, सुहृत् हैं, तीर्थकर्ता
हैं, तीर्थभर्ता हैं, तीर्थेश हैं, तीर्थनायक हैं, धर्मतीर्थकर हैं, तीर्थप्रणोता हैं, तीर्थकारक हैं, तीर्थप्रवर्त्तक
हैं, तीर्थवेधा हैं, तीर्थविधायक हैं, सत्यतीर्थकर हैं, तीर्थसेव्य हैं, तीर्थिकतारक हैं, सत्यवाक्याधिप हैं,
सत्यशासन हैं, और अप्रतिशासन हैं ॥४०-४२॥

व्याख्या—जिसके द्वारा संसार-सागरके पार उतरते हैं उसे तीर्थ कहते हैं । जगज्जन द्वादशांग
श्रुतका आश्रय लेकर भयके पार होते हैं, अतः द्वादशांग श्रुतका तीर्थ कहते हैं । आप इस प्रकारके
तीर्थके करने अर्थात् चलानेवाले हैं, इसलिए आप तीर्थकृत, तीर्थसूट्, तीर्थकर, तीर्थकर, तीर्थकर्ता,
तीर्थभर्ता, तीर्थेश, तीर्थनायक, धर्मतीर्थकर, तीर्थप्रणोता, तीर्थकारक, तीर्थप्रवर्त्तक, तीर्थवेधा और
तीर्थविधायक कहलाते हैं (१-१४) । क्षाधिकसम्यक्त्वके धारण करनेसे सुहृत् कहलाते हैं (१५) । सत्य
तीर्थके चलानेसे सत्यतीर्थकर कहे जाते हैं (१६) । तीर्थस्वरूप पुरुषोंके द्वारा पुण्य होनेसे तीर्थसेव्य
कहलाते हैं (१७) । तीर्थशब्द गुरु, पुण्यक्षेत्र, यज्ञ, पात्र आदि अनेक अर्थोंका भी वाचक है । जो इस
प्रकारके तीर्थमें नियुक्त होते हैं उन्हें तैर्थिक कहते हैं, ऐसे तैर्थिक पुरुषोंके तारनेवाले होनेसे आप
तैर्थिकतारक कहलाते हैं (१८) । आप सत्य वाक्योंके उपदेष्टा हैं, सत्यवचन बोलनेवाले मुनियोंके
स्वामी हैं और सत्यवाचियोंकी आधि अर्थात् मानसिक चिन्ताको दूर कर उनकी रक्षा करते हैं
इसलिए आप सत्यवाक्याधिप कहलाते हैं (१९) । आपका शासन सत्य है, पूर्वापर-विरोधसे
रहित है, इसलिए आप सत्यशासन कहलाते हैं । अथवा जो सत्यका अपलाप करते हैं और
असत्यको बोलते हैं ऐसे लोग सत्यशा कहलाते हैं । आप उनका निराकरण कर यथार्थ वस्तु स्वरूपका

स्याद्वादी दिव्यगीर्ध्वभ्रजिरव्याहृतार्थवाक् । पुण्यवतागर्ध्वभागधीबोकिरिद्रवाक् ॥२०॥
अनेकान्तदिवोकान्तध्वान्तभिद्रुर्ध्वयान्तकृत् । सार्धभागप्रबलोकः प्रतितीर्थमद्वन्वाक् ॥२१॥

स्याच्छब्दपूर्वै वदतीत्येवंशीलः । दिव्या अमानुषी गीर्वाणी यस्य । दिव्यो अमानुषो ध्वनिः शब्द-
व्यापारो वचनरचना यस्येति । अव्याहृतार्था परस्परविक्रद्धानां अर्धकुलार्था वाग्वाणी यस्येति । अथवा आ
सर्गतद् इननं आहृतं, अवीनां छायादीनां आहृतस्य आहननस्य अर्थोऽभिधेयः प्रयोजनं वा यस्या सा अव्या-
हृतार्था, अविशब्दाद् आहतशब्दाच्चोपरि अकारप्ररलेषो शातव्यः । अव्याहृतार्था छायादिप्राप्तिनानघात-
प्रयोजना वाग्वस्य सः । पुण्या पुण्योपार्जनहेतुभूता वाग्वाणी यस्य सः । अर्थोदनयेता अर्थ्या, निरर्थकतायद्विहा
वाग्वाणी यस्य । अथवा अर्थ्या गणधर-चक्रि-शक्रादिभिः प्रार्थनीया वाग्वाणी यस्य । भगवद्वापाया अर्थे
मगधदेशभाषात्मकं अर्थं च सर्वभाषात्मकम् । अर्थं मागधीया उक्तिर्भाषा यस्य स तथोक्तः । (इन्द्रा परमाति-
शयं प्राप्ता वाक् यस्य सः) ईदृशी वाक्स्यापि न भवतीति भावः ॥५०॥ अनेकान्तं स्याद्वाद् अनेकस्वभावं
वस्तु दिश्यात् उपदिशतीति । एकान्तं यथा स्वरूपादि चतुष्टयेन सत्, तथा पररूपचतुष्टयेनापि सत् द्वयं, एवं
सत्येकान्तवादो भवति । स एव ध्वान्तं अन्धकारं वस्तुयथावत्स्वरूपप्रच्छादकत्वात् । एकान्तध्वान्तं भिन्नति
नयवशात् शतवर्षं डीकरोतीति । एकदेशवस्तुमाहियो दुर्ग्या कथ्यन्ते, तेयान्तकृद्दिनाशकः । सार्था अर्थ-
सहिता न निरर्थका वाक् यस्य, वा सार्था प्रयोजनवती वाक् यस्य । अथवा अर्थैर्जीवादिपदार्थैः सहिता
वाक् यस्य । अथवा सा लक्ष्मीरभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणा, तस्या अर्थं वाक् यस्य स सार्धवाक् । भगवद्वाणी-
मनुश्रुत्य जीवा स्वर्ग-मोक्षादिकार्थं साधयन्तीति कारणात् । (अ-) प्रयत्ना अविद्यज्ञापूर्विका भव्यजीवपुण्य-
प्रेरिता (उक्तिः) वाक् यस्य । अथवा अग्रप्रयत्ना अनायासकारिणी उक्तिर्यस्य । प्रतितीर्थानां (हरि-) हर-
हिरण्यगर्भमतनुसार्गिणां जिमिनि-फपिल-कण्ठचर-चावाक-शाक्यानां वा मिथ्यादृष्टीनां मदक्षी अहंकार-
निराकारिणी वाक् वाणी यस्य स तथोक्तः ॥ ५१ ॥

प्रतिपादन करते हैं, इसलिये भी आप सत्यशासन कहलाते हैं (२०) । यथार्थ प्रकाशक आपके
चिन्तमान रहने पर प्रतिपक्षियोंका शासन अस्तंगत हो जाता है अतः आपको योगिजन अप्रतिशासन
कहते हैं । अथवा प्रतिश नाम दुःखका है, भगवानके एकही आसनसे दीर्घकाल तक अवस्थित रहने
पर भी दुःखका अनुभव नहीं होता है इसलिये भी उन्हें अप्रतिशासन कहते हैं । ऐसा कहा जाता है
कि भगवान् ऋषभदेव दुष्ट कम एक लाख पूर्व वर्ष तक पद्मआसनसे विराजमान रहकर हं, भव्य-
जीवोंको धर्मका उपदेश देते रहे, फिर भी अनन्त बलशाली और अनन्तसुखके धारक होनेसे उन्हें
किसी प्रकारके दुःखका अनुभव नहीं हुआ (२१) ।

अर्थ—हे भगवन्, आप स्याद्वादी हैं, दिव्यगी हैं, दिव्यध्वनि हैं, अव्याहृतार्थवाक् हैं, पुण्य-
वाक् हैं, अर्थ्यवाक् हैं, अर्थमागधीयोक्ति हैं, इन्द्रवाक् हैं, अनेकान्तदिक् हैं, एकान्तध्वान्तभिद् हैं,
दुर्ग्यायान्तकृत् हैं, सार्धवाक् हैं, अग्रयत्नोक्ति हैं और प्रतितीर्थमद्वन्वाक् हैं ॥५०-५१॥

ध्याक्या—हे स्वामिन्, आप स्याद्वादी हैं, क्योंकि आपके वचन 'स्यात्' शब्दपूर्वक ही
निकलते हैं और इसी स्याद्वादरूप अमोघ शस्त्रके द्वारा आप एकान्तवादोंका निराकरण करते हैं
(२२) । आपकी वाणी मालुषी प्रकृतिसे रहित दिव्य होती है, सभी देशोंके विभिन्न भाषा-भाषी मनुष्य,
पशु-पक्षी और देवगण भी अपनी-अपनी बोलीमें समझ जाते हैं, इसलिये आप दिव्यगी और
दिव्यध्वनि नामोंसे पुकारे जाते हैं (२३-२४) । आप अव्याहृत अर्थात् परस्पर विरोधरूप व्याघातसे
रहित अर्थका स्वरूप कहते हैं, इसलिये अव्याहृतार्थवाक् कहलाते हैं । अथवा अवि अर्थात् छाया
आदि पशुओंको यशमें नहीं मारनेरूप वचनके बोलनेवाले हैं, इसलिये भी अव्याहृतार्थवाक् कहलाते
हैं । (२५) । आपकी वाणी पुण्यको उपाजन करानेवाली है, तथा रोम, चर्म, अस्थि आदि अपवित्र
वस्तुओंके सेवनका निषेध करनेके कारण पवित्र है, इसलिये आप पुण्यवाक् हैं (२६) । अर्थशब्द वस्तु,

स्यात्कारध्वजवागीहापेतवागचलौहवाक् । अपौरुषेयवाक्शास्ता रुद्रवाक् सप्तमंगिवाक् ॥२२॥

स्यात्कारः स्याद्वाद्, स एव ध्वजश्चिन्हं, अनेकान्तमतप्रासादमंडनत्वात् ; स्यात्कारध्वजा वाग् वाणी यस्य । ईहापेता निराकांक्षा प्रत्युपकारानपेक्षिणी वाक् यस्य । अथवा ईहा उद्यमस्तदपेता ईहापेता वाग् यस्य न तयोक्तः । अहं लोकं संबोधयामीत्युद्यमरहितवाक् स्वभावेन संबोधकवागित्यर्थः । अचलौ निश्चलौ श्रोत्रौ अथवै यस्यां सा अचलोष्ठा वाक्भाषा यस्य, न तयोक्ता । अपौरुषेयीशामनादिभूतानां वाचां शास्ता गुरुः । अथवा अपौरुषेयीशां दिव्यानां वाचां शास्ता । रुद्रा मुखविकारा—(स) रहिता वाग् यस्य । सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तमंगी, सप्तमंगी सहिता वाक् यस्य स सप्तमंगिवाक् । याकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ न्वचिदिति वचनात् मंगीशब्दस्य ईकारस्य ह्रस्वः ॥२२॥

द्रव्य, प्रवार, अभिधेय, निवृत्ति, प्रयोजन आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप निरर्थकता-रहित सार्थक वाणीको बोलते हैं, गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्रादिकके द्वारा प्रार्थना किये जाने पर ही आपकी वाणी प्रकट होती है, आपकी वाणी अर्थीजनोंको बोधि और समाधिकी देनेवाली है, तथा अर्थ्य अर्थात् युक्ति-युक्त वचनोंके आप बोलनेवाले हैं, इसलिए आप अर्धवाक् कहलाते हैं (२७) । आपकी वाणीका अधभाग मगधदेशकी भाषाके रूप है और अर्धभाग सर्व देशोंकी भाषाके स्वरूप है, इस कारण सर्व देशोंके मनुष्य उसे सहज ही में समझ लेते हैं, अतएव आप अर्धमागधीयौक्ति कहलाते हैं । अन्य ग्रन्थोंमें इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है कि भगवानकी वाणी तो एक योजन तक ही सुनाई देती है किन्तु मागधजातिके देव उसे अपनी विक्रिया-शक्तिके द्वारा बारह योजन तक फैला देते हैं, अतः भगवानकी भाषा अर्धमागधी कहलाती है (२८) । आपकी वाणी परम अतिशयसे युक्त है, बहरे मनुष्य तक सुन लेते हैं, इसलिए आप इन्द्रवाक् कहलाते हैं (२९) । आप अनेक-धर्मात्मक वस्तुका उपदेश देते हैं, इसलिए अनेकान्तदिक कहे जाते हैं (३०) । एकान्तवादरूप अन्धकारके भेदनेके कारण एकान्त ध्वान्तभित कहलाते हैं (३१) । मिथ्यावाद्दरूप दुर्गुणोंके अन्त करनेके कारण दुर्गुणान्तकृत कहलाते हैं (३२) । सार्थक वाणी बोलनेके कारण सार्थवाक् कहलाते हैं । अथवा 'सा' नाम अभ्युदय-निःश्रेयसस्वरूप लक्ष्मीका भी है । आपकी वाणीके द्वारा लोग उसे प्राप्त करते हैं, अतः सार्थवाक् कहलाते हैं (३३) । आपकी वाणी बोलनेकी इच्छारूप प्रयत्नके विना ही भव्यजीवोंके पुण्यसे प्रेरित होकर निकलती है, अतः आप अप्रयत्नौक्ति कहलाते हैं (३४) । हरि-हरादि-प्रतिपादित मतानुसारी प्रतितीर्थ अर्थात् प्रतिवादियोंके अहंकाररूप मदका नाश करनेवाली आपकी वाणी है, अतः आप प्रतितीर्थमदघ्नवाक् कहलाते हैं (३५) ।

अर्थ—हं स्याद्वादिन्, आप स्यात्कारध्वजवाक् हैं, ईहापेतवाक् हैं, अचलौष्ठवाक् हैं, अपौरुषेय-वाक् हैं, शास्ता हैं, रुद्रवाक् हैं और सप्तमंगिवाक् हैं ॥२२॥

व्याख्या—हं स्याद्वादिक् प्रयोक्ता, आपकी वाणी 'स्यात्' पदरूप ध्वज अर्थात् चिन्हसे युक्त है, इसलिए आप स्यात्कारध्वजवाक् कहलाते हैं (३६) । आपके वचन प्रत्युपकारकी आकांक्षासे रहित निरपेक्षभावसे और विना किसी उद्यमके निकलते हैं इसलिए आप ईहापेतवाक् कहलाते हैं, (३७) । आपके श्रोत्र वाणी निकलनेके समय अचल रहते हैं, इसलिए आप अचलौष्ठवाक् कहलाते हैं, (३८) । आप अपौरुषेय अर्थात् अनादिनिधन द्वावशांग श्रुतज्ञानरूप वाणीके उपदेशा हैं, अथवा पुरुषों के द्वारा बोली जानेवाली वाणीसे भिन्न दिव्यवाणीके प्रयोक्ता हैं, अतः अपौरुषेयवाक्शास्ता कहे जाते हैं, (३९) । आपकी वाणी मूलके विना खोले ही प्रगट होती है, अतः आप रुद्रवाक् कहलाते हैं । (४०) । आपकी वाणी स्यादस्ति, स्यान्नस्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति-अवक्तव्य, स्यान्नस्ति अवक्तव्य और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य, इन सप्त मंगों अर्थात् वचन विकल्पोंसे युक्त होती है, अतः आप सप्तमंगिवाक् कहलाते हैं (४१) ।

अवर्णांगीः सर्वभाषामयगीव्यक्तवर्णांगीः । अमोघवागाक्रमवागावाच्यानन्तवागवाक् ॥ ४३ ॥

अद्वैतगीः सूनुतगीः सत्यानुभयगीः सुगीः । योजनव्यापिगीः क्षीरगौरगीस्तीर्थकृत्वगीः ॥ ४४ ॥

न विद्यन्ते वर्णा अक्षरणि गिरि भाषार्था यस्य स तथोक्तः । अथवा अपगतं ऋषं पुनःपुनश्चावो यस्या सा अवर्णा, ईदृशी गीर्णस्य स अवर्णांगीः, अभ्यासमन्तरेणापि भगवान् विद्वानित्यर्थः । सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य स तथोक्तः । व्यक्ता वर्णा अक्षरणि गिरि यस्य स तथोक्तः । अमोघा सफला वाक् यस्य स तथोक्तः । अक्रमा युगपद्वातिनी वाक् यस्य स तथोक्तः । अवाच्या वक्तुमशक्या अनन्तानन्ताप्रकाशिनी वाक् यस्य स तथोक्तः । न विद्यते वाक् यस्य सः ॥ ५३ ॥ अद्वैता एकान्तमयी गीर्वाणी यस्य स तथोक्तः, आत्मैकशापिका अद्वैता प्रोच्यते । सूत्रा सत्या गीर्णस्य स तथोक्तः । सत्या सत्यार्था, अनुभया असत्यपहिता सत्यासत्यरहिता गीर्णस्य स तथोक्तः । सुदु शोभना गीर्णस्य स तथोक्तः । एकयोजनव्यापिनी गीर्णस्य स तथोक्तः । क्षीरवद् गोदुग्धवद् (गौय) उज्ज्वला गीर्णस्य स तथोक्तः । तीर्थकृत्वा अमितजन्मपातकप्रहालिनी गीर्णस्य स तथोक्तः ॥ ५४ ॥

अर्थ—हे अनिर्वचनीय, आप अवर्णांगी, हैं, सर्वभाषामयगी हैं, व्यक्तवर्णांगी हैं, अमोघ-वाक् हैं, अक्रमवाक् हैं, अवाच्यानन्तवाक् हैं, अवाक् हैं, अद्वैतगी हैं, सूनुतगी हैं, सत्यानुभयगी हैं, सुगी हैं, योजनव्यापिगी हैं, क्षीरगौरगी हैं और तीर्थकृत्वगी हैं ॥ ५३-५४ ॥

व्याख्या—आपकी गिरा अर्थात् वाणी अकारादि अक्षररूप वर्णोंके बिना निरक्षरी प्रगट होती है, इसलिए आप अवर्णांगी कहलाते हैं । अथवा ऋणुनाम पुनः पुनः अभ्यासका है, आप किसी गुरु आदिसे अभ्यास किये बिना ही स्वयं बुद्ध होकर धर्मका उपदेश देते हैं इसलिए भी आप अवर्णांगी कहलाते हैं (४२) । आपकी वाणी सर्व देशोंकी भाषाओंसे युक्त होती है, अर्थात् आप उपदेश देते समय सर्व देशोंकी भाषाओंका प्रयोग करते हैं इसलिए आप सर्वभाषामयगी हैं (४३) । आपकी वाणी व्यक्त अर्थात् स्पष्ट वर्णोंसे युक्त होती है, इसलिए आप व्यक्तवर्णांगी कहलाते हैं (४४) ।

शंका—पहले 'अवर्णांगी' नामके द्वारा भगवान्की वाणी को निरक्षरी कहा गया है और अब व्यक्तवर्णांगी नामके द्वारा भगवान्की वाणीको स्पष्ट वर्णवाली कहा जा रहा है, यह पूर्वापर-विरोध कैसा ?

समाधान—भगवान्की वाणी स्वतः तो निरक्षरी निकलती है, किन्तु श्रोताओंके कर्ण-श्रदेशमें पहुँचकर वह स्पष्ट अक्षररूपसे सुनाई देती है ऐसा भगवान्का अतिशय है । अतः प्रथम नाम बक्तता की अपेक्षा और दूसरा नाम श्रोताओंकी अपेक्षासे है और इसलिए दोनों नामोंके होनेमें कोई विरोध नहीं जानना चाहिए ।

व्याख्या—आपकी वाणी अमोघ अर्थात् सफल होती है, अतः आप अमोघवाक् हैं (४५) तथा वह क्रम-रहित युगपद् सर्वतत्त्वका प्रकाश करती है अतः आप अक्रमवाक् हैं (४६) । जिन्हें शब्द के द्वारा नहीं कहा जा सकता, ऐसे अनन्त पदार्थोंको आपकी वाणी प्रगट करती है, अतः आप अवाच्यानन्तवाक् कहलाते हैं (४७) । सर्व साधारण जनोके समान आपके वचन नहीं निकलते अतः आप अवाक् कहलाते हैं (४८) । अद्वैत अर्थात् एकमात्र आत्माका शासन करनेवाली आपकी वाणी है, अतः आप अद्वैतगी कहलाते हैं (४९) । आप सूनुत अर्थात् सत्य वाणीको बोलते हैं, अतः आपका नाम सूनुतगी है (५०) । आपके वचन सत्य और अनुभयरूप होते हैं, अतः आप सत्यानुभयगी कहलाते हैं (५१) । आप सर्वजनोंको प्रिय लगनेवाली सुन्दर वाणीको बोलते हैं, अतः सुगी कहलाते हैं (५२) । आपकी वाणी एक योजन तक बैठे हुए लोगोंको सुनाई देती है, अतः आप योजनव्यापिगी कहलाते हैं (५३) । क्षीर अर्थात् दूधके समान आपकी वाणी उज्ज्वल और श्रोताओंको पुष्ट करने-वाली है अतः आप क्षीरगौरगी कहलाते हैं (५४) । आपकी वाणी तीर्थकृत्व है अर्थात् असंख्य जन्मों के पापोंका प्रचालन करती है, इसलिए आप तीर्थकृत्वगी कहे जाते हैं (५५) ।

भव्यैकश्रव्यगुः सद्गुरुचित्रगुः परमार्थगुः । प्रशान्तगुः प्राभिकगुः सुगुर्नियतकालगुः ॥२२॥
 सुभ्रुतिः सुभ्रुतो वाचवभ्रुतिः सुभ्रुज्जहाभ्रुतिः । धर्मभ्रुतिः भ्रुतिपतिः भ्रुत्युद्धर्ता भ्रुवभ्रुतिः ॥५६॥
 निर्वाणमार्गादिमार्गादेशकः सर्वमार्गादिक् । सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥२७॥

भव्यैक (६) श्रव्य भ्रोतुं योग्या गौरवाणी यस्य स तथोक्तः । गोरप्रधानस्यानन्तस्य श्रियामादा दीनां चेति ह्रस्वः । सन्ध्याद्वाराभिमिदुतौ ह्रस्वादौरे । सती समीचीना पूर्वापरविरोधरहिता शाश्वती वा गौरवाणी यस्य स तथोक्तः । चित्रा विचित्रा नाना प्रकारा त्रिभुवनभव्यजनचित्तचमत्कारिणी गौरवाणी यस्य स तथोक्तः । परमार्था सत्यमयी गौर्यस्य स तथोक्तः । प्रशान्ता कर्मजयकारिणी रागद्वेषमोहादिरहिता गौर्यस्य । प्ररने भवा प्राशिनका, प्राशिनकी गौर्यस्य स तथोक्तः । प्ररनं विना तीर्थकरो न व्रते यतः, तत एव कारणाद्वीरस्य गणधरं विना कियत्कालपर्यन्तं ध्वनिर्नाभूत् । सुधु शोभना गौर्यस्य । नियतो निश्चितः कालोऽवसरो यस्याः सा नियतकाला गौर्यस्य ॥५५॥ सुधु शोभना भ्रुतिर्यस्य स तथोक्तः, अत्राधितवागित्यर्थः । शोभनं भुतं शास्त्रं यस्य स तथोक्तः । अत्राधितार्थभूत इत्यर्थः । अथवा सुधु अतिशयेन भुतो विख्यातत्रिभुवनजनप्रसिद्धः । याज्या पूज्या महापंडितैर्मान्या भ्रुतिर्यस्य । सुधु शोभनं यथा भवति तथा शृणोति इति सुभ्रुत् । भ्रुतिः सर्वार्थप्रकाशिका (महा) भ्रुतिर्यस्य स तथोक्तः । धर्मेषु विशिष्टपुण्येन निदानरहितेन पुण्येनोपलक्षिता भ्रुतिर्यस्य स धर्मभ्रुतिः, तीर्थकरनामप्रदायिनी भव्यानां भ्रुतिर्यस्येति । भ्रुतीनां शास्त्राणां पतिः स्वामी । भ्रुते भ्रुतीनां वा उद्धर्ता उद्धारकारकः भुवा शास्वती अनादिकालीना भ्रुतिर्यस्य ॥ ५६ ॥ निर्वाणानां सुनीनां मार्गं

अर्थ—हे भगवन्, आप भव्यैकश्रव्यगु हैं, सद्गु हैं, चित्रगु हैं, परमार्थगु हैं, प्रशान्तगु हैं, प्राभिकगु हैं, सुगु हैं, नियतकालगु हैं, सुभ्रुति हैं, सुभ्रुत हैं, याज्यश्रुति हैं, सुभ्रुत हैं, महाश्रुति हैं, धर्मभ्रुति हैं, भ्रुतिपति हैं, भ्रुत्युद्धर्ता हैं, भ्रुवभ्रुति हैं, निर्वाणमार्गादिक हैं मार्गादेशक हैं, सर्वमार्गादिक हैं, सारस्वतपथ हैं और तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् हैं ॥५५-५६॥

व्याख्या—हे हितोपदेशिन, आपकी वाणी एकमात्र भव्य जीवोंके ही सुननेके योग्य हैं, अथवा भव्योंको ही सुनाई देती है, इसलिए आप भव्यैकश्रव्यगु कहलाते हैं (५६) । आप सद् अर्थात् पूर्वापर-विरोध-रहित समीचीन अथवा शाश्वत वाणीको बोलते हैं, अतः आप सद्गु नामसे पुकारे जाते हैं । (५७) चित्र अर्थात् नाना प्रकारसे भव्य जीवोंको सम्बोधन करनेवाली आपकी वाणी होती है, अतः आप चित्रगु कहलाते हैं (५८) । आप अपनी वाणीके द्वारा परमार्थ-अर्थात् परम निःश्रेयसरूप अर्थका उपदेश देते हैं, इसलिए परमार्थगु कहलाते हैं (५९) । आपकी वाणी प्रशान्त अर्थात् राग, द्वेष-मोहादि रहित है और कर्मोंका ज्ञय करानेवाली है, अतः आप प्रशान्तगु कहलाते हैं (६०) । प्रभकर्त्ताके द्वारा प्रभ किए जाने पर ही आपकी वाणी प्रगट होती है, अतः आप प्राभिकगु कहलाते हैं (६१) । आपकी वाणी अतिशोभना है अतः आप सुगु कहलाते हैं (६२) । नियत कालपर आपकी वाणी खिरती है, अर्थात् प्रातः मध्याह्न, अपरान्ह और मध्यरात्रि इन चार कालोंमें छह-छह घड़ी आपकी दिव्यध्वनि प्रगट होती है, इसलिए आप नियतकालगु कहलाते हैं (६३) । द्वादशंग श्रुतरूप वाणीको भ्रुति कहते हैं । आपकी भ्रुति अति शोभायुक्त है, अतः आप सुभ्रुति कहलाते हैं (६४) । आपका भ्रुत अर्थात् शास्त्र अत्राधितार्थ होनेसे अति सुन्दर है, अतः आप सुभ्रुत कहलाते हैं । अथवा आप विश्वविख्यात हैं इसलिए सुभ्रुत कहलाते हैं (६५) । आपकी वाणी महापंडितोंके द्वारा वाज्य अर्थात् पूज्य है, मान्य है, अतः आप वाज्यश्रुति हैं (६६) । आपकी वाणी श्रोताओंके द्वारा भक्ति-पूर्वक भली-भांति सुनी जाती है, इसलिए आप सुभ्रुत् कहलाते हैं (६७) । महान् अर्थात् सर्व अर्थकी प्रकाश करनेवाली आपकी वाणी है अतः आप महाश्रुति हैं (६८) । आपकी वाणी धर्मरूप है, विशिष्ट पुण्यके उपार्जनका कारण है और तीर्थकर-प्रकृतिका बन्ध कराती है, अतः आप धर्मभ्रुति कहलाते हैं (६९) । भ्रुति अर्थात् शास्त्रोंके पति होनेसे आप भ्रुतिपति कहलाते हैं (७०) । भ्रुतिर्वाके

देहा वाग्मीरवरौ धर्मशासको धर्मदेशकः । वागीरवरस्त्वानीनाथस्त्रिमंगीरौ गिरौपतिः ॥२८॥

सिद्धाशः सिद्धवागाशसिद्धः सिद्धकशासनः । जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः सिद्धमंत्रः सुसिद्धवाक् ॥२९॥

शुचिभवा निरुक्तोक्तिस्तत्रकृन्व्यायशास्त्रकृत् । महिष्ठवाग्महानादः कवीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः ॥३०॥

॥ इति तीर्थकृतकृतकम् ॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यलक्षणं मोक्षमार्गं दिशति उपदिशति यः स तथोक्तः । अथवा निर्वाणस्य मोक्षस्य तत्फलभूतस्य मार्गं सूत्रं दिशतीति । मार्गस्य रत्नत्रयस्य देशकः उपदेशकः । सर्वं परिपूर्णं मार्गं सर्वेषां सद्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिनां च मार्गं संसारस्य मोक्षस्य च मार्गं दिशतीति । सरस्वत्याः भारत्याः पन्थाःमार्गः सारस्वत-पथः । अथवा सारस्य स्वतत्त्वस्य आत्मज्ञानस्य पन्थाः सारस्वतपथः । तीर्थेषु समस्तसम्यग्द्विदान्तेषु परमोत्तमं परमप्रकृत्यं तीर्थं करोतीति । अथवा तीर्थपरमोत्तमं जैनशास्त्रेण तीर्थमिथ्यादृष्टीनां शार्ङ्गं कृन्तति छिन्तीति शतखण्डीकरोतीति ॥१७॥

दिशति स्वामितया आदेशं ददाति । वाग्मिनो वाचोयुक्तिपटवस्तेषामीश्वरः । धर्मः चारित्र्यं, रत्नत्रयं वा, जीवानां रक्षणं वा, वस्तुस्वभावो वा, क्षमादिदशविधो वा धर्मः, तं शास्त्रिश्चिन्त्यतीति । धर्मस्य देशकः कथकः । वाचां वाणीनामीश्वरो वागीश्वरः । त्रयी त्रैलोक्यं कालत्रयं च, तस्या नाथः, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणां वा समाहाररत्नयोः, तस्या नाथः । ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरणां वा नाथः, ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदानां वा नाथः, देवतयोपदेशकः । त्रयो मंगा समाह्वतास्त्रिमंगी, तस्या ईश । गिरां वाणीनां पतिः, क्वचिन् लुप्यन्ते (इत्य-) मिथानात् ॥१८॥ सिद्धा आशा वाग्यस्य स तथोक्तः । सिद्धा वाग् यस्य स तथोक्तः । आशा वाक् सिद्धा यस्य स तथोक्तः । सिद्धं एकमद्वितीयं शासनं वाक् यस्य स तथोक्तः । जगति संसारे प्रविष्टो विख्यातः सिद्धान्तो वाक् यस्य स तथोक्तः । सिद्धो मन्त्रो वेदो यस्य, स तथोक्तः ।

उद्धारक होनेसे आप ध्रु-सुद्धतां कहलाते हैं (७१) । आपकी वाणी ध्रु व अर्थात् शाश्वत-अनादिकालीन है, अतः आप ध्रु वश्रुति कहलाते हैं (७२) । निर्वाण अर्थात् मोक्षके मार्गको उपदेश करनेके कारण आप निर्वाणमार्गादिक कहलाते हैं । अथवा निर्वाण अर्थात् बाणरूप शल्यसे रहित मुनियोंको आप रत्नत्रयरूप मार्गका उपदेश करते हैं, इसलिए भी आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (७३) सुखरूप मार्ग के उपदेशक होनेसे मार्गदेशक कहलाते हैं (७४) । आप सर्व अर्थात् परिपूर्ण मार्गके उपदेशक हैं, अथवा सभी सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि जीवोंको संसार और मोक्षका मार्ग दिखाते हैं, इसलिए सर्व मार्गादिक कहलाते हैं (७५) । सरस्वतीके मार्गस्वरूप हैं, अथवा आत्मज्ञानरूप सार तत्त्वके प्रचारक हैं अतः सारस्वतपथ कहलाते हैं (७६) । तीर्थोंमें सर्वोत्कृष्ट तीर्थके करनेवाले हैं अतः तीर्थपरमोत्तम-तीर्थकृत् हैं अथवा तीर्थपरमोत्तम अर्थात् सत्यार्थ शास्त्रके द्वारा मिथ्यादृष्टियोंके कुशास्त्ररूप तीर्थ का कर्त्तन करते हैं, उसे शतखंड कर देते हैं, इसलिए भी आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (७७) ।

अर्थ—हे गिरीश, आप देष्टा हैं, वाग्मीश्वर हैं, धर्मशासक हैं, धर्मदेशक हैं, वागीश्वर हैं, त्रयीनाथ हैं, त्रिमंगीश हैं, गिरांपति हैं, सिद्धाज्ञ हैं, सिद्धवाक् हैं, आशासिद्ध हैं, सिद्धकशासन हैं, जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त हैं, सिद्धमंत्र हैं, सुसिद्धवाक् हैं, शुचिभवा हैं, निरुक्तोक्ति हैं, तंत्रकृत् हैं, न्याय-शास्त्रकृत् हैं, महिष्ठवाक् हैं, महानाद हैं, कवीन्द्र हैं, और दुन्दुभिस्वन हैं, ॥१८-३०॥

व्याख्या—हे वाणीके ईश्वर, आप भव्यजीवोंको स्वामिरूपसे आवेश देते हैं, इसलिए देष्टा कहलाते हैं (७८) । वाग्मी अर्थात् वचन बोलनेमें कुशल गणधरादिके आप ईश्वर हैं, अतः वाग्मीश्वर कहलाते हैं (७९) । चारित्र्यरूप, रत्नत्रयरूप, वस्तुस्वभावरूप, जीवोंकी रक्षारूप और क्षमा-दिरूप धर्मके आप शासक अर्थात् शिक्षा देनेवाले हैं, इसलिए धर्मशासक कहलाते हैं (८०) । धर्मका उपदेश देनेसे धर्मदेशक कहलाते हैं (८१) । वाक् अर्थात् वाणीके ईश्वर होनेसे वागीश्वर, वागीश, गिरीश आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं (८२) । तीनके समुदायको त्रयी कहते हैं । आप तीनों लोकों और तीनों कालोंके स्वामी हैं, अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्यरूप त्रयीके स्वामी हैं, अथवा ब्रह्मा,

(५) अथ नाथशतम्

नाथः पतिः परिबुद्धः स्वामी भर्ता विभुः प्रभुः । ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥
ईशोऽधिपतिरीशान इव इन्द्रोऽधिपोऽधिभूः । महेश्वरो महेशानो महेशः परमेशिता ॥६२॥

सुन्दु अतिशयेन सिद्धा वाक् वाणी यस्य स तथोक्तः ॥५६॥ शुचिनी पवित्रे श्रवणी कर्णौ यस्य स तथोक्तः । निरुक्ता निश्चिता लज्जान्वचनं यस्य स तथोक्तः । तंत्रं शास्त्रं करोतीति । न्यायशास्त्रं अविस्मरशास्त्रं कृतवान् । महिष्ठा पूज्या वाक् यस्य स तथोक्तः । महान् नादो ध्वनिर्वस्य स तथोक्तः । कवीनां गणधरदेवादीनामिन्द्रः स्वामी । दुन्दुभिर्जयपटङ्गः, तद्वत् स्वनः शब्दो यस्य स तथोक्तः ॥६०॥

॥ अथ नाथशतक-प्रारम्भः ॥

(नाथः) राज्यादस्थायां नाथति पदं भागधेयं याचते, 'नाथ-नाथ याचनं' इति भातोः प्रयोगात् अत्रा सिद्धं; नाथ्यते स्वर्ग-मोक्षी याच्यते भक्त्या नाथः अन्यत्रापि चेति कर्माणि अत्र । पाति रक्षति संभार दुःखादिति पतिः । पाति प्राणिवर्गं विषयकथायस्य आत्मानमिति वा । पतितं बर्तित, श्रौणादिकः

विष्णु आं महेशरूप त्रयीके स्वामी हैं, अतः त्रयीनाथ कहलाते हैं (८२) । उत्पाद, च्यय, ध्रौव्यरूप तीन भंगोंके अथवा सत्ता, उदय और उदीरणरूप त्रिभंगीके, अथवा आयुके त्रिभंगोंके ईश अर्थात् प्रतिपादक होनेसे त्रिभंगीश कहलाते हैं (८४) । गिरां अर्थात् वाणियोंके पति हैं, अतः गिरापति कहलाते हैं (८५) । आपकी आज्ञा सिद्ध है अर्थात् जो कुछ आदेश देते हैं वही होता है, इसलिए आप सिद्धाज्ञ कहलाते हैं (८६) । आपकी वाणी सिद्ध है अर्थात् जिस जो कह देते हैं वही होता है, इसलिए आप सिद्धवाक् कहलाते हैं (८७) । आपकी आज्ञा सिद्ध होने से आप आज्ञासिद्ध कहलाते हैं (८८) । सत्य शासनोमें एकमात्र आपका ही शासन सिद्ध है, इसलिए आप सिद्धकशासन कहलाते हैं (८९) । आपके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जगतमें प्रसिद्ध है, अतः आप जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त नामसे पुकारे जाते हैं (९०) । आपका मंत्र अर्थात् उपदेश या ज्ञान सिद्ध है, अतः सिद्धमंत्र कहलाते हैं (९१) । आपकी वाणी अतिशय कर सिद्ध है, अतः सुसिद्धवाक् कहलाते हैं (९२) । आपके वचन श्रवस् अर्थात् कर्णोंको पवित्र करनेवाले हैं इसलिए शुचिश्रवा कहलाते हैं (९३) । निरुक्त अर्थात् निश्चित प्रमाण-संगत उक्तियोंके कहनेसे निरुक्तांकित कहलाते हैं (९४) । तंत्र अर्थात् शास्त्रके कर्ता हैं, अतः तंत्रकृत कहलाते हैं (९५) । न्याय शास्त्र अर्थात् पक्षपात और पूर्वापर विरोधरहित शास्त्रके कर्ता होनेसे न्यायशास्त्रकृत कहलाते हैं (९६) । महिष्ठ अर्थात् पूज्य वाणीके होनेसे आप महिष्ठवाक् हैं (९७) । मेघध्वनिके समान महान् नादके धारक हैं अतः महानाद कहे जाते हैं । (९८) । कवि अर्थात् द्वादशांग वाणीकी रचना करनेवाले गणधर देवोंके आप इन्द्र हैं, अतः कवीन्द्र कहलाते हैं (९९) । दुन्दुभिके समान आपका स्वन अर्थात् शब्दोच्चारण होता है, इसलिए आप दुन्दुभिस्वन कहलाते हैं (१००) ।

॥ अथ नाथशतक-प्रारम्भः ॥

अर्थ—हे स्वामिन, आप नाथ हैं, पति हैं, परिबुद्ध हैं, स्वामी हैं, भर्ता हैं, विभु हैं, प्रभु हैं, ईश्वर हैं, अधीश्वर हैं, अधीश हैं, अधीशान हैं, अधीशिता हैं, ईशिता हैं, ईश हैं, अधिपति हैं, ईशान हैं, इन हैं, इन्द्र हैं, अधिप हैं, अधिभू हैं, महेश्वर हैं, महेशान हैं, महेश हैं और परमेशिता हैं ॥६१-६२॥

व्याख्या—हे भगवन् आप राज्य-अवस्थामें अपनी प्रजासे उसकी आमदनीका छठवाँ भाग कर-रूपसे माँगते हैं और कैवल्य-अवस्थामें भक्तजन आपसे स्वर्ग और मोक्ष माँगते हैं, इसलिए आप नाथ कहलाते हैं (१) । आप संसारके दुःखोंसे प्राणिवर्गकी रक्षा करते हैं और उनके विषय-कथाय छुड़ाकर उनकी आत्माका उद्धार करते हैं, इसलिए पति कहलाते हैं (२) ।

प्रत्ययोऽयं । परि समन्तात् वृद्धति स्म, वर्धति स्म वा । स्व आत्मा विद्युत्तेत्य स्वामी, स्वस्थेति सुरात्वं चेति इन् आत्वं च । विभक्तिं धरति पुण्याति वा जगद्भव्यजनं उत्तमस्थाने धरति केवलज्ञानादिभिर्गुणैः पुण्यातीति । विभवति विशेषणं मंगलं करोति वृद्धिं विदधाति समवसरणसमायां प्रभुतया निवसति, केवलज्ञानेन चराचरं जगत् व्याप्नोति, संपदं ददाति, जगत्कारयामीति अभिप्रायं देशव्यक्तिले करोति, तार्थयुतं प्रादुर्भवति, एकेन समयेन लोकालोकं गच्छति आनातीति विभुः । तदुक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्ति-सपदो । अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ विभुः ॥

भुवो दुर्दिशंप्रभु चेति साधुः । प्रभवति समर्थो भवति । कुतः, सर्वेषां स्वामित्वात् । ईष्टे समर्थो भवति, ऐश्वर्यवान् भवति । अधिक ईश्वरः इन्द्रादीनामपि प्रभुः । अधियां अज्ञानिनं पराज्ञामपि संबोधने समर्थः । अधिक ईशः स्वामी, अधियां हरि-हर-हिरण्यगर्मादीनामीशः अधीशः । ईष्टे ईशानः । अधिक ईशानः । अथवा ये अधियो निर्द्वेषकाः लोका भवन्ति, ते स्वामिनः ऐश्वर्यं दृष्ट्वा ईशानमिति मन्यन्ते । कुतः, मिथ्यामतिरत्वात् । अधिकृतोऽधिको वा ईशिता स्वामी, ईष्टेः ऐश्वर्यवान् भवतीत्येवं-शीलः ॥ ६१ ॥ ईष्टे निप्रहानुग्रहसमर्थत्वात् । अधिकः पतिः स्वामी । ईष्टे अहमिन्द्राणामपि स्वामी भवति । पति योगिनां ध्यानबलेन हृदयकमलमागच्छतीति इतः । इयं जि श्रुतिभ्यो नक् । इदंति परमैश्वर्यं प्राप्नोति शक्रादीनामप्यारभ्यत्वात्, रक् प्रत्ययः । अधिकं पति, सर्वजीवान् रक्षति । उपसर्गो त्वातो डः । अथवा अधिकं पिबति केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोतीति । अधिका त्रैलोक्यसंबन्धिनी

आपने अपने आपको सर्वप्रकारसे समर्थ और चलवान् बनाया है, इसलिए आप परिवृढ कहलाते हैं (३) । आप अपनी आत्माके स्वयं ही अधिपति हैं, अतः स्वामी कहलाते हैं (४) । जगत् के जीवोंका सद्गुणोंके द्वारा भरण-पोषण करनेसे भक्ता कहलाते हैं (५) । विभुशब्द मंगल, वृद्धि, सत्ता, निवास, शक्ति, व्याप्ति, सम्पत्ति, गति आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आपमें ये सब अर्थ विभिन्न विपत्ताओंसे पाये जाते हैं, इसलिए आप विभु कहलाते हैं । जैसे—आप संसारके मंगलकर्ता हैं, जीवोंके आनन्दकी वृद्धि करते हैं, सत्-चिद्रूप हैं, समवसरणमें स्वामीरूपसे निवास करते हैं, अनन्तशक्तिके धारक हैं, ज्ञानरूपसे सर्वजगत्में व्याप्त हैं, अन्तरंग और बहिरंग सम्पत्तिवान् हैं और ज्ञानोंको एक समयमें जानते हैं; इत्यादि (६) । आप सर्वप्रकारसे समर्थ हैं, अतः प्रभु कहलाते हैं (७) । ऐश्वर्यवान् होनेसे ईश्वर कहलाते हैं (८) । इन्द्रादिकोंके भी ईश्वर हैं, अथवा अधी अर्थात् वृद्धि-रहित मूर्ख मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके भी सम्बोधन करनेवाले हैं, इसलिए अधीश्वर कहलाते हैं (९) । अधी अर्थात् कुबुद्धि या अल्पबुद्धिवाले हरि-हर-हिरण्यगर्भ आदिके स्वामी होनेसे अधीश कहलाते हैं (१०) । अधी अर्थात् अविषेकी मिथ्यादृष्टि लोग आपको समवसरणादि बाह्य वैभवको देखकर ही आपको ईशान अर्थात् महान् स्वामी मानते हैं इसलिए आप अधीशान कहलाते हैं (११) । आपकी ईशिता अर्थात् स्वामिपना सबसे अधिक है इससे अधीशिता कहलाते हैं (१२) । ऐश्वर्यवान् होनेसे ईशिता कहलाते हैं (१३) । निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ होनेसे ईश कहलाते हैं (१४) । अधिक अर्थात् समर्थ पति होनेसे अधिपति कहलाते हैं (१५) । अहमिन्द्रोंके स्वामी होनेसे ईशान कहलाते हैं (१६) । ध्यानके द्वारा योगियोंके हृदयकमलको प्राप्त होते हैं, अतः इन कहलाते हैं (१७) । इन्दन अर्थात् परम ऐश्वर्यको प्राप्त होनेसे इन्द्र कहलाते हैं (१८) । सर्व जीवोंको अच्छी तरह पालनेसे अधिप कहलाते हैं । अथवा निजानन्दरूप रसका अधिक पान करनेसे अधिप कहलाते हैं (१९) । भू धातु सत्ता, मंगल, वृद्धि, सम्पत्ति, आदि अनेक अर्थोंकी वाचक है । भगवान्में भी त्रिजगत्का स्वामीपना होनेसे, सर्वके मंगलकर्ता और श्रुद्धि-सिद्धिके विधाता होनेसे सर्व अर्थ घटित होते हैं, अतः अधिभू यह नाम भी सार्थक है । अथवा अधिभू नाम नायक या नेताका है, आप त्रिजगत्के नायक और मोक्षमार्गके नेता हैं, अतः अधिभू कहलाते हैं (२०) । महान् ईश्वर होनेसे महेश्वर कहलाते

अधिदेवो महादेवो देवशिमुषनेरवरः । विश्वेशो विश्वभूतेशो विश्वेद् विश्वेश्वरोऽधिराट् ॥६३॥
 लोकेश्वरो लोकपतिर्लोकनाथो जगत्पतिः । त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभुः ॥६४॥
 पिता परः परसरो जेता जिष्णुर्जनीश्वरः । कर्ता प्रभुष्णुर्ब्राजिष्णुः प्रभविष्णुः स्वयंप्रभुः ॥६५॥

भूर्भूमिर्मयस्य स तथोक्तः, अधिभूः त्रिभुवनैकनायक इत्यर्थः । महात्मानिन्द्रादीनामीश्वरः स्वामी । अथवा महस्य पूजाया, ईश्वरः । महान्भासाधीशानः । अथवा महातामीशानः । अथवा महस्य यक्षस्य ईशानः । महान्भासाधीशः, अथवा महातामीशः, अथवा महस्य यागस्य ईश्वरः । परमः प्रकृष्ट ईशिता ॥६२॥

(आधिकः शक्रादीनां देवः परमाराध्यः । महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देवः । दीव्यति कीडति परमानन्दपदे देवः परमाराध्य इत्यर्थः । त्रीणि भुवनानि समाहृतानि त्रिभुवनं, तस्य ईश्वरः । विश्वस्य ईशः स्वामी । विश्वेषां भूतानां प्राणिवर्गाणां ईशः । विश्वस्य ईदृ स्वामी । विश्वस्य ईश्वरः प्रभुः । अधिकं राजते अधिराट् ॥६३॥ लोकानां त्रिभुवनजनानामीश्वरः स्वामी । लोकस्य त्रिभुवनस्थितप्राणिवर्गस्य पतिः स्वामी । लोकस्य नाथः स्वामी । जगतां त्रिभुवनना पतिः स्वामी । त्रैलोक्यस्य नाथः । लोकानामीशः । जगतां नाथः जगतः प्रभुः ॥६४॥ पति रक्षति दुर्गतां पतितं न ददाति । पिपासं पालयति पूरयति वा लोकान्निर्वाण्यपदे स्थापयति परः । परस्मात् सिद्धात् उत्कृष्टः परः । जयति सर्वोत्कृष्टं प्रवर्तते जेता । जयनशीलः । न विद्यते ईश्वरो यस्य । अनन्तशानादिचतुष्टयमात्मनः करोतीति । प्रभवति इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्रादीनां प्रभुत्वं प्राप्नोतीत्येवंशीलः । भ्राजते चन्द्रार्ककोटि-ज्योतिषि अधिकां दीप्तिं प्राप्नोतीत्येवंशीलः । प्रभवति अनन्तशक्तित्वात् समर्थो भवतीत्येवंशीलः । स्वयमात्मना प्रभुः समर्थः ॥६५॥)

हैं (२१) । महापुरुषों को भी ईशान अर्थात् स्वामी होनेसे महेशान कहलाते हैं (२२) । मह अर्थात् पूजाके ईश होनेसे भूेश कहलाते हैं (२३) । पर शब्द उत्कृष्टका और मा शब्द लक्ष्मीका वाचक हैं । आप उत्कृष्ट लक्ष्मीके ईशिता अर्थात् स्वामी हैं, अतः परमेशिता कहलाते हैं ॥२४॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र, आप अधिदेव हैं, महादेव हैं, देव हैं, त्रिभुवनेश्वर हैं, विश्वेश हैं, विश्वभूतेश हैं, विश्वेद हैं, विश्वेश्वर हैं, अधिराट हैं, लोकेश्वर हैं, लोकपति हैं, लोकनाथ हैं, जगत्पति हैं, त्रैलोक्यनाथ हैं, लोकेश हैं, जगन्नाथ हैं, जगत्प्रभु हैं, पिता हैं, पर हैं, परतर हैं, जेता हैं, जिष्णु हैं, अनीश्वर हैं, कर्ता हैं, प्रभुष्णु हैं, ब्राजिष्णु हैं, प्रभविष्णु हैं, और स्वयंप्रभु हैं ॥६३-६५॥

व्याख्या—हे भगवन, आप परम आनन्दको भोगते हुए सर्वदा विजयशील रहते हैं, इसलिए देव कहलाते हैं (२५) । स्वर्गवासी देवोंके आराध्य हैं, अतः अधिदेव कहलाते हैं (२६) । इन्द्रादिकोंसे पूज्य हैं अतः महादेव कहलाते हैं (२७) । स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक इन तीन भुवनोंके ईश्वर होनेसे आप त्रिभुवनेश्वर, विश्वेश, विश्वेद, विश्वेश्वर, लोकेश्वर, लोकपति, लोकनाथ, जगत्पति, त्रैलोक्यनाथ, लोकेश, जगन्नाथ और जगत्प्रभु कहलाते हैं (२८-३६) । सर्व विश्वके भूतों अर्थात् प्राणियोंके ईश होनेसे विश्वभूतेश कहलाते हैं (४०) । आपने राजाओंको अपने बशमें किया है और स्वयं अतिशय करके विराजमान हैं, इसलिए अधिराट कहलाते हैं (४१) । पालने बालेको पिता कहते हैं । आप जगजनोंकी दुर्गतिके दुःखोंसे रक्षा करते हैं, अतः पिता कहलाते हैं (४२) । लोगोंको शिवपद पर स्थापित करते हैं, इसलिए पर कहलाते हैं (४३) । पर अर्थात् सिद्धोंसे भी पर हैं, प्रधान हैं, क्योंकि धर्मका उपदेश देनेके कारण सिद्धोंसे पहले आपका (अरहन्तोंका) नाम लिया जाता है और आपको नमस्कार किया जाता है इसलिए परतर कहलाते हैं (४४) । कर्मशत्रुओंके जीवनसे जेता कहलाते हैं (४५) । सदा विजयशील रहनेसे जिष्णु कहलाते हैं (४६) । आपका कोई ईश्वर नहीं है और न आपके अतिरिक्त संसारमें कोई ईश्वर है, इसलिए आप अनीश्वर कहलाते हैं (४७) । आप अपने लिए अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके करनेवाले हैं, अतः कर्ता कहलाते हैं (४८) । इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र आदिके भी प्रभुत्वको प्राप्त हैं, अतः प्रभुष्णु कहलाते हैं (४९) । कोटि-कोटि चन्द्र-सूर्यसे भी अधिक

लोकविद्विषयविद्विषयविजेता विश्वजित्वरः । जगज्जेता जगज्जैत्रो जगज्जिष्णुर्जगज्जयी ॥६६॥

अग्रणीर्ग्रामणीर्गता भूर्भुवः स्वरधीश्वरः । धर्मनायक ऋद्धीशो भूतनाथश्च भूतभृत् ॥६७॥

गतिः पाता ह्येषो वर्यो मंत्रकृत्सुभलक्षयः । लोकाध्यक्षो दुराधर्षो भव्यबन्धुनिरुत्सुकः ॥६८॥

(लोक संसार जितवान् । विश्वं त्रैलोक्यं जितवान् । विश्वं त्रैलोक्यं विजयते, निजसेवकं करोतीत्येवं-शीलः । विश्वति आत्मप्रदेशेषु मिलति, स्वभावाति श्लेषं करोतीति । विश्वं शानावरणाद्यष्टकर्मसमूहः, तं जयति त्वं नयतीत्येवंशीलः । जगतां सर्वमिष्यादृष्टीनां जेता जयनशीलः । जगन्ति जयतीत्येवंशीलः । गच्छतीत्येवंशीलं जगत्, तज्जयतीत्येवंशीलः, जि-भुवोःष्णुक् । जगज्जयतीत्येवंशीलः ॥६८॥ अग्रं त्रैलोक्योपरि नयति । ग्रामं विद्वत्समूहं नयतीति स्वधर्ममित्येवंशीलः । भूरभोलोकः, भुवर्मभ्यलोकः । तेषामधीश्वरः । धर्मस्य अर्हिसालक्ष्यस्य नायको नेता । ऋद्धीनामीशः स्वामी । भूतानां प्राणिनां देवविशेषाणां च नाथः । भूतानां दीप्तिको धारण करनेसे भ्राजिष्णु कहलाते हैं (५०) । अनन्त शक्तिशाली होनेपर भी अति सहनशील हैं, अतएव प्रभविष्णु हैं (५१) । पर की सहायसे निरपेक्ष होकर स्वयं ही समर्थ हैं, अतः स्वयंप्रभु कहलाते हैं (५२) ।

अर्थ—हे लोकेश्वर, आप लोकजित हैं, विश्वजित हैं, विश्वविजेता हैं, विश्वजित्वर हैं, जगज्जेता हैं, जगज्जैत्र हैं, जगज्जिष्णु हैं, जगज्जयी हैं, अग्रणी हैं, ग्रामणी हैं, नेता हैं, भूर्भुवः-स्वरधीश्वर हैं, धर्मनायक हैं, ऋद्धीश हैं, भूतनाथ हैं, भूतभृत् हैं, गति हैं, पाता हैं, वृष हैं, वर्य हैं, मंत्रकृत् हैं, सुभलक्षण हैं, लोकाध्यक्ष हैं, दुराधर्ष हैं, भव्यबन्धु हैं और निरुत्सुक हैं ॥६६-६८॥

व्याख्या—लोक, विश्व और जगत् यद्यपि एकार्थवाचक नाम हैं, तथापि निरुक्तिकी अपेक्षा उनमें कुछ विशेषता हैं । जिसमें जीवादि पदार्थ अवलोकन किये जायें उसे लोक कहते हैं । जिसमें जीवादि पदार्थ प्रवेश करते हैं, रहते हैं, उसे लोक कहते हैं । जो गमन अर्थात् परिवर्तन शील हो, उसे जगत् कहते हैं । जित्, जेता, विजेता, जित्वर, जैत्र, जिष्णु और जयी ये सब शब्द निरुक्त्यर्थ की अपेक्षा सूक्ष्म अन्तर रखते हुए भी विजयशील या विजयीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं । उपसर्ग और प्रत्ययोंकी विभिन्नतासे बननेवाले शब्दोंके अर्थमें कुछ न कुछ विभिन्नता आ ही जाती है, इसी दृष्टिसे स्तुतिकारने भगवान्की स्तुति करते हुए उन्हें लोकजित्, विश्वजित्, विश्वविजेता, विश्वजित्वर, जगज्जेता, जगज्जैत्र, जगज्जिष्णु और जगज्जयी नामोंसे पुकारा है । इन सभी नामोंका सामान्यतः 'लोकके जीतनेवाला' अर्थ होता है (५२-६०) । अग्र शब्दके यद्यपि प्रथम, प्रकार, ऊपर, आगे और श्रेष्ठ आदि अनेक अर्थ हैं, तथापि यहां ऊपर और श्रेष्ठ अर्थ विवक्षित है । जिनेंद्र भगवान् अपने भक्तोंको ऊपर लोकके अग्र भागपर स्थित शिवलोकमें ले जाते हैं, इसलिए अग्रणी कहलाते हैं । अथवा भव्य जीवोंको श्रेयस् अर्थात् परमकल्याणमें स्थित श्रेष्ठ सिद्धोंके पास ले जाते हैं, इसलिए भी अग्रणी कहलाते हैं (६१) । ग्राम नाम गाँव और समूहका है । हे भगवान्, संसाररूप वनमें अकेले भटकनेवाले जीवोंको आप सिद्धोंके गाँव या समुदाय रूप सिद्धपुरीमें ले जाते हैं, इसलिए ग्रामणी कहलाते हैं (६२) । अपने कर्त्तव्यसे विमुख और पथ-भ्रष्ट लोगोंको आप उनके कर्त्तव्य या पथकी ओर ले जाते हैं, अतः नेता हैं (६३) । भूर्, भुव और स्वर ये तीनों वैदिक शब्द क्रमशः अधो, मध्य और ऊर्ध्व लोकके वाचक हैं । आप इन तीनों ही लोकोंके अधीश्वर हैं, अतः भूर्भुवःस्वरधीश्वर कहलाते हैं (६४) । अर्हिसामय धर्मके प्रणेता होनेसे धर्मनायक कहलाते हैं (६५) । बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण नामक सात ऋद्धियोंके धारक साधुओंके आप ईश हैं, अतः ऋद्धीश हैं (६६) । भू अर्थात् पृथिवी पर जो उत्पन्न हुए हैं उन्हें भूत कहते हैं; इस प्रकारका निरुक्त्यर्थ होनेसे उपलक्षणाका आश्रय कर जलादिके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले सभी जीवोंको भूत कहते हैं । आप उनके स्वामी हैं, अतः

धीरो जगद्धितोऽज्यस्त्रिजगत्परमेश्वर । विवासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वरः ॥६१॥

त्रिजगद्ब्रह्मभक्तुं गच्छिन्नजगन्मंगलोद्भवः । धर्मचक्रायुधः सशोजातकौ लोच्यमंगलः ॥७०॥

वरदोऽप्रतिघोऽङ्घ्र्यो दृढीयानमर्थकर । महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥७१॥

॥ इति नाथशतम् ॥

अतीतानां उपलक्षणात् कर्तमानानां भविष्यतां च प्राथिनां नाथः । भूतान् विभर्ति पालयतीति ॥६७॥ गमनं ज्ञानमात्रं वा गतिः । सन्नेवा अग्निमथनसमर्थो वा । पाति रक्षति दुःखादिति । कर्षति धर्माभूतं वृषः । त्रियते धर्मः, स्वराद्यः । वरगोत्रो मुक्ति-वक्ष्य-प्रभिलपणीय इत्यर्थः । मंत्रं श्रुतं कृतवान् । शुभानि लक्षणानि यस्य सः ।) लोकानां प्रजानामप्यन्तः प्रत्यक्षीभूतः । अथवा लोकमधश्चो लोकोपरिमुक्तः, गजनिर्योगिकनाकाद्यप्यत्रवत् । अथवा लोकं कर्माणि भुवनानि अत्यक्षाणि प्रत्यक्षाणि यस्येति । वा लोकेभ्यः प्रजाभ्यः अधिकानि अक्षाणि ज्ञानलक्षणानि लोचनानि यस्म्येति । दुःखेन महता कष्टेनापि आसमंताद् धर्मयिन्तु परमवितुमशक्यां दुःखधर्मः, ईपद्दुःख-सुख-कृच्छ्राकृच्छ्रेषु खलप्रत्ययः । भन्मानां स्तत्रययोग्यानां कण्डुपकारकः । स्थिरपृष्ठतिरित्यर्थः ॥६८॥

ज्येष्ठं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति । अथवा धियं राति ददाति भक्तानामिति धीरः । तर्हि दधातेर्दानार्थत्वात् तदर्थे चतुर्थी कथं न भवति ? सत्यं, यस्मै दित्वा दातुमिच्छा भवति तत्र चतुर्थी भवति । परमेश्वरस्तु स्वभावेन बुद्धिं ददाति, निरिच्छया, तस्या मोहञ्जनितवान् । स तु मोहो भगवति न वर्तते, तेन सिंगान् पृथी भवति, सम्भवमात्रावर्चचित्तत्वात् । जगतां हितः, जगद्भयो वा हितः । न जन्तुं कनापि इन्द्रादिना काम-कंध-मोह-लोभादिना वा शक्यः । त्रयाणां जगतां परम ईश्वरः

भूतनाथ हैं (६७) । भूतोंको पालते हैं, अतः भूतभृत् भी कहलाते हैं (६८) । गति शब्दकी निष्पत्ति गम धातुसे हुई है । गम धातु गमन, ज्ञान और अग्निमथन अर्थात् पीड़ाको दूर करना, इन तीनों अर्थोंमें व्यवहृत होता है । प्रकृतमें आप ज्ञानस्वरूप हैं और पीड़ित जनताकी पीड़ाके दूर करनेवाले हैं, अतः गति नामसे पुकारे जाते हैं (६९) । जगजनोंकी दुःखोंसे रक्षा करते हैं, अतः पाता कहलाते हैं (७०) । धर्मरूप अमृतकी धर्मा करते हैं, अतः वृष कहलाते हैं (७१) । मुक्तिलक्ष्मीके द्वारा वरण करनेके योग्य हैं, अतः धर्म कहलाते हैं (७२) । मंत्रों अर्थात् वीजपदरूप शास्त्रोंके कर्ता होनेसे मंत्रकृत् कहलाते हैं (७३) । श्रीगृह्य, शंख, चक्र आदि शुभलक्षणोंके धारक होनेसे शुभलक्षण कहलाते हैं (७४) । लोकके अध्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्षीभूत हैं, अतः लोकाध्यक्ष कहलाते हैं । अथवा मंसारके स्वामी होनेसे भी लोकाध्यक्ष कहलाते हैं । अथवा लोक अर्थात् साधारण जनसे अधिक अर्थात् विशिष्ट ज्ञानरूप अक्ष अर्थात् नेत्रके धारक हैं, इसलिए भी लोकाध्यक्ष कहलाते हैं (७५) । आप दुर्गोंके द्वारा अधर्म हैं अर्थात् कभी भी पराभवको प्राप्त नहीं होते, अतः दुराधर्म कहलाते हैं (७६) । भव्य अर्थात् रत्नत्रय धारण करनेके योग्य जांचोंके आप वन्द्य हैं, अतः भव्यवन्द्य हैं (७७) । कृतकृत्य होनेसे अब आपको कोई कार्य करना शेष नहीं रहा, अतः किसी कामसे करनेकी उत्कण्ठारूप उत्सुकता भी नहीं रही, इस कारण आप निरुत्सुक कहलाते हैं (७८) ।

अर्थ—हे धर्मचक्रेश्वर, आप धीर हैं, जगद्धित हैं, अजय्य हैं, त्रिजगत्परमेश्वर हैं, विश्वासी हैं, सर्वलोकेश हैं, विभव हैं, भुवनेश्वर हैं, त्रिजगद्ब्रह्म हैं, तुङ्ग हैं, त्रिजगन्मंगलोद्भव हैं, धर्मचक्रायुध हैं, सशोजात हैं, त्रैलोक्यमंगल हैं, वरद हैं, अप्रतिघ्न हैं, अङ्घ्र्य हैं, दृढीयान हैं, अमर्षकर हैं, महाभाग हैं, निरौपम्य हैं, और धर्म-साम्राज्यके नायक हैं ॥६९-७१॥

व्याख्या—हे धर्मचक्रके ईश्वर, आप धीर हैं, क्योंकि अपने ध्येय या कर्तव्यके प्रति धी अर्थात् बुद्धिको प्रेरित करते हैं, लगाते हैं । अथवा भक्तोंके लिए 'धियं राति' अर्थात् बुद्धिको देते हैं, उन्हें सन्मार्ग सुझाते हैं और उसपर चलनेके लिए प्रेरित करते हैं (७६) । जगत्का हित करनेके कारण आप जगद्धित कहलाते हैं (८०) । बाह्यमें इन्द्र, नरेन्द्रादिके द्वारा और अन्तरंगमें

स्वामी । अथवा त्रिजगता परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीस्तस्या ईश्वरः । विश्वासी विद्यते यस्य स तथोक्तः, तदस्यातीति मत्वं त्वीन् । अथवा विश्वस्मिन् लोकालोके केवलशानापेक्षयाऽऽस्ते तिष्ठतीत्येवंशीलः, नाम्य-जातौ णिनिस्ताच्छीत्ये । सर्वस्य लोकस्य त्रैलोक्यस्थितप्राणियणस्य ईशः प्रभुः । विगतो भवः संसारो यस्य स विभवः । अथवा विशिष्टो (भवो) जन्म यस्य । भुवनस्य त्रैलोक्य ईश्वरः ॥६६॥ त्रिजगतां वल्लभोऽमीष्टः । तुंगः, उन्नतः विशिष्टफलदायक इत्यर्थः । त्रिजगतां त्रिभुवनस्थितभयजीवानां मंगलानां पंचकल्याणा (ना) मुदयः प्राप्तिर्यस्मादौ त्रिजगन्मंगलोदयः, तीर्थकरनामगोत्रयोः भक्तानां दायक इत्यर्थः । धर्म एव चक्रं पापारिखंडकत्वात् धर्मचक्रं । धर्मचक्रमायुधं शस्त्रं यस्य । सद्यस्तत्कालं स्वर्गात्प्रच्युत्य मानुष्येभ्यो उत्पन्नत्वात् । त्रैलोक्यस्य मंगं सुखं (लाति) ददाति, मलं वा गालयतीति ॥७०॥ नरमयीष्टं स्वर्गं मोक्षं च ददाति इति । अविद्यमानः प्रतिषिः क्रोधो यस्य स तथोक्तः । न ज्ञेयं शक्यः । अतिशयेन दृढः ।

पृथुं मृदुं दृढं चैव भृशं च कृशमेव च । परिपूर्वं दृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥

न भयं करोऽदीरः । अथवा अभयं निर्भयं करोतीति । महान् भागो राजदेवं यस्य । अथवा महेन पूजया आसमन्ताद् भज्यते तेव्यते महाभागः । निर्गतमौषम्यं यस्य स तथोक्तः । धर्म एव साम्राज्यं चक्र-वर्तिन्, तस्य नायक स्वामी ॥७१॥

इति नाथशतकम् ।

काम, क्रोधादि शत्रुओंके द्वारा आप जीते नहीं जा सकते, अतः अजय्य हैं (८१) । तीनों जगत्के परमेश्वर हैं, अथवा तीनों लोकोंमें जो परा मा अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मी है, उसके ईश्वर (स्वामी) हैं, अतः त्रिजगत्परमेश्वर हैं (८२) । विश्वासको धारण करते हैं, अतः विश्वासी हैं । अथवा केवलज्ञानकी अपेक्षा आप विश्वभरमें आस अर्थात् निवास करते हैं (८३) । सर्वलोकमें स्थित प्राणियोंके ईश होनेसे सर्वलोकेश कहलाते हैं (८४) । आपका भव अर्थात् संसार विगत हो गया है, इसलिए विभव कहलाते हैं । अथवा केवल्य प्राणिकी अपेक्षा विशिष्ट भव अर्थात् जन्मको—जिसके पश्चात् फिर मरण नहीं है—लेनेसे भी विभव कहलाते हैं (८५) । आप त्रैलोक्यरूप भुवनके ईश्वर हैं (८६) । तीनों जगत्के वल्लभ अर्थात् अतिप्रिय होनेसे त्रिजगद्भल्लभ हैं (८७) । तुङ्ग अर्थात् उन्नत हैं, क्योंकि भक्तोंको विशिष्ट फल देते हैं (८८) । त्रिजगत्में स्थित भव्य जीवोंके पंचकल्याणकरूप मंगलका उदय अर्थात् लाभ आपके निमित्तसे होता है, अतः आप त्रिजगन्मंगलोदय हैं (८९) । धर्म-चक्ररूप आयुध (शस्त्र) के धारण करनेसे धर्मचक्रायुध कहलाते हैं, क्योंकि आप धर्मरूप चक्रके द्वारा पापरूप शत्रुओंका नाश करते हैं (९०) । सद्यः अर्थात् स्वर्गसे च्युत होकर तत्काल ही माता-के गर्भमें उत्पन्न होते हैं, बीचमें अन्यत्र जन्म नहीं लेते, इसलिए सद्योजात कहलाते हैं (९१) । त्रैलोक्यके मं अर्थात् पापको गलाते हैं, नष्ट करते हैं, और मंग अर्थात् सुखको लाते हैं, इसलिए त्रैलोक्यमंगल कहलाते हैं (९२) । वर अर्थात् इच्छित स्वर्ग-मोक्षको देनेके कारण वरद कहलाते हैं (९३) । आपके प्रतिषि अर्थात् क्रोधका अभाव है, इसलिए आप अप्रतिषि कहलाते हैं (९४) । किसी भी बाह्य या अन्तरंग शत्रुके शस्त्रसे छेदे नहीं जा सकते हैं, इसलिए अछेद्य कहलाते हैं (९५) । अतिशय दृढ अर्थात् बलशाली या स्थिर होनेसे दृढीयान् कहलाते हैं (९६) । आप किसी भी प्राणीको भय नहीं करते, प्रत्यत निर्भय करते हैं, इसलिए अभयंकर कहलाते हैं । अथवा आप भयंकर अर्थात् रौद्र या भयानक नहीं हैं, प्रत्युत अति सुन्दराकार हैं (९७) । महान् भाग्यशाली होनेसे महाभाग कहलाते हैं, क्योंकि त्रिजगत् आपकी सेवा-पूजा करता है (९८) । संसारमें कोई भी वस्तु आपकी उपमाके योग्य नहीं है, इसलिए आप निरौषम्य कहलाते हैं (९९) । धर्मरूप साम्राज्यके स्वामी होनेसे धर्मसाम्राज्यनायक कहलाते हैं (१००) ।

इस प्रकार पंचम नाथ शतक समाप्त हुआ ।

(६) अथ योगिशतम्

योगी प्रव्यक्तनिर्वेदः साम्यारोहणतत्परः । साम्याधिको साम्याधिको निःप्रमादोऽप्रतिक्रमः ॥७१॥
यमः प्रधाननियमः स्वध्व्यस्तपरमासनः । प्राणायामचणः सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रियः ॥७२॥
धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठः समाधिराट् । स्फुरत्समरसीभाव एकी करणनायकः ॥७३॥

योगो ध्यानस्थामभी अष्टांगानि विद्यन्ते यस्य स योगी । कानि तानि ? यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-समाधय इति । प्रव्यक्तः स्फुटो मुखकमलविकासयुचितो निर्वेदः संसारशरीर भोग-वैराग्यं यस्य स तथोक्तः । साम्यस्य समाधेरोहण्ये चटने तत्परः अनन्ययुक्तः । सर्वजीवानां समभावपारेणामः साम्याधिकं, सम्यक् अयः समयः शुभावहो विधिजैनधर्मः, समय एव साम्याधिकं । स्वायं शौचिक इत्यर्थः । साम्याधिकं सर्वसावद्ययोगविरतिलक्षणं विद्यते यस्य स तथोक्तः । अथवा सा लक्ष्मीर्माया यस्य स साम्यायः सर्वद्विसमूहः, सा विद्यते यस्य स, साम्यायी एव साम्याधिकः । स्वायं कः । साम्याधिको गणधरदेवसमूहो विद्यते यस्य स साम्यायिकी । इन अस्त्वयं । समये जैनधर्मे नियुक्तः साम्याधिकः, इत्यर्थः । निर्गतः प्रमादा यस्य । न विद्यते प्रतिक्रमो यस्य स अप्रतिक्रमः । कृतदोषनिर्पकरणं प्रतिक्रमणं, तं तु दायाः स्वामिनो न विद्यन्ते येन, तेन प्रतिक्रमणमपि न करोति, ध्यान एव तिष्ठति ॥७२॥ यमो यावज्जोयनियमः, तद्योगात् स्वाम्यपि यमः, सर्वसावद्ययोगोपरतत्वात् । प्रधानो मुख्यः नियमो यस्य स तथोक्तः । उक्तं च—

नियमो यमश्च विहितो द्वेषा भोगोपभोगसंहारे । नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो प्रियते ॥

(सुप्तु) अतिशयेनाभ्यस्तमनुशीलितं आसनं पश्चात्तनं येन स तथोक्तः । किञ्चिद्दुर्कोटि-पूर्वपर्यन्तं भगवान् खलु पश्चात्तनेनोपविष्टो हि धर्मोपदेशं ददाति, जघ-येन त्रिशद्वर्षपर्यन्तमेकेनासनेन पश्चात्तनेन तिष्ठति । मध्ये नानाविधकालपर्यन्तं शतव्यम् । अथवा सुप्तु अतिशयेन अभ्यस्ता भुक्ता या परमा

अर्थ—हे योगेश्वर, आप योगी हैं, प्रव्यक्त निर्वेद हैं, साम्यारोहणतत्पर हैं, साम्यायिकी हैं, साम्यायिक हैं, निःप्रमाद हैं, अप्रतिक्रम हैं, यम हैं, प्रधाननियम हैं, स्वध्व्यस्तपरमासन हैं, प्राणायामचण हैं, सिद्धप्रत्याहार हैं, जितेन्द्रिय हैं, धारणाधीश्वर हैं, धर्मध्याननिष्ठ हैं, समाधिराट् हैं, स्फुरत्समरसीभाव हैं, एकी हैं और करणनायक हैं ॥ ७२-७४ ॥

व्याख्या—हे स्वामिन, आपके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्ग योग पाया जाता है, अतः आप योगी हैं (१) । आपका निर्वेद अर्थात् संसार, शरीर और भोगसे वैराग्य मुख-कमलके विकाससे ही प्रगट है, अतः आप प्रव्यक्तनिर्वेद हैं (२) । साम्य, समाधि, स्वास्थ्य, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग; ये सब एकार्थवाचक नाम हैं । आप शुद्धोपयोगरूप साम्यभावके आरोहणमें तत्पर हैं, उसमें तन्मय हैं, इसलिए साम्यारोहणतत्पर कहलाते हैं (३) । सर्वजीवोंमें समताभावरूप परिणामको और सर्व सावद्ययोगके त्यागको साम्यायिक कहते हैं । इस प्रकारकी साम्यायिक आपके पास जाती है, इसलिए साम्यायिकी कहलाते हैं । अथवा सा नाम लक्ष्मीका है, उसे जो मायारूप मानते हैं, ऐसे साधुजनोंको साम्याय कहते हैं । उनके धारण करने वाले गणधर समूहको साम्यायिक कहते हैं । आपके गणधरोंका समुदाय पाया जाता है, इसलिए भी आप साम्यायिकी कहलाते हैं (४) । समय अर्थात् जैनधर्ममें आप युक्त हैं, अतः आप साम्यायिक कहे जाते हैं (५) । आप सर्व प्रकारके प्रमादोंसे रहित हैं, इसलिए निःप्रमाद कहलाते हैं (६) । किये हुए दोषोंके निराकरणके प्रतिक्रमण कहते हैं, आप सर्व प्रकारके दोषोंसे रहित हैं, अतः अप्रतिक्रम हैं (७) । पाप, विषय, कषायोंके यावज्जीवन त्यागको यम कहते हैं और उसके योगसे आप भी यम नामसे पुकारे जाते हैं (८) । आत्म-नियमनरूप नियम आपके प्रधान है, अतः प्रधाननियम कहलाते

परमा लक्ष्मीत्वां अत्यति त्वजति निःक्रमणकाले यः स तयोक्तः । प्राणायामे कुम्भक-पूरक रेचकादिलक्षणै वायुप्रचारे चणो विचक्षणः प्रवीणः प्राणायामचणः । विन्दे चंचु चणौ इति तद्वितः चण-प्रत्ययः । सिद्धः प्राप्तिमायातः प्रत्याहारः पूर्वोक्तनिर्विषयबीजाक्षरं ललाटे स्थापनं मनो यस्य । जितानि विषयसुख-परङ्मुखीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शनं रसन-प्राण-चक्षु-श्रोत्रलक्षणानि येन स तयोक्तः ॥ ७३ ॥ धारणा पूर्वोक्ता पंचविधा, तस्यां अर्धाक्षरः समर्थः । अथवा धारणा जीवानां स्वर्ग-मोक्षयोः स्थापना, उल्पा धीबुद्धिधारणाधीः, भव्यजीवानां स्वर्गं मोक्षे च स्थापनाबुद्धिरतस्या ईश्वरो रक्षणयदानसमर्थः, तद्विना तद्विषयं न मत्तीति कारणात् । धारणाधीश्वरः मोक्षहेतुरक्षत्रयबुद्धिदायक इत्यर्थः । धर्मध्याने आत्माया-विपाकर्वस्थानविचयलक्षणं न्यतिरायेन तिष्ठतीति । समाधिना शुद्धध्यानेन केवलज्ञानलक्षणेन राजते शोभते । स्फुरन् चित्ते चमत्कुर्वन् समरसीभावः, सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धे कस्वभावा इति परिणामः समरसीभावो यस्य । अथवा स्फुरन् आत्मनि समरसीभाव एकलोलोभावो यस्य स तयोक्तः, एक एव अद्वितीयः संकल्पविकल्प-रहित आत्मा विद्यते यस्य स । अथवा एके एक सहशा आत्मानो जीवा विद्यन्ते यस्य स एकी । करणानां पंचाननिन्द्रियाणां मनःषष्ठानां स्व-स्वविषयगमननिषेधे नायकः समर्थः । अथवा करणशब्देन परिणामा उच्यन्ते, तेषां त्रिविधानामपि नायकः प्रवर्तकः ॥७४॥

हैं (६) । परम अर्थात् उत्कृष्ट आसनका आपने अच्छी तरह अभ्यास किया है, यही कारण है कि आप आठ वर्ष और अन्तमूहूर्त्तसे कम एक कोटि वर्ष-पर्यन्त एक पद्मासनसे बैठे हुए ही भव्यजीवोंको धर्मोपदेश देते रहते हैं, इसलिए आप स्वभ्यस्तपरमासन कहलाते हैं । अथवा निरुक्तिके बलसे यह भी अर्थ निकलता है कि अच्छी तरह भोगी गई पर अर्थात् श्रेष्ठ मा-लक्ष्मी का भी आप आसन अर्थात् निराकरण करते हैं, दीक्षा-कालमें उसे छोड़ देते हैं (१०) । पूरक, रेचक, कुम्भकादिलक्षण वायुप्रचार-निरोधस्वरूप प्राणायाममें आप चण अर्थात् प्रवीण हैं, इसलिए प्राणायामचण हैं (११) । पंचेन्द्रियों के विषयोंसे मनको खींचकर ललाटेपर 'अहं' इस बीजाक्षर के ऊपर उसे स्थिर करने को प्रत्याहार कहते हैं । आपको यह प्रत्याहारनामक योगका पांचवां अंग भी सिद्ध हो चुका है, अतः सिद्ध प्रत्याहार कहलाते हैं (१२) । आपने पांचों इन्द्रियोंको जीत लिया है, अर्थात् आप विषयसुखसे परा-न्मुख हैं और आत्मसुखमें लवलीन हैं, अतः जितेन्द्रिय हैं (१३) । पार्थिवी, आग्नेयी, मास्तुती, वायुणी और तात्विकी इन पांचों धारणाओंके, अथवा उनके धारक योगियोंके आप स्वामी हैं, अतः योगके छठे अंग धारणा पर विजय प्राप्त करनेके कारण आप धारणाधीश्वर कहलाते हैं । अथवा जीवोंको संसारसे उठाकर मोक्षमें स्थापित करनेकी बुद्धिको धारणाधी कहते हैं, ऐसी बुद्धि और उसके धारकोंके आप ईश्वर हैं, इसलिए भी धारणाधीश्वर कहलाते हैं (१४) । आपने चतुर्विध धर्मध्यान को भली भांति सिद्ध किया है, अतः धर्मध्याननिष्ठ कहलाते हैं (१५) । आत्मस्वरूपमें जल-भरे घड़ेके समान निश्चल होकर अवस्थित होनेको समाधि कहते हैं । आप इसप्रकार योगके अष्टम अंगरूप समाधिमें भली भांतिसे विराजमान हैं, अतः समाधिराट् कहलाते हैं (१६) । सर्व जीव शुद्ध बुद्धस्वरूप एक समान स्वभाववाले हैं, इस प्रकारके परिणामको समरसी भाव कहते हैं । आपके सर्वाङ्गमें यह स्फुरायमान है, अतः आप स्फुरत्समरसीभाव कहलाते हैं । अथवा आत्मामें सम-रस हो करके एक लोली-भावसे स्थिर होनेको भी समरसीभाव कहते हैं । आपमें यह समरसीभाव पूर्णरूपसे स्फुरित है (१७) । आप सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित एक हैं अर्थात् पर-बुद्धिसे रहित हैं, इसलिए एकी कहलाते हैं । अथवा आपके मतमें सर्व जीव एक समान शक्तिके धारक हैं (१८) । करण अर्थात् पांचों इन्द्रिय और मनको बशमें करनेके कारण आप आप उनके स्वामी हैं अतः करणनायक कहलाते हैं । अथवा करण नाम अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिबृत्तिकरण परिणामोंका भी है, आप इनके प्रवर्तक हैं; इसलिए भी करणनायक कहलाते हैं (१९) ।

निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्रः ऋषिः साधुर्षेतिमुनिः । महर्षिः साधुर्धैर्येवो यतिनाथो मुनीश्वरः ॥७२॥
 महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महाव्रती । महाक्षमो महाक्षीलो महाहान्तो महादमः ॥७३॥
 निर्लेपो निर्ग्रमस्वान्तो धर्माध्यक्षो दयाध्वजः । ब्रह्मयोगिः स्वर्गबुद्धो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्वविदः ॥७४॥

निर्ग्रन्थानां चतुर्विधदुर्नीनां नाथः । योगिनां ध्यानिनामिन्द्रः स्वामी । 'रिषी ऋषी गतौ' ऋषति गच्छति बुद्धिऋद्धिं च (लौ) पचार्द्धं विक्रियाद्धिं प्राप्नोतीति ऋषिः । गृन्नाभ्युपधा क्तिः । साधयति रत्नत्रय-मिति, कृ वा पा निर्गमरदि साध्यं शू दधमि जनि चरि चटिभ्य उष् । यतते यत्नं करोति रत्नत्रये, सर्व-धातुभ्य इः । मन्यते जानाति प्रत्यक्षप्रमाणेन चराचरं जगदिति मुनिः, मन्यते किरत उच्च । महांश्वासी ऋषिः ऋद्धिसम्बन्धः । साधूनां रत्नत्रयसाधकानां धुरि नियुक्तः, स्व्यभ्यांदरेयण् । यतीनां निःकषायायां नाथ स्वामी । मुनीनां प्रत्यक्षगानिनामीश्वरः ॥७५॥ महाश्वासी दुनि । प्रत्यक्षशानी । मुनिषु शानिषु भवं मौनं । मौनं विद्यते यस्य स मौनी, महांश्वासी मौनी महामौनी । कर्षसहस्रपर्यन्तं खल्यादिनाथो न धर्मनुपादि-देश, ईदृश स्वामी महामौनी भण्यते । ध्यानं धर्म्य-शुक्लध्यानद्वयं विद्यते यस्य स ध्यानी, महांश्वासी ध्यानी च महाध्यानी । व्रतानि प्राणायामपातपरिहारानृतवचनपरित्यागाचौर्यब्रह्मचर्याकिंचन्यरजनीभोजन-परिहारलज्जानि विद्यन्ते यस्य स व्रती । महान् इन्द्रादीनां पूज्यो व्रती महाव्रती । महती अनन्यसाधारण्या-त्तमा प्रशमो यस्य । महान्ति अष्टादशसहस्रगणानि शीलानि अतरक्षणापाया यस्य स । महांश्वासी शान्तो

अर्थ—शीलेश्वर, आप निर्ग्रन्थनाथ हैं, योगीन्द्र हैं, ऋषि हैं, साधु हैं, यति हैं, मुनि हैं, महर्षि हैं, साधुर्धैर्य हैं, यतिनाथ हैं, मुनीश्वर हैं, महामुनि हैं, महामौनी हैं, महाध्यानी हैं, महा-व्रती हैं, महाक्षम हैं, महाक्षील हैं, महाशान्त हैं, महादम हैं, निर्लेप हैं, निर्ग्रमस्वान्त हैं, धर्मा-ध्यक्ष हैं, दयाध्वज हैं, ब्रह्मयोगि हैं, स्वर्गबुद्ध हैं, ब्रह्मज्ञ हैं, और ब्रह्मतत्त्वविद हैं ॥७५-७७॥

व्याख्या—हे निर्ग्रन्थेश, निर्ग्रन्थ अर्थात् अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहसे रहित ऐसे ऋषि, यति, मुनि और अनगर इन चार प्रकारके, अथवा पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पांच प्रकारके निर्ग्रन्थोंके आप नाथ हैं, इसलिए निर्ग्रन्थनाथ कहलाते हैं (२०) । योगको धारण करनेवाले ऐसे ध्यानी पुरुषको योगी कहते हैं, उनमें आप इन्द्रके समान प्रभावशाली हैं, अतः योगीन्द्र कहलाते हैं (२१) । बुद्धि, विक्रिया, औपधि आदि सर्व ऋद्धियोंको प्राप्त करनेसे आप ऋषि कहलाते हैं । अथवा सर्व लोशराशियोंका आपने रेषण अर्थात् निरोधरूप संवरण कर दिया है, इसलिए भी आप ऋषि कहलाते हैं (२२) । रत्नत्रयको सिद्ध करनेके कारण साधु हैं (२३) । पूर्ण रत्नत्रय धर्ममें अथवा मोक्ष प्राप्तिमें सदा यत्नशील हैं, अतः यति हैं । अथवा पातिकर्मरूप पापोंका नाश कर चुकने पर भी अघाति-कर्मरूप अवशिष्ट पापोंके नाश करनेके लिए भी सतत प्रयत्न करते हैं, इसलिए भी यति कहलाते हैं (२४) । मन् धातु जाननेके अर्थमें प्रयुक्त होती है । आप प्रत्यक्ष ज्ञानसे चराचर जगत्को जानते हैं, इसलिए मुनि कहलाते हैं (२५) । ऋद्धि-सम्पन्न ऋषियोंमें आप महान् हैं, अतः महर्षि कहलाते हैं (२६) । रत्नत्रयकी साधना करनेवालेको साधु कहते हैं, आप उनमें धैर्य अर्थात् अग्रसर हैं, अतः साधुर्धैर्य कहलाते हैं (२७) । कषायोंके नाश करनेमें उद्यत साधुओंको यति कहते हैं । आप उनके नाथ हैं, अतः यतिनाथ कहलाते हैं (२८) । आप मुनियोंके ईश्वर हैं, अतः मुनीश्वर हैं (२९) । मुनियोंमें महान् हैं, अतः महामुनि कहलाते हैं । (३०) । मौन धारण करनेवालोंमें महान् होनेसे आप महामौनी कहलाते हैं । भगवान् आदिनाथने एक हजार वर्षपर्यन्त मौन धारण किया था (३१) । शुक्लध्यान नामक महाध्यानके ध्याता होनेसे महाध्यानी कहलाते हैं (३२) । महान् व्रतोंके धारण करनेसे महाव्रती हैं । अथवा इन्द्रादिकोंसे पूज्य महान् व्रती हैं, इसलिए भी महाव्रती कहलाते हैं (३३) । दूसरोंमें नहीं पाई जानेवाली ऐसी महाक्षमके धारण करनेके कारण महाक्षम कहलाते हैं (३४) । शील अर्थात् ब्रह्मचर्यके महान् १८००० अठारह हजार भेदोंके धारण करनेसे महाशील कहलाते हैं (३५) । राग-द्वेषरूप कषाय

पूतात्मा स्वात्मको दान्तो भदन्तो वीतमत्सरः । धर्मवृत्तायुषोऽधोऽध्वः प्रपूतात्माऽमृतोद्भवः ॥७८॥
मंत्रमूर्तिः स्वसौम्यात्मा स्वतंत्रो ब्रह्मसंभवः । सुप्रसन्नो गुणाम्भोधिः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥७९॥

रागद्वेषरहितः । महान् दमस्तपःक्लेशरहिष्युता यस्य स तथोक्तः ॥७६॥ निर्गतो निर्गदो लेपः पापं कर्ममल-
कलंको यस्य । निर्भ्रमं तत्त्वे भ्रान्तिरहितं स्वान्तं मनो यस्य स तथोक्तः । शंशय-विभ्रमरहित-वप्रकाशक
इत्यर्थः । धर्मं चारित्र्ये अश्वत्थः अधिकृतः अधिकारी नियोगवान्, नियुक्तो न कमपि धर्मविध्वंसं कर्तुं
ददाति । दया ध्वजा पताका यस्य । अथवा दयाया अश्वनि मार्गं जायते योगिनां प्रत्यक्षो भवतीति ।
अथवा दया ध्वजा लाङ्घनं यस्य स तथोक्तः । ब्रह्मण्यरतपसो ज्ञानस्यात्मनो मोक्षस्य चारित्र्यस्य वा योनि-
रत्यतिस्थानं । स्वयं आत्मना गुह्यमन्तरेण बुद्धो निवेदं प्राप्तः । ब्रह्मण्यमात्मानं शानं तपश्चारित्रं मोक्षं च
जानातीति । ब्रह्मणो मोक्षस्य ज्ञानस्य तपश्चारित्रस्य च तत्त्वं स्वरूपं हृदयं मर्मवेत्तीति ज्ञानातीति ॥७७॥

पूतः पवित्रः कर्ममलकजंकरहितः आत्मा स्वभावो यस्य । स्नातः कर्ममलकलंकरहितः प्रत्यकर्म-
भावकर्म-नोकर्मरहितत्वात् । पूतः प्रक्षालितः क आत्मा स्वयं यस्य स तथोक्तः । उक्तं च—

पुलाकः सर्वशालज्ञो बकशो भव्यबोधकः । कुरीले स्तोत्रचारित्रं निर्मन्थो मन्थाहारकः ।

और संकल्प-विकल्पसे रहित होनेके कारण महाज्ञान कहलाते हैं । अथवा कर्ममल-कलंकेसे रहित
हैं, इसलिए भी महाज्ञान कहलाते हैं । अथवा 'श' नाम सुखका और अन्त नाम धर्मका है ।
आत्मस्वभावको धर्म कहते हैं । आपका आत्मस्वभाव महान् सुखस्वरूप है, इसलिए भी महा-
ज्ञान कहलाते हैं । अथवा आपने परिग्रहकी लृप््यारूप महा आशाका अन्त कर दिया है, इस
प्रकारकी निरुक्तिके अनुसार भी आप महाज्ञान सिद्ध होते हैं (३६) । कर्मायोंके दमन और
कष्टोंके सहन करनेको दम कहते हैं । आपने ज्वंघ परीपह और घोर उपसर्गोंको भी बड़ी शान्तिके
साथ सहन किया है, अतः महादमके नामसे पुकारे जाते हैं । अथवा 'द' शब्द दान, पालन,
दया आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप त्रैलोक्यके प्राणियोंको अभय दान देकर उनका
पालन करते हैं, इसलिए भी आप महादम अर्थात् महान् दाता हैं (३७) । कर्ममलकलंके रूप
लेपसे आप रहित हैं, अतः निर्लेप हैं (३८) । आपका स्वान्त अर्थात् चित्त संशय, विपर्यय और
अन-श्वसयारूप भ्रमसे रहित है, अतः निर्भ्रमस्वान्त हैं (३९) । रत्नत्रयरूप धर्मका अधिकारपूर्वक
प्रचार करते हैं, इसलिए धर्माध्यक्ष कहलाते हैं । अथवा धर्म-प्रचार और संरक्षणरूप आधि
अर्थात् मानसिक चिन्तनवनमें आपका अक्ष अर्थात् आत्मा निरत है, इसलिए भी आप धर्माध्यक्ष
कहाते हैं (४०) । दयारूप ध्वजाके धारण करनेसे दयाध्वज कहलाते हैं । अथवा दयाके अध्व
अर्थात् मार्गमें जो चलते हैं ऐसे योगियोंको दयाध्व कहते हैं, उनके हृदयमें आप जन्म लेते हैं,
अर्थात् उन्हें ही प्रत्यक्ष होते हैं, अन्यको आपका साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए भी आप
दयाध्वज कहलाते हैं (४१) । ब्रह्मशब्द आत्मा, ज्ञान, मोक्ष, और चारित्रका वाचक है । आप
इस सबकी योनि अर्थात् उत्पत्तिके आधार हैं, इसलिए साधुजन आपको ब्रह्मयोनि कहते हैं (४२) ।
बिना किसी गुरुके स्वयं ही बोधको प्राप्त हुए हैं, इसलिए स्वयंबुद्ध हैं (४३) । ब्रह्म अर्थात् ज्ञान,
तप, चारित्र और आत्माको जानते हैं इसलिए ब्रह्मज्ञ हैं (४४) । ब्रह्मके तत्त्व अर्थात् स्वरूप,
रहस्य, हृदय या मर्मको जानते हैं, इसलिए ब्रह्मतत्त्ववित् कहलाते हैं (४५) ।

अर्थ—हे पतित-भावन, आप पूतात्मा हैं, स्नातक हैं, दान्त हैं, भदन्त हैं, वीतमत्सर हैं,
धर्म-वृत्तायुध हैं, अधोऽध्व हैं, प्रपूतात्मा हैं, अमृतोद्भव हैं, मंत्रमूर्ति हैं, स्वसौम्यात्मा हैं, स्वतंत्र
हैं, ब्रह्मसंभव हैं, सुप्रसन्न हैं, गुणाम्भोधि हैं और पुण्यापुण्यनिरोधक हैं ॥७८-७९॥

व्याख्या—पूत अर्थात् कर्ममलकलंकेसे रहित पवित्र आपका आत्मा है, अतः आप
पूतात्मा हैं (४६) । स्नात अर्थात् द्रव्य, भाव और नोकर्मरूप लेपसे रहित हो जानेके कारण प्रक्ष-

स्नातः केवलज्ञानी शेषा सर्वे तपोधनाः । दान्तः तपःकेशसहः । अथवा दो दानं अभयदानं अन्तः स्वभावो यस्य स दान्तः । भदन्त इन्द्रचन्द्रधरशेन्द्रमुनीन्द्रादीनां पूष्यपर्यायत्वाद्भदन्तः । वीतो विनष्टो मत्सरः परेषां शुभकर्मद्वेषो यस्य (स तथोक्तः,) अज्ञेर्वी । धर्म एव वृत्तः स्वर्ग-मोक्षफलदायकत्वात्, स एवायुधं प्रहरणं कर्मशत्रुनिपातनात् । धर्मवृत्त आयुधं यस्य स तथोक्तः । न क्षोभयितुं चारित्र्यात्कल्पितं शक्यः । अथवा अज्ञेय केवलज्ञानेन उभ्यते प्रेष्यते अज्ञोभ्यः । प्रकर्षणं पूतः पवित्र आत्मा यस्य स तथोक्तः । अथवा प्रपुनाति प्रकर्षेण पवित्रयति भव्यजीवान् प्रपूः, पवित्रकारकः विद्वत्परमेष्ठी । तस्य ता लक्ष्मीः अनन्त चतुष्टयं तथा उपलक्षित आत्मा स्वभावो यस्य स प्रपूतात्मा विद्वत्स्वरूप इत्यर्थः । अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र तत् अमृतं मोक्षः, तस्य उद्भव उत्पत्तिर्भव्यानां दरमादभावमृतोद्भवः ॥७८॥ मंत्रः सताक्षरो मंत्रः, स एव मूर्तिः स्वरूपं यस्य । स्वनात्मना स्वयमेव परोपदेशं विनैव सौम्योऽङ्गूरः आत्मा स्वभावो यस्य स तथोक्तः । न पराधीनः स्वः आत्मा तत्रं शरीरं यस्य । ब्रह्मणः आत्मनश्चात्रित्य शानस्य मोक्षश्च च संभव उत्पत्तिर्यत्मास्य तथोक्तः । सुष्टु अतिशयेन प्रवक्षः प्रवक्षितवदनः, स्वर्ग-मोक्षवरदायको वा । गुणानां

लित है 'क' अर्थात् आत्मा जिनकी; ऐसे आप हैं, अतः स्नातक कहलाते हैं (४७) । तपश्चरणके महाकृशको सहन करते हैं, अतः दान्त कहलाते हैं । अथवा द अर्थात् अभयदान देना ही आपका अन्त अर्थात् स्वभाव है (४८) । आपकी अहर्निश-अद्यस्था इन्द्र, चन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र मुनीन्द्र आदिकोंके द्वारा पूष्य है, अतः आप भदन्त कहलाते हैं (४९) । आप मत्सरभावसे सर्वथा रहित हैं, अतः वीतमत्सर हैं (५०) । आपका धर्मरूपी वृत्त भव्यजीवोंके स्वर्ग-मोक्षरूपी फल प्रदान करता है और वह धर्मवृत्त ही आपका आयुध है, धर्मरूप शत्रुओंको मारनेके लिए शास्त्रका कार्य करना है, अतः आप धर्मवृत्तयुध कहलाते हैं (५१) । आप किसी भी बाहिरि या भीतरी शत्रुसे क्षोभित नहीं किये जा सकते हैं इसलिए अज्ञोभ्य कहलाते हैं । अथवा अज्ञ अर्थात् केवलज्ञानसे आपका आत्मा परिपूर्ण है इसलिए अज्ञोभ्य कहे जाते हैं (५२) । आपका आत्मा प्रकर्षरूपसे पवित्र है, इसलिए आप प्रपूतात्मा हैं अथवा जो भव्यजीवोंको प्रकर्षरूपसे पवित्र करते हैं, ऐसे सिद्धोंको 'प्रपू' कहते हैं उनकी 'ता' अर्थात् अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे आपका आत्मा उपलक्षित है, अतः आप प्रपूतात्मा कहलाते हैं (५३) । जहां पर मरण नहीं है, ऐसे मोक्षधामको अमृत कहते हैं, उसका उद्भव अर्थात् उत्पत्ति भव्यजीवोंको आपके निमित्तसे होती है अतः आपको अमृतोद्भव कहते हैं । अथवा मृत नाम मरणका है और उद्भव नाम उत्पत्ति अर्थात् जन्मका है । आपके अब जन्म और मरण दोनोंका ही अभाव है अतः अमृतोद्भव नाम भी आपका सार्थक है (५४) । 'णमो अरहताणं' इन सात अक्षरोंको मन्त्र कहते हैं, यही आपकी मूर्ति है दूसरी कोई मूर्ति नहीं है अतः आप मंत्रमूर्ति कहे जाते हैं अथवा मन्त्रनाम स्तुतिका है । स्तुतिकारोंको ही आपकी अलक्ष्य मूर्तिका साक्षात्कार होता है, इसलिए भी आप मंत्रमूर्ति कहलाते हैं । अथवा ब्राह्मण वेदके चालीस अध्यायोंको मंत्र कहते हैं । किन्तु वे मंत्र पशुयज्ञादि उपदेश देनेसे पापरूप हैं, निर्दयताके प्ररूपक हैं; अतः उन्हें हिंसा-विधायक होनेसे मूर्तिरूप अर्थात् कठिन या कठोर आपने बतलाया है (५५) । परोपदेशके विना स्वयमेव ही आपका आत्मा अत्यन्त सौम्य है, दयालु-स्वभाव है, अतः आप स्वसौम्यात्मा हैं (५६) । तन्त्र शब्द करण, शास्त्र, परिच्छद, औषधि, कुटुम्ब, प्रधान, सिद्धान्त आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आपका आत्मा ही उन सब अर्थोंमें व्याप्त है, अर्थात् आप ही शास्त्रस्वरूप हैं, औषधिरूप हैं, इत्यादि । अतएव आप स्वतंत्र हैं (५७) । ब्रह्मशब्द आत्मा, ज्ञान, चारित्र्य आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आपसे ज्ञान, चारित्र्य, मोक्ष अदिकी संभव अर्थात् उत्पत्ति हुई है, अतएव आप ब्रह्मसंभव कहलाते हैं (५८) । आप सदा अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं और अर्थोंको स्वर्ग-मोक्षके दाता हैं, अतएव सुप्रसन्न कहलाते हैं (५९) । अनन्त ज्ञान, दरीन,

सुसंवृत्तः सुगुह्यात्मा सिद्धात्मा निरूपणः । महोदकं महोपायं जगदेकपितामहः ॥८०॥
महाकारुणिको गुण्यो महाक्लेशकुशः शुचिः । अरिजय सदायोगः सदाभोगः सदाधृतिः ॥८१॥

अनन्तकेवलज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्तवीर्य-अनन्तवीर्य-सम्यक्त्व-अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रमाणात्त्व- प्रमेयत्व-चैतन्या-
दीनां अनन्तगुणानां अम्भोधिः समुद्रः । पुण्यापुण्ययोर्निरोधको निषेधकारकः ॥७९॥

सुप्तु अतिशयेन संवृणोति स्म, अतिशयबद्धिशिष्टसंवरयुक्त इत्यर्थः । सुप्तु अतिशयेन गुप्तः आसन्नं
विशेषाद्यामगम्यः आत्मा दंकोत्कीर्णशयकैकत्वभावः आत्मा जीवो यस्य । सिद्धो हस्तप्राप्तिसाम्यातः आत्मा
जीवो यस्य । निर्गतो निर्गद्यो मूलादुन्मूलितः समूलकार्प कपितः उपप्लवः उत्पातः उपसर्गो यस्य स तथोक्तः,
तपोविघ्नरहितः पद्ममिदूरः । महान् सर्वकर्मनिर्मोक्षलक्षणः अनन्तकेवलज्ञानादिलक्षण उदकः उत्तरफलं
यस्य । महान् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यतपोलक्षण उपयो मोक्षस्य यस्य स तथोक्तः । जगतामघोमध्योर्ध्वलोक-
स्थितमव्यलोकानामेकोऽद्वितीयः पितामहः जनकजनको हितकारकत्वात् ॥८०॥ कल्याणां सर्वजीवदयायां नियुक्तः
कारुणिकः । महाश्र्वाली कारुणिको महाकारुणिकः, सर्वदेव मर्यानिषेधक इत्यर्थः । गुणेषु पूर्वोक्तेषु चतुर-
शीतिलक्षणख्येषु नियुक्तः आधुर्वा । महान् तपः संयमपरीपहसहनादिलक्षणो योऽतो क्लेशः कृच्छं स एवाकुशः
शुचिर्मत्तमनोगजेन्द्रोन्मत्तानिषेधकारकत्वात् । (शुचिः) परमपवित्रः । अरीन् अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहमहाराजन्
जयति निर्मूलकार्प कर्ततीति । सदा सर्वकालं योगो आसंसात्मलक्षणमलक्षणं परमशुद्धध्यानं यस्य । सदा सर्व-
कालं भोगो निजशुद्धबुद्धकैत्वभावपरमात्मैकलोलीभावलक्षणपरमानन्दामृतसत्त्वादत्त्वभावो भोगो यस्य ।
सदा सर्वकालं धृतिः सन्तोषो यस्य ॥८१॥

सुख, धीर्वादि गुणोंके अम्भोधि अर्थात् समुद्र हैं, अतः गुणम्भोधि कहलाते हैं (६०) । पुण्यरूप
शुभकर्म और अपुण्यरूप पापकर्मोंका आपने निरोध कर पूर्ण संवरको प्राप्त किया है, अतएव आप
पुण्यापुण्यनिरोधक कहलाते हैं (६१) ।

अर्थ—हे करुणासागर, आप सुसंवृत्त हैं, सुगुह्यात्मा हैं, सिद्धात्मा हैं, निरूपणत्व हैं, महो-
दक हैं, महोपाय हैं, जगदेकपितामह हैं, महाकारुणिक हैं, गुण्य हैं, महाक्लेशकुश हैं, शुचि हैं,
अरिजय हैं, सदायोग हैं, सदाभोग हैं, और सदाधृति हैं ॥८०-८१॥

व्याख्या—आपका आत्मा पूर्णरूपसे संवर को प्राप्त हो चुका है अतः आप सुसंवृत्त हैं
(६२) । आपका आत्मा सुगुह्य अर्थात् सर्व प्रकारसे सुरक्षित है, किसी भी प्रकारके आसन्नके गम्य
नहीं हैं, अतः आप सुगुह्यात्मा हैं (६३) । आपको आत्मा सिद्ध हो गया है, अथवा आपका आत्मा
सर्व कर्मोंसे रहित सिद्धस्वरूप है, अतः आप सिद्धात्मा हैं (६४) । उपप्लव अर्थात् उत्पात, उपसर्ग
उपद्रव आदिसे आप सर्वथा रहित हैं, अतः निरूपणत्व कहलाते हैं । अथवा भूख, प्यास, शोक, मोहन,
जन्म, और मृत्यु इन छह ऊर्मियोंको भी उपप्लव कहते हैं । आप उनसे रहित शुद्ध शिवस्वरूप हैं
(६५) । सर्व कर्म-विप्रमोक्षलक्षण और अनन्त केवलज्ञानादि स्वरूप महान् उदक अर्थात् उत्तरफल
को प्राप्त हैं, अतः महोदक कहलाते हैं (६६) । सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्यस्वरूप मोक्षके महान् उपाय
के प्राप्त कर लेनेसे आप महोपाय कहलाते हैं (६७) । सर्व जगत्के एकमात्र पितामह अर्थात् परम
हितैषी हैं, अतः जगदेकपितामह हैं (६८) । महान् दयालु स्वभाव होनेसे महाकारुणिक कहलाते हैं
(६९) । बौरासी लाख उत्तर गुणोंसे युक्त हैं, अतः गुण्य कहलाते हैं (७०) । महान् क्लेशरूप गजों
को जीतनेके लिए अंशुशके समान हैं, अतः महाक्लेशकुश हैं (७१) । आप जन्मकालसे ही मल-मूत्र
से रहित हैं, अन्तरंग-बहिर्गं सर्व प्रकारके पापोंसे निलिप्त हैं, परम ब्रह्मचर्यसे युक्त हैं और निज
शुद्ध-बुद्धकैत्वभावरूप परम पवित्र तीर्थमें निर्मल भावनारूप जलसे आपका अन्तःकरण अति पवित्र
है, अतः आप शुचि कहलाते हैं (७२) । महान् मोहरूप अरिोंके जीतनेके कारण आप अरिजय
कहलाते हैं (७३) । सदा ही शुक्लध्यानरूप योगसे युक्त हैं, अतः सदायोग कहलाते हैं (७४) ।

परमौदासिताऽनाश्वान् सत्याशीः शान्तनायकः । अपूर्ववैद्यो योगज्ञो धर्ममूर्तिरधर्मधक् ॥८२॥

परम उच्छुद्ध उदासिता, उदास्ते इत्येवंशीलः उदासिता, तून् । उच्छुद्धौदासीनः शत्रु-मित्र-तृण-काचन मध्यस्परिग्राम इत्यर्थः । न आशान न भुक्वान् अनाश्वान् 'वंसुकानौ परोक्षावच, घोषक्योश्च कृति नेट् । अनाश्वान् अनाश्वान्सी अनाश्वानः इत्यादि रूपाणि भवन्ति, अनाशुया अनाशुइत्यामित्यादि च । सत्सु भव्यजीवेषु योग्या सत्या, सत्सु नियोज्या सत्या सद्गुणो हिता वा सत्या । सत्या सफला वा आशोः अन्नयदान-मस्तु इत्यादिरूपा आशीराशीर्वादो यस्य स तथोक्तः । शान्तानां रागद्वेषमोहद्वेषद्वेषानां नायकः स्वामी । वा मोक्षनगरप्रापका वा शान्तोऽङ्कुरः, स चासी नायक स्वामीः वा शरय सुखस्य अन्तो विनाशो यस्मादसौ शान्तः संशयतस्य न आप आगमनं यस्य स शान्तनायकः । न भ्राट् नपादिति नस्य स्थितिः । (क्रिया मंत्रैवधि-लक्षणा विद्यते यस्य स वैद्यः । स वैद्यो लोकानां व्याधिचिकित्सने किमपि फलमभिलषति तेन स वैद्यः सर्वेषा-मपि सपूर्णे दृष्टः भुक्तश्च विद्यते ।) भगवांसु सर्वेषां जन्मप्रभृत्यपि व्याधितानां प्राणिनां नाममात्रेणापि व्याधि-विनाशं करोति, कुष्ठिनामपि शरीरं सुवर्णरालाकातदृशं विदधाति, जन्म-जय-मरणं च मूलादुन्मूलयति तेन भगवान् अपूर्वश्चासौ वैद्यः अपूर्ववैद्यः । योगं धर्मं शुद्धध्यानद्वयं जानात्यनुभवतीति । धर्मस्य चार्चयत्य मूर्तिरकः, धर्मस्याहिंशालक्षणास्य मूर्तिः । अधर्मं हिंसादिलक्षणां पापं स्वस्य परेषां च दहति भस्मीकरोतीति अधर्मधक् ॥८२॥

सर्वदा निज शुद्ध-बुद्धैकस्वभावी परमानन्दामृत-रसास्वादनरूप भोगको प्राप्त हैं, अतः सदाभोग कहलाते हैं (७५) सदाही धृति अर्थात् परम धैर्यरूप सन्तोषको धारण करते हैं, अतः महाधृति कहलाते हैं (७६) ।

अर्थ—हे निरीह, आप परमौदासिता हैं, अनाश्वान हैं, सत्याशीः हैं, शान्तनायक हैं, अपूर्व-वैद्य हैं, योगज्ञ हैं, धर्ममूर्ति हैं और अधर्मधक् हैं, ॥८२॥

व्याख्या—आप शत्रु और मित्रमें परम उदासीनरूपसे अवस्थित रहते हैं, अतः परमौदासिता कहलाते हैं (७७) । आप अशन अर्थात् कथलाहारसे रहित हैं अतः अनाश्वान कहलाते हैं । अथवा आप शश्वत कल्याणके मार्गमें आरूढ हैं और समस्त शत्रुओंके विश्वासपात्र हैं, इसलिये भी अनाश्वान कहलाते हैं (७८) । आपका अभयदानरूप आशीर्वाद सदा सत्य और सफल ही होता है अतः आप सत्याशीः कहलाते हैं (७९) । जिनके राग, द्वेष, मोहादि शान्त हो गये हैं, ऐसे साधुओं के आप नायक हैं, अथवा भव्योंको परम शान्तिरूप मोक्षनगरको प्राप्त करते हैं अतः शान्तनायक कहलाते हैं अथवा श अर्थात् सुखका अन्त करनेवाले संसारका आय अर्थात् आगमन आपके नहीं हैं, पुनरागमनसे आप रहित हो चुके हैं, इसलिये भी आप शान्तनायक कहलाते हैं (८०) । आप जैसा वैद्य आज तक न किसीने देखा है और न सुना है, अतः आप अपूर्ववैद्य हैं । अर्थात् आपका नाम लेने मात्रसे ही रोगियोंके बड़े-बड़े रोग दूर हो जाते हैं, कोढ़ियोंके कुष्ठ-गलित शरीर भी सुवर्ण सट्टा चमकने लगते हैं और जिन जन्म, जरा मरणादि व्याधियोंका अन्य किसी वैद्यने इलाज नहीं कर पाया है, उन्हें आपने सर्वथा सर्वदा के लिए दूर कर दिया है, अतः आपको योगिजन अपूर्ववैद्य कहते हैं (८१) । धर्म और शुक्लध्यानरूप योगके आप ज्ञाता हैं, अथवा कर्माक्षयके कारणभूत मन, वचन, कार्यरूप शुभाशुभ योगके आप जानने वाले हैं, आप ही बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हैं और मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हैं इसलिये योगज्ञ कहलाते हैं (८२) । अहिंशालक्षण या रत्नत्रयस्वरूप धर्मकी आप साक्षात् मूर्ति हैं । अथवा धर्मशब्द न्याय, अचार, कर्तव्य, उपमा, स्वभाव, दान आदि अनेक अर्थोंका भी वाचक है । आप न्याय, कर्तव्य, आदिके मूर्त्तमान रूप हैं, इसलिये भी धर्ममूर्ति कहलाते हैं (८३) । अधर्म अर्थात् हिंसादिलक्षण पापके दहन करनेवाले हैं, इसलिये अधर्मधक् कहलाते हैं (८४) ।

ब्रह्मदे महाब्रह्मपतिः कृतकृत्यः कृतकृतुः । गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रयः ॥८३॥
सूरिः सुनयतत्त्वज्ञो महामैत्रीमयः शमी । प्रचीणबन्धो निर्द्वन्द्वः परमर्षिरनन्तगः ॥८४॥
इति योगिशतम् ।

ब्रह्मणो ज्ञानस्य वृत्तस्य मोक्षस्य च ईदं स्वामी । ब्रह्मण्यां मतिज्ञानादीनां चतुर्णां उपरि वर्तमानं पंचमं केवलज्ञानं महाब्रह्मोच्यते, तस्य पतिः स्वामी । कृतं कृत्यं आत्मकार्यं येन स तथोक्तः । कृतो विहितः कृत्यरथः शक्रादिभिर्यस्य स तथोक्तः । गुणानां केवलज्ञानादीनां वा चतुरस्रीतिलज्ञानाणां आकर उत्पत्तिस्थानं गुणाकरः । गुणान् क्रोधादीन् उच्छेदयतीत्येवंशीलः । अगुणोच्छेदी इति पाठे अगुणान् दोषान् छिनत्ति इति । चक्षुषोः मेघोन्मेषरहितः, दिव्यचक्षुरित्यर्थः । लोचनस्पन्दरहित इति यावत् । निर्गतो निर्नष्टः आश्रयो गृहं यस्मिन्, वा निर्निश्चित आश्रयो निर्वाणपदं यस्य ॥८३॥ सूतेः बुद्धिः सूरिः । भू सू आदिभ्यः किः । ये स्याच्छब्दोपलक्षितास्ते सुनयास्तेषां तत्त्वं मर्मं जानातीति सुनयतत्वज्ञः । महती चाली मैत्री महामैत्री सर्वजीवजीवनबुद्धिः, तथा निर्वृत्तः । शमः सर्वकर्मज्ञयो विद्यते यस्य । समी इति पाठे समः समतापरिणामो विद्यते यस्य । प्रकर्षेण क्षीणः क्षयं गतो बंधो यस्य । निर्गतं द्वन्द्वं कलहो यस्य । परमश्रामौ ऋषिः केवलज्ञानदि संहितः । अनन्तं केवलज्ञानं गच्छति प्राप्नोतीति ॥८४॥ इति योगिशतम् ।

अर्थ—हे स्वामिन, आप ब्रह्मदे हैं, महाब्रह्मपति हैं, कृतकृत्य हैं, कृतकृतु हैं, गुणाकर हैं, गुणोच्छेदी हैं, निर्निमेष हैं निराश्रय हैं, सूरि हैं, सुनयतत्त्वज्ञ हैं, महामैत्रीमय हैं, शमी हैं, प्रचीणबन्ध हैं, निर्द्वन्द्व हैं, परमर्षि हैं और अनन्तग हैं ॥८३-८४॥

व्याख्या—ब्रह्म अर्थात् आत्मा, ज्ञान, चारित्र और मोक्षके आप ईश्वर हैं, अतः ब्रह्मदे कहलाते हैं (८५) । ब्रह्म नाम ज्ञानका है, सर्व ज्ञानोंमें श्रेष्ठ केवलज्ञानको महाब्रह्म कहते हैं, आप उसके पति हैं, अतः महाब्रह्मपति हैं । अथवा महाब्रह्मा नाम सिद्धपरमेष्ठी का है, दीक्षाके अवसरमें आप उन्हें नमस्कार करते हैं, अतः वे आपके स्वामी हैं, इस अपेक्षा भी आप महाब्रह्मपति कहलाते हैं (८६) । करनेके योग्य कार्योंको आपने कर लिया है, अतः आप कृतकृत्य कहलाते हैं (८७) । आपका कृतु अर्थात् पूजन इन्द्रादिकोंने किया है, इसलिए आप कृतकृतु हैं । अथवा भक्तोंके द्वारा की गई आपकी पूजा सदा सफल ही होती है, कमी भी निष्फल नहीं जाती, उन्हें स्वर्ग और मोक्षको देती है, इसलिए भी आप कृतकृतु कहलाते हैं । अथवा आपने कर्मोंको भस्म करनेरूप यज्ञ समाप्त कर लिया है, इससे भी कृतकृतु नाम आपका सार्थक है (८८) । आप छयालीस मूल गुणोंके, अथवा चौरासी लाख उत्तर गुणोंके अथवा ज्ञानादि आत्मिक अनन्त गुणोंके आकर अर्थात् खानि हैं, अतः गुणाकर कहलाते हैं (८९) । क्रोधादि विभावगुणोंके उच्छेद करनेसे गुणोच्छेदी कहलाते हैं । अथवा अगुणोच्छेदी पाठके स्वीकार करनेपर अगुण अर्थात् दोषोंके आप उच्छेदक हैं, इसलिए अगुणोच्छेदी नाम भी आपका सार्थक है (९०) । निर्मेष अर्थात् नेत्रोंके उन्मीलन-निमीलनरूप टिमकारसे आप रहित हैं, अतः निर्निमेष हैं (९१) । आपका आश्रय अर्थात् सांसारिक निवास नष्ट हो चुका है और निर्वाणरूप निश्चित आश्रयको आपने प्राप्त कर लिया है, अतः आप दोनोंही अपेक्षाओंसे निराश्रय सिद्ध होते हैं (९२) । आप भक्तोंके जगत्-उद्धारक बुद्धिको सूते अर्थात् उत्पन्न करते हैं, इसलिए योगिजन आपको सूरि कहते हैं (९३) । स्यात्पदसे संयुक्त नयोंको सुनय कहते हैं । उन नयोंके आप तत्त्व अर्थात् रहस्य या मर्मको जानते हैं इसलिए सुनयतत्त्वज्ञ हैं (९४) । आप महा मित्रतासे युक्त हैं, सर्व जीवोंके सदा हितैषी हैं, अतः महामैत्रीमय कहलाते हैं (९५) । सर्व कर्मोंका क्षय करनेसे शमी कहलाते हैं । 'समी' इस पाठके मानने पर आप समता भावसे युक्त हैं, अतः समी कहलाते हैं (९६) । आपने सर्व कर्मबन्धोंको प्रक्षीण कर दिया है, अतः प्रचीणबन्ध हैं (९७) । आप द्वन्द्व अर्थात् कलह-दुविधासे रहित हैं, अतः निर्द्वन्द्व कहलाते हैं (९८) । केवलज्ञानरूप परम ऋषिसे युक्त हैं अतः परमर्षि कहलाते हैं (९९) । अनन्त केवलज्ञानको प्राप्त किया है, अथवा अनन्त संसारसे परे गमन किया है, अथवा अनन्त पदार्थोंके ज्ञाता हैं, इसलिए आप अनन्तग कहलाते (१००) ।

इस प्रकार षष्ठम योगिशतक समाप्त हुआ ।

अथ निर्वाणशतम्

निर्वाणः सागरः प्राज्ञमहासाधुर्द्वन्द्वितः । विमलाभोऽथ शुद्धाभः श्रीधरो दत्त इत्यपि ॥८२॥

निर्वाणः सः निर्वाणः, सुधीभूतः अनन्तसुखं प्राप्तः । निर्वाणो वा ते इति साधुः । वा निर्गता-
वाणाः शराः कन्दवाणाः यस्मादिति । वा निर्गताः वाणाः सामान्यशरालतुपलक्षणं सर्वयुधानां, निर्वाणः ।
वा वने नियुक्ता वानः, निश्चिन्तो वानो निर्वाणः । यतो भगवान् निःक्रान्तः सन् वनवासी एव भवति,
जिनकल्पत्वात्, न तु स्थविरकल्पिवन् वसत्यादौ तिष्ठति । सा लक्ष्मीगले कण्ठे यस्य स सागरः, अभ्यु-
दय निःश्रेयसलक्ष्मीसमालिङ्गितत्वात् । वा निःक्रमणकल्याणावसरे सा राज्यलक्ष्मीगौरः विषमदृशी अरोचमान-
त्वान् । दत्तः कुशलो हितरत्न साधुश्च्यते । महाभामो साधुर्नृहासाधुः । विमला कर्ममलकलंकरहिता आत्मा
शोभा यन्वति । शुद्धा शुद्धा आत्मा दीतिर्यस्य स तथोक्तः । शुद्धलेख्यो वा । श्रियं वाचां समवसरणलक्षणो-
पलक्षितां, अभ्यन्तरं केवलशानादिलक्षणाय धरतीति । दानं दत्तं, दत्तयोगाद् भगवानपि दत्तः, वाञ्छितफल-
प्रदायक इत्यर्थः ॥८२॥

अर्थ—हे भगवान्, आप निर्वाण हैं, सागर हैं, महासाधु हैं, विमलाभ हैं, शुद्धाभ हैं, श्रीधर हैं और दत्त हैं ॥८२॥

व्याख्या—हे भगवान्, आप कामके वाणोंसे अथवा आकुलताके कारणभूत सर्व प्रकारकी शल्यासे रहित हैं, अतः निर्वाण हैं । अथवा निर्वाण अर्थात् अनन्त सुखको प्राप्त कर लेनेसे आप निर्वाण कहलाते हैं । अथवा वनमें बसनेवाले को वान कहते हैं । जिसका वनमें बसना सर्वथा निश्चित है, उसे निर्वाण कहा जाता है । भगवान् भी घर छोड़नेके पश्चात् जिनकल्पी होकर वनमें ही वास करते हैं (१) । सा नाम लक्ष्मीका है और गर नाम गला या कंठका है । भगवान्के गलेमें अभ्युदय-निःश्रेयसरूप लक्ष्मी आलिङ्गन करती है, अतः आप सागर हैं । अथवा गर नाम विषका भी है । आप दीक्षाके अवसरमें राज्यलक्ष्मीको विषके सदृश हेय जानकर छोड़ देते हैं, इसलिए भी सागर कहलाते हैं । अथवा गर अर्थात् विषके साथ जो वर्तमान हो, उसे सगर कहते हैं, इस निरुक्तिके अनुसार सगर नाम धरणेन्द्रका है, उसके आप सांक्रान्तिक पुत्र हैं, अतः आप सागर कहलाते हैं । ऐसा कहा जाता है कि भगवान् बाल्यावस्थामें सिंहासन पर बैठते हैं, तब धरणेन्द्र उन्हें अपनी गोदमें लेकर बैठता है और सौधमेन्द्र सिंहासनके नीचे बैठकर उनके चरण-कमलोंकी सेवा करता है । अथवा सा अर्थात् लक्ष्मीसे उपलक्षित अग अर्थात् गिरिराज सुमेरुको साग कहते हैं, क्योंकि वह जन्मकल्याणके समय भारी लक्ष्मीसे सम्पन्न होता है । उस लक्ष्मी-सम्पन्न सुमेरुको आप जन्माभिषेकके समय 'राति' अर्थात् स्वीकार करते हैं, इसलिए भी आपका सागर यह नाम सार्थक है । अथवा सा अर्थात् लक्ष्मी जिनकी गत या नष्ट हो चुकी है, ऐसे द्रिद्री जनोको साग कहते हैं, उन्हें आप 'रायति' अर्थात् धन ग्रहण करनेके लिए आह्वान करते हैं और उनका दारिद्र्य-दुःख दूर करते हैं, इसलिए भी आप सागर कहलाते हैं (२) । दत्त, कुशल या हितैषीको साधु कहते हैं । आप महान् कुशल हैं अतः महासाधु हैं । अथवा तीर्थकर जैसा महान् पद पा करके भी आप मुक्तिके देनेवाले रत्नत्रयकी साधना करते हैं, इसलिए भी योगिजन आपको महासाधु कहते हैं (३) । कर्ममलकलंकसे रहित विमल आत्माको धारण करनेसे आप विमलाभ कहलाते हैं । अथवा विशिष्ट मा अर्थात् केवलज्ञानरूप लक्ष्मीका लाभ आपको हुआ है, इसलिए भी आपका विमलाभ नाम सार्थक है । अथवा राहु, केतु आदि ग्रहोंके उपरागसे रहित विमल और कोटि सूर्य-चन्द्रकी आभाको भी तिरस्कृत करनेवाले ऐसे भामेडलको आप धारणा करते हैं, इसलिए भी आप विमलाभ कहलाते हैं (४) । कर्ममलकलंकसे रहित शुद्ध अभा अर्थात् चैतन्य ज्योतिको धारण करनेसे आप शुद्धाभ कहलाते हैं । अथवा शुद्ध अर्थात् शुक्ललेख्यरूप आपकी आत्मा है, इसलिए भी आप शुद्धाभ हैं (५) । बाह्य समवसरण-

अमलाभोऽप्युद्धरोऽग्निः संयमश्च शिवस्तथा । पुण्याजलिः शिवगण उत्साहो ज्ञानसंज्ञकः ॥८६॥
परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधरः । कृष्णो ज्ञानमतिः शुद्धमतिः श्रीमद् ज्ञानलघुक् ॥८७॥
वृषभस्तद्वृद्धितः संभवश्चाभिनन्दनः । मुनिभिः सुमतिः पद्मप्रभः प्रोक्तः सुपारश्वकः ॥८८॥

अविद्यमाना मलस्य पापस्य आभा लेशो यस्य । अथवा न विद्यते मा लक्ष्मीर्यथा ते अमाः, दीन-
दुःस्थित-दरिद्रास्तेषां लाभो धनप्राप्तिर्यस्मादसी अमलामः । उत् ऊर्ध्वस्थाने धरति स्थापयति भव्यजोचानिति ।
अंगति ऊर्ध्व गच्छति त्रंलांक्यायं प्रजाति, ऊर्ध्व क्रत्यास्वभावत्वात् अग्निः, अग्निशुषियुषद्विभ्यो निः । सम्यक्
प्रकारो यमो यावज्जीवव्रतो यस्य । शिषं पत्मकल्याणं तथोगात् पंचकल्याणप्रापकत्वात् शिवः । पुष्पवत्
कनलवत् अजलिः इन्द्रादीनां कसंपुटो यं प्रति स पुण्याजलिः । शिवः श्रेयस्करो गण्यो निर्गन्धादिद्वादश-
भेदः संघो यस्य । सद्गनं राहः, भावे षञ् । उत्कृष्टः साहः सद्गनं परीषदादिद्वयता उत्साहः । ज्ञानं जानाति
विरुधं इति ज्ञानं । कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च कर्त्तारि युट् । वा ज्ञान् पण्डितान् अगति जीवति ज्ञानः । अत्रान्तर्भूत
इन्द्रप्रत्ययः ॥८६॥ परमशाली ईश्वरः स्वामी । त्रिमलः कर्ममलकलकरहितो त्रेत्यनतिचारे वा विमलः, स
चासावांशः । यशः पुण्यगुणकार्त्तनं धरतीति । कर्त्तति मूलादुन्मूलयति निर्मूलकाप कपति धातिकर्मणां धातं
कंपतीति । ज्ञानं केवलज्ञान मतिर्ज्ञानं यस्य । शुद्धा कर्ममलकलकरहिता मतिः सकलाविमलकेवलज्ञानं यस्य ।
भिया अशुद्धय-निःश्रेयसलक्षणाया लक्ष्म्या भद्रो मनोहरः । शान्तिरिति स्म शान्तः रागद्वेषरहित इत्यर्थः ॥८७॥
वृषेणादिसालक्षणापलक्षितेन धर्मेश भाति शोभते । न केनापि काम-क्रोधादिना शत्रुणा जितः अजितः । स
रूप और अन्तरंग अनन्त ज्ञानादिरूप श्री को धारण करनेसे 'श्रीधर' यह नाम भी आपका
साथक है । अथवा श्री से उपलक्षित धरा अर्थात् समवसरणभूमि आपके हैं, इसलिए भी आप
श्रीधर हैं । अथवा श्रीके आप धर अर्थात् निवासभूमि हैं (६) । भक्तोंको बांझित फलके दाता
होनेसे आप दत्त कहलाते हैं । अथवा आप अपनी ही आत्माको ध्यानमें देते हैं अर्थात् लगाते
हैं, इसलिए भी दत्त कहलाते हैं (७) ।

अर्थ—हे परमेश्वर, आप अमलाभ हैं, उद्धर हैं, अग्नि हैं, संयम हैं, शिव हैं, पुण्याजलि
हैं, शिवगण हैं, उत्साह हैं, ज्ञानसंज्ञक हैं, परमेश्वर हैं, विमलेश हैं, यशोधर हैं, कृष्ण हैं,
ज्ञानमति हैं, शुद्धमति हैं, श्रीमद् हैं, शान्त हैं, वृषभ हैं, अजित हैं, संभव हैं, अभिनन्दन हैं,
सुमति हैं, पद्मप्रभ हैं और सुपारश्व हैं ॥८६-८८॥

व्याख्या—हे परम ईश्वर, आपके पापरूप मलकी आभा अर्थात् लेश भी नहीं है, इसलिए
आप अमलाभ कहलाते हैं । अथवा मा अर्थात् लक्ष्मीसे रहित दीन-दरिद्रियोंको अमा कहते हैं, उन्हें
आपके निमित्तसे धनका लाभ होता है, इसलिए भी आप अमलाभ कहलाते हैं । अथवा लक्ष्मीसे
रहित निर्ग्रन्थ मुनियोंको अमा कहते हैं । उन मुनियोंको जो अपने संघमें लेते हैं, ऐसे गणधर-
देवोंको अमल कहते हैं । उन गणधरदेवोंसे आप सर्व औरसे 'भाति' अर्थात् शोभित होते हैं,
इसलिए भी आप अमलाभ कहलाते हैं (८) । आप उत् अर्थात् ऊर्ध्वलोकमें भव्यजोचोको धरते
हैं—स्थापित करते हैं, इसलिए आप उद्धर कहलाते हैं । अथवा आप उत् अर्थात् उत्कृष्ट हर हैं, पापोंके
हरण करनेवाले हैं । अथवा उत्कृष्ट समवसरण-धराको धारण करते हैं । अथवा उत्कृष्ट वेगसे एक
समयमें सात राजु लोकको उल्लंघन करके मोक्षमें प्राप्त होते हैं, इसलिए भी उद्धर कहलाते हैं (९) ।
अग्निके समान ऊर्ध्वगमनस्वभावी हैं, अथवा कर्मरूप काननके दहनके लिए आप अग्निके समान हैं,
अतः अग्नि कहलाते हैं (१०) । यम अर्थात् यावज्जीवनरूप व्रतोंको सम्यक् प्रकार धारण करनेसे साधु-
जन आपको संयम कहते हैं (११) । परम कल्याणरूप होनेसे आप शिव कहलाते हैं । अथवा आप
शिवको करनेवाले हैं और स्वयं शिव अर्थात् मोक्षस्वरूप हैं, शरीरसे युक्त होने पर भी जीवन्मुक्त
हैं, इसलिए भी योगीजन आपको शिव कहते हैं (१२) । इन्द्रादिक देव भक्ति-भारसे नमीभूत होकर
आपके लिए कमल-पुष्पके समान हाथोंकी अजलि बांधे रहते हैं, इसलिए आप पुण्याजलि कहलाते
हैं । अथवा बारह योजन प्रमाण समवसरणभूमिमें विविध कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी वर्षा होनेसे भी इर

समीचीनो भवो जन्म यस्य । शंभव इति पाठे शं मुखं भवति यस्मादिति शंभवः, संपूर्णविभ्य संकायां अच् । अभि समन्तात् नन्दयति निजरूपघटितशयेन प्राज्ञानामानन्दमुत्पादयतीति । शोभना लोकालोकप्रकाशिका मतिः केवलज्ञानलक्ष्योपलक्षिता बुद्धिर्नस्य । पद्मवत् रक्तकमलवत् प्रभा वर्यां यस्य । सुष्ठु शोभने पार्ष्वे वाम-दक्षिणशरीरप्रदेशौ यस्य ॥८८॥

एक व्यक्तिके हस्तमें पुष्पांकी अंजुलि भरी होती है, इसलिए भी आपको लोग पुष्पाञ्जलि कहते हैं (१३) । शिव अर्थात् श्रेयस्कर द्वादश सभारूप गण या संघके पाये जानेसे मुनिजन आपको शिव-गण कहते हैं । अथवा शिवको ही आप साररूपसे गिनते हैं और अन्य सर्व वस्तुओंको असार गिनते हैं, इसलिए भी आप शिवगण कहलाते हैं (१४) । आप उत्कृष्ट परीपहोंके सहन करनेवाले हैं, इसलिए उत्साह कहलाते हैं । अथवा उत्कृष्ट सा अर्थात् मोक्षलक्ष्मीका हनन नहीं करते, प्रत्युत सेवकोंको मोक्षलक्ष्मी प्रदान करते हैं, इसलिए भी आपका उत्साह यह नाम सार्थक है (१५) । जो विद्वको जाने, उसे ज्ञान कहते हैं । ज्ञान ही आपकी संज्ञा अर्थात् नाम है, अतएव आप ज्ञानसंज्ञक कहलाते हैं । अथवा 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञानियोंको आप जीवन देते हैं, अर्थात् ज्ञानियोंके आप ही प्राण हैं, इस अपेक्षासे भी आपका उक्त नाम सार्थक है (१६) । आप परम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट लक्ष्मीके ईश्वर हैं, इसलिए परमेश्वर कहलाते हैं । अथवा 'प' अर्थात् परित्राण करनेवाली, जीवोंके नरकादिगतियोंमें पतनसे रक्षा करनेवाली रमाके आप स्वामी हैं । अथवा 'पर' अर्थात् निश्चय रूपसे आप 'अ' अर्थात् अरहन्त पदको प्राप्त ईश्वर हैं, इसलिए भी योगिजन आपको परमेश्वर कहते हैं (१७) । आप विमल अर्थात् कर्ममल-रहित ईश हैं, अतः विमलेश कहलाते हैं । अथवा 'वि' अर्थात् अघाति कर्मरूप विविध 'म' यानी मलका लेशमात्र पाये जानेसे भी विमलेश यह नाम सार्थक है (१८) । यशको धारण करनेसे आप यशोधर कहलाते हैं (१९) । घातिया कर्मोंको जड़मूलसे कृश करनेके कारण आपको योगिजन कृष्ण कहते हैं (२०) । केवलज्ञानरूप ही आपकी मति है, अतः आप ज्ञानमति कहलाते हैं (२१) । कर्ममलसे रहित शुद्ध मतिको धारण करनेसे साधुजन आपका शुद्धमति कहते हैं (२२) । अभ्युदय और निःश्रयसरूप श्रीसे आप भद्र अर्थात् मनोहर हैं, इसलिए श्रीभद्र कहलाते हैं (२३) । आपके राग-द्वेषादि सब विकारभाव शान्त हो चुके हैं, इसलिए योगिजन आपको शान्त कहते हैं (२४) । अहिसालक्षण वृष अर्थात् धर्मसे आप 'भालि' कहिए शोभित हैं, अतः वृषभ नामसे आप पुकारे जाते हैं (२५) । काम-क्रोधादि किसी भी शत्रुके द्वारा नहीं जीते जा सकनेसे आप अजित कहलाते हैं (२६) । आपका भव अर्थात् जन्म सं कहिए समीचीन है, संसारका हितकारक है । अथवा 'शंभव' पसा पाठ मानने पर शं अर्थात् सुखको भव कहिए उत्पन्न करनेवाले हैं, जगतको सुखके दाता हैं और स्वयं शान्तमूर्ति हैं, इसलिए योगिजन आपको संभव या शंभव नामसे पुकारते हैं (२७) । अभि अर्थात् सर्वप्रकारसे आप जीवोंको आनन्दके देनेवाले हैं, उनके हर्षको बढ़ानेवाले हैं, इसलिए सर्व जगत् आपको 'अभिनन्दन' कहकर अभिनन्दित करता है । अथवा अभी अर्थात् भयसे रहित निर्भय और शान्तिमय प्रदेश आपके समवसरणमें पाये जाते हैं, इसलिए भी आप अभिनन्दन कहलाते हैं (२८) । शोभन और लोकालोककी प्रकाशक मतिके धारण करनेसे आप सुमति नामको सार्थक करते हैं (२९) । पद्म अर्थात् रक्त वर्णके कमलके समान आपके शरीरकी प्रभा है, इससे लोग आपको पद्मप्रभ कहते हैं । अथवा आपके पद् अर्थात् चरणोंमें मा कहिए लक्ष्मी निवास करती है, और उससे आप अत्यन्त प्रभायुक्त हैं, इसलिए भी आपका पद्मप्रभ नाम सार्थक है । अथवा पद्म नामक निधिसे और देव-मनुष्यादिके समूहसे आप प्रकृष्ट शोभायुक्त हैं, इसलिए भी आप पद्मप्रभ कहलाते हैं । अथवा आपके विहारकालमें देवगण आपके चरण-कमलोंके नीचे सुवर्ण कमलोंकी रचना करते हैं, और उनकी प्रभासे आप अत्यन्त शोभित होते हैं, इसलिए भी आप पद्मप्रभ कहलाते हैं (३०) । आपके शरीरके दोनों पार्श्व भाग अत्यन्त सुन्दर हैं, इसलिए आपको साधुजन सुपार्श्व कहते हैं (३१) ।

चन्द्रप्रभः पुष्पदन्तः शीतलः श्रेयान्वाङ्मयः । वासुपूज्यश्च विमलोऽमन्तजित्मर्षं हृत्पिपि ॥८८॥

शान्तिः कुन्धुरो मल्लिः सुव्रतो नमिरप्यतः । नेमिः पार्वी वर्धमानो महावीरः सुवीरकः ॥९०॥

चन्द्रादिप्रकृष्टा कोटिचन्द्रसमाना भा प्रभा यस्य । पुष्पवत् कुन्दकुसुमवत् उज्वला दन्ता यस्य । वा भगवान् छद्मस्थावस्थायां यस्मिन् पर्वततटे तपोध्याननिमित्तं तिष्ठति तत्र वनस्पतयः तरवः सर्वतुपुष्पाणि फलानि च दधति तेन पुष्पदन्तः । शीतो मन्दो लोकगतियस्य । वा शीतं लाति सहते छद्मस्थावस्थायां शीतलः, तदुपलक्षणां उष्णस्य वर्षाणां च त्रिकालयोगवानित्यर्थः । अथवा शीतलः शान्तमूर्तिः अक्रूर इत्यर्थः । वा संसारतापनिवारकशीतलवचनरचनायोगाद्भगवान् शीतल उच्यते । वा शी आशीर्वादः तलः स्वभावो यस्य । अतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् । वासुः शकः, तस्य पूज्यः । वा वेन वरुणेन पवनेन, वा इन्द्रादीनां वृन्देन वा वेन गन्धेन, वा अमन्तात् सुप्तु अतिशयेन पूज्यः । विगतो विनष्टो मलः कर्ममल-कलंको यस्य । अनन्तं संसारं जितवान् । संसारसमुद्रे निमज्जन्तं जन्मुमुक्षुस्य इन्द्र-नेन्द्र-मुनीन्द्रादिते पदे धरतीति । अस्ति हुसु धृत्विषी पदमायास्तुभ्यो मः ॥८८॥ शाम्यतीति सर्वकर्मक्षयं करोतीति शान्तिः । तिकतौ च संशयामाशिपि, संशयां पुङ्गवे तिकू प्रत्ययः । कुञ्चति समीचीनं तपःस्लेशं करोतीति कुन्धुः । ऋगतौ धातुः भ्वाद्यै वर्तते, तत्र अरति गच्छति केवलशनेन लोकालोकं जानातीति अरः, सर्वं गत्यर्थां धातवो शानार्था

अर्थ—हे जगत-श्रेयस्कर, आप चन्द्रप्रभ हैं, पुष्पदन्त हैं, शीतल हैं, श्रेयान् हैं, वासुपूज्य हैं, विमल हैं, अमन्तजित हैं, धर्म हैं, शान्ति हैं, कुन्धु हैं, अर हैं, मल्लि हैं, सुव्रत हैं, नमि हैं, नेमि हैं, पार्व हैं, वर्धमान हैं, महावीर हैं, सुवीर हैं ॥८८-९०॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप चन्द्रमासे भी अधिक प्रकृष्ट अर्थात् कोटि चन्द्रकी आभाके धारक हैं, अतः चन्द्रप्रभ कहलाते हैं (३२) । कुन्द पुष्पके समान उज्वल दन्त होनेसे लोग आपको पुष्पदन्त कहते हैं । अथवा आप छद्मस्थ-अवस्थामें जिस पर्वतपर ध्यान करते थे, उसके सभी वृक्ष फल-फूलोंसे युक्त हो जाते थे, इसलिए भी आप पुष्पदन्त कहलाते हैं (३३) । मन्द गमन करनेसे लोग आपको शीतल कहते हैं । अथवा शीत और उपलक्षणासे उष्ण तथा वर्षाकी बाधाओंको छद्मस्थ-अवस्थामें आपने बड़ी शान्तिसे सहन किया है । अथवा आप अत्यन्त शान्त-मूर्ति हैं । अथवा 'शी' शब्द आशीर्वादका वाचक है और 'तल' शब्द स्वभावका वाचक है । आपका स्वभाव सबको आशीर्वाद देनेका है, इसलिए भी आप शीतल कहलाते हैं (३४) । अत्यन्त प्रशंसाके योग्य होनेसे आप श्रेयान् कहलाते हैं (३५) । वासु अर्थात् इन्द्रके द्वारा पूज्य होनेसे आप वासुपूज्य कहे जाते हैं । अथवा 'व' अर्थात् वरुण, सुगन्धित पवन और इन्द्रादिकोंके वृन्दसे आप अतिशय करके पूजित हैं, इसलिए भी आप वासुपूज्य कहलाते हैं । अथवा 'वा' यह स्त्रीलिंग शब्द 'ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्याय नमः' इस मंत्रका भी वाचक है । आप इस मंत्रके द्वारा योगियोंसे अतिशय करके पूज्य हैं, इसलिए भी ज्ञानी पुरुषोंने आपको वासुपूज्य नामसे पुकारा है (३६) । कर्मरूप मलसे रहित होनेके कारण आप विमल कहलाते हैं । अथवा विशिष्ट भा अर्थात् लक्ष्मीवाले इन्द्रादिकोंको आप अपने प्रभावसे लाकर चरणांमें भुक्ताते हैं । अथवा लक्ष्मीसे रहित निर्भन्ध मुनियोंको अपने संघमें लेते हैं । अथवा जन्मकालसे ही आप मल-मूत्रसे रहित होते हैं, इसलिए भी आप विमल कहलाते हैं (३७) । आपने अनन्त संसारको जीता है, अथवा केवलज्ञानसे अनन्त अलोककाशके पारको प्राप्त किया है, अथवा अनन्त अर्थात् विष्णु और शेषनागको जीता है, इसलिए आप अनन्तजित् कहलाते हैं (३८) । संसार-समुद्रमें डूबनेवाले प्राणियोंका उद्धार कर आप उन्हें उत्तम सुखमें धरते हैं, अतः धर्म नामसे पुकारे जाते हैं (३९) । सर्व कर्मोंका शमन अर्थात् क्षय करनेसे आप शान्ति कहलाते हैं (४०) । तपश्चरणके क्लेशको शान्ति-पूर्वक सहन करनेसे आप कुन्धु कहलाते हैं (४१) । 'ऋ' धातु गमनार्थक है । आप एक समयमें लोकान्त तक गमन करते हैं, इसलिए अर कहलाते हैं । अथवा सभी गमनार्थ धातुएं ज्ञानार्थक होती

सन्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ । महापद्मः सुरदेवः सुप्रभञ्ज स्वयंप्रभ ॥६१॥

इति वचनात् । मल मल्ल वा इत्ययं धातुधारेणो वर्तते, तेन मल्लजति धारयति भव्यजीवान् मोक्षपदे स्थापयतीति मल्लः । शोभनानि व्रतानि यस्य । नम्यते इन्द्र-चन्द्र-मुनीन्द्रैर्नमिः । सर्वधातुभ्य इः । नयति स्वधर्मं नेमिः, नी-दलिन्यां मिः । निजभक्तस्य पार्श्वे अदृश्यरूपेण तिष्ठतीति पार्श्वः, यत्र कुत्र प्रदेशो स्मृतः सन् स्वामी समीप-वर्त्येव वर्तते । धर्षते शानेन बेशभ्ये च लक्ष्म्या द्विविधया वर्धमानः । वा अत्र समन्तात् श्रुद्भः परमातिशयं प्राप्तो मानो शानं पूजा वा यस्य स तथोक्तः । अकण्ठो- (अश्राप्य-) रत्नलोपः । महान् वीर सुभटः महावीरः, मोहनलक्ष्मिनाशरगात् । सुष्ठु शोभनो धीरः ॥६०॥

मर्ता मर्ताचीना शार्त्ती वा मतिर्बुद्धिः केशलज्ञानं यस्य । मस्य मलस्य पापस्य हतिर्हननं त्रिध्वंसनं समूलकाय करणं महतिः । महती कर्मलकर्मकसुभटनिघांटने महान् धीरो महामुभटः, अनेकलहलक्ष्मणमयकोटी-भयानां विघटनपटुः महतिमहावीरः । महती पद्मा लक्ष्मीः सर्वलोकावकाशदायिनी समवशरणाविभूतिर्यस्य । अथवा महान्ति पद्मानि योजनैकप्रमाणतहस्रपत्रकमलानि सपादद्विशततंतल्यानि यस्य । सुराणां मारभयानां

हैं, आप केवलज्ञानके द्वारा लोक और अलोकको जानते हैं, इसलिए भां अर कहलाते हैं । अथवा मोक्षार्थी जनोंके द्वारा आप अर्थात् अर्थात् गम्य हैं, प्राप्त किये जाते हैं या जाने जाते हैं, इसलिए भी अर कहलाते हैं । अथवा जीवांका संसार-वास लुप्तानेके लिए आप अर अर्थात् अति शीघ्रता करने-वाले हैं । अथवा धर्मरूप रथकी प्रवृत्तिके कारण चक्रके अर-स्वरूप हैं, इसलिए भी अर यह नाम आपका सार्थक है (४२) । मल्ल धातु धारणार्थक है, आप भव्य जीवांका मोक्षपदमें धारण अर्थात् स्थापन करते हैं और स्वयं भक्ति-भारावनत देवेन्द्रोंके द्वारा निज शिरपर धारण किये जाते हैं, इस लिए मल्लि यह नाम आपका सार्थक है । अथवा मल्लि नाम मांगरेके फूलका भी हैं, उसकी सुगन्धके समान उत्तम सुगन्धको धारण करनेसे भी आप मल्लि कहलाते हैं (४३) । अर्हिसाधि सुन्दर व्रतोंको धारण करनेसे आप सुव्रत कहलाते हैं (४४) । इन्द्र, धरणेन्द्रादिके द्वारा आप नित्य नमस्कृत हैं अतः नमि कहलाते हैं (४५) । आप भव्य जीवांको स्व-धर्म पर ले जाते हैं, अतः नेमि कहलाते हैं (४६) । निज भक्तके पार्श्वे अर्थात् समीपमें आप अदृश्य-रूपसे रहते हैं, इसलिए पार्श्व कहलाते हैं । अथवा पार्श्वनाम वक्र-उपायका है । आप कुटिल काम, क्रोधादिके उपाय-स्वरूप हैं, इसलिए भी पार्श्वनाम आपका सार्थक है (४७) । आप ज्ञान, वैराग्य और अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सदा बद्धते रहते हैं, इसलिए वर्धमान कहलाते हैं । अथवा आपका मान अर्थात् ज्ञान और सन्मान परम अतिशयको प्राप्त है, इसलिए भी वर्धमान कहलाते हैं (४८) । मोहरूप महान् मल्लके नाश करनेसे आप महान् वीर हैं, अतः महावीर कहलाते हैं । अथवा महा विशिष्ट इ अर्थात् निःश्रेयसरूप लक्ष्मीकी धारण करने और प्रदान करनेके कारण आप महावीर कहलाते हैं (४९) । आप सर्व श्रेष्ठ हैं, इसलिए वीर कहलाते हैं । अथवा निज भक्तोंको विशिष्ट लक्ष्मी देते हैं, इसलिए भी वीर कहलाते हैं (५०) ।

अर्थ—हे जगत्-हितकर, आप सन्मति हैं, महतिमहावीर हैं, महापद्म हैं, सुरदेव हैं, सुप्रभ हैं और स्वयंप्रभ हैं ॥६१॥

व्याख्या—समीचीन और शाश्वत मतिके धारण करनेसे आप सन्मति कहलाते हैं (५१) । 'म' अर्थात् पापमलके हति कहिये हनन करनेवाले महान् वीर होनेसे महतिमहावीर इस नामसे पुकारे जाते हैं । अथवा कोटि सुभटोंको भी विघटन करनेमें आप समर्थ हैं, इसलिए भी महतिमहावीर कहलाते हैं (५२) । सर्व लोकको अवकाश देनेवाली बहिरंग समवसरणलक्ष्मीरूप महापद्माके धारण करनेसे और लोकालोकव्यापिनी केवलज्ञानस्वरूपा अन्तरंग महापद्माके धारण करनेसे आप महापद्म कहलाते हैं । अथवा एक योजन प्रमाण महान् आकारवाले और सहस्र दलवाले दो सौ पचीस पद्म अर्थात् कमल आपके बिहार कालमें देवगण रचते हैं, उनके सम्बन्धसे आप महापद्म

सर्वायुषो जयदेवो भवेद्दयदेवकः । प्रभादेव उर्वकम प्रभकीर्तिर्जवाभिचः ॥६२॥

पूर्वाब्जुद्धिर्निष्काषो विज्ञेयो विमलप्रभः । बहलो निर्मलश्चित्रगुप्तः समाधिगुप्तकः ॥६३॥

सूर्याणां वा देवः सूरदेवः परमाराध्यः । शूरदेव इति वा पाठे शूराणामिन्द्रियजये सुभयानां देवः परमाराध्यः स्वामी शूरदेवः । शोभना चन्द्रार्ककोटिसमा नेत्राणां च प्रिया प्रभा शुक्तिमंडलं यस्य । स्वयं आत्मना प्रभा तेजो महिमा वा यस्य । वा स्वयमात्मना प्रकषेण भाति शोभते । उपसर्गं त्वातो ङः ॥६२॥

सर्वाधि ध्यानाध्ययन-संयम-तपांसि आयुधानि कर्मशुविश्वंसकानि शक्वाणि यस्य । जयेनोपलक्षितो देवः । चय उपचयश्चयोपचयश्चेति त्रिविध उदयः, तत्र अन्मान्त(सन्वितं निदानदोष-हितं विशिष्टं तीर्थंकर नामोच्चगोत्रादिलक्षणं पुण्यबंधनं चयः, स्वर्गादागत्य पुनर्यप प्रजापालनादिपुण्योपार्जनमुपचय, पुनर्निर्वाण-गमनं चयोपचयः । तेन त्रिविधेनापि उदयेनोपलक्षितो देव उदयदेवः । प्रभा चन्द्रार्ककोटिजस्तयोपलक्षितो देवः सर्वशरीतरागः । उत्कृष्टोऽङ्गो विरुदं कामरात्रुपिति उर्वकः, मुक्तिफान्तापतिरिति मोक्षापिबिज्यति । प्ररने गणधरदेवाद्यनुयोगे सति कीर्तिः संशब्दनं ध्वनिः प्रवृत्तिर्यस्य । जयति मोहाराति-(भूमिभयति) शत्रून् जयतीति ॥६२॥ पूर्णा संपूर्णा लोकालोकसर्वतत्त्वप्रकाशिका केवलशान-दर्शनलक्षणा बुद्धिर्यस्य । निर्गताः

कहलाते हैं । अथवा असंख्य देवी-देवताओंका समुदाय आपके साथ रहता है, इसलिए भी आप महापद्म कहलाते हैं (५३) । आप सूरवीरोंके देव हैं, परम आराध्य हैं, इसलिए सूरदेव कहलाते हैं । शूरदेव ऐसा पाठ मानने पर शूर अर्थात् इन्द्रिय-विजयी वीर पुरुषोंके आप देव अर्थात् स्वामी हैं परम जितेन्द्रिय हैं, इसलिए शूरदेव यह नाम भी सार्थक है । अथवा 'सू' से सोम और 'र' से सूर्य, अग्नि और कामका प्रहण करना चाहिए, आप इन सबके देव हैं । अथवा अतिशय मंत्र-महिमासे युक्त हैं, इसलिए भी आपका सूरदेव यह नाम सार्थक है (५४) । कोटि सूर्य और चन्द्र की प्रभाको लजित करनेवाली सुन्दर प्रभासे युक्त हैं, अतः साधुजन आपको सुभय कहते हैं (५५) । स्वयं अर्थात् अपने आप ही आप प्रकृष्टरूपसे शोभित हैं और महा प्रभाको धारण करते हैं, इसलिए आप स्वयंप्रभ कहलाते हैं । अथवा लोकोंका उपकार करनेसे आप स्वयं ही प्रभ अर्थात् उत्कृष्ट हैं, दूसरा कोई आपसे उत्कृष्ट नहीं है इसलिए भी साधुजन आपको स्वयंप्रभ कहते हैं (५६) ।

अर्थ—हे स्वामिन, आप सर्वायुष हैं, जयदेव हैं, उदयदेव हैं, प्रभादेव हैं, उर्वक हैं, प्रभ-कीर्ति हैं, जय हैं, पूर्णाबुद्धि हैं, निष्कषाय हैं, विमलप्रभ हैं, बहल हैं, निर्मल हैं, चित्रगुप्त हैं और समाधिगुप्त हैं ॥६२-६३॥

व्याख्या—हे भगवन्, यद्यपि आप सर्व प्रकारके बाह्य आयुधोंसे रहित हैं, तथापि कर्म-शत्रुओंके विध्वंस करनेवाले ध्यान, अध्ययन, संयम और तपरूप सर्व अन्तरंग आयुधोंसे सुसज्जित हैं, इसलिए योगिजन आपको सर्वायुष कहते हैं (५७) । आप सदा जयशील हैं, इसलिए जयदेव कहलाते हैं (५८) । उदय तीन प्रकारका होता है, चय, उपचय और चयोपचय । पूर्वोपार्जित तीर्थंकरप्रकृतिरूप विशिष्ट पुण्यके संचयको चय कहते हैं । वर्तमान भवमें प्रजापालनरूप पुण्यके उपार्जनको उपचय कहते हैं और निर्वाण गमनको चयोपचय कहते हैं । आप इन तीनों प्रकारके उदयसे संयुक्त हैं, इसलिए उदयदेव इस नामको सार्थक करते हैं । अथवा आप सदा उदयशील देव हैं, कभी भी आपके प्रभावका क्षय नहीं होता है, इसलिए भी आप उदयदेव कहलाते हैं (५९) । आप कोटि चन्द्र-सूर्यकी प्रभासे युक्त हैं, इसलिए प्रभादेव कहलाते हैं । अथवा आप लोकालोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानरूप प्रकृष्ट प्रभाको धारण करते हैं, इसलिए भी योगिजन आपको प्रभादेव कहते हैं (६०) । आपने जगद्भिजयी कामदेवको भी जीता है, इसप्रकारकी उत्कृष्ट शक्त अर्थात् विरुदावलीको धारण करनेसे आप उर्वक कहलाते हैं । अथवा अंक नाम पाप या अपराधका भी है आप सर्व प्रकारके पापोंको नष्ट कर चुके हैं और सर्व अपराधोंसे रहित हैं, इसलिए भी उर्वक

स्वयम्भूश्रापि कंदर्पो जयनाथ इतीरितः । श्रीविमलो दिव्यवाद्योऽनन्तवीरोऽप्युदीरितः ॥१५॥

कषाया क्रोध-मान-माया-लोभा यस्य स तथोक्तः । निष्कण्य सुवर्णेन सदृशी सा सरस्वती कषादिपरीचोत्तीर्णा निष्कषा, तस्या श्राय आगमनं यस्य स निष्कषायः । अपरपदेऽपि क्वचिन्त्यकारस्य पत्वं । विमला घातिसंघातघाते अतिप्रभा तेजोमंडल यस्य । वहं रक्षणेदेश लाति ददाति संयममारोद्धरणे बहलः । वा वहं वायुं लाति गृह्णाति गृह्यते उपभोगतया । निगंतं मल विष्णुत्रादि यस्य । चित्रवत् आकाशवत् गुप्तः अलक्ष्यस्वरूपः । सम्पक् समीचीनानि अबाधितानि वा श्रमन्तात् धीयन्ते आत्मनि आरोप्यन्ते सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपासि परनोक-पर्यन्तं निर्विघ्नं प्रतिपाल्यन्ते उपसर्ग-परीषदादिनिनिपातेऽपि न त्यज्यन्ते यस्मिन्निति समाधिः । उपसर्गं दः किः । समाधिना गुप्तं रक्षितः, संसारे पतितु नो दत्तः समाधिगुप्तः ॥१६॥

स्वयमात्मना गुर्वनिरपेक्षतया भवति, निर्वेद प्राप्नोति लोकालोकस्वरूपं जानातीति । कं मुखं तस्य द्रप्यं प्रतितीव्रता कन्दर्पः, अनन्तसीत्य इत्यर्थः । कमव्ययं कुत्सायां वर्त्तते, तेनायमर्थः कं कुत्सितो द्रप्यं यस्य मते नामको सार्थकं करते हैं । अथवा अंक नाम आभूषणोंका है, आप सर्व आभरणोंसे रहित हैं, निर्गन्ध और धीतराग हैं । अथवा अष्ट प्रतिहार्यरूप उत्कृष्ट अंक अर्थात् चिन्होंसे युक्त हैं, इसलिए भी आप उदक कहलाते हैं (६१) । गणधरादिके प्रश्न करने पर आपकी कीर्त्ति अर्थात् दिव्य-व्यनिकी प्रवृत्ति होती है, अथवा दूसरोंके द्वारा प्रश्न किये जाने पर ही आपकी कीर्त्ति अर्थात् यशका विस्तार होता है, इसलिए आप प्रश्नकीर्त्ति कहलाते हैं (६२) । मोहरूप शत्रु पर विजय प्राप्त करनेसे आप जय कहलाते हैं (६३) । लोकालोककी प्रकाशक केवलज्ञान-दर्शनरूप पूर्ण बुद्धिके धारण करनेसे आप पूर्णबुद्धि कहलाते हैं (६४) । सर्व कषायोंसे रहित हैं, अतः निष्कषाय कहलाते हैं । अथवा निष्क अर्थात् स्वर्णके सदृश निर्घर्षण, छेदन, तापादिरूप सर्व प्रकारकी सरस्वती-सम्बन्धी परीक्षाओंमें आप उत्तीर्ण हैं, प्रथम नम्बर आये हैं, इसलिए भी निष्कषाय कहलाते हैं । अथवा निष्ककी सा अर्थात् लक्ष्मीके आय अर्थात् रत्नवृष्टिके समागमके योगसे भी आप निष्कषाय कहलाते हैं । आपकी माताके मन्दिरमें और आहार-दाताके घर पर आपके आगमनके निमित्तसे रत्नवृष्टि आदि पंचाशचर्य होते हैं (६५) । घातिकर्मोंके नष्ट हो जानेसे आप विमल प्रभाके धारक हैं, इसलिए विमलप्रभ कहलाते हैं । अथवा मल जिनका नष्ट हो गया है, ऐसे गणधरदेव आदि विम कहलाते हैं, उन्हें जो लावे अर्थात् आकर्षण करे, ऐसी प्रभाके धारण करनेसे भी आप विमलप्रभ कहलाते हैं (६६) । आप अपने वह अर्थात् कन्ये पर संयमके भारको धारण करते हैं, इसलिए बहल कहलाते हैं । अथवा 'बहति' अर्थात् अपने आश्रित जनोंका मोक्ष प्राप्त कराते हैं, इसलिए बहल कहलाते हैं (६७) । आप सर्व प्रकारके मलसे रहित हैं, इसलिए निर्मल हैं । अथवा मा अर्थात् लक्ष्मी-धनादिसे रहित निर्गन्ध मुनियोंको निर्मा कहते हैं । उन्हें आप शिष्य-रूपसे स्वीकार करते हैं, इसलिए भी निर्मल कहलाते हैं (६८) । चित्र अर्थात् आकाशके समान आप गुप्त हैं, अलक्ष्य-स्वरूप हैं, इसलिए चित्रगुप्त कहलाते हैं । अथवा मुनिजनोंको भी आश्चर्य करनेवाली चित्र-विचित्र मन, वचन, कायकी प्रशंसियोंको आपने भली भाँतिसे गुप्त अर्थात् बशमें किया है, इसलिए भी आप चित्रगुप्त कहलाते हैं । अथवा प्रैलोक्यके जनोंको विस्मय करानेवाले समवसरणके तीन कोटोंसे आप गुप्त अर्थात् सुरक्षित हैं इसलिए भी चित्रगुप्त कहलाते हैं (६९) । रत्नयूरूप समाधिसे आप सुरक्षित हैं, इसलिए समाधि-गुप्त कहलाते हैं । अथवा तृण-कांचन, शत्रु-मित्र, वन-भवन और सुख-दुःखादिमें समान रहनेवाले साधुजनोंको सम कहते हैं । उनसे आप अधिकतया गुप्त अर्थात् वेष्टित हैं आपको चारों ओरसे सदा मुनिजन घेरे रहते हैं, इसलिए भी आप समाधिगुप्त नामको सार्थक करते हैं (७०) ।

अर्थ—हे शम्भो, आप स्वयम्भू हैं, कन्दर्प हैं, जयनाथ हैं, श्रीविमल हैं, दिव्यवाद हैं, और अनन्तवीर्य कहे जाते हैं ॥१६॥

पुरुषबोध्य सुविधिः प्रज्ञापारमितोऽप्ययः । पुराणपुरुषो धर्मसारविः शिवकीर्तनः ॥२५॥
 विश्वकर्माऽङ्गरोऽङ्गघ्ना विश्वभूविश्वनायकः । विगम्बरो निरातंको निरारेको भवान्तकः ॥२६॥
 दृढव्रतो नयोत्सु गो निःकलंकोऽकलाधरः । सर्वकेशापहोऽप्ययः ज्ञान्तः श्रीवृक्षलक्ष्मणः ॥२७॥
 इति निर्वाणशतकम् ।

यस्याग्रे वा स कंदर्पः, भगवदग्रे यः पुमान् ज्ञानादेर्दपं करोति स कुत्सित इत्यर्थः । जयस्य सर्वदिग्विजयस्य नाथः स्वामी । सर्वस्मिन् धर्मक्षेत्रे आर्यपक्षे धर्मतीर्थप्रवर्तक इत्यर्थः । विमलः कर्ममलकलंकरहितो व्रतरीत्यातिचार-रहितो वा श्रिया बाह्याभ्यन्तरलक्ष्म्योपलक्षितो विमलः श्रीविमलः । दिव्योऽप्राप्तुषो वादो ध्वनिर्नस्य सः । वा दिधि भवाः दिव्याश्रुतिकायदेवास्तेषां वा वेदानां संसारसागरपतनादुत्थं आ समन्ताद् यति खण्डयति निवारय-तीति । अथवा दिव्यं वं मंत्रं ददाति पंचत्रिंशदक्षरमंत्रोपदेशक इत्यर्थः । न विद्यते अन्तो किनाशो यस्य स अनन्तोऽप्यिनशरः, स चाली वीरः सुमटः कर्मशत्रुविनाशकः अनन्तवीरः ॥२६॥

पुरुर्महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देवः पुरुदेवः । शोभनो विधिर्विधाता सृष्टिकर्ता, वा शोभनो निरति-चारो विधिभारित्रं यस्य, वा शोभनो विधिः कालो यस्य, वा शोभनो विधिर्देवं पुण्यं यस्य । प्रज्ञया बुद्धि-विशेषस्य पारंपर्यत इतः प्राप्तः । न व्ययो विनाशो यस्य द्रव्यार्थिकनयेन । पुराणभिरतनः पुरुष आत्मा

व्याख्या—किसी अन्य गुरुकी अपेक्षाके विना ही आप स्वयमेव वैराग्य और बोधिको प्राप्त होते हैं तथा लोकालोकके स्वरूपको जानते हैं, इसलिए स्वयम्भू कहलाते हैं (७१) । क अर्थात् सुखकी अधिकताके कारण आप कन्दर्प कहलाते हैं । अथवा आपके मतमें दर्पको कुत्सित माना गया है । अथवा आपने धर्मोपार्जनके लिए कन्दोके सेवनका निषेध किया है, इसलिए भी आप कन्दर्प कहलाते हैं (७२) । आप सर्वदिग्विजयके नाथ हैं, अर्थात् समस्त अर्थावर्तमें आपके धर्मचक्रकी अप्रति-हतगनिरूपसे प्रवृत्ति रहती है, इसलिए आप जयनाथ कहलाते हैं । अथवा जय अर्थात् संसार-दुःखोंके विनाशके लिए योगिजन आपसे याचना करते हैं । अथवा धर्मोपदेशके समय भव्यजीव 'जय नाथ, जय नाथ' इस प्रकारके नारे लगाते रहते हैं, इसलिए भी आप जयनाथ कहलाते हैं (७३) । आप बाह्य और आभ्यन्तर लक्ष्मीसे युक्त होकरके भी विमल अर्थात् कर्ममलसे रहित हैं अतः श्रीविमल नामको सार्थक करते हैं (७४) । आपका वाद अर्थात् वचने दिव्य है, कोई भी उसका युक्ति या आगमसे खंडन नहीं कर सकता है, इसलिए आप दिव्यवाद कहलाते हैं । अथवा आप दिव्यवाद अर्थात् पैंतीस अक्षररूप मंत्रके उपदेशक हैं । अथवा देवोंकी मानसिक वेदनाके आप हरण करने-वाले हैं, इसलिए भी आप दिव्यवाद कहलाते हैं (७५) । आप अन्त अर्थात् विनाशसे रहित वीर हैं, अर्थात् कर्म शत्रुओंके विनाशक हैं । अथवा अनन्त केवलज्ञानरूप विशिष्ट लक्ष्मीके धारक हैं और प्रलय होने पर भी सदा वर्तमान रूपसे ही स्थित रहते हैं, इसलिए अनन्तवीर कहलाते हैं (७६) ।

अर्थ—हे जिनेश, आप पुरुदेव हैं, सुविधि हैं, प्रज्ञापारमित हैं, अव्यय हैं, पुराणपुरुष हैं, धर्मसारवि हैं, शिवकीर्तन हैं, विश्वकर्मा हैं, अक्षर हैं, अङ्गघ्ना हैं, विश्वभू हैं, विश्वनायक हैं, विगम्बर हैं, निरातंक हैं, निरारेक हैं, भवान्तक हैं, दृढव्रत हैं, नयोत्सुग हैं, निष्कलंक हैं, अकला-धर हैं, सर्वकेशापह हैं, अक्षय्य हैं, ज्ञान्त हैं और श्रीवृक्षलक्ष्मण हैं ॥२५-२७॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप पुरु अर्थात् महान् देव हैं, इन्द्रादिकोंके द्वारा आराध्य हैं तथा असंख्य देवी-देवताओंके द्वारा सेवित हैं, इसलिए पुरुदेव कहलाते हैं (७७) । आप सुन्दर विधि अर्थात् विधाता हैं, सृष्टिका विधान करनेवाले हैं, तथा निरतिचार सुन्दर विधि अर्थात् चारित्र्यके धारक हैं, इसलिये सुविधि कहलाते हैं (७८) । प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि-विशेषके पारको प्राप्त हैं, और प्रज्ञाके पारको प्राप्त महापंडितोंके द्वारा भित अर्थात् प्रमाणित हैं, तथा प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण-चतुर गणधर-देवाधिकके द्वारा सम्मानित हैं, इसलिए प्रज्ञापारमित कहलाते हैं (७९) । आपके शुद्ध आत्म-

यत्येति । वा पुराणेषु त्रिपटिलक्षणेषु प्रसिद्धः पुरुषः । वा पुराणेषु अनादिकालीने पुरुषि महति स्थाने शेते तिष्ठति । धर्मस्मार्हिसालक्ष्याय वायथिः प्रवर्तकः । शिवं श्रेयस्करं शिवं परमकल्याणमिति वचनात् । शिवं परमकल्याणदायकं तीर्थकल्याणमगोत्रकाणं कीर्तनं स्तुतिर्यस्य ॥६५॥ विश्वं कृच्छ्रं कष्टमेव कर्म यस्य मते । विश्वेषु देवविशेषेषु त्रयोदशसंख्येषु कर्म सेवा यस्य । वा विश्वमिन्द्र जगति कर्म लोकजीवनकरं क्रिया यस्य च विश्वकर्मा । कर्म अत्र अग्नि-मपि-कृष्यादिकं राज्याख्यायां ज्ञातव्यं । न जगति स्वभावात्, न प्रत्ययते आत्मन्येकलोलीभावत्वात् अक्षरः । अक्षरं मोक्षः, तत्स्वरूपत्वात्, क्षीणकर्षत्वादक्षरः । न विद्यते छद्म घाति-कर्म यत्येति, वा न विद्यते छद्म शास्त्रं यत्येति । वा न विद्यते छद्मनी शान-दर्शनावरणद्वयं यस्य । विश्वस्मिन् भवति विद्यते अस्त्येव केवलज्ञानापेक्षया । विश्वस्य त्रैलोक्यस्य नायकः स्वामी । दिशो अम्बरणि क्वाणि

स्वरूपका कर्मी भी व्यय अर्थात् विनाश न होनेसे आप अव्यय कहलाते हैं (८०) । आपका पुरुष अर्थात् आत्मा पुराण है, चिरन्तन या अनादिकालीन है, इसलिए आप पुराणपुरुष हैं । अथवा आप पुराणोंमें अर्थात् त्रिरेसठ शलाका-पुरुषोंमें प्रधान हैं, अथवा पुराण अर्थात् महान् स्थान पर विराजमान हैं, अथवा पुर परमौदारिक शरीरमें मुक्ति जाने तक 'अनिति' कहिये जीवित रहते हैं, अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी जीवनमुक्त हैं, इसलिए आप पुराणपुरुष कहलाते हैं (८१) । अहिंसा-लक्ष्य धर्मके आप सारथि अर्थात् चलानेवाले हैं, इसलिए योगिजन आपको धर्मसारथि कहते हैं (८२) । आपका कीर्तन (स्तवन) शिव अर्थात् परम कल्याणरूप है, इसलिए आप शिवकीर्तन कहलाते हैं । अथवा आपके नामका कीर्तन शिव अर्थात् मोक्षका करनेवाला है । अथवा शिव अर्थात् सूदके द्वारा भी आपका कीर्तन अर्थात् गुणगान किया जाता है । अथवा दीक्षाके अवसरमें आप 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर शिव अर्थात् सिद्ध भगवानका कीर्तन करते हैं, इसलिए भी आप शिवकीर्तन कहलाते हैं (८३) । आपके मतमें कर्म विश्वरूप है, अर्थात् कष्ट देनेवाला ही है, इसलिए आप विश्वकर्मा कहलाते हैं । अथवा विश्व अर्थात् त्रयोदश संख्यावाले देवविशेषोंमें आपकी सेवारूप कर्म प्रधान है । अथवा विश्व अर्थात् जगन्म लोक-जीवनकारी अग्नि, मपि, कृषि आदि कर्मोंका आपने राज्य-अवस्थामें उपदेश देकर प्रजापति पालन किया है इसलिए भी आप विश्वकर्मा कहलाते हैं (८४) । चर नाम विनाशका । आपके स्वभावका कर्मी विनाश नहीं होता है, या आप अपने स्वभावसे कर्मी भी न्युत नहीं होते हैं, इसलिए आपको योगिजन अक्षर कहते हैं । अक्षर नाम आत्मा, ज्ञान और मोक्षका भी है । आपका आत्मा केवलज्ञानरूप या मोक्षस्वरूप है, इसलिए भी आपको अक्षर कहते हैं । अथवा आप 'अहं' इस एक अक्षरस्वरूप हैं, या परम ब्रह्मरूप हैं, परम धर्मस्वरूप हैं, तपोमूर्ति हैं और आकाशके समान निलेप और अमूर्तिक हैं, इसलिए भी अक्षर कहलाते हैं । अथवा अक्ष अर्थात् केवल-ज्ञानरूप ज्योतिको आप अपने भक्तोंके लिए 'राति' कहिये देते हैं । अथवा अक्ष अर्थात् इन्द्रिय और मनको आप 'राति' कहिये अपने वशमें करते हैं । अथवा अक्ष नाम व्यवहारका भी है । आप निश्चयनयको आश्रय करके भी लोकमें दान-युजादिरूप व्यवहार धर्मकी प्रवृत्ति चलाते हैं । अथवा अक्ष नाम द्युत-क्रीडामें काम आनेवाले पासोंका भी है, आप उनके लिए र अर्थात् अग्निके समान हैं, अर्थात् द्युतादिव्यसनके दाहक हैं, इस प्रकार विभिन्न अर्थोंकी विवक्षासे आपका अक्षर यह नाम सार्थक है । (८५) । छद्म नाम छल-कपटका है, आपमें उसका सर्वथा अभाव है, इसलिए आप अछद्म हैं । अथवा छद्म नाम अल्पज्ञताका भी है, आप अल्पज्ञतासे रहित हैं, सर्वज्ञ हैं । अथवा छद्म शब्द घातिया कर्मोंका भी वाचक है, आप उनसे रहित हैं, इसलिए भी अछद्म कहलाते हैं (८६) । आप विश्वके भू अर्थात् स्वामी हैं, विश्वकी वृद्धि अर्थात् सुख-समृद्धिके बढ़ानेवाले हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा विश्वको व्याप्त करनेवाले हैं, और ध्यानके द्वारा ही

यस्य । सद्यःप्राणहृयो व्याधिरातंक उच्यते, निर्गतो विनष्ट आतंको रागो यस्य । निर्गता आरंका तत्त्वविषये शंका सन्देहो यस्य । भवस्य संसास्य अन्तको विनाशको भक्तानां भवान्तकः ॥६६॥ दृढं निश्चलं प्रतं दीक्षा यस्य, प्रतिष्ठा वा यस्य । नया नैगमादयस्तेरुत्तुंग उन्नतः । निर्गतः कलंकः अपवादो यस्य । कलां कलनं धरतीति कलाधरः, न कलाधरः अकलाधरः, न केनापि कलयितुं शक्य इत्यर्थः । वा अत्रं दुःखं लाति ददाति अकलः, संसारः तं न धरति न स्वीकरोति अकलाधरः, अकलः संसारो रोऽधरो नीचो यस्य, वा न कलां शरीरं धरति अकलाधरः, चरमशरीर इत्यर्थः । सर्वान् शारीर-भानसागतान् क्लेशान् दुःखानि अपहन्ति । न क्षयितुं शक्यः । क्षमते स्म ज्ञान्तः, सर्वपरीपहादीन् लोडवानित्यर्थः । श्रीवृद्धोऽशोकवृद्धो लक्षणं यस्य ॥६७॥

॥ इति निर्वाणशतकम् ॥

जगतके प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिए आप विश्वभू कहलाते हैं (८७) । आप विश्वके नायक हैं, विश्वके स्वधर्म पर चलाते हैं, और मिथ्यादृष्टियोंको कभी दिखाई नहीं देते हैं, अर्थात् उन्हें आपके आत्मस्वरूपका कभी साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए आप विश्वनायक कहलाते हैं (८८) । दिक् अर्थात् दिशाएँ ही आपके अन्ध हैं, अर्थात् आप वस्त्रोंको धारण नहीं करते हैं, किन्तु सदा नम्र ही रहते हैं, इसलिए दिगम्बर कहलाते हैं (८९) । शीघ्र प्राण-हरण करनेवाली व्याधिको आतंक कहते । आप सर्व प्रकारके आतंकोसे रहित हैं, इसलिए निरातंक कहलाते हैं (९०) । आप आरंका अर्थात् तत्त्व-विषयक शंकासे रहित हैं, प्रत्युत दृढ निश्चयी हैं, इसलिए योगिजन आपको निरारंक कहते हैं (९१) । भव अर्थात् संसारका आप अन्त करनेवाले हैं, इसलिए भवान्तक कहलाते हैं (९२) । आप दृढ व्रती हैं, अपनी प्रतिष्ठा पर अटल हैं, इसलिए दृढव्रत कहलाते हैं (९३) । आप वस्तु स्वरूपके प्रतिपादक विभिन्न नयोंके द्वारा उत्तुंग अर्थात् उन्नत हैं और एकान्तवादी नयोंके प्रतिपादनसे सर्वथा रहित हैं, इसलिए नयोत्तुङ्ग कहलाते हैं (९४) । आप सर्व प्रकारके कलंक अर्थात् अपवादोंसे रहित हैं, इसलिए निष्कलंक कहलाते हैं । जिस प्रकार नारायण, इन्द्र, चन्द्र आदि विभिन्न स्त्रियोंके साथ व्यवहार करनेसे बदनाम हुए हैं, उस प्रकारके सर्व अपवादोंसे आप सर्वथा रहित हैं (९५) । आप ब्रह्मस्थोंके द्वारा आकलन नहीं किये जाते, अर्थात् जाने नहीं जाते, इसलिए अकलाधर कहलाते हैं । अथवा अक अर्थात् दुःखको जो लावे-देवे, उसे अकल या संसार कहते हैं । आप उस संसारको धारण नहीं करते हैं, इसलिए भी अकलाधर कहलाते हैं । अथवा कला अर्थात् शरीरको या चन्द्रकलाको नहीं धारण करनेके कारण भी आप अकलाधर कहलाते हैं (९६) । शारीरिक, मानसिक आदि सर्व प्रकारके क्लेशोंके अपहर्तन अर्थात् नाश करनेसे आप सर्वक्लेशपह कहलाते हैं अथवा अपने सर्व भक्तोंके क्लेशोंको दूर करनेके कारण भी आपका यह नाम सार्थक है (९७) । आप अजेयसे भी अजेय शक्तिके द्वारा हथको प्राप्त नहीं हो सकते, इसलिए अक्षय्य हैं (९८) । बड़े-बड़े परीपह और उपसर्गोंको आपने अत्यन्त शान्ति और क्षमाभावके साथ सहन किया है, इसलिए आप क्षान्त कहलाते हैं (९९) । श्रीवृद्ध अर्थात् अशोकतरु आपका लक्षण अर्थात् चिन्ह है, क्योंकि सम-वसरणमें अशोक वृक्षके नीचे आप विराजमान रहते हैं और उसे दूरसे ही देखकर भव्यजीव आपको जान लेते हैं, इसलिए आपको श्रीवृद्धलक्षण कहा जाता है (१००) ।

इस प्रकार सप्तम निर्वाणशतक समाप्त हुआ ।

(८) अथ ब्रह्मशतम्

ब्रह्मा चतुर्भुजो धाता विधाता कमलासनः । अञ्जमूरगजभूः अष्टा सुरज्येष्ठः प्रजापतिः ॥६८॥

हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदागो वेदपारगः । अजो मनुः शतानन्दो हंसयानस्त्रीमयः ॥६९॥

विष्णुत्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः । वैकुण्ठ. पुंडरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वभूः ॥१००॥

वृद्धि वृद्धि वृद्धी । वृंहति वृद्धि गच्छन्ति केवलशानादयो गुणा यस्मिन् स ब्रह्मा । वृहेः कमलान्च हात्पूर्वः इति सूत्रेण मन् प्रत्ययः । चत्वारि मुखानि यस्य स चतुर्मुखः, धातिसंघातघातने सति भगवत्स्तादृशपरमौ-द्युरिकशारीरजैर्मल्यं भवति यथा प्रतिदिशं मुखं सन्मुखं दृश्यते, अयमतिशयः स्वामिनो भवति । दधाति चतु-र्गतिपु पतंतं जीवयुद्धृत्य मोक्षपदं स्थापयतीति । विशेषेण दधाति स्वर्ग-भोक्तव्योः स्थापयति प्रतिपालयति वा । पद्मासने स्थित्वा सदा धर्मोपदेशं करोति भगवान् तेन कमलासनः स उच्यते । वा योजनैकप्रमाण-सहस्रदलकनकमलं आसनं उपवेशनस्थानं विहरतो भगवतो यस्य । अज्जैः कमलैरुपलक्षिता भूमिर्यस्य । वा मातुरदरे अष्टदलं कमलं निजशक्त्या निधाय तत्कथित्वा स्वामी नव मासान् स्थित्वा वृद्धिगतः । योनिम-

अर्थ—हे परब्रह्म, आप ब्रह्मा हैं, चतुर्मुख हैं, धाता हैं, विधाता हैं, कमलासन हैं, अञ्जभू हैं, आत्मभू हैं, अष्टा हैं, सुरज्येष्ठ हैं, प्रजापति हैं, हिरण्यगर्भ हैं, वेदज्ञ हैं, वेदांग हैं, वेदपा-रग हैं, अज हैं, मनु हैं, शतानन्द हैं, हंसयान हैं, त्रयीमय हैं, विष्णु हैं, त्रिविक्रम हैं, शौरि हैं, श्रीपति हैं, पुरुषोत्तम हैं, वैकुण्ठ हैं, पुंडरीकाक्ष हैं, हृषीकेश, हरि हैं और स्वभू हैं* ॥६८-१००॥

व्याख्या—हे परमेश्वर, आपमें केवलज्ञानादि गुण निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं, इसलिए आप ब्रह्मा कहलाते हैं (१) । केवलज्ञान होनेपर समवसरणमें आपके चार मुख दिखाई देते हैं, इसलिए आप चतुर्मुख कहलाते हैं । अथवा चार अनुयोगरूप मुखोंके द्वारा आप समस्त वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं, इसलिए भी आप चतुर्मुख कहलाते हैं । अथवा चार पुरुषार्थ-रूप मुखोंके द्वारा पदार्थोंका प्रतिपादन करते हैं । अथवा प्रत्यक्ष, परोक्ष, आगम और अनुमान ये चार प्रमाण ही आपके मुख हैं । अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य, और तप इन चार मुखोंके द्वारा आप कर्मोंका क्षय करते हैं । इस प्रकार विभिन्न विवेक्षाओंसे आपको योगिजन चतुर्मुख कहते हैं (२) । चतुर्गतियोंमें गिरते हुए जीवोंका उद्धार कर आप उन्हें मोक्षपदमें स्थापित करते हैं, इसलिए धाता कहलाते हैं (३) । सूक्ष्म-बादर समी प्रकारके जीवोंकी आप विशेषरूपसे रक्षा करते हैं, उन्हें विशिष्ट मुखमें स्थापित करते हैं, इसलिए विधाता कहलाते हैं (४) । आप समवसरणमें कमल पर अन्तरीक्ष पद्मासनसे विराजमान रहकर सदा धर्मोपदेश देते हैं, इसलिए लोक आपको कमलासन कहते हैं । अथवा विहारके समय देवगण आपके चरणोंके नीचे सुवर्ण-कमलोंकी रचना करते हैं, इसलिए भी आप कमलासन कहलाते हैं । अथवा दीक्षाके समय आप कमला अर्थात् राज्यलक्ष्मी को 'अस्यति' कहिए त्याग करते हैं, अतः कमलासन कहलाते हैं । अथवा आपके आसनके समीप कमल अर्थात् मृग बैठते हैं, तपश्चरणके समय मृग-सिंहादि परस्पर-विरोधी जीव भी अपना वैर भूलकर आपसमें स्नेह करते हुए शान्त और स्नेह भावसे बैठते हैं, इसलिए भी कमलासन कहलाते हैं । अथवा 'क' अर्थात् आत्माके अष्टकर्मरूप मलका आप निर्मूल विनाश करते हैं, इसलिए भी कमलासन यह नाम आपका सार्थक है (५) । जिस स्थान पर आपका जन्म होता है, वह सदा कमलोंसे संयुक्त रहता है, इसलिए आप अञ्जभू, पद्मभू आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं । अथवा माताके उदरमें ही भगवान् पुण्यातिशयसे उत्पन्न हुए नाभिकमल पर नौ मास तक विराजमान रहकर वृद्धिको प्राप्त होते हैं और योनिको नहीं स्पर्श करके ही जन्म

* यद्यपि ब्रह्मसे लेकर त्रयीमय तकके नाम ब्रह्मके और उल्टे आगेके नाम विष्णुके हैं, तथापि अन्यकारने अपनी विद्वत्तासे स्वमतके अनुसार अर्थ करके उन्हें जिनभगवान् पर घटित किया है ।

सृष्ट्या संजातस्तेनाव्यभूष्यते । आत्मा निष्कण्डबुद्धैकस्वभावविन्चमत्कारैकलक्षणपरमब्रह्मैकस्वरूपसंकीर्त्तार्यस्फटिकमणिमल्लिकाविन्मसदशो भूर्निवासस्थानं यस्य । सृजति कथेति निधमानः पापिष्ठैर्नारक-तिर्यङ्गता उपपादयति, मध्यस्थैर्न सृष्यते न निधते तेषां मानवगतिं करोति, यैः सृष्यते पूज्यते आराध्यते तान् स्वर्गं नयति, यैर्यायते तान् सुकान् करोति । सुराणां देवानां मध्ये ज्येष्ठो बुद्धो महान् श्रेष्ठो वा । प्रजानां त्रिभुवनस्थित-लोकाणां पतिः ॥६८॥ हिरण्येन सुवर्णेनोपलक्षितो गर्भो यस्य स तपोक्तः । भगवति गर्भस्थिते नवमासान् रज-कनकवृष्टिर्मातुर्यंहांगण्ये भवति, तेन हिरण्यगर्भः । वेदेन श्रुतज्ञानेन मतिश्रुतावधिभिस्त्रिभिर्गर्भैर्विश्च-वेदितव्यं जानाति । स्वमते तु वेदो ज्ञानं तन्मयमंगं आत्मा यस्य । वा वेदस्य केवलज्ञानस्य प्राप्तिं भव्यप्राणिनां अंगं उपायो यन्मादसौ । वेदस्य ज्ञानस्य पारं गच्छतीति । न जायते नोत्सद्यते संघारे इत्यजः । मन्यते जानाति तत्त्वमिति, उग्रस्थयः । शतमानन्दानां यस्य स शतानन्दः अनन्तसुख इत्यर्थः । वा शतानामसंख्यताना-मानन्दो यस्मादसौ शतानन्दः सर्वप्राणिसुखदायक इत्यर्थः । इति परमात्मनि यानं गमनं यस्य । त्रयाणां लेते ह्ये, इसलिए भी अञ्जभू कहलाते हैं (६) । शुद्ध-बुद्धैकस्वभावरूप आत्मा ही आपकी निवास-भूमि है, इसलिए आप आत्मभू कहलाते हैं । अथवा आप अपने आत्माके द्वारा ज्ञानरूपसे सारे चराचर जगतको व्याप्त करते हैं, जानते हैं, इसलिए भी आत्मभू कहलाते हैं (७) । आप संसारमें सुखका सर्जन करते हैं, इसलिए स्रष्टा कहलाते हैं । यद्यपि आप वीतरागी और सर्वके हितैषी हैं, तथापि आपका ऐसा अचिन्त्य माहात्म्य है कि आपकी निन्दा करनेवाले नरक-तिर्यंचादि कुगतियोंमें दुःख पाते हैं और आपकी पूजा-स्तुति करनेवाले स्वर्गादिकमें सुख पाते हैं (८) । सुर अर्थात् देव-ताओंमें आप ज्येष्ठ या प्रधान हैं । अथवा देवोंके ज्या अर्थात् माताके समान हितैषी हैं । अथवा सुरोंको अपनी जन्मभूमि स्वर्गलोकसे भी आपका सामीप्य अधिक इष्ट है, यही कारण है कि वे स्वर्गलोकसे आकर आपकी सेवा करते हैं, इसलिए आप सुरज्येष्ठ कहलाते हैं (९) । तीनों लोकोंमें स्थित प्रजाके आप पति हैं इसलिए प्रजापति कहलाते हैं (१०) । आपके गर्भमें रहते समय सुवर्ण-वृष्टि होती है, इसलिए लोक आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं (११) । वेदितव्य अर्थात् जानने योग्य सर्व वस्तुओंके जान लेनेसे आप वेदज्ञ कहलाते हैं । अथवा स्त्री, पुरुष, नपुंसक वदरूप सर्व जगत् को जाननेसे कारण भी आप वेदज्ञ कहलाते हैं । अथवा पराई वेदनाको कष्टको जाननेसे भी आप वेदज्ञ कहलाते हैं । अथवा जिसके द्वारा आत्मा शरीरसे भिन्न जाना जाता है, उस भेदज्ञानको वेद कहते हैं, उसके ज्ञाता होनेसे योगिजन आपको वेदज्ञ कहते हैं (१२) । आपका अंग अर्थात् आत्मा वेदरूप है-ज्ञानस्वरूप है, इसलिए आप वेदांग कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानरूप वेदकी प्राप्ति होनेपर भव्यप्राणियोंकी रक्षाका अंगभूत उपाय आपसे प्रगट होता है, इसलिए लोग आपको वेदांग कहते हैं (१३) । आप वेद अर्थात् ज्ञानके पारको प्राप्त हुए हैं, इसलिए वेदपारग कहलाते हैं । अथवा द्वादशशांग श्रुतज्ञानको वेद कहते हैं, उसकी रक्षा करने वाले मुनियोंको वेदप कहते हैं । वेदों के 'र' अर्थात् कामबिकारको या शंकाको निराकरण करनेके कारण भी लोग आपको वेदपारग कहते हैं (१४) । आगे संसारमें जन्म न लेनेके कारण आपको योगिजन अज कहते हैं (१५) । वस्तुतत्त्वके मनन करनेके कारण आप मनु कहलाते हैं (१६) । आपके आनन्दोंका शत अर्थात् सैकड़ा पाया जाता है, अतः आप शतानन्द कहलाते हैं । यहां शत शब्द अनन्तके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, तदनुसार आप अनन्त सुखके स्वामी हैं । अथवा शत अर्थात् असंख्य प्राणियोंको आपके निमित्तसे आनन्द प्राप्त होता है, इसलिए भी आप शतानन्द कहलाते हैं (१७) । इस अर्थात् परमात्मस्वरूपमें आपका यान कहिए गमन होता है, इसलिए आप हंसयान कहलाते हैं । अथवा हंस के समान मंद-मंद गमन करनेसे भी हंसयान कहलाते हैं अथवा हंस अर्थात् सूर्यके समान आपका भी गमन स्वभावतः अनीहित या इच्छा-रहित होता है, इसलिए भी आप हंसयान कहलाते हैं (१८) । सन्यदर्शन, ज्ञान और चारित्रके समाहारको त्रयी कहते हैं ।

विराभंभरोऽसुरध्वंसी माधवो बलिबन्धनः । अघोक्षजो मधुहोषी केशवो विश्वभ्रमरः ॥१०१॥
 श्रीवत्सलाङ्घनः श्रीमान्मधुतो नरकान्तकः । विरवक्षसेनचक्रपाथिः पद्मनाभो जनार्दनः ॥१०२॥
 श्रीकण्ठः शंकरः शम्भुः कपाली वृषकेतनः । मृत्युंजयो विरूपाक्षो वामदेवत्रिलोचनः ॥१०३॥

सम्पदर्शन-ज्ञान-चरित्राणां समाहारस्वरूपी, त्रय्या निर्भूतः ॥६६॥ वेवेदि केवलज्ञानेन विरवं व्याप्नोतीति । त्रयो विक्रमाः सम्पदर्शनज्ञानचरित्राणां शक्तिसंपदा यस्य । वा त्रिषु लोकेषु विशिष्टः क्रमः परिपाटी यस्य । शूरस्य सुमदस्य क्षत्रियस्य अपत्यं । श्रीणां अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणलक्ष्मीनां पतिः । पुरुषेषु त्रिषष्टिलक्ष-
 णेषु उत्तमः । विकुंठा दिक्कुमारीणां प्ररनामुत्तरदाने विलक्षणा तीर्थवृन्माता, तस्या अपत्यं पुमान् । पुंड-
 रीकवत् कमलवत् अक्षिणी लोचने यस्य । वा पुंडरीकः प्रधानभूतः अक्षः आत्मा यस्य । हृषीकण्ठमिन्द्रिया-
 यामीशो वशिता हृषीकेशः, जितेन्द्रिय इत्यर्थः । हरति पापं हरिः, इः सर्वघातुष्यः । स्वेन आत्मना भवति वेदितव्यं वेति ॥१००॥

विरवं त्रैलोक्यं विभर्ति धारयति, न नरकादौ पतितुं ददाति । असुरो मोहो मुनिभिद्वन्द्यते, तं ध्वंसेते इत्येवंशीलः । वा अयत्न प्राणिनां प्रणान् राति यच्छाति असुरो यमः, तं ध्वंसेते मारयति असुरध्वंसी, यमस्य यम इत्यर्थः । मायाः लक्ष्म्याः समवसरण-केवलज्ञानादिकायाः धवो भर्ता माधवः, राज्यकाले राज्यलक्ष्म्या आप इस त्रयीसे निर्भूत है, अर्थात् इन तीनों मय हैं, अतः त्रयीमय कहलाते हैं (१६) । केवलज्ञान-के द्वारा आपने सारे विश्वको व्याप्त किया है, इसलिए विष्णु कहलाते हैं (२०) । राजत्रयरूप तीन विक्रम अर्थात् शक्तिरूप सम्पदाएं आपको प्राप्त हैं, अतः आप त्रिविक्रम कहलाते हैं । अथवा तीनों लोकोंमें आपका विशिष्ट क्रम है अर्थात् सर्वोच्च स्थान है, इसलिए भी त्रिविक्रम कहलाते हैं (२१) । सूर-वीर क्षत्रियोंकी सन्तति होनेसे आप सौरि कहलाते हैं (२२) । अभ्युदय-निःश्रेयसरूप श्रीके पति होनेसे आप श्रीपति कहलाते हैं (२३) । तिरैसठ शलाका पुरुषोंमें उत्तम होनेसे आपको पुरु-षोत्तम कहते हैं (२४) । आपकी माता दिक्कुमारियोंके गूढ़ प्रश्नोंका उत्तर देनेमें विकुंठा अर्थात् विचक्षणता होती है । आप उनके अपत्य अर्थात् पुत्र हैं, इसलिए वैकुंठ कहलाते हैं (२५) । पुंडरीक अर्थात् कमलके समान सुन्दर आपके अक्ष अर्थात् नेत्र हैं, इसलिए आप पुंडरीकाक्ष कहलाते हैं । अथवा आपका अक्ष अर्थात् आत्मा पुंडरीक कहिए प्रधानभूत है, श्रेष्ठ है (२६) । हृषीक अर्थात् इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण आप हृषीकेश कहलाते हैं (२७) । पापोंके हरण करनेमें हरि कहलाते हैं (२८) । स्वयं ही जानने योग्य वस्तु-तत्त्वको जाननेके कारण स्वभू कहलाते हैं (२९) ।

अर्थ—हे विश्वेश, आप विश्वम्भर हैं, असुरध्वंसी हैं, माधव हैं, बलिबन्धन हैं, अघोक्षज हैं, मधुहोषी हैं, केशव हैं, विश्वभ्रमर हैं, श्रीवत्सलाङ्घन हैं, श्रीमान् हैं, अभ्युदय हैं, नरकान्तक हैं, विरवक्षसेन हैं, चक्रपाथि हैं, पद्मनाभ हैं, जनार्दन हैं, श्रीकण्ठ हैं, शंकर हैं, शम्भु हैं, कपाली हैं, वृषकेतन हैं, मृत्युंजय हैं, विरूपाक्ष हैं, वामदेव हैं और त्रिलोचन हैं ॥१०१-१०३॥

व्याख्या—हे विश्वके ईश, आप विश्वका भरण-पोषण करते हैं, उसे नरकादि गतियोंके दुःखोंसे बचाते हैं, इसलिए लोक आपको विश्वम्भर कहते हैं (३०) । मोहरूप असुरका आपने विध्वंस किया है, इसलिए जगत् आपको असुरध्वंसी कहाता है । अथवा असु अर्थात् प्राणियोंको जो 'राति' कहिए ग्रहण करे, ऐसे यमको असुर कहते हैं । आपने उस यमराजका भी नाश किया है, कालपर विजय पाई है, अतः आप यमके भी यम हैं, इस अपेक्षासे भी असुरध्वंसी यह आपका नाम सार्थक है (३१) । मा अर्थात् समवसरण और केवलज्ञानादिरूप बहिरंग-अन्तरंग लक्ष्मीके

१ विश्वम्भरसे लेकर श्रीकण्ठ तक विष्णुके नाम हैं और शंकरसे लेकर श्री हर तकके नाम महादेवके हैं, पर ग्रन्थकारने अर्थके चातुर्यसे उन्हें धीतयाग भगवान् पर ही ध्यकर यह ध्वनित किया है कि आप हो लक्ष्मी ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं, अन्य नहीं ।

धा धवः स्वामी । बलिः कर्मबन्धनं वीक्ष्य यस्य मते, वा बलमस्त्यस्तीति बलिः, बलवत्तरं त्रैलोक्यज्ञोभक्तव्य-
 क्तारत्वां बन्धनं तीर्थफलनामोचैवौघद्वयं यस्य; वा बलित्वं पादेयकरस्तस्य बन्धनं षष्ठांश निर्धारणं यस्मात् राध्या-
 वक्षरे स बलिबन्धनः । अघोक्षाणां जितेन्द्रियाणां दिगम्बरगुण्यां जायते भ्यानेन प्रत्यक्षीभवति, डो संज्ञाया-
 मपि इप्रत्ययः । अज्ञानं ज्ञानं अघो यस्य स अघोक्षुब्धः, केवलज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानामुपरि वर्तते इत्यर्थः ।
 मधुशब्देन मयं सारधं च द्वयमुच्यते, तद्वयमपि द्वेष्टि दूषितं कथयति महद् पापमूलं ब्रूते इत्येवंशीलः ।
 प्रशस्ता अलिङ्गुलनीलवर्णां केशा मस्तके विद्यन्ते यस्य, केशाद्रोऽन्यतस्यां इत्यनेन सूत्रेण अत्यर्थं व प्रत्ययः ।
 विष्टर इव भवती कर्णौ यस्य स तयोक्तः । सर्वधातुभ्योऽसुप् । वा विस्तरं सकलभुतज्ञाने भवती कर्णा-
 आकाशितवती यस्य ॥१०१॥ श्रीवत्सनामा कक्षि क्षाङ्गनामावत्तो यस्य । श्रीवहिरंगा समवसरणलक्षणा
 अन्तरंगा केवलज्ञानादिका विधते यस्य । न व्यते स्म स्वरूपादच्युतः, परमात्मनिष्ठ इत्यर्थः । सत्तरक-
 भूमिषु पतितुं न ददाति तेन नरकस्य अन्तको विनाशकः, स्वर्ग-मोक्षप्रदायक इत्यर्थः । विष्णु समन्तात् सेना

धव अर्थात् भर्ता या स्वामी होनेसे योगिजन आपको माधव कहते हैं । अथवा राज्यावस्थामें आप
 राजलक्ष्मीके स्वामी थे । अथवा मा शब्दसे प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणका प्रहण करना चाहिए । आप इन
 दोनों प्रमाणोंके धव अर्थात् प्रणेता हैं, उनके प्रयोगमें अति विषक्षण हैं, इसलिए भी माधव कह-
 लाते हैं (३२) । बलि अर्थात् कर्मको आपने बन्धन बतलाया है, अतः आप बलिबन्धन कहलाते हैं ।
 अथवा बलवानको बली कहते हैं । आपने त्रैलोक्यको क्षोभित करनेवाले ऐसे बली तीर्थकर नामकर्म
 और विशिष्ट जातिके उभगोत्रकर्मका पूर्वभवमें बन्धन किया है इसलिए भी आपका बलिबन्धन नाम
 सार्थक है । अथवा राजा अपनी प्रजासे जो कर लेता है, उसे भी बलि कहते हैं । आपने आयके छठे
 भागरूपसे उसका बन्धन अर्थात् निर्धारण राज्यावस्थामें किया था, इसलिए भी आप बलिबन्धन
 कहलाते हैं (३३) । अक्ष अर्थात् इन्द्रियोंको जिन्होंने विजय कर अधः कहिण नीचे डाला है, ऐसे
 जितेन्द्रिय साधुओंको अधोक्ष कहते हैं । आप ऐसे जितेन्द्रियोंके 'जायते' कहिण ध्यानसे प्रत्यक्ष
 होते हैं, इसलिए अधोक्ष कहलाते हैं । अथवा अतीन्द्रिय केवलज्ञानको प्राप्त कर आपने अक्षज
 अर्थात् इन्द्रियज्ञानका अधःपात किया है, इसलिए भी आपका अधोक्षज यह नाम सार्थक है (३४) ।
 मधु शब्द मद्य और शहद दोनोंका वाचक है, आप उस मधुके द्वेषी हैं अर्थात् मद्य और मधुके
 सेवनको आपने पापका मूल कारण बतलाया है, इसलिए आप मधुद्वेषी कहलाते हैं (३५) । आपके
 मस्तकके केश अत्यन्त रिंग्म और नीलवर्ण हैं, इसलिए आप केशव कहलाते हैं । (तीर्थकर
 भगवान्के केश कमी भी श्वेत नहीं होते और मस्तकके सिवाय अन्यत्र उनके बाल नहीं होते ।)
 अथवा क नाम आत्माका है, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें जो ईश अर्थात् समर्थ होते हैं, ऐसे
 महामुनियोंको केश कहते हैं । उनका व अर्थात् वास आपके ही चरणोंके पास है, इस-
 लिए भी आप केशव कहलाते हैं (३६) । आपके विष्टर अर्थात् पीठके समान विस्तीर्ण भवस्
 कहिण कर्ण हैं, इसलिए आप विष्टरभवा कहलाते हैं । अथवा विष्टर अर्थात् विस्तीर्ण भवस्
 कहिण अंगवाह्य और अंगप्रविष्टरूप श्रुतज्ञान ही आपके श्रोत्र हैं, इसलिए भी आप विष्टरभवा
 कहलाते हैं (३७) । आपके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स नामका लाङ्घन अर्थात् रोमावर्त है, इसलिए आप
 श्रीवत्सलाङ्घन कहलाते हैं । अथवा श्रीवत्स नाम लक्ष्मीके पुत्र कामदेवका भी है । आपने अपने
 सौन्दर्यसे उसे भी लाङ्घित या तिरस्कृत किया है । अथवा श्रीवत्सल अर्थात् लक्ष्मीके स्नेही लोगों-
 का संसार-वास आङ्घन कहिण विस्तीर्ण होता जाता है, ऐसा प्रतिपादन करनेके कारण आप
 श्रीवत्सलाङ्घन कहलाते हैं (३८) । आपके अन्तरंग अनन्त चतुष्टयरूप और बहिरंग समवसरण-
 रूप श्रीके पाये जानेसे आप श्रीमान् कहलाते हैं (३९) । आप अपने स्वरूपसे कमी भी च्युत
 नहीं होते, इसलिए अच्युत कहलाते हैं (४०) । नरकोके अन्तक अर्थात् विनाशक होनेसे आप

द्वादशविधो गणो यस्य । चक्रं लक्षणं पाथौ यस्य स तयोक्तः । पद्मवत् कमलपुष्पवत् नामिर्यस्य स पद्मनामः । समाप्तान्तगतानां वा राजादीनामदन्तता इत्यधिकारे संज्ञायां नामिः । अन् प्रत्ययः । जनान् जनपदलोकान् अदीति (अर्दति) संबोधनार्थं गच्छति, वा जनास्त्रिभुवनस्थितभयलोकान् अर्दना मोक्षयाचक्र यस्य । अथवा जनान् अर्दयति मोक्षं गमयति जनार्दनः । नन्धादेर्युः, इन्तस्य सुप्रत्ययः ॥१०२॥ श्रीशुक्लिकल्पीः कण्ठे आसिगनपरा यस्य । शं परमानन्दलक्षणं सुखं करोति । शं परमानन्दलक्षणं सुखं भवत्यस्मात् । कान् आत्मनः सर्वजन्तून् पालयतीति । वृषो अहिंशालक्षणो धर्मः केतनं भवजा यस्य । मृत्युं अन्तकं जयतीति । विरूपं रूपरहितं सूदनस्वभावं अदि केवलज्ञानलक्षणं लोकालोकप्रकाशकं लोचनं यस्य । वामो मनोहरो देवः । त्रयाणां स्वर्ग-मर्त्य पातालस्थितानां भव्यजीवानां लोचनप्रायः नेत्रस्थानीयः त्रिलोचनः ॥१०३॥*

नरकान्तक कहलाते हैं । क्योंकि जीवोंको सदाचरणके द्वारा उन्हें नरकोंमें गिरनेसे बचाते हैं (४१) । आपके विष्णुक अर्थात् चारों ओर द्वादश समाओंके जीव ही सेनारूपसे समवसरणमें या विहारकालमें साथ रहते हैं, इसलिए आप विष्णुकसेन कहलाते हैं । अथवा विष्णुक अर्थात् तीनों लोकोंमें जो सा यानी लक्ष्मी विद्यमान है, उसके आप इन कहिए स्वामी हैं, इसलिए भी विष्णुकसेन यह नाम आपका सार्थक है (४२) । आपके पाणि अर्थात् हाथमें चक्रका चिन्ह है, इसलिए योगिजन आपको चक्रपाणि कहते हैं । अथवा सेनारूप चक्रको जो पालते हैं ऐसे मंडलेश्वर, अर्धचक्री और चक्रवर्ती राजाओंको चक्रप कहते हैं । उनकी आप अणि अर्थात् सीमास्वरूप हैं, धर्मचक्रके प्रवर्तन करनेसे सर्वशिरोमणि हैं, इसलिए भी आप चक्रपाणि कहलाते हैं । अथवा चक्रप अर्थात् सुरेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, मुनीन्द्रादिकों को भी आप 'अणिति' कहिए उपदेश देते हैं, इस अपेक्षासे भी आपका चक्रपाणि यह नाम सार्थक है (४३) । पद्म अर्थात् कमल पुष्पके समान आपकी नाभि है, इसलिए आप पद्मनाम कहलाते हैं (४४) । जन अर्थात् जनपदवासी लोगोंको 'अर्दति' कहिए संबोधनके लिए जाते हैं, इसलिए आप जनार्दन कहलाते हैं । अथवा त्रिभुवनके भव्यजन दीन होकर आपसे मोक्षमार्गीकी अर्दना अर्थात् याचना करते हैं इसलिए भी जनार्दन यह नाम सार्थक है (४५) । श्री अर्थात् मुक्तिरूपी लक्ष्मी आपके कंठका आसिगन करनेके लिए उग्रत है, इसलिए आप श्रीकण्ठ कहलाते हैं (४६) । शं अर्थात् परमानन्दस्वरूप सुखके करनेसे आप शंकर कहलाते हैं (४७) । शम् अर्थात् सुख भव्य जीवोंको आपसे प्राप्त होता है, इसलिए आप शम्भु कहलाते हैं (४८) । 'क' अर्थात् जीवोंको पालन करनेके कारण आप कपाली कहलाते हैं । अथवा 'क' अर्थात् आत्माकी जो 'पान्ति' कहिए रक्षा करते हैं, ऐसे मुनियोंको 'कप' कहते हैं । उन्हें आप लाति कहिए रत्नत्रयके द्वारा विभूषित करते हैं इससे कपाली कहलाते हैं (४९) । वृष अर्थात् अहिंसालक्षण धर्म ही आपकी केतन कहिए ध्वजा है, इसलिए आप वृषकेतन कहलाते हैं (५०) । मृत्युको आपने जीत लिया है, अतः आप मृत्युजय कहलाते हैं (५१) । आपका विरूप अर्थात् रूप-रहित अमूर्तिक एवं इन्द्रिय-अगोचर केवलज्ञानरूप अक्ष कहिए नेत्र होनेसे योगिजन आपको विरूपाक्ष कहते हैं । अथवा विशिष्ट रूपशाली एवं त्रिभुवनके चित्तको हरण करनेवाले आपके विशाल नेत्र हैं, इसलिए भी आप विरूपाक्ष अर्थात् आत्मा है, इसलिए भी आपको विरूपाक्ष कहते हैं (५२) । आप वाम अर्थात् मनोहर देव हैं, अति सुन्दराकार हैं, इसलिए वामदेव कहलाते हैं । अथवा वाम अर्थात् कामके शत्रु महादेवके भी आप परमाराध्य देव हैं, इसलिए वामदेव कहलाते हैं । अथवा वाम अर्थात् सुन्दर सौधमेंद्रादि देव आपकी सेवामें सदा उपस्थित रहते हैं, इसलिए भी आप वामदेव कहलाते हैं ।

*इव स्थानपर 'मुनिश्रीविषयचन्द्रेय कर्मक्षयार्थं लिखितम्' इतना और अ प्रतिमें लिखा हुआ है ।

उमापतिः पशुपतिः स्मरारिषिपुरान्तकः । अर्धनारीश्वरो ह्यो भवो भर्गः सदाशिवः ॥१०४॥
जगत्कर्ताऽन्धकारातिरनादिनिधनो हरः । महासेनस्तारकाजित् गणनाथो विनायकः ॥१०५॥
विरोचनो विषद्वज्रं द्वाद्वात्मा विभावसुः । द्विजाराध्यो बृहद्भालुश्चिन्नभालुस्तनूतपात् ॥१०६॥

उमायाः कान्तेः कीर्त्तेश च पतिः स्वामी । पशुतां सुर-नर-तिरश्वां पतिः स्वामी । स्मरस्य कन्दर्पस्य अरिः शत्रुः । तिवृणां पुरां जन्म-जप-मत्स्यलक्षणनगपण्यां अन्तको विनायकः । अर्धे न विद्यन्ते अरयः शशवो यस्य सोऽर्धनारिः, घातिसंघातघातनः, स चासावीश्वरः स्वामी । कर्मणां रौद्रमूर्तिघात् रुद्रः, रोदिति आनन्दाश्रयि मंचति आत्मदर्शने सति । रक्तप्रत्ययः । भवत्यस्माद्रिषमिति । श्रुजि-श्रुजी भजने इत्ययं घातुः अथवा 'वा' अर्थात् 'वन्दनामं 'म' कहिए सूर्य, चन्द्र, रुद्र आदि आपके सदा विद्यमान रहते हैं, अतएव आपकी वामदेव कहते हैं । अथवा वामा अर्थात् इन्द्राणी, देवियाँ और राजपत्नियाँ आदि सुन्दर स्त्रियोंकी आप परम आराध्यदेव हैं, इसलिए भी वामदेव कहलाते हैं (५३) । तीनों लोकोंके लोचनरूप होनेसे आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा जन्मकालसे ही आप मति, भुत, अक्षिबिज्ञानरूप तीन नेत्रोंके धारक थे, इसलिए भी लोग आपको त्रिलोचन कहते हैं । अथवा तीनों लोकोंमें आपके केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप दो लोचन ही वस्तुरूपके दर्शक हैं, अन्य नहीं, इसलिए भी आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा मन, वचन, काय इन तीनों योगोंका आपने लोचन अर्थात् मुण्डन किया है, उन्हें अपने वशमें किया है, इसलिए आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा त्रिकरण-शुद्ध होकर आपने अपने केशोंका लुं'चन किया है इसलिए भी त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप तीन रत्नोंको जो लेते हैं ऐसे महामुनियोंको त्रिल कहते हैं । उनका ओचन अर्थात् समुदाय आपके पाया जाता है, इसलिए भी आप त्रिलोचन कहलाते हैं (५४) ।

अर्थ—हे रमेश, आप उमापति हैं, पशुपति हैं, स्मरारि हैं, त्रिपुरान्तक हैं, अर्धनारीश्वर हैं, रुद्र हैं, भव हैं, भर्ग हैं, सदाशिव हैं, जगत्कर्ता हैं, अन्धकाराति हैं, अनादिनिधन हैं, हर हैं, महासेन हैं, तारकाजित् हैं, गणनाथ हैं, विनायक हैं, विरोचन हैं, विषद्वज्र हैं, द्वाद्वात्मा हैं, विभावसु हैं, द्विजाराध्य हैं, बृहद्भालु हैं और तनूतपात् हैं ॥१०४-१०६॥

व्याख्या—हे लक्ष्मीके आगार, आप कान्ति और कीर्त्तिके पति हैं, इसलिए उमेश, उमापति आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं (५५) । जो कर्म-ग्रन्थनोंसे बंधे हैं, ऐसे संसारी जीवोंको पशु कहते हैं, उनके आप छुड़ाने वाले हैं, इसलिए पशुपति कहलाते हैं (५६) । स्मर अर्थात् कामदेवके आप अरि हैं, इसलिए स्मरारि कहलाते हैं (५७) । जन्म, जरा और मरणरूप तीन पुरोंके आप अन्त करनेवाले हैं, इसलिए त्रिपुरान्तक कहलाते हैं । अथवा मोक्ष जानेके समय औदारिक, तैजस और कामेण इन तीन शरीररूप पुरोंका अन्त करनेके कारण भी आप त्रिपुरान्तक कहलाते हैं । अथवा त्रिपुर अर्थात् त्रैलोक्यके अन्तमें आपका 'क' कहिए आत्मा निवास करता है, इसलिए भी आप त्रिपुरान्तक कहलाते हैं (५८) । अघाति-कर्मरूप आधे शत्रु आपके नहीं पाये जाते, इस प्रकारके ईश्वर होनेसे आप अर्धनारीश्वर कहलाते हैं (५९) । कर्मोंके भस्म करनेके लिए आप रौद्रमूर्ति हैं, इसलिए रुद्र कहलाते हैं । अथवा आत्म-दर्शन होनेपर आप 'रुदिति' कहिए आनन्दके अश्रु छोड़ते हैं, इसलिए भी आप रुद्र कहलाते हैं (६०) । आपसे विश्व उत्पन्न होता है, इसलिए आप भव कहलाते हैं । यद्यपि आप जगत्को बनाते नहीं हैं, पर ऐसा ही आपका माहात्म्य है कि जो आपकी निन्दा करते हैं, वे नरक-निर्गोदादि दुर्गतियोंको प्राप्त होते हैं । जो आपकी स्तुति-प्रशंसा करते हैं, वे स्वर्गको और आपका ध्यान करनेवाले मोक्षको प्राप्त होते हैं । इस अपेक्षा विश्व आपसे उत्पन्न हुआ कहलाता है (६१) । आपने ध्यानके द्वारा काम-श्रोधादिको भस्म किया है, इसलिए भर्ग कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानादि गुणों-

१ यहाँ से विनायक तकके नाम गणेशके हैं । २ यहाँ से ज्ञाने के नाम अग्निके हैं ।

भौवादिकः, आत्मनेपदी । भुज्यन्तेऽनेन कामक्रोधादयो ध्यानाभ्यौ पच्यन्ते भस्मीक्रियन्ते, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् प्रत्ययः । सदा सर्वकालं शिष्यं परमकल्याणं अनन्तं सुखं वा यस्य ॥१०४॥ जगता कर्ता स्थितिविधायकः मर्यादाकारकः । वा जगतः कं सुखं इत्यर्थं गच्छति जानातीति । अंधश्चरहितः सम्यक्त्वविधातकः, कः कायः स्वरूपं यस्य स अन्धकः, मोहकर्म तस्य अरातिः शत्रुः, मूलादूर्मूलकः । न विद्येते आदि-निधने उत्पत्ति-मरणे यस्य स तथोक्तः । अनन्तभक्तोपाकृतानि अघानि पापानि जीवानां हारति निराकरोतीति । महती द्वादशगणलक्षणा सेना यस्य । राज्यावस्थायां वा महती चतुःसागरतटनिवाधिनी सेना चमूर्यस्य । तारयन्ति संसारसमुद्रस्य पारं नयन्ति भव्यजीवान् तारकाः, गणधरदेवानगारकेवलिसूर्युपाध्यायसर्वसाधवः, तान् जितवान्, सर्वधामप्युपरि बभूव, तेन

को धारण करनेसे भी आपका भर्गनाम सार्थक है । अथवा भव्यजीवोंका पोषण करनेसे भी भर्ग कहलाते हैं (६२) । आपके सदा ही शिव अर्थात् परम कल्याण पाया जाता है, इसलिए आप सदा-शिव कहलाते हैं । अथवा जो रात्रि-दिनका भेद न करके सदा ही भोजन-पान करते हैं, उन्हें सदाशिव कहते हैं । आपके मतानुसार उन्हें सदा 'घ' अर्थात् संसार-समुद्रमें डूबना पड़ेगा, इससे भी सदाशिव कहलाते हैं (६३) । आप जगतके कर्ता अर्थात् स्थिति या मर्यादाके विधाता हैं, इसलिए जगत्कर्ता कहलाते हैं । अथवा जगतको 'क' अर्थात् सुख प्राप्त करते हैं, इसलिए भी जगत्कर्ता कहलाते हैं (६४) । जगत् को अन्धा करनेवाले मोहकर्मको अन्धक कहते हैं, उसके आप अराति अर्थात् शत्रु हैं, इसलिए अन्धकाराति कहलाते हैं । अथवा गाढ़ अन्धकार-पूर्ण नरक-स्थानको अन्धक कहते हैं, आप जीवोंको नरकोंमें गिरने नहीं देते, अतः नरकोंके शत्रु हैं, इसलिए भी अन्धकाराति कहलाते हैं । अथवा अन्धकार पूर्ण कारारूप गृहमेंसे निकाल कर आप जीवोंको मोक्षमें रखते हैं, इसलिए भी अन्धकाराति कहलाते हैं (६५) । आदि नाम उत्पत्तिका है और निधन नाम मरणका है । आप जन्म और मरणसे रहित हैं इसलिए अनादिनिधन कहलाते हैं (६६) । अनन्त-भवोपार्जित पापोंके हरण करनेसे आप हर कहलाते हैं । अथवा 'ह' अर्थात् हर्षको 'राति' कहिए, उत्पन्न करते हैं, इसलिए हर कहलाते हैं । अथवा 'ह' अर्थात् हिंसाके लिए आप 'र' कहिए अग्निस्वरूप हैं, क्योंकि हिंसाका सर्वथा निषेध करते हैं, इसलिए भी हर कहलाते हैं (६७) । आपके राज्यावस्थामें द्वादशगणलक्षणा महा सेना थी, इसलिए आप महासेन कहलाते हैं । अथवा मह अर्थात् पूजाकी अतिशोभा को महासा कहते हैं । आप उस पूजातिशयके इन अर्थात् स्वामी हैं, इसलिए भी महासेन कहलाते हैं । अथवा सा नाम लक्ष्मी और सरस्वती का भी है । आप दोनोंके ही महा स्वामी हैं, अतः महासेन कहलाते हैं अथवा समवसरणमें स्थित महान् सिंहासनको महासा कहते हैं । उसके ऊपर स्थित आप इन अर्थात् सूर्यके समान प्रतिभासित होते हैं, इसलिए भी आप महासेन कहे जाते हैं (६८) । जो भव्य जीवोंको संसार-समुद्रसे तारते हैं, ऐसे गणधरदेवादिको तारक कहते हैं । आपने अपने दिव्य उपदेशके द्वारा उन्हें जीत लिया है, इसलिए आप तारकजित् कहलाते हैं । अथवा तार अर्थात् उच्च शब्द करनेवाले मेधोंको तारक कहते हैं । आपने अपने गम्भीर तार-वसे उन्हें जीत लिया है, इसलिए भी आप तारकजित् कहलाते हैं । संस्कृतमें ड, ल और र में भेद नहीं होता, इस नियमके अनुसार संसारको ताड़ना देनेवाला मोहकर्म ताड़क कहलाता है । आपने उसे जीत लिया है, इसलिए भी आप ताड़कजित् या तारकजित् कहलाते हैं । अथवा श्मसानमें ताली बजाकर नाचनेवाले रुद्रको तालक कहते हैं । आपने उसे भी जीत लिया है, इसलिए तालकजित् या तारकजित् कहलाते हैं । अथवा मोक्ष-पुरके किवाड़ोंपर तालेका काम करनेवाले अन्तराय कर्मको तालक कहते हैं आपने उस अन्तराय कर्मको भी जीत लिया, इसलिए आप तालकजित् कहलाते हैं (६९) । गण अर्थात् द्वादश भेदरूप संघके आप नाथ हैं, अतः गणनाथ कहलाते हैं । अथवा नाथ धातुका ऐश्वर्य और आशीर्वाद देना भी अर्थ है । आप गणको ऐश्वर्य भी प्रदान करते हैं और

तारकविदुञ्चते । गणस्य द्वादशभेदसंशय नाथः । विशिष्टानां गयीन्द्र-सुरेन्द्र-नागेन्द्र-विद्याधर-चारुयादीनां नायकः ॥१०५॥ विशिष्टं रोचनं ज्ञायिकसम्बन्धकं यस्य । विपतः आकाशाद् रत्नं रत्नदृष्टिव्यं यस्माद्वा दातुर्गृहे विपद्रत्नम् । अथवा विपतः आकाशास्य रत्नं अन्तरीक्षचारित्वात् । द्वादशानां गणानामात्मा जीवप्रायः । अथवा द्वादश अंगानि आत्मा स्वभावो यस्य । वा द्वादश अनुभेदा आत्मनि छद्मस्थावस्थायां यस्य । कर्मन्वनदहन-कारित्वात् विभा-सुः अभिरूपः । द्विजानां मुनीनामारोप्यः । बृहत् अलोकः स्यापि अर्पयन्तकत्यापि व्यापिनो भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य । चित्रा विचित्रास्त्रैलोक्यलोकचित्तचमत्कारकारिणो विश्वप्रकाशकत्वात्

आशीर्वाद भी देते हैं, इसलिए भी गणनाथ कहलाते हैं (७०) । आप गयीन्द्र, सुरेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, विद्याधरादि विशिष्ट पुरुषोंके नायक हैं और स्वयं विगत-नायक हैं अर्थात् आपका कोई दूसरा स्वामी नहीं है, आप ही त्रैलोक्यके एकमात्र स्वामी हैं, इसलिए विनायक कहलाते हैं (७१) । आप विशिष्ट रोचन अर्थात् ज्ञायिकसम्बन्धकके धारक हैं, अतः योगिजन आपको विरोचन कहते हैं । अथवा रोचन शब्द लोचन और दीप्तिका भी वाचक है । आप विशिष्ट दीप्तिके और केवलज्ञानरूप नेत्रके धारक हैं, इसलिए भी आप विरोचन कहलाते हैं । अथवा आभरणके विना ही आप विशेष शोभित होते हैं । अथवा रोचन अर्थात् संसारसे प्रीति आपकी विनष्ट हो चुकी है, इत्यादि विभिन्न निरुक्तियोंकी अपेक्षा से भी विरोचन नामको सार्थक करते हैं (७२) । आकाशमें अन्तरीक्ष गमन करनेसे आप वियद्रत्न अर्थात् आकाशके रत्न कहलाते हैं । अथवा आपके कल्याणकोंमें आकाशसे रत्नोंकी वर्षा होती है, इसलिए भी लोग आपको वियद्रत्न कहते हैं । अथवा निर्वाण-लाभ करनेपर लोकाकाशके अन्तमें स्थित तनुवातवलयके आप रत्न होंगे अर्थात् वहाँ विराजमान होंगे, इस अपेक्षासे भी आप वियद्रत्न नामको सार्थक करते हैं (७३) । आप द्वादश गणोंके आत्मा हैं, अर्थात् जीवन-हेतुक प्राणस्वरूप हैं, इसलिए द्वादशात्मा कहलाते हैं । अथवा श्रुतज्ञानके द्वादश अंगरूप ही आपका आत्मा है, इसलिए भी आप द्वादशात्मा कहलाते हैं । श्रुतज्ञान और केवलज्ञानमें केवल प्रत्यक्ष-परोक्षकृत भेद माना गया है, किन्तु सर्व पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा दोनों समान हैं (७४) । विभा-वसु शब्द अग्नि, सूर्य, चन्द्र, रुद्र आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप अग्निके समान कर्मोंको भस्म करते हैं, सूर्यके समान मोहरूप अन्धकारको दूर करते हैं, चन्द्रके समान संसारके दुःख-सन्तप्त प्राणियोंको अमृतकी वर्षा करते हैं और रुद्रके समान कर्मोंकी सृष्टिका प्रलय करते हैं, इसलिए उक्त सभी अर्थोंकी अपेक्षा आप विभावसु नामको सार्थक करते हैं । अथवा विभा अर्थात् केवलज्ञानरूप विशिष्ट तेज ही आपका वसु अर्थात् धन है, इसलिए भी आप विभावसु कहलाते हैं । अथवा आपके सान्निध्यमें विश्वा, वसु आदि देवगण प्रभा-विहीन हो जाते हैं । अथवा जो विशिष्ट भा अर्थात् तेज-पुञ्जकी रक्षा करे, उसे विभावा कहते हैं आपको सू अर्थात् प्रसव करनेवाली माता ऐसी ही विभावा है, अतः आप विभावसु कहलाते हैं । अथवा राग-द्वेषादि विभाव परिणामोंके आप विनाशक हैं, इस अपेक्षा भी आप विभावसु कहलाते हैं (७५) । मातासे जन्म लेनेके पश्चात् जो सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं, व्रत और चारित्रिको पालन करते हैं, ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैद्योंको द्विज कहते हैं, व्रती पुरुष भी द्विज कहलाते हैं । आप ऐसे द्विजोंके आराध्य हैं, इसलिए द्विजाराध्य कहलाते हैं । अथवा माताके उदरसे जन्म लेनेके पश्चात् अंडमें से भी जन्म लेनेके कारण पक्षियों को द्विज कहते हैं । पक्षी तक भी अपनी चाणीसे आपका गुण-गान करके आपकी आराधना करते हैं, इसलिए भी आप द्विजाराध्य कहलाते हैं । अथवा द्विज नाम दांतोंका भी है । योगिजन ध्यानके समय दांतोंके ऊपर दांतोंको करके एकत्र हो आपकी आराधना करते हैं, इसलिए भी द्विजाराध्य हैं (७६) । जाननेकी अपेक्षा अलोकाकाशके पर्यन्त भाग तक आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी भातु अर्थात् किरणें फैलती हैं, ऐसी बृहद् अर्थात् विशाल किरणोंको धारण करनेसे आप बृहद्भातु कहलाते हैं । अथवा आपका

द्विजराजः सुधाशोषिरौषधीशः कलानिधिः । नक्षत्रनाथः शुभ्रांशुः सोमः कुमुदबान्धवः ॥१०७॥

लेखर्षभोऽनिलः पुण्यजनः पुण्यजनेश्वरः । धर्मराजो भोगिराजः प्रचेता भूमिनन्दनः ॥१०८॥

सिंहिकाननयश्छायानन्दनो बृहतांपतिः । पूर्वदेवोपदेशा च द्विजराजसमुद्भवः ॥१०९॥

॥ इति ब्रह्मराजम् ॥

भानवः केवलज्ञानकिरणा यत्न । तद् कार्यं न पातयति छद्मस्थावस्यायां नियतत्रक्तानुपवासान् कृत्वापि लोकानां मार्गदर्शनार्थं पात्र्यां करोति । अथवा भगवान् मुक्तिंगलो यदा भविष्यति तदा तनोः परमौदारिकचरमशरीरात् किंचिदूनशरीराकारं सिद्धपर्यायाकारं भव्यजीवान् प्रतिपातयति शपयतीति ॥१०६॥

द्विजानां त्रिष-क्षत्रिय-वैश्यानां राजा स्वामी । सुधावत् अमृतवत् लोचनं सौख्यदायकं शोची गेचि-
र्यस्य । औषधीनां जन्म-जप-मरणनिवारणभेषजानां सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपसामधीशः स्वामी औषधीशः,

पुण्यरूप भानु अति महान् है, इसलिए बृहद्भानु कहलाते हैं । अथवा आपका केवलज्ञानरूप महान् सूर्य लोक और अलोकको जानता है, इसलिए आप बृहद्भानु कहलाते हैं । अथवा बृहद्भानु नाम अग्निका भी है । आप अग्निके समान पाप-पुञ्जको जलाने वाले हैं, इसलिए योगिजन आपको बृहद्भानु कहते हैं (७७) । आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी किरणें चित्र-विचित्र हैं, अर्थात् त्रैलोक्यके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाली हैं, क्योंकि वे विश्वकी प्रकाशक हैं, अतः आपको साधुजन चित्रभानु कहते हैं । अथवा आपका पुण्यरूप सूर्य संसारको चित्र अर्थात् आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है, इसलिए भी आप चित्रभानु कहलाते हैं । अथवा आपको देखकर भानु भी आश्चर्यसे चकित रह जाता है, क्योंकि आप कोटि भानुसे भी अधिक प्रभाको धारण करते हैं (७८) । कैवल्य प्राप्तिके पूर्व तक शरीर का पात आपको अभीष्ट नहीं है, यही कारण है कि आप अनुलवलशाली होने पर भी दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् शरीरकी स्थिति रखने और लोगोंको साधु-भाग दिखानेके लिए पारणा करते हैं । अथवा आप मुक्तिगमनके पश्चात् परमौदारिक चरम शरीरसे किंचिदून शरीराकारवाली सिद्धपर्यायको भव्यजीविके लिए प्रतिपादन करते हैं, इसलिए आप तनूनपात कहलाते हैं (७९) ।

अर्थ—हं जिनेश्वर, आप द्विजराज हैं, सुधाशोचि हैं, औषधीश हैं, कलानिधि हैं, नक्षत्र-
नाथ हैं, शुभ्रांशु हैं, सोम हैं, कुमुदबान्धव हैं, लेखर्षभ हैं, अनिल हैं, पुण्यजन हैं, पुण्यजनेश्वर हैं,
धर्मराज हैं, भोगिराज हैं, प्रचेता हैं, भूमिनन्दन हैं, सिंहिकाननय हैं, छायाानन्दन हैं, बृहतांपति
हैं, पूर्वदेवोपदेशा हैं और द्विजराजसमुद्भव हैं ॥१०७-१०९॥

व्याख्या—हे जिनेश, आप द्विजों अर्थात् व्रतियोंके राजा हैं, इसलिए द्विजराज कहलाते हैं । अथवा संसारमें केवल दो बार ही जन्म लेनेवाले विजयादि अनुत्तरविमानवासी अहमिन्द्रोंके आप राजा हैं । अथवा जरा अर्थात् शुद्धावस्था बलित और पलितके भेदसे दो प्रकारकी होती है । शरीरमें कुरियों पड़नेको बलित और केशोंके श्वेत होनेको पलित कहते हैं । आप इन दोनों ही प्रकारकी जराओंसे रहित हैं, अर्थात् जीवन-पर्यन्त आपकी युवावस्था बनी रहती है । अथवा स्त्री और पुरुष इन दोके संयोग होने पर उत्पन्न होनेवाले कामको भी द्विज कहते हैं । उसे जो 'राति' कहिए ग्रहण करते हैं, अर्थात् उसके वशमें हो जाते हैं, ऐसे हरि, हर, ब्रह्माको द्विजर कहते हैं । उनके मतका आप 'अजति' कहिये निराकरण करते हैं, अतएव द्विजराज कहलाते हैं (८०) । आपके ज्ञानकी शोचि अर्थात् किरणें सुधाके समान संसारको सुखदायक हैं, अतः आप सुधाशोचि कहलाते हैं (८१) । संसारमें रोगोंके निवारण करनेवाली जितनी भी औषधियाँ हैं, उनसे जन्म, जरा और मरणरूप रोग दूर नहीं होता, आप उनके भी निवारण करनेवाली रत्नत्रयरूप औषधिके प्रणेता हैं, अतः औषधीश, औषधीश्वर आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं । अथवा उष अर्थात्

१ यहसि लेकर कुमुदबान्धव तकके नाम चन्द्रमाके हैं ।

कर्म-जय-मरणनिवारक इत्यर्थः । कलानां द्वांसतिसंख्यानां लोके प्रसिद्धानां निधिः निधानभूतः । नक्षत्राणां अक्षरानीत्यादीनां नाथः स्वामी । शुभ्रा उज्वलाः कर्मफलकरहिताः अंशवः केवलज्ञानकिरणा यस्य । सृते उत्पादयति अमृतं मोक्षं सोमः, सृयते मेरुमस्तके अभिषिष्यते वा सोमः । अस्तिहुसुष्टुक्षिणीपदभावा-स्तुभ्यो मः । कुमुदानां भव्यकैरवाणां बान्धवः उपकारकारकः मोक्षप्रापकः । अथवा कुत्सिते अश्वमेधादिहिंसा-कर्मणि मुद् इषो येषां ते कुमुदः, तेषामबान्धवः तन्मतोच्छेदकः ॥१०७॥ लेखेषु देवेषु ऋषयः श्रेष्ठः । न विद्यते इला भूमिर्भस्य स अनिलः, त्यक्तवप्यत्वात्, ऊर्ध्वान्तरिक्षचारित्वाद्वा, तनुवातवलये निपधारः स्यात्स्व-तीति वा । पुण्याः पवित्राः पापरहिताः जनाः सेवकाः यस्य, पुण्यजननो वा पुण्यजनः । अन्तर्गर्भितार्यभिदं

शरीरके दाह या मारणाकी बुद्धिको औषधी कहते हैं । जैसे सृत् पतिके साथ चितामें जलना, सती होना, नदी-समुद्रादिमें गिरकर मरना, फौसी आदि लगाकर मरना, इत्यादि उपायोंसे आत्मघात करना । इस प्रकारके आत्मघातको आपने महापाप कहकर 'श्यति' कहिए निराकरण किया है, इसलिए भी आप औषधीश नामको चरितार्थ करते हैं । अथवा तपश्चरणादिके द्वारा कर्मोंके जलानेकी बुद्धिको भी औषधी कहते हैं । उसके द्वारा ही 'श' कहिए सच्चा सुख प्राप्त होता है, इस प्रकारके उपदेशको देनेके कारण भी आप औषधीश नामको सार्थक करते हैं (८२) । आप लोक-प्रसिद्ध बहत्तर कलाओंके निधि अर्थात् भंडार हैं, अतः कलानिधि कहलाते हैं । अथवा 'क' अर्थात् आत्मस्वरूपको जो लावे, प्राप्त करावे, ऐसी बारह भावनाओंको 'कला' कहते हैं । आप उनके निधि अर्थात् अक्षयस्थान हैं, इसलिए भी कलानिधि कहलाते हैं (८३) । अश्विनी, भरणी इत्यादि नक्षत्रोंके आप नाथ हैं, इसलिए नक्षत्रनाथ कहलाते हैं । अथवा नक्षत्र अर्थात् अन्धायको आपने नाथ कहिए संतापका कारण कहा है । अथवा नक्ष नाम गति अर्थात् ज्ञानको है, उसका जो त्राण करते हैं, उन्हें नक्षत्र अर्थात् ज्ञानी कहते हैं । उनके आप नाथ हैं, अतः आप नक्षत्रनाथ कहलाते हैं (८४) । आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी अंशु अर्थात् किरणें अत्यन्त शुभ्र या उज्वल हैं, क्योंकि वे कर्मफल-कलंकसे रहित हैं, इसलिए आप शुभ्रशंशु कहलाते हैं । अथवा लोकालोकके प्रकाशक शुभ्र अंशु अर्थात् निर्मल आत्मप्रदेशोंको आप धारण करते हैं, इसलिए शुभ्रशंशु कहलाते हैं । अथवा अंशु नाम शिष्योंका भी है, आपके विविध ज्ञान और ऋद्धियोंके धारक अनेक निर्मल तपस्वी शिष्य विद्यमान हैं, अतः आप शुभ्रशंशु नामको सार्थक करते हैं (८५) । आप 'सृते' कहिए अमृत और मोक्षको उत्पन्न करते हैं, इसलिए सोम कहलाते हैं । अथवा 'सृयते' अर्थात् मेरुमस्तक पर देवोंके द्वारा अभिषिक्त होते हैं, इसलिए भी सोम कहलाते हैं । अथवा 'सा' नाम सरस्वती और लक्ष्मीका है, आप इन दोनोंसे उमा अर्थात् युक्त हैं । अथवा उमा नाम कान्तिका भी है, आप उमाके साथ शोभाको प्राप्त होते हैं, इसलिए भी सोम कहलाते हैं (८६) । कुमुद अर्थात् भव्यजीवरूप कमलके आप बान्धव हैं, उपकारक हैं, उन्हें मोक्षमें पहुँचाते हैं, इसलिए आप कुमुदबान्धव कहलाते हैं । अथवा 'कु' अर्थात् पृथ्वीपर जो मोक्षको प्राप्त होते हैं, ऐसे इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्रादिको कुमुद कहते हैं । उनके आप बान्धव हैं । अथवा अश्वमेधादि हिंसा कर्मवाले कुत्सित कार्योंमें जिन्हें हर्ष हो, ऐसे पापी याक्षिकोंको कुमुद कहते हैं । आप उनके अबान्धव हैं, क्योंकि उनके मतका आप उच्छेद करते हैं (८७) । लेख नाम देवोंका है । आप उनमें ऋषभ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए लेखर्षभ कहलाते हैं (८८) । इला अर्थात् पृथ्वी जिसके पास न हो, उसे अनिल कहते हैं । आपने सर्व राज्यलक्ष्मी, पृथिवी आदिका परित्याग कर दिया है, इसलिए आप भी अनिल कहलाते हैं । अथवा आप गगन-विहारी हैं, पृथ्वीके आधारसे रहित हैं (८९) । पुण्य अर्थात् पवित्र या पापसे रहित जन (मनुष्य) आपके सेवक हैं, इसलिए आप पुण्यजन कहलाते हैं । अथवा भक्तोंको या संसारको पुण्यके जनक

नाम, पुण्यं जनयतीति पुण्यजनक इति भावः । पुण्यजनानां पुण्यवत्पुण्यायामीश्वरः । धर्मस्य अहिंसा लक्षणस्य चारित्र्यस्य रत्नत्रयस्य उत्तमसङ्गमादेश्च राजा स्वामी । भोगिनां नागेन्द्रादिदेवानां राजा । अथवा भोगिनां दरांग-भोगयुक्तानां चक्रवर्तिनां राजा । प्रकृतं सर्वेषां दुःखदायिदनाशनपरं चेतो मनो यस्य । भूमीनां अशोमथ्योष्ण-लक्षणत्रैलोक्यलोकाणां नन्दयति समृद्धिदानेन वर्षयतीति ॥१०८॥ त्रिजगज्जयनशीला सिंहाका तीर्थकरजननी, तस्यास्तनयः पुत्रः । राहुवत् पापकर्मसु क्रूरचित्तत्वाद्वा सिंहाकातनयः । छायां शोभां नन्दयति वर्षयतीति । अथवा छायायां अशोकतच्छायाया त्रैलोक्यलोकं देवायां मिलितं नन्दयति, आनन्दितं शोकरहितं च करोति । बृहतां सुरेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्राणां पतिः । पूर्वदेवानामसुषुप्तीनामुपदेष्टा संकेशपरित्यागनिषेधकः । द्विजानां राधां च समुत् सहर्यः भवो जन्म यस्य ॥१०९॥

॥ इति ब्रह्मरातम् ॥

अर्थात् उत्पादक हैं, इसलिए भी पुण्यजन कहलाते हैं (६०) । आप पुण्यवान् जनोके ईश्वर हैं, अतः पुण्यजनेश्वर हैं (६१) । आप अहिंसा-लक्षण धर्मके, रत्नत्रयके या उत्तम सङ्गमादिरूप दश धर्मोंके राजा हैं, इसलिए आप धर्मराज कहलाते हैं । अथवा धर्मार्थ अर्थात् पशुहोमके लिए जो 'र' कहिए अभिको सदा अपने घरमें रखते हैं, ऐसे ब्राह्मणोंको धर्मर कहते हैं । उनका आप 'अजति' कहिए निराकरण करते हैं, इसलिए लोग आपको धर्मराज कहते हैं (६२) । भोगी अर्थात् नागकुमारोंके आप राजा हैं । अथवा दशांग भोग भोगनेवाले चक्रवर्तियोंके आप राजा हैं, इसलिए आपको भोगिराज कहते हैं (६३) । आप सर्व प्राणियोंके दुःख-दारिद्र्य-नाशक प्रकृत चित्तके धारक हैं, अतः प्रचेता कहलाते हैं । अथवा आपके मनका व्यापार प्रगत अर्थात् प्रगष्ट हो चुका है, यानी आप मनके सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित हैं, इसलिए भी प्रचेता कहलाते हैं (६४) । तीनों लोकोंकी भूमियोंको अर्थात् उनपर रहनेवाले प्राणियोंको आप आनन्द पहुँचाते हैं, इसलिए भूमिनन्दन कहलाते हैं (६५) । सिंहके समान पराक्रमशालिनी और त्रिजगज्जयन-शीला आपकी माताका लोग सिंहाका कहते हैं, उसके आप पराक्रमी बलशाली तनय अर्थात् पुत्र है, इसलिए सिंहाकातनय कहलाते हैं । अथवा सिंहाकातनय राहुका भी नाम है । पापकर्म करनेवाले लोगोंके लिए आप राहुके समान क्रूर हैं (६६) । आप छाया अर्थात् शोभाको 'नन्दयति' कहिए बढ़ाते हैं, इसलिए छायानन्दन कहलाते हैं । आपके शुभागमनसे संसार सुख-सम्पन्न हो जाता है । अथवा आपकी वन्दनाके लिए आये हुए भव्यप्राणी अशोकवृक्षकी छायामें आकर आनन्दित हो जाते हैं और अपना-अपना शोक भूल जाते हैं, इसलिए भी आप छायानन्दन कहलाते हैं । अथवा छाया शब्द शोभा, कान्ति, सूर्यभार्या आदि अनेक अर्थोंका वाचक है, आप उन सबके आनन्द-वर्धक हैं (६७) । बृहतां अर्थात् सुरेन्द्र, नरेन्द्र, मुनीन्द्रादिके आप पति हैं, इसलिए बृहतांपति या बृहस्पति कहलाते हैं (६८) । पूर्वदेव अर्थात् असुरादि राक्षसोंके आप उपदेष्टा हैं, उनके अशुभ और संकेश-प्रचुर-कर्मोंका निषेध करते हैं, इसलिए पूर्वदेवोपदेष्टा कहलाते हैं । अथवा षट्पदश पूर्वधारी गणधर देवोंके भी आप उपदेष्टा हैं (६९) । द्विज और राजाओंको आपके जन्मसे समुद् अर्थात् हर्ष उत्पन्न होता है, इसलिए आप द्विजराजसमुद्भव कहलाते हैं । अथवा द्विज अर्थात् मुनियोंमें जो 'राजते' कहिए शोभित होते हैं, ऐसे रत्नत्रयको द्विजराज कहते हैं । रत्नत्रयधारियोंमें ही आपके शुद्ध आत्मस्वरूपका जन्म होता है, इसलिए भी द्विजराजसमुद्भव कहलाते हैं (१००) ।

इस गकार अष्टम ब्रह्मरातक समाप्त हुआ ।

(९) अथ बुद्धशतम्

बुद्धो दशबलः शाक्यः षडभिन्नस्तथागतः । समन्तभद्रः सुगतः श्रीवनो भूतकोटिविक ॥११०॥
सिद्धार्थो मारजित्कृष्णात्तु वृषिकैकसुलक्ष्णः । बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽद्भ्यवादाधि ॥१११॥
महाहृत्पालुनैरात्म्यवादी संतानशासकः । सामान्यलक्षणचण्डः पंचस्कन्धमयात्मकः ॥११२॥
भूतार्थभावनासिद्धः चतुर्भूमिकशासनः । चतुरार्यसत्यवक्ता निराश्रयचिदन्वयः ॥११३॥

बुद्धिः केवलज्ञानलक्षणा विद्यते यस्य । अथवा बुध्यते जानाति सर्वमिति । उत्तमज्ञामामाद्वर्णव-
सत्यशौचसंयमतपरत्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलक्षणानि धर्माणां इत्युक्तानां दशानां बलं वामर्ष्य
यस्य । अथवा दो दया-बोधश्च, ताभ्यां सबलः समर्थो दशबलः, श्लेषत्वात् स-शयोनं भेदः । स्वप्ने
शक्नोति शकः तीर्थकृत्पिता, शकस्यापत्यं पुमान् । अथवा अक अग कृटिलयां गतौ भ्वादौ परस्मैपदी ।
अकनं आकःकेवलज्ञानम्, शं सुखं अनन्तसौख्यम्; शं च आकश्च शाकौ, तयोर्निर्गुणः शाक्यः । यदुगवादिदतः ।
षट् बोधपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशान् षड्द्रव्यसंज्ञान् पदार्थान् अभि समन्तात् जानातीति । तथेति सत्यभूतं
गतं ज्ञानं यस्य । समन्तात् सर्वत्र भद्र कल्याणं यस्य । अथवा समन्तं सम्पूर्णस्वमात्रं भद्रं शुभं
यस्य । शोभनं गतं गमनं यस्य । अथवा सुष्ठु शोभनं गतं केवलज्ञानं यस्य । अथवा सुगा सुगमना अग्नेऽभे

अर्थ—हे बोधिनिधान, आप बुद्ध हैं, दशबल हैं, शाक्य हैं, षडभिन्न हैं, तथागत हैं, समन्त-
भद्र हैं, सुगत हैं, श्रीघन हैं, भूतकोटिविक हैं, सिद्धार्थ हैं, मारजित हैं, शास्ता हैं, क्षणिकैकसुल-
क्षण हैं, बोधिसत्त्व हैं, निर्विकल्पदर्शन हैं, अद्भ्यवादी हैं, महाहृत्पालु हैं, नैरात्म्यवादी हैं, संतान-
शासक हैं, सामान्यलक्षणचण्ड हैं, पंचस्कन्धमयात्मक हैं, भूतार्थभावनासिद्ध हैं, चतुर्भूमिकशासन
हैं, चतुरार्यसत्यवक्ता हैं, निराश्रयचित्त हैं और अन्वय हैं ॥११०-११३॥

व्याख्या—यद्यपि बुद्ध आदि नाम बौद्धधर्मके प्रयेता बुद्धके हैं, तथापि ग्रन्थकारने अपने
पांडित्यसे स्वमतके अनुसार अर्थ करके उन्हें जिनेन्द्र भगवान् पर घटित किया हैं । हे बोधिके
निधान, आप केवलज्ञानरूप बुद्धिके धारण करनेवाले हैं, इसलिए बुद्ध कहलाते हैं । अथवा सर्व
जगत्को जानते हैं, इसलिए भी बुद्ध कहलाते हैं (१) । आपके ज्ञान, मार्ग, आर्जव आदि दश
धर्म बल अर्थात् सामर्थ्यरूप हैं, इसलिए आप दशबल कहलाते हैं । अथवा 'द' शब्द दया और
बोधका वाचक है, इन दोनोंके द्वारा आप सबल अर्थात् सामर्थ्यवान् हैं, इसलिए भी योगिजन
आपको दशबल कहते हैं । श्लेषार्थकी अपेक्षा स और श में भेद नहीं होता । बौद्धमतमें बुद्धके दान,
शील, ज्ञान्ति, वीर्य, ध्यान, शान्ति, सामर्थ्य, उपाय, प्रणिधान और ज्ञान ये दश बल माने गये
हैं (२) । जो सर्व शक्तिवाले कार्योंके करनेमें समर्थ हो, उसे शक कहते हैं, इस निश्चितिके अनुसार
तीर्थकरके पिता शक कहे जाते हैं । आप उनके पुत्र हैं, इसलिए शाक्य कहलाते हैं । अथवा 'श'
अर्थात् सुख और शक यानी ज्ञानको धारण करनेसे भी आप शाक्य कहलाते हैं । बौद्धमतमें बुद्धको
शक राजाका पुत्र माना जाता है (३) । जीवादि छह द्रव्योंको उनके अनन्त गुण और पर्यायोंके
साथ भलीभांति जाननेसे आप षडभिन्न कहलाते हैं । बुद्धके दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, पूर्वभवस्मरण,
परचित्तज्ञान, आल्लवचय और ऋद्धि ये छह अभिज्ञा पाई जाती है, इसलिए उन्हें षडभिन्न कहते
हैं (४) । आपने वस्तुस्वरूपको तथा कहिए यथार्थ गत अर्थात् जान लिया है, इसलिए आप तथा-
गत कहलाते हैं (५) । आप 'समन्तात्' अर्थात् सब ओरसे भद्र हैं, जगत्के कल्याण कर्ता हैं,
अथवा आपका स्वभाव अत्यन्त भद्र है, इसलिए आप समन्तभद्र कहलाते हैं (६) । सुन्दर गत
अर्थात् गमन करनेसे अथवा सुन्दर गत अर्थात् केवलज्ञान धारण करनेसे आप सुगत कहलाते हैं ।
अथवा सुगा अर्थात् सुन्दर और आगे गमन करने वाली 'ता' कहिए लक्ष्मी आपके पाई जाती है
इसलिए भी आप सुगत कहलाते हैं (७) । श्री अर्थात् रत्न-सुवर्णादिरूप लक्ष्मीको वर्षानेके लिए

गामिनी ता लक्ष्मीर्यस्य । श्रिया लक्ष्म्या धनो मेघः, कनकवर्षित्वात् । वा श्रिया लक्ष्या केवलशानादि-
लक्षण्याया निर्वृतः । भूतानां प्राणिनां कोटीरनन्तबीधान् दिशति कथयति मुक्तिगतेष्वपि अनन्तबीधेषु संसारे
अनन्तानन्तबीधाः सन्तीति, न कदाचिदपि बीधराशिद्वयो भवतीति शिद्ध्यति भूतकोटिदिक् ॥११०॥ विद्याः
प्रतिमागता अर्था धर्माधिकामोक्षारचत्वायो यस्य । मारं कर्षर्षदर्पं जितवान् । शास्ति विनेयचापान् धर्मं
शिद्ध्यति । सर्वे उर्वीपर्वततर्वादयः पदार्था एकरिमन् द्वाभे एकस्मिन् समये उत्पाद-व्यय-श्रौच्य प्रयेण युक्ताः
क्षयिका ईदृशां वचनं एकमद्वितीयं शोभनं लक्ष्णं सर्वशत्वलाञ्छनं यस्य स तथोक्तः । रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः,
बोधेः सर्वं विद्यमानत्वं अस्तित्वं स्वरूपतया सर्वेषु प्राणिषु शक्तिरूपतया विद्यते यस्य मते स बोधिसत्त्वः ।
निर्विकल्पं अविशेषं सत्ताबलोकनमात्रं दर्शनं यस्य स तथोक्तः । अथवा निर्विकल्पानि विचाररहितानि
दर्शनानि अपरमतानि यस्य स तथोक्तः । निश्चयनयमाश्रित्य आत्मा च कर्म च एतद्वयं न द्वयं वदतीत्ये-
वमवश्यं अद्वयवादी ॥१११॥ कृपा विद्यते यस्य स कृपालुः, महेश्वातौ कृपालुः महाकृपालुः; तद्वित

आप धनके समान हैं, क्योंकि आपके स्वर्गावतारके पूर्वसे ही भूतल पर रत्न-सुवर्णकी वर्षा होने
लागती है । इसलिए श्रीधन कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानरूप लक्ष्मीसे आप धनीभूत अर्थात्
निर्वृत हैं, अखण्ड ज्ञानके पिण्ड हैं (८) । भूत अर्थात् प्राणियोंकी 'कोटि' कहिए अनन्त संख्याको
उपदेश देनेके कारण आप भूतकोटिदिक् कहलाते हैं । आपके मतानुसार प्राणियोंकी संख्या अनन्त
है, निरन्तर मोक्षमें जाने पर भी उनका कभी अन्त नहीं आता । अथवा प्राणियोंके कोटि-कोटि पूर्व
और उत्तर भवोंको आप जानते हैं और उनका उपदेश देते हैं । अथवा प्राणियोंको जो मिथ्या उपदेश
के द्वारा 'कोटियन्ति' कहिए आकुल-व्याकुल करते हैं, ऐसे जिमिनि, कपिल, कणाद आदिको भी
आप सन्मार्गाका उपदेश देते हैं, अतः भूतकोटिदिक् कहलाते हैं । अथवा जीवोंके कोटि अर्थात्
ज्ञानादि गुणोंके अतिशय वृद्धिका उपदेश देते हैं । अथवा अनन्त प्राणियोंके आप विश्राम-स्थान-
भूत हैं, उनके आश्रयदाता हैं, इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है (९) । आपको अर्थ अर्थात्
चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं, अतः आप सिद्धार्थ हैं । अथवा सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करना ही
आपका अर्थ कहिए प्रयोजन है । अथवा जीव, अजीव आदि नव पदार्थ आपके द्वारा प्रसिद्धिको
प्राप्त हुए हैं, इसलिए आप सिद्धार्थ कहलाते हैं । अथवा मोक्षका कारणभूत अर्थ कहिए रत्नत्रय
आपके सिद्ध हुआ है, इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है (१०) । मार अर्थात् काम-विकारके
जीत लेनेसे आप मारजित कहलाते हैं । अथवा मा अर्थात् लक्ष्मी जिनके समीप रहती है, ऐसे
इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्रादिको मार कहते हैं, उन्हें आपने अपने विषय उपदेशके द्वारा जीत लिया है ।
बुद्धने स्कन्धमार, क्लेशमार, मृत्युमार और देवपुत्रमार इन चार मारोंको जीता था, इसलिए उन्हें
मारजित कहा जाता है (११) । सत्यधर्मका उपदेश देनेके कारण आप शास्ता कहलाते हैं (१२) ।
सभी पदार्थ क्षणिक हैं, अर्थात् प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और श्रौच्यरूप हैं, एकरूप स्थायी नहीं है;
इस प्रकारका एक अर्थात् अद्वितीय सुन्दर सर्वज्ञताका प्रतिपादक लक्षण आपके पाया जाता है, अतः
आप क्षणिकैकमुलक्षण कहलाते हैं (१३) । रत्नत्रयकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं । इस बोधिका सत्त्व
अर्थात् शक्तिरूपसे अस्तित्व सर्व प्राणियोंमें पाया है, इस प्रकारका उपदेश देनेके कारण आप बोधि-
सत्त्व कहलाते हैं । अथवा बोधिरूप सत्त्व अर्थात् बल आपके पाया जाता है (१४) । आपने दर्शन
को सत्तामात्रका प्राहक और निर्विकल्प अर्थात् विकल्पशून्य प्रतिपादन किया है, अतः आप निर्वि-
कल्पदर्शन कहलाते हैं । अथवा आपने मतान्तररूप अन्य दर्शनोंको निर्विकल्प अर्थात् विचार-शून्य
प्रतिपादन किया है, क्योंकि उनका कथन प्रमाणसे बाधित है (१५) । एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सत्-
असत् आदि द्वैतोंको द्वय कहते हैं, आपने इन सबको अप्रामाणिक कहा है, अतः आप अद्वयवादी
कहलाते हैं । अथवा निश्चयनयके अभिप्रायसे आत्मा और कर्मरूप द्वैत नहीं है ऐसा आपने कथन

आतुः । स्वमते नीरस्य जलस्य अप्रकायिकस्य भावो नैरं नीरसमूहः, तदुपलक्षणं पंचस्थावराणाम् । तत्र आत्मा शक्तिरूपतया केवलज्ञानादिस्वभावो नैरत्मा, नैरत्मनो भावः नैरत्म्यम्, तद्वदतीति नैरत्म्यकादी, अतएव महाकृपालुर्गतिं पूर्वमुक्तम् । अनादिसन्तानवान् जीवस्तस्तन्तानं शास्तीति सन्तानशासकः । शुद्ध-निश्चयनयमाश्रित्य सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति वचनात् सर्वेषां जीवानां सामान्यलक्षणं तत्र चणो विचक्षणः, सामान्यलक्षणचणः । शुद्धाशुद्धनयमाश्रित्य पंचस्कन्धमयं पंचज्ञानमयमात्मानं पर्यतीति पंचस्कन्धमयात्पटक् ॥११२॥ भूतार्थभावनाया कृत्वा स्वामी सिद्धो घातिसंघातघातनो बभूव, केवलज्ञानं प्राप्तवानित्यर्थः । स्वमते तु चतुर्भूमिकं नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिलक्षणं शासनं शिक्षणमुपदेशो यत् । चतुराः मतिश्रुतावधि-मनःपर्ययज्ञानचतुष्टये प्रवीणाश्चतुराः श्रीमद्गणधरदेशः । अयंने सेव्यन्ते गुणैर्गुणवन्निर्वा आर्याः, चतुराश्च ते आर्याश्च चतुरार्याः, तेषां आर्यभूमिभवमनुष्यादीनां वा सरस्य वक्ता चतुरार्यसत्य-वक्ता । निर्गतो निर्गट आश्रयः स्थानं यस्याः सा निरश्रया; निरश्रया चित् चेतना यस्य । बुद्धस्य निरश्रयचित्, बौद्धमते किल चेतना निरश्रया भवति । स्वमते तु श्रीमद्भगवदहंस्तवंशस्तु निरश्रयचित् निरश्रया रागद्वेषमोहसमस्तसंकल्पविकल्पादिजालपहिता चित् चेतना शुद्धध्यानैकलोलीभाव आत्मा यस्य स निरश्रयचित् । अन् पृष्ठतो लग्नः अयः पुण्यं यस्य सोऽन्वयः ॥११३॥

क्रिया है । इसलिए आपको अद्वयवादी कहते हैं (१६) । कृपा नाम दयाका है । आप महान् दयालु हैं, क्योंकि सूक्ष्म जीवों तककी रक्षा करनेका उपदेश देते हैं; अतः महाकृपालु कहलाते हैं (१७) । नीर नाम जलका है, नीरके समुदायको नैर कहते हैं । जलमें भी आत्मा है इस प्रकारका उपदेश देने से आप नैरत्म्यवादी कहलाते हैं । यहां नैर पदके उपलक्षणसे पृथिवी आदि पांचों स्थावरोंका ग्रहण किया गया है । अन्य मतवालोंने पृथिवी, जल आदिमें आत्मा नहीं माना है, किन्तु आपने उन सबमें शक्तिरूपसे उसी प्रकारका आत्मा माना है, जैसा कि हम और आपमें है और वे भी उन्नति करके मनुष्यादि पर्यायको प्राप्त कर सकते हैं । बुद्धने आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं माना है और दिखाई देनेवाले प्रत्येक पदार्थको आत्मासे रहित कहा है, अतः उन्हें नैरत्म्यवादी कहते हैं (१८) । आपने जीवको अनादि-सन्तानवाला कहा है, इसलिए आप सन्तानशासक कहलाते हैं । बुद्धने आत्माको न मानकर सन्तान नामक एक भिन्न ही पदार्थका उपदेश दिया है (१९) । निश्चयनयकी अपेक्षा सभी जीव शुद्धबुद्धैक-स्वभाववाले हैं, ऐसा जीवमात्रका सामान्य लक्षण प्रतिपादन करनेमें आप चण अर्थात् विचक्षण हैं, इसलिए सामान्यलक्षणचण कहलाते हैं (२०) । शुद्धाशुद्धनयकी अपेक्षा सभी जीव पांच स्कन्ध अर्थात् ज्ञानमय हैं, ऐसा आपने प्रतिपादन किया है, अतः पंचस्कन्ध-मयात्मटक् कहलाते हैं । बुद्धने रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कन्धमय आत्माको माना है (२१) । भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थकी भावना करनेसे आप सिद्ध हुए हैं अतः भूतार्थभावना-सिद्ध कहलाते हैं । नास्तिक मतवाले पृथिव्यादि चार भूतोंकी भावना अर्थात् संयोगसे आत्माकी सिद्धि मानते हैं (२२) । आपके शासन अर्थात् मतमें संसारी जीवोंको नरक, तिर्थ, मनुष्य और देवगतिरूप चार भूमियोंमें विभक्त किया गया है, इसलिए आप चतुर्भूमिकशासन कहलाते हैं । अथवा आपने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगरूप चार भूमिका अर्थात् वस्तु-स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले आधारोंका उपदेश दिया है । चावांकिने पृथिवी आदि चार भूतोंसे युक्त सर्व जगत्को माना है (२३) । चार ज्ञानके धारक और आर्य अर्थात् सुयोग्य ऐसे गणधर देवोंको भी आप सत्यार्थका उपदेश देते हैं, अतः चतुरार्यसत्यवक्ता कहलाते हैं । बौद्धमतमें चार आर्यसत्य माने गये हैं, उनके वक्ता होनेसे बुद्धको उक्त नामसे पुकारा गया है (२४) । आपकी चित् अर्थात् चेतना राग, द्वेष, मोहादि सर्व विकल्प-जालोंसे रहित हैं, अतः आप निरश्रयचित् कहलाते हैं । बुद्धने चेतनाका कोई आश्रय नहीं माना है (२५) । आप अन्वय अर्थात् सन्तानरूपसे

- योगो वैशेषिकस्तुच्छाभावमित्त्वदपदार्थदृक् । नैयायिकः षोडशार्थवादी पंचार्थवर्णकः ॥११४॥
 ज्ञानान्तराध्यक्षबोधः समवायवशाथमित् । मुक्तैकसाध्यकर्मन्तो निर्विशेषगुणामृतः ॥११५॥
 सांख्यः समीक्ष्यः कपिलः पंचविशतितत्त्ववित् । व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेददृक् ॥११६॥
 अस्वसंविदज्ञानवादी सत्कार्यवादसात् । त्रिःप्रमाणोऽक्षप्रमाणः स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् ॥११७॥
 क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो नरो ना चेतनः पुमान् । अकर्ता निर्गुणोऽमूर्त्तो भोक्ता सर्वगतोऽक्रवः ॥११८॥

योगो नैयायिकः, भगवांस्तु ध्यानयोगात् योगः । इन्द्रियजं ज्ञानं सामान्यं, अतीन्द्रियं ज्ञानं विशेषः । विशेषण केवलज्ञानेन सह दीव्यति संस्पृष्टः तस्य चरति वा वैशेषिकः । तुच्छः गुणतुच्छत्वं अभावश्च आत्मनाराः तुच्छाभावौ तौ भिनत्ति उत्थापयति उच्छेदयति । जीव-पुद्गल-धर्माधर्मकालाकारानामानः पद पदार्थाः, तान् पश्यति जानाति च, द्वय-गुण-पर्यायतया सम्यग् वेत्ति । न्याये स्याद्वादे निमुक्तो नैयायिकः । दर्शनविशुद्धादिषोडशकारणानि षोडशार्थाः, तान् वदतीत्येवंशीलः । पंच च ते अर्थाः पंचार्थाः । ते के ? कुं-
 अनादि-निधन हैं, इसलिए अन्वय कहलाते हैं । अथवा आपके अनु अर्थात् पीठके पीछे 'अय' कहिए पुण्यका संचय लगा हुआ है, अर्थात् आप महान् पुण्यशाली हैं, इसलिए भी आप अन्वय कहलाते हैं (२६) ।

अर्थ—हे बीतराग, आप योग हैं, वैशेषिक हैं, तुच्छाभावमित् हैं, पदपदार्थदृक् हैं, नैयायिक हैं, षोडशार्थवादी हैं, पंचार्थवर्णक हैं, ज्ञानान्तराध्यक्षबोध हैं, समवायवशाथमित् हैं, मुक्तैकसाध्यकर्मन्त हैं, निर्विशेषगुणामृत हैं, सांख्य हैं, समीक्ष्य हैं, कपिल हैं, पंचविशतितत्त्ववित् हैं, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी हैं, ज्ञानचैतन्यभेददृक् हैं, अस्वसंविदज्ञानवादी हैं, सत्कार्यवादसात् हैं, त्रिःप्रमाण हैं, अक्षप्रमाण हैं, स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् हैं, क्षेत्रज्ञ हैं, आत्मा हैं, पुरुष हैं, नर हैं, ना हैं, चेतन हैं, पुमान् हैं, अकर्ता हैं, निर्गुण हैं, अमूर्त्त हैं, भोक्ता हैं, सर्वगत हैं, और अक्रिय हैं ॥११४-११८॥

व्याख्या—उपर्युक्त नाम क्रमशः योग, नैयायिक, वैशेषिक और सांख्यके हैं, किन्तु ग्रन्थ-काने विशिष्ट अर्थ करके उन्हें जिनेन्द्रका पर्यायवाचक सिद्ध किया है । हे भगवन् आपके ध्यानरूप योग पाया जाता है, अतः आप योग हैं (२७) । इन्द्रियज ज्ञानको सामान्य और अतीन्द्रिय ज्ञानको विशेष कहते हैं । आप अतीन्द्रिय केवलज्ञानके धारी हैं, अतः वैशेषिक कहलाते हैं (२८) । वैशेषिकोंने अभावको भावान्तर स्वभावी न मानकर तुच्छ अर्थात् शून्यरूप माना है, परन्तु आपने उसका खंडन करके उसे भावान्तरस्वभावी अर्थात् अन्वय पदार्थके सदभावस्वरूप सिद्ध किया है, अतः आप तुच्छाभावमित् कहलाते हैं (२६) । वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक छह पदार्थोंको भावात्मक माना है, पर आपने उनका सबल युक्तियोंसे खंडन कर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन छह पदार्थोंका उपदेश दिया है, अतः आप पदपदार्थदृक् कहलाते हैं (३०) । जिसके द्वारा पदार्थ ठीक-ठीक जाने जाते हैं, उसे न्याय कहते हैं । आप स्याद्वाहरूप न्यायके प्रयोक्ता हैं, अतः नैयायिक कहलाते हैं (३१) । नैयायिक मतवाले प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थोंको माननेके कारण षोडशार्थवादी कहलाते हैं । परन्तु आपने बताया कि दूसरोंको छल, जाति आदिके द्वारा वचनजालमें फंसाकर जीतनेका नाम न्याय नहीं है, और न संशय, छल वितण्डा जाति आदिके पदार्थपना ही बनता है । इसके विपरीत आपने दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतानतिचार, आभीक्ष्णज्ञानोपयोग, आभीक्ष्णसंवेग, शक्तिस्त्याग, शक्तिस्तप, साधुसमाधि, वैयाधृत्यकरण, अहंभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुभ्रतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आबह्वकापरिहायि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये तीर्थंकरप्रकृतिके उपार्जनके

चंद्र-हिमपटल-भौतिककमालादयः, पंचार्थैः समानो वर्षाः पंचार्थवर्षाः, कः कश्यो वत्य तीर्थकरपरमदेवसमुदाय-
स्य स पंचार्थवर्षाकः । अथवा पंचानां जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकारणानां पंचास्तिकायानां वर्षाकः प्रतिपादकः
॥११५॥ ज्ञानान्तरेषु मति-श्रुतावधि-मनःपर्येषु अभ्यन्तः प्रत्यक्षीभूतः बोधः केवलज्ञानं यस्य । समावायवशा
ये अर्थास्तन्पुद्गलवत् भिल्लितास्तान् भिनति प्रयुक्तया जानाति यः स समावायवशा र्थभित् । भुक्तं अनुभवनेन
एकेन अद्वितीयेन साध्यः कर्मणामन्तः स्वभावो यस्य स तथोक्तः । निर्विशेषाः विशेषरहितास्तीर्थकरपरमदेवानां
अनगारकेवल्यादीनां च धातिवंचातने सति गुणाः अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखादयो यस्य मते स
निर्विशेषगुणामृतः ॥११५॥ संख्यां संख्या, तस्यां नियुक्तः । सम्यक् ईदृशं ब्रह्मं योष्यः । कपिरिव कपिः
मनोमर्कटः, कपिं लाति विषय-कषायेषु गच्छन्तं लाति आत्मनि स्थापयति निश्चलीकरोति यो भगवान् तीर्थकर-
परमदेवः स कपिल उच्यते । पंचविंशतितत्त्वानां भावनानां स्वरूपं वेधीति । व्यक्ताः लोचनादीनां गोचरः
संस्वारिणो जीवाः, अव्यक्ताः केवलज्ञानस्य गम्याः सिद्धपरमेष्ठिनः, व्यक्ताश्च अव्यक्ताश्च व्यक्ताव्यक्ताः, ते च ते
ज्ञाः जीवाः व्यक्ताव्यक्ताः, तेषां विशिष्टं ज्ञानं शक्तितया व्यक्तितया केवलज्ञानं विद्यते यस्य मते स

करानेके कारण प्रयोजनभूत सोलह पदार्थोंका उपदेश दिया है अतः आप ही सच्चे पौडशस्यवादी
हैं (३२) । आपने पंच अस्तिकायरूप अर्थोंका वर्णन किया है, अतः आप पंचार्थवर्षाक कहलाते
(३३) । ज्ञानान्तरोंमें अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानोंमें आपका केवलज्ञानरूप बोध
अध्यक्ष है, प्रधान है, अतः आप ज्ञानान्तराध्यक्षबोध कहलाते हैं (३४) । समावाय अर्थात् अपृथक्
आश्रयके वश रहनेवाले जो पदार्थ हैं, उन्हें आप प्रथक्-प्रथक् रूपसे जानते हैं, इसलिए समावाय-
वशा र्थभित् कहलाते हैं (३५) । किये हुए कर्मोंका अन्त अर्थात् विनाश एकमात्र फलको भोगनेके
द्वारा ही साध्य है, इसप्रकारका उपदेश देनेके कारण आप भुक्तकेसाध्यकमान्त कहलाते हैं (३६) ।
अर्हन्त्यपद प्राप्त करने पर तीर्थकरदेव या सामान्यकेवली आदि सभी निर्विशेष-गुणामृतवाले हो
जाते हैं, अर्थात् उनके अनन्तज्ञानादि गुणोंमें कोई भेद नहीं रहता, सभी समानरूपसे आत्मिक-
गुणामृतका पान करते हैं और अजर-अमर हो जाते हैं; इसलिए आप निर्विशेषगुणामृत कहलाते
हैं (३७) । संख्या अर्थात् गणना किये जाने पर-ईश्वरके अन्वेषण किये जाने पर आदिमें, मध्यमें
या अन्तमें आप ही प्राप्त होते हैं; आपके अतिरिक्त अन्य कोई परमेश्वरकी गिनतीमें नहीं आता,
अतः आपको लोग सांख्य कहते हैं (३८) । आप सम्यक् अर्थात् अच्छी तरह ईदृश्य कहिए
देखनेके योग्य हैं, अतः समीक्ष्य कहलाते हैं । अथवा समी कहिए समभाववाले योगियोंके द्वारा ही
आप ईदृश्य हैं, दृश्य हैं, अन्यके अगोचर हैं, अतएव समीक्ष्य कहे जाते हैं (३९) । कपि अर्थात्
बन्दूके समान चञ्चल मनको जो लावे, अर्थात् वशमें करे, आत्मामें स्थापित करे, उसे कपिल कहते
हैं । अथवा 'क' अर्थात् परमब्रह्मको भी जो लावे, उसे कपिल कहते हैं । आपने अपने ध्यानके
बलसे परमब्रह्मस्वरूपको प्राप्त किया है और जीवात्मासे परमात्मा बने हैं, अतः कपिल कहलाते हैं
(४०) । अर्हिसादि पांचों व्रतोंकी पचीस भावनाओंके तत्त्व अर्थात् रहस्यको जाननेके कारण
अथवा आत्मविके कारणभूत सम्यक्त्वक्रिया आदि पचीस क्रियाओंके स्वरूपको हेयोपादेयरूपसे
जाननेके कारण आप पंचविंशतितत्त्ववित् कहलाते हैं । सांख्यलोग प्रकृति, महान्, अहंकार आदि
पचीस तत्त्वोंको मानते हैं और उन्हें जाननेके कारण कपिलको पंचविंशतितत्त्ववित् कहते हैं
(४१) । व्यक्तज्ञ अर्थात् इन्द्रियोंके गोचर ऐसे संसारी जीव और अव्यक्तज्ञ अर्थात् इन्द्रियोंके
अगोचर ऐसे सिद्धजीव, इन दोनोंके अन्तरको आप भली भाँतिसे जाननेवाले हैं, इसलिए आप
व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी कहलाते हैं । सांख्यमतमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले चौबीस तत्त्वोंमेंसे
कुछको व्यक्त और कुछको अव्यक्त माना गया है और आत्मा या पुरुषको ज्ञाता माना गया है ।
कपिल उन सबके विवेक या भेदको जानता है, इसलिए उसे व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी कहते हैं

व्यक्ताव्यक्तश्रियज्ञानी । सर्वे बीजाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इत्यभिप्रायवानित्यर्थः । चेतना त्रिविधा ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना चेति । तत्र केवलज्ञाना ज्ञानचेतना, त्रसानां कर्मचेतना, कर्मफलचेतना चेति द्वे स्थावरणां कर्मफलचेतन्यै (नैव) । चेतनाया भावः चैतन्यं ज्ञानस्य चैतन्यस्य (च) भेदं पश्यतीति ॥ ११६ ॥ निर्विकल्पसमाधौ स्थित आत्मा राग-द्वेष-मोहादिदसंकल्प-दिकल्पपरहितत्वात् न स्वः संघिदितो येन ज्ञानेन तत् अस्वसंघिदितज्ञानं, ईदृशं ज्ञानं वदतीत्येवंशीलः । संगच्छते सत् समीचीनं कार्यं संकर-निर्जरादिलक्षणकार्यं कर्तव्यं कर्तव्यं कृत्यं सत्कार्यं तस्य वादः शास्त्रं सत्कार्यवादः । असत्कार्यवादः सन् भगवान् सत्कार्यवादी भवति सत्कार्यवादसात्, अभिव्याप्तौ संपद्यते सातिर्था इत्यनेन सूत्रेण सात्प्रत्ययः शतव्ययम् । सादन्तमव्ययम् । त्रीणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि प्रमाणं मोक्षमार्गत्याऽभ्युपगतं यस्य । अथवा त्रिषु लोकेषु इन्द्र-धरणेन्द्र-मुनीन्द्रादीनां प्रमाणतयाऽभ्युपगतः । वा तिस्रः प्रमाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अनिति जीवयति त्रिप्रमाणः । अक्षः आत्मा प्रमाणं यस्य । स्याद्वा इत्यस्य शब्दस्य अहंकारो वादः स्याद्वाहंकारः । स्याद्वाहंकारे नियुक्तः स्याद्वाहंकारिकः अक्ष आत्मा स्याद्वाहंकारिकाक्षः, ईदृशमक्षमाल्मानं दिशति उपदेशयति स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक्, स्याच्छब्दपूर्वकवादविधायीत्यर्थः ॥ ११७ ॥ क्षियन्ति अधिवसन्ति तदिति क्षेत्रम्, सर्वधातुभ्यश्च । क्षेत्रे अधोमध्योर्ध्वलोकलक्षणं त्रैलोक्यं अलोककाशां च जानाति क्षेत्रज्ञः । अत सातत्यगमने, अतति सततं गच्छति लोकालोकस्वरूपं जानातीति आत्मा । सर्वधातुभ्यो मन् । पुरुषि मक्षति इन्द्रादीनां पूजिते पदे शते तिष्ठतीति ।

(४२) । ज्ञानके पांच भेद हैं और चेतनाके ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना ये तीन भेद हैं । केवली भगवान्के ज्ञानचेतना ही होती है । स्थावर जीवोंके कर्मफलचेतना ही होती है और त्रसजीवोंके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ये दोनों होती हैं । आप ज्ञान और चैतन्य अर्थात् चेतनाके भेदोंके या उनके पारस्परिक सम्बन्धके यथार्थ दर्शा हैं, अतः ज्ञानचैतन्यभेददृक् कहलाते हैं (४२) । निर्विकल्प समाधिमें स्थित आत्मा अपने आपको भी नहीं जानता, अर्थात् उस समय वह स्व-परके सर्व विकल्पोंसे रहित हो जाता है, इस प्रकारका कथन करनेसे आप अस्वसंघिदित-ज्ञानवादी कहलाते हैं । सांख्य लोगोंके मतानुसार कोई भी ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, इसलिए वे अस्वसंघिदितज्ञानवादी कह जाते हैं (४४) । सत्कार्य अर्थात् समीचीन संवर, निर्जरा आदि उत्तम कार्य करनेका उपदेश देनेके कारण आप सत्कार्यवादसात् कहलाते हैं (४५) । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न ही मोक्षमार्गमें प्रमाणरूपसे स्वीकार करनेके कारण आप त्रिप्रमाण कहलाते हैं । अथवा तीनों लोकोंमें इन्द्र, धरणेन्द्र और मुनीन्द्रोंके द्वारा आप ही प्रमाणरूप माने गये हैं । अथवा रत्नत्रयरूप तीन प्रमाओंको आप जीवित रखते हैं, इसलिए भी त्रिप्रमाण नामसे पुकारे जाते हैं । सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणांको माननेके कारण त्रिप्रमाण कहलाता है (४६) । आपने अक्ष अर्थात् शुद्ध आत्माको प्रमाण माना है, अतः लोग आपको अक्षप्रमाण कहलाते हैं । किन्तु सांख्यलोग अक्ष अर्थात् इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानको प्रमाण माननेके कारण उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (४७) । 'स्याद्वा' अर्थात् किसी अपेक्षासे ऐसा भी है, इस प्रकारके अहंकार कहिए वाद या कथन करनेको स्याद्वाहंकार कहते हैं । आपने प्रत्येक आत्माको इस स्याद्वादके प्रयोग करनेका उपदेश दिया है, इसलिए स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् कहलाते हैं (४८) । आप लोक और अलोकरूप क्षेत्रको जानते हैं, अतः क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं । अथवा आत्माके शरीरमें निवास करनेके कारण आत्माको भी क्षेत्र कहते हैं । कोई आत्माको 'श्यामाकतन्दुल' अर्थात् सभाके चावल बराबर मानता है, कोई अंगुष्ठप्रमाण कहता है और कोई जगद्व्यापी मानता है । आपने इन विभिन्न मान्यताओंका निराकरण करके उसे शरीर-प्रमाण ही सिद्ध किया है, अतः आत्माको क्षेत्ररूप शरीर-प्रमाण जाननेके कारण आप क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं (४९) । आप 'अतति' कहिए लोकालोकके स्वरूपको जानते हैं, अतः आत्मा कहलाते हैं (५०) । पुरु अर्थात् इन्द्रादिसे पूजित पदमें शयन करते हैं, इसलिए पुरुष कहलाते हैं (५१) । नय अर्थात् न्यायके

दृष्टा तटस्थः कूटस्थो ज्ञाता निर्बन्धनोऽभवः । बहिर्विकारो निर्मोक्षः प्रधानं बहुधात्मकं ॥११६॥
 प्रकृतिः ख्यातिरारूढप्रकृतिः ॥ प्रकृतिप्रियः । प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरम्यो विकृतिः कृती ॥१२०॥
 भीमांसकोऽस्तसर्वज्ञः श्रुतिपूतः सदोत्सवः । परोक्षज्ञानवादीदृष्टपावकः सिद्धकर्मकः ॥१२३॥

दृष्टाति नयं करोति नरः । नृ नये, अचूपादिभ्यश्च । अथवा न शति न किमपि यद्भातीति नरः । दोऽ-
 संज्ञायामपि, परमान्ग्रन्थ इत्यर्थः । नयतीति समर्थतया भव्यबीचं मोक्षमिति ना, नयतेतिष्ठच्च इति तु नृ प्रत्य-
 यः । चेतयति लोकस्वरूपं जानाति शपयतीति वा, नंथादर्थुः । पुनाति पुनीतं वा पवित्रयति आत्मानं
 निजानुगं त्रिभुवनस्थितभव्यजनसमूहं पुमान् । पूजो इत्यश्च विर्मनसश्च, स पुमान् । पातीति पुमान्नाति
 केचित् । न करोति पापमिति । अथवा अं शिवं परमकल्याणं करोतीति । अथवा अस्य परमब्रह्मणः कर्ता,
 संसारिणं जीवं मोचयित्वा विद्धपर्यायस्य कारक इत्यर्थः । निश्चिताः केवलज्ञानादयो गुणाः यस्य । अथवा
 निर्गता गुणाः राग-द्वेष-मोह क्रोधादयोऽगुणद्वयगुणाः यस्मादिति । मूर्च्छां मोह-समुद्भवायोः, मूर्च्छयते स्म मूर्त्तः,
 मूर्त्तः मोहं प्रासः, न मूर्त्तौ न मोहं प्रासः अमूर्त्तः । अथवा अमूर्त्तः मूर्त्तिरहितः विद्धपर्यायं प्रासः । मुंके
 परमानन्दसुखमिति । सर्वं परिपूर्णं गतं केवलज्ञानं यस्य । अथवा ज्ञानपेक्षया, न तु प्रदेशापेक्षया, सर्वस्मिन्
 लोकेऽलोके च गतः प्रासः । भगवान् खलु प्रमादरहितस्तेन प्रतिक्रमणाधिक्रियारहितत्वात्क्रियः ॥१२८॥

करनेसे आप नर कहलाते हैं । अथवा नहीं कुछ भी ग्रहण करनेक कारण अर्थात् परम निर्मन्थ
 होनेसे भी आप नर कहलाते हैं । अथवा अर अर्थात् कामविकारके न पाये जानेसे आपको नर कहते
 हैं । अथवा 'र' अर्थात् रमणी नहीं पाई जानेसे भी आपका नर नाम सार्थक है (५२) । आप
 भव्यजीवोंको 'नयति' कहिए मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं, इसलिए ना कहलाते हैं (५३) । 'चेतति'
 कहिए लोकालोकके स्वरूपको जाननेके कारण आप चेतन कहलाते हैं (५४) । अपने आपको और
 अनुगामी जनोंको पवित्र करनेसे आप पुमान् कहलाते हैं (५५) । पापको नहीं करनेसे अकर्ता
 कहलाते हैं । अथवा 'अ' अर्थात् परमकल्याणक आप कर्ता हैं । अथवा 'अ' कहिए संसारी
 आत्माके परमब्रह्मस्वरूपको आप करनेवाले हैं, क्योंकि उन्हें संसारसे छुड़ाकर सिद्ध बनाते हैं (५६) ।
 राग, द्वेषादि वैभाविक गुणोंके निकल जानेसे आप निर्गुण कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानादि
 स्वभाविकगुण आपमें निश्चितरूपसे पाये जाते हैं, इसलिए भी आप निर्गुण संज्ञाको सार्थक करते
 हैं अथवा 'निर' अर्थात् निव्रवर्गके प्रणियोंको भी आप अपने समान अनन्त गुणी बना लेते हैं,
 इसलिए भी निर्गुण कहलाते हैं (५७) । मूर्च्छा या मोहको जो प्राप्त हो, उसे मूर्त्त कहते हैं,
 आप मोह-रहित हैं, अतः अमूर्त्त कहलाते हैं । अथवा रूपादि गुणवाले और निश्चित आकार-
 प्रकार वाले शरीरको मूर्त्ति कहते हैं । आप ऐसी मूर्त्तिसे रहित हैं, क्योंकि सिद्धपर्यायको प्राप्त हो
 चुके हैं, इसलिए भी अमूर्त्त कहलाते हैं । अथवा मूर्त्तिका नाम प्रतिनमस्कारका भी है, आप नम-
 स्कारके बदलेमें किसीको नमस्कार नहीं करते हैं । अथवा कठिनताको भी मूर्त्ति कहते हैं, आप
 कठिनता या कर्कशतासे सर्वथा रहित हैं, उत्तममार्दवगुणके धारक हैं (५८) । परम आनन्दरूप
 सुखको भोगनेके कारण आप भोक्ता कहलाते हैं (५९) । सर्वको जाननेसे अथवा लोकपूरण-
 समुद्घातकी अपेक्षा सर्वव्यापक होनेसे आप सर्वगत कहलाते हैं (६०) । मन, वचन, कायकी
 क्रियासे रहित होनेके कारण आप अक्रिय कहलाते हैं । अथवा आप प्रमत्तदशामें होनेवाले पापोंकी
 शुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंसे रहित हैं, क्योंकि सदा अप्रमत्त या
 जागरूक हैं (६१) ।

अर्थ—हे विश्वदर्शिन्, आप दृष्टा हैं, तटस्थ हैं, कूटस्थ हैं, ज्ञाता हैं, निर्बन्धन हैं, अभव
 हैं, बहिर्विकार हैं, निर्मोक्ष हैं, प्रधान हैं, बहुधात्मक हैं, प्रकृति हैं, ख्याति हैं, आरूढप्रकृति हैं,
 प्रकृतिप्रिय हैं, प्रधानभोज्य हैं, अप्रकृति हैं, विरम्य हैं, विकृति हैं, कृती हैं, भीमांसक हैं, अस्त-
 सर्वज्ञ हैं, श्रुतिपूत हैं, सदोत्सव हैं, परोक्षज्ञानवादी हैं, दृष्टपावक हैं, और सिद्धकर्मक हैं ॥१२६-१२९॥

केवलदर्शनेन सर्वे लोकालोकं पर्यतीत्येवंशीलः । तटे संसारपर्यंते मोक्षानिकटे तिष्ठतीति तटस्थः ।
नास्ति स्वप्न कप्रत्ययः । कूटस्थः अप्रच्युतानुपस्थिरकल्पभावत्वात्, त्रैलोक्यशिखरग्रे स्थित इत्यर्थः ।
तदपि भाविन्यापेक्षया ज्ञातव्यम् । जानातीत्येवंशीलः । निर्गतानि कथनानि मोक्ष-ज्ञानावरण-दर्शनावरणात्-
रावकमास्थि यस्य । न विद्यते भवः संसारो यस्य । बहिर्वाहो विकारो विकृतिर्यस्य स बहिर्विकारः, अनम्रत्व-
रहितो नम्र इत्यर्थः । वक्रादिकस्वीकार्ये विकारस्तस्माद्ग्रहितः । निश्चितो नियमेन मोक्षो यत्येति निर्मोक्षः,
तद्भव एव मोक्षं यास्यतीति नियमोऽस्ति भगवतो निर्मोक्षस्तेनोच्यते । उभाञ्च दुष्ञ्च धारण-पोषणयोरिति
तावद्भातुर्वर्तते । प्रधीयते एकाग्रतया आत्मनि धार्यते इति प्रधानं परमशुद्ध्यान्, तद्योगाद्भगवानपि प्रधान-
मित्यादिबलिगतयंच्यते । बहु प्रचुरा निर्जग तयोपलक्षितं धानकं पूर्वोक्तलक्षणं परमशुद्ध्यान् बहुधानकम्,
तद्योगाद् भगवन्नापि बहुधानकम् ॥११६॥

कृतिः करणं कर्तव्यं तीर्थप्रवर्तनम्, प्रकृष्टा त्रैलोक्यलोकहितकारिणी कृतिलीर्थप्रवर्तनं यस्य स प्रकृतिः ।
ख्यानं प्रकृष्टं कथनं यथा तत्त्वस्वरूपनिरूपणं ख्यातिः, तद्योगाद् भगवानपि ख्यातिरित्यादिबलिगमिदं नाम,
सकलतत्त्वस्वरूपप्रकथक इत्यर्थः । (आ स-) मन्ताद् रुदा त्रिभुवनप्रसिद्धा प्रकृतिस्तीर्थकरणात्मकं यत्येति ।
प्रकृत्या स्वभावेन प्रियः सर्वजगद्वल्लभः । अथवा प्रकृतीनां लोकानां प्रियः प्रकृतिप्रियः सर्वलोकप्रिय इत्यर्थः ।

व्याख्या—आप केवलदर्शनेके द्वारा सर्वे लोकालोकको देखते हैं, अतः टट्टा हैं (६२) ।
संसारके तट पर स्थित हैं, अतः तटस्थ कहलाते हैं । अथवा परम उपेक्षारूप माध्यस्थ्यभावको
धारण करनेसे भी तटस्थ कहलाते हैं (६३) । जन्म और मरणसे रहित होकर सदा कूट (टूट) के
समान स्थिर एक स्वभावसे अवस्थित रहते हैं, अतः कूटस्थ कहलाते हैं (६४) । केवलज्ञानके
द्वारा सर्व जगतको जानते हैं, अतः ज्ञाता कहलाते हैं (६५) । ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंके
बन्धन आपसे निकल गये हैं, अतः निर्बन्धन कहलाते हैं (६६) । भव अर्थात् संसारके अभाव हो
जानेसे आप अभव कहलाते हैं (६७) । आपने अपने सर्व विकारोंको बाहिर कर दिया है अतः
बहिर्विकार कहलाते हैं । अथवा यस्त्रादिकोंके स्वीकारको विकार कहते हैं, आप उससे रहित हैं
अर्थात् नम्र-विगम्वर है । अथवा आत्मस्वरूपको विरूप करनेवाला यह शरीर विकार कहलाता है,
आपने उसे अपनी आत्मासे बाहिर कर दिया है । अथवा अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंके द्वारा
नाना प्रकारकी विक्रिया करनेको विकार कहते हैं, आप किसी भी ऋद्धिका उपयोग नहीं करते,
अर्थात् उनकी विक्रियासे रहित हैं, अतः बहिर्विकार कहलाते हैं (६८) । आपके मोक्षकी प्राप्ति
नियमसे उसी भवमें निश्चित है, अतः निर्मोक्ष नामका सार्थक करते हैं (६९) । जिसके द्वारा
प्रकृष्टरूपसे एकाग्र होकर आत्माका धारण किया जाय, ऐसे परम शुक्कध्यानको प्रधान कहते हैं ।
उसके सन्बन्धसे आपभी प्रधान कहलाते हैं । सांख्यमतमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले चौबीस तत्त्वोंके
समुदायको प्रधान कहते हैं (७०) । बहु अर्थात् प्रचुर परिमाणमें जिसके द्वारा कर्मोंकी निजरी हो,
ऐसे परम शुक्कध्यानको बहुधानक कहते हैं, उसके संयोगसे आप भी बहुधानक कहलाते हैं । अथवा
बहुधा अर्थात् बहुत प्रकारके आनक कहिए पट्ट या दुन्दुभि आदि बाजे जिसमें पाये जाते हैं ऐसे
आपके समवसरणको बहुधानक कहते हैं, उसके योगसे आपभी बहुधानक कहलाते हैं । समवसरण
में सादे बारह करोड़ जातिके बाजे बजते रहते हैं (७१) । आपकी तीर्थ-प्रवर्तनरूप कृति प्रकृष्ट है
अर्थात् त्रैलोक्यके लिए हितकारी है, अतः आपको प्रकृति कहते हैं । सांख्य लोग सतोगुण,
रजोगुण और तमोगुणकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं (७२) । तत्त्वके यथावत् स्वरूप-निरू-
पणको करनेसे आप ख्याति नामसे प्रख्यात हैं । सांख्यमतमें ख्यातिनाम मुक्तिका है (७३) ।
आपकी तीर्थकर नामक प्रकृति त्रिभुवनमें आरूढ अर्थात् प्रसिद्ध है, अतः आप आरूढप्रकृति
कहलाते हैं (७४) । आप प्रकृति अर्थात् स्वभावसे ही सर्वे जगतके प्रिय हैं । अथवा प्रकृति

प्रकृत्यं धानं साधधानं आत्मन एकाग्रचिन्तनं अध्यात्मरसः, तद्गोच्यं आत्सवाद्यं यस्य स प्रधानभोज्यः । इह प्रकृतीनां त्रिषष्टेः कृतसंख्यत्वात् शेषाः अघातिप्रकृतयः सत्योऽपि असमर्प्यत्वात्साक्षात् सत्त्वमपि असत्त्वं दग्धरज्जु रूपतया निर्बलत्वं अर्कचित्करत्वं यतः, तेन भगवानप्रकृतिः । सर्वेषां प्रभुत्वाद्वा अप्रकृतिः । विशिष्टानामिन्द्र- धरष्येन्द्र- नरेन्द्र- मुनीन्द्रादीनां विशेषया रम्योऽतिमनोहरो विरम्यः अतिशयरूप-सौभाग्यप्रकृतित्वात् । अथवा विगतं विनष्टं आत्मस्वरूपत्वादव्यन्मनोहरं कस्तु इष्टसंग्वनिताचन्दनादिकं यस्य स विरम्यः, आत्मस्वरूपं विना भगवतोऽन्यद्वस्तु रम्यं मनोहरं न वर्तते इत्यर्थः । विशिष्टा कृतिः कर्तव्यता यत्येति । अथवा विगता विनष्टा कृतिः कर्म यत्येति । कृतं पुण्यं विघते यस्य स कृती, निदानदीपरहितविशिष्टपुण्यप्रकृतिरित्यर्थः ॥१२०॥

मान पूजायां इति तावदयं धातुः, मीमांसते मीमांसकः, स्वसमय-परसमयत्वानि मीमांसते विचारय- तीति । सर्वं च ते शाः सर्वशाः सर्वविद्वान्तः, जिमिनि-कपिल-कणावर चार्वाक-शाक्यादयः, अस्ताः प्रयुक्ताः सर्वशाः येन सोऽस्तसर्वशः । श्रुतिशब्देन सर्वश्वीतरागध्वनिः, तथा पूतः पवित्रः, सर्वोऽपि पूर्वं सर्वश्रुत्या तीर्थकरनामगोत्रं बध्वा पवित्रो भूत्वा सर्वशः संजातस्तेन श्रुतिपूत उच्यते । सदा सर्वकालं उत्सवो महो महाचां

अर्थात् लोकोंके प्रिय हैं, सर्वलोक-बल्लभ हैं, इसलिए भी प्रकृतिप्रिय कहलाते हैं (७५) । अत्यन्त साधधान होकर आत्माका जो एकाग्र मनसे चिन्तन किया जाता है और उससे जो अध्यात्मरस उत्पन्न होता है, उसे प्रधान कहते हैं । वह अध्यात्मरस ही आपका भोज्य अर्थात् भक्ष्य है । अन्य पदार्थ नहीं, क्योंकि आप कबलाहारसे रहित हैं, अतः प्रधानभोज्य कहलाते हैं (७६) । आपने कर्मोंकी मुख्य मानी जानेवाली तिरैसठ प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है, अतः अघानिया कर्मोंकी अवशिष्ट पचासी प्रकृतियों का सत्त्व भी असत्त्वके समान है, अर्कचित्कर है, अतः आप अप्रकृति अर्थात् प्रकृति-रहित कहलाते हैं । अथवा आपका दूसरा कोई प्रकृति अर्थात् प्रभु नहीं है, किन्तु आप ही सर्वके प्रभु हैं (७७) । इन्द्र, धरष्येन्द्र, नरेन्द्र आदि समस्त रम्य पुरुषोंसे भी आप विशिष्ट रम्य हैं, अति सुन्दर हैं, अतः विरम्य कहलाते हैं । अथवा आत्मस्वरूपके अतिरिक्त आपको कोई दूसरी वस्तु रम्य प्रतीत नहीं होती, इसलिए भी विरम्य कहलाते हैं (७८) । विशिष्ट कृति अर्थात् कर्तव्यके करनेसे आप विकृति कहलाते हैं । अथवा कृति अर्थात् कर्म आपके विगत हो चुके हैं, करनेयोग्य सर्व कार्योंको आप कर चुके हैं, कृतकृत्य हैं कृतार्थ हैं, इसलिए भी विकृति कहलाते हैं (७९) । आपके निदानादि दोष-रहित विशिष्ट कृत अर्थात् पुण्य पाया जाता है, इसलिए आप कृती कहलाते हैं । अथवा हरि, हर और हिरण्यगर्भादिमें नहीं पाई जानेवाली इन्द्रादिकृत पूजाके योग्य आप ही हैं । अथवा अनन्तचतुष्टयसे विराजमान महान् विद्वान् होनेसे भी आप कृती कहलाते हैं (८०) । आप स्वसमय और परममयमें प्रतिपादित समस्त तत्त्वोंकी मीमांसा अर्थात् समीक्षा कर उनकी हेय-उपादेयताका निर्णय करते हैं, इसलिए मीमांसक कहलाते हैं (८१) । अपने आपको सर्वज्ञ-माननेवाले जिमिनि, कपिल, कणाद, चार्वाक, शाक्य आदि सभी प्रवादियोंको आपने अपने स्याद्वाक्यके द्वारा अस्त अर्थात् परास्त कर दिया है, इसलिए आप अस्तसर्वज्ञ कहलाते हैं (८२) । सर्वज्ञ धीतरागकी दिव्यध्वनिको श्रुति कहते हैं । आपने अपनी दिव्यध्वनिरूप श्रुतिके द्वारा सर्व जगत्को पूत अर्थात् पवित्र किया है, अतएव आप श्रुतिपूत कहलाते हैं । अथवा आपकी दिव्यध्वनि-को सुनकर भव्यप्राणी तीर्थकर नामगोत्रको बांधकर पवित्र होते हैं । अथवा श्रुतिनाम वायुका भी है, वह आपके वृष्ट्रगामी होनेसे पवित्र हो गया है, और यही कारण है कि वह प्राणियोंके बड़े बड़े रोगोंको भी क्षणभर में उड़ा देता है, इसलिए भी आप श्रुतिपूत कहलाते हैं (८३) । आपका सदा ही उत्सव अर्थात् महापूजन होता रहता है, इसलिए आप सदात्सव कहलाते हैं । अथवा सर्वकाल उत्कृष्ट सब अर्थात् अभ्ययन-अध्यापनरूप या कर्म-क्षपणरूप यज्ञ होते रहनेसे भी आप सदात्सव नामको सार्थक करते हैं (८४) । अक्ष अर्थात् इन्द्रियों से परे जो अतीन्द्रिय केवलज्ञान है, वही

चारवाँको भौतिकः ज्ञानो भूताभिव्यक्तचेतनः । प्रत्यक्षैकप्रमाणोऽस्तपरलोको गुरुश्रुतिः ॥१२२॥
पुरन्दरविद्वक्त्रार्थो वेदान्ती संविददृषी । शब्दाद्वैती स्कोटवादी पाखण्डज्ञो नयौघयुक् ॥१२३॥

इति बुद्धसत्त्वम् ॥ ६ ॥

यस्य । अथवा सदा सर्वकालं उत्कृष्टः सवो यशो यस्य । अज्ञानामिन्द्रियाणां परं परोक्षं केवलज्ञानं तदात्मनः
वदतीत्येवंगीलः । इष्टाः अमीष्टाः पावकाः पवित्रकारकाः गणधरदेवदयो यस्य । सिद्धं समाप्तिं गतं
परिपूर्णं जातं कर्म क्रिया चारित्रं यथाख्यातलक्षणं यस्येति सिद्धकर्मा, यथाख्यातचारित्रसंयुक्त इत्यर्थः । सिद्ध-
कर्मा कः आत्मा यस्येति सिद्धकर्माः, यथाख्यातचारित्रसंयुक्तात्मस्वरूप इत्यर्थः ॥१२१॥

अक अग कुटिलायां गतो इति तावद्भातुः भ्यादिगणो घटादिमध्ये परस्मै भाषः । आकः अकनं
आकः, कुटिला अकुटिला च गतिदध्यते । शकन्तो गत्यर्था धातवस्तावन्तो ज्ञानार्था इति वचनादाकः केवल-
ज्ञानम्, चार्थितं विशेषणत्वात् चारुः मनोद्गच्छिमुवनस्थितभव्यजीवचित्तानन्दकारकः आकः केवलज्ञानं
यस्येति चारुवाकं । स्वमते भूतिर्विभूतिरैश्वर्यमिति वचनात् समवशरशोपलक्षिता लक्ष्मीरखौ प्रतिहार्याणि
चतुर्लक्षशादतिशयादिकं देवेन्द्रादिसेवा च भूतिरुच्यते । भूत्या चरति विहारं करोति भौतिकं समवशरश्यादिलक्ष्मी-
विराजितं ज्ञानं केवलज्ञानं यस्येति । अथवा भूतेभ्यो जीवेषु उत्पन्नं (भौतिकं) ज्ञानं यस्य मते स (भौति-)
क ज्ञानः, इत्यनेन पृथिव्यादिभूतसंयोगे ज्ञानं भवतीति निरस्तम् । स्वमते भूतेषु जीवेषु अभिव्यक्ता प्रकटीकृता
चेतना ज्ञानं येनेति । स्वमते प्रत्यक्षं केवलज्ञानमेव एकमद्वितीयं न परोक्षप्रमाणम्, अश्रुतादिकत्वात् केवलिनः

आत्माका स्वभाविकगुण हैं, अन्य इन्द्रिय-जनित ज्ञान नहीं; इस प्रकारके उपदेश देनेके कारण आप
परोक्षज्ञानवादी कहलाते हैं (८५) । जगतको पवित्र करनेवाले गणधर देवरूप पावक अर्थात् पावन
पुरुष आपका इष्ट हैं, क्योंकि उनके द्वारा ही आपका पवित्र उपदेश संसारके कोने-कोनेमें पहुँचता है,
अतः आप इष्टपावक कहलाते हैं । अथवा पावक अर्थात् पवित्र करनेवाले पुरुषोंमें आप ही सर्व
जगत को इष्ट अर्थात् अभीष्ट हैं, इसलिए भी आप इष्टपावक कहलाते हैं (८६) । कर्म अर्थात्
यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिरूप कर्तव्यको आपने सिद्ध कर लिया है, इसलिए आपको सिद्धकर्मक
कहते हैं । अथवा सीम्नने या पकानेको भी सिद्ध कहते हैं । आपने अपनी ध्यानाग्निके द्वारा कर्मोंकी
पका डाला है उन्हें निर्जरके योग्य कर दिया है, इसलिए भी आप उक्त नामको सार्थक करते हैं (८७) ।

अर्थ—हं चारुवाक्, आप चारुवाक् हैं, भौतिकज्ञान हैं, भूताभिव्यक्तचेतन हैं, प्रत्यक्षैक-
प्रमाण हैं, अस्तपरलोको हैं, गुरुश्रुति हैं, पुरन्दरविद्वक्त्रार्थ हैं, वेदान्ती हैं, संविददृषी हैं,
शब्दाद्वैती हैं, स्कोटवादी हैं, पाखण्डज्ञ हैं, और नयौघयुक् हैं ॥१२२-१२३॥

व्याख्या—विद्वक्को जाननेवाला आपका आक अर्थात् केवलज्ञान चारु है—सर्वजगत्के
पाप-मलका धोनेवाला और भव्यजीवोंको आनन्द करनेवाला है, इसलिए आप चारुवाक कहलाते
हैं । नास्तिक मतवाले चारुके ऋषिके शिष्यका चारुवाक कहते हैं (८८) । आपका केवलज्ञान
भौतिक अर्थात् समवशरश्यादिलक्ष्मीसे संयुक्त है, ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं, अतः आप भौतिकज्ञान
कहलाते हैं । अथवा ज्ञानकी उत्पत्ति भूत अर्थात् प्राणियोंसे ही होती है, इस प्रकारका कथन करनेसे
आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं । नास्तिक मतवाले ज्ञानको पृथिव्यादि चार भूतोंसे उत्पन्न हुआ
मानते हैं (८९) । भूतोंमें अर्थात् जीवोंमें ही चेतना अभिध्यक होती है, अन्य अचेतन या
जड़ पदार्थोंमें नहीं, ऐसा प्रतिपादन करनेसे आप भूताभिव्यक्तचेतन कहलाते हैं । नास्तिक
मतवाले भूत-चतुष्टयके संयोगसे चेतनाकी उत्पत्ति मानते हैं, उनकी इस मान्यताका आपने खंडन
किया है (९०) । केवलज्ञानरूप एक प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि वह साक्षिक, अतीन्द्रिय
और निराधरण है, अन्य परोक्ष ज्ञान नहीं, ऐसा प्रतिपादन करनेसे आप प्रत्यक्षैकप्रमाण नामसे
पुकारे जाते हैं । नास्तिक लोग एक प्रत्यक्ष ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं (९१) । पर अर्थात्

स प्रत्यक्षप्रमाणः । स्वमते अस्ताः निरकृतास्तत्तन्मत्तल्लंङ्घनेन चूर्णाकृत्वा अपः पातितः परे लोका जिमिनि-
कपिल-कण्व-चर-चार्वाक-शाक्यादयो जैनमतविर्भूताः अनाहृताः येनेति । अथवा भगवान् मुक्तिं विना मोक्ष-
मन्तरेष्वान्यां गतिं न गच्छतीति अस्तपरलोकः । गुर्वी केवलज्ञानसमाना भुक्तिः शान्तं यत्प्रेति ॥१२२॥
पुरन्दरेण विद्वौ वज्रसूचिकया कर्णौ यस्य स पुरन्दरविद्वकर्णः । भगवान् खलु छिद्रलक्षितकर्ण एव जायते,
परं जन्माभिपेकावसरे कोलिकपटलेनेव त्वचा अचेतनया मुद्रितकर्णाच्छिद्रो भवति । शक्रस्तु वज्रसूचीं फरे कृत्वा
तत्पटलं दूरीकरोति, तेन पुरन्दरविद्वकर्णः कथ्यते । स्वमते वेदस्य मतिभ्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानलक्षण-
ज्ञानस्य अन्तः केवलज्ञानं वेदान्तः, वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती केवलज्ञानवानित्यर्थः । संवित् समीचीनं
ज्ञानं केवलज्ञानम्, तस्य न द्वितीयं ज्ञानं संविदद्वयम् । संविदद्वयं विद्यते यस्य स संविदद्वयी । स्वमते तु यावत्सो
वाग्वाण्याः विद्यन्ते शक्तिरूपतया तावत्स्यः शब्दहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यं स शब्द एव इति कारणात् भगवान्
शब्दाद्वैतीत्युच्यते । स्वमते स्फुटति प्रकटीभवति केवलज्ञानं यस्मादिति स्फोटः, निजशुद्धबुद्धैकत्वभाव आत्मा तं
वदति मोक्षहेतुतया प्रतिपादयतीति स्फोटवादी । पालण्डान् हन्ति, शुद्धान् कर्तुं गच्छति पालण्डान् ।
अथवा पालण्डाः खण्डितव्रतास्तान् हन्ति योग्यप्रायश्चित्तेन शोधनदण्डेन ताडयति कच्छ-महाकच्छादिकानिव
वृषभनाथवत् । नयानामोघः समूहस्तं युनकीति ॥१२३॥

इति बुद्धशतम् ॥ ६ ॥

जैनेतर या अनाहृत कपिल, कणाद आदि परमतावलम्बी लोकको आपने अपने अनेकान्वादरूप
अमोघ अस्त्रसे परास्त कर दिया है, अतः आप अस्तपरलोक कहलाते हैं । नास्तिक मतवाले
परलोक अर्थात् परभवको नहीं मानते हैं (६२) । आपने द्वादशांगरूप श्रुतिको केवलज्ञानके
समान ही गुरु अर्थात् गौरवशाली या उपदेश दाता माना है, अतः आप गुरुश्रुति कहलाते हैं ।
अथवा गुरु अर्थात् गणधरदेव ही आपकी बीजाक्षररूप श्रुतिको धारण कर ग्रन्थ-रूपसे रचते हैं ।
अथवा आपकी दिव्यध्वनि रूप श्रुति गंभीर एवं गौरवशालिनी है । अथवा मिथ्यादृष्टियोंके लिए
आपकी श्रुति गुरु अर्थात् भारी या दुष्प्राप्य है । नास्तिकमतमें गुरु अर्थात् बृहस्पतिको शास्त्रों-
का प्रणेता माना गया है (६३) । पुरन्दर अर्थात् इन्द्रके द्वारा आपका कण्वेधन नामका संस्कार
होता है, इसलिए आप पुरन्दरविद्वकर्ण कहलाते हैं । भगवान्के कर्ण यद्यपि गर्भसे ही छिद्र-
सहित होते हैं, परन्तु उनपर मकड़ीके जालके समान सूक्ष्म आवरण रहता है, इन्द्र उसे वज्रसूचीके
द्वारा दूर करता है । वस्तुतः भगवान्का शरीर अभेद्य होता है (६४) । वेद अर्थात् ज्ञानकी
परिपूर्णताको वेदान्त कहते हैं । केवलज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है और आप उसके धारक हैं, अतः
वेदान्ती कहलाते हैं । अथवा स्त्री, पुरुष, नपुंसकरूप लिंगको भी वेद कहते हैं । आपने इन
तीनों वेदोंका अन्त कर दिया है, अतः वेदान्ती कहलाते हैं (६५) । केवलज्ञान ही सप्त-+वित्
अर्थात् समीचीन ज्ञान है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा ज्ञान सम्यक् नहीं है, इस प्रकारके
अद्वितीय केवलज्ञानके धारक होनेसे आप संविदद्वयी कहलाते हैं (६६) । सभी वचनवर्णणार्थ
शब्दोंकी उत्पत्तिकी कारण हैं, अतः सर्व पुद्गलद्रव्य शक्तिरूपसे एकमात्र शब्दरूप है, ऐसा
कथन करनेके कारण आप शब्दाद्वैती कहलाते हैं (६७) । जिसके द्वारा केवलज्ञान स्फुटित अर्थात्
प्रकटित होता है, उस शुद्ध-बुद्ध आत्माको स्फोट कहते हैं, वही आत्माका स्वभाव है, ऐसा
उपदेश देनेके कारण आप स्फोटवादी कहलाते हैं (६८) । पालण्ड अर्थात् मिथ्यामतोंका घात
करनेसे आप पालण्डप्र कहलाते हैं (६९) । विभिन्न नयोंके समुदायको नयौघ कहते हैं । परस्पर
निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और सापेक्ष नय सत्य हैं, अतः नयोंकी प्रवृत्ति परस्पर-सापेक्ष ही करना
चाहिए, इस प्रकारकी योजना करनेके कारण आप नयौघयुक्त कहलाते हैं (१००) ।

इस प्रकार नवम बुद्धशतक समाप्त हुआ ।

(१०) अथ अन्तकृच्छ्रतम्

अन्तकृच्छ्रतीरप्राप्तः पारेतमःस्थितः । त्रिदंडी दंडितारातिज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥१२४॥

संहतध्वनिदत्तसहयोगः सुसार्थबोधपमः । योगस्नेहापहा योगकिङ्कितिलोपनोद्यतः ॥१२५॥

स्थितस्यूतवपुर्बो गो गीर्मेनोयोगकार्यकः । सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थः सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः ॥१२६॥

अन्तं संसारव्यवस्थानं कृतवान् । पारं संसारस्य प्रान्तं संसारसमुद्रस्य पारतटं कृतवान् । तीरं संसार-समुद्रस्य तटं प्राप्तः । तमसः पापस्य पारे पारेतमः, पारे तमसि पापहितस्थाने अष्टापद-सम्भेद-चम्पापुरी-पावापुरी-ऊर्जयन्तादौ सिद्धक्षेत्रे स्थितः योगनिरोधार्थं गतः पारेतमःस्थितः । त्रयो दंडा मनोवाक्कायलक्षणा योग्य विद्यन्ते यस्य स त्रिदंडी । दंडिता जीवन्तोऽपि मृतत्वदृशाः कृताः मोहप्रभुपातनात् असद्वेद्यादिराश्रयो येन स दंडितारातिः । दंडिताः स्ववशीकृताः अरातयः जिमिनि-कण्चर-चार्वाक शाक्यादयो मिथ्यावादिनो येन स तयोक्तः । ज्ञानं च केवलं आत्मज्ञानं कर्म च पापक्रियाया विरमणलक्षणोपलक्षिता क्रिया यथाख्यातचारित्रमित्यर्थी, ज्ञान-कर्मणी, तयोः समुच्चयः समूहः न विद्यते यस्य ॥१२४॥ संहतः संकोचितो मोक्षगमनकालनिकटे सति ध्वनिर्वाणी येन स तयोक्तः । उत्सवा विनाशं प्राप्ताः मनोवचनकायानां योगा

अर्थ—हे अन्तकान्तक, आप अन्तकृत् हैं, पारकृत् हैं, तीरप्राप्त हैं, पारेतमःस्थित हैं, त्रिदंडी हैं, दंडिताराति हैं, ज्ञानकर्मसमुच्चयी हैं, संहतध्वनि हैं, उत्सन्नयोग हैं, सुसार्थबोधपम हैं, योगस्नेहापह हैं, योगकिङ्कितिलोपनोद्यत हैं, स्थितस्यूतवपुर्योग हैं, गीर्मेनोयोगकार्यक हैं, सूक्ष्म-वाक्चित्तयोगस्थ हैं और सूक्ष्मीकृतवपुःक्रिय हैं ॥१२४-१२६॥

व्याख्या—हे भगवान्, आपने संसारका अन्त कर दिया, अतः अन्तकृत् कहलाते हैं । अथवा अन्त अर्थात् मरणका कृन्तन कहिए अभाव कर देनेसे भी अन्तकृत् कहलाते हैं । अथवा आप आत्माके स्वरूपके प्रकट करनेवाले हैं । अथवा आपने मोक्षको अपने समीप किया है । अथवा व्यवहारको छोड़कर निश्चयको करनेवाले हैं, इसलिए भी अन्तकृत् कहलाते हैं (१) । संसारको पार कर लेनेसे पारकृत् कहलाते हैं (२) । संसार-समुद्रके तीरको प्राप्त कर लेनेसे तीर-प्राप्त कहलाते हैं (३) । तमके पार अर्थात् पाप-रहित स्थानमें स्थित होनेसे आप पारेतमःस्थित कहलाते हैं । भगवान् आर्हन्त्य-अवस्थाके अन्तमें योगनिरोध कर सिद्धपद प्राप्त करनेके लिए अष्टापद, सम्भेदशिखर, ऊर्जयन्त आदि सिद्धक्षेत्र पर अवस्थित हो जाते हैं । अथवा आप अज्ञानसे अत्यन्त दूर स्थित हैं, इसलिए भी पारेतमःस्थित कहलाते हैं (४) । मन, वचन, कायरूप तीनों योगोंका निरोध कर आपने उन्हें अच्छी तरह दंडित किया है, इसलिए त्रिदंडी कहलाते हैं । अथवा माया, मिथ्यात्व और निदान नामक तीन शक्तियोंको आपने जड़से उन्मूल कर दिया है, इसलिए भी त्रिदंडी कहलाते हैं (५) । अराति कहिए असातवेदनीयादि शत्रुओंको आपने दंडित किया है अर्थात् जीवित रहते हुए भी उन्हें मृत-सदृश कर दिया है, क्योंकि मोहरूप कर्म-समूहके लय कर देनेसे उनकी शक्ति सर्वथा क्षीण हो गई है, अतएव आप दंडिताराति कहलाते हैं । अथवा जिमिनि, कण्णद, चार्वाक आदि मिथ्यावादीरूप अरातियोंको आपने दंडित किया है, अपने वशमें किया है, इसलिए भी दंडिताराति कहलाते हैं (६) । आप ज्ञान और कर्म अर्थात् यथाख्यातचारित्रके समुच्चय हैं, पुञ्ज हैं, अतः ज्ञानकर्मसमुच्चयी कहलाते हैं । अथवा परमानन्दरूप भोक्के साथ रहनेको समुत् कहते हैं, आप ज्ञान, चारित्र और सुखके चय अर्थात् पिंड हैं, इसलिए ज्ञान-कर्मसमुच्चयी कहलाते हैं (७) । मोक्षगमनका समय समीप आने पर आप अपनी दिव्यध्वनिको संहत अर्थात् संकोचित कर लेते हैं, इसलिए संहतध्वनि कहलाते हैं (८) । आत्म-प्रदेशोंमें चंचलता उत्पन्न करनेवाले योगको आपने उत्सन्न अर्थात् विनाशको

सूक्ष्मकायक्रियास्थायी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा । एकद्वी च परमहंसः परमसंवरः ॥१२०॥
 नैःकर्म्यसिद्धः परमनिर्जरः प्रबलप्रभः । मोघकर्मा नुत्कर्मपाशः शैश्वर्यलंकृतः ॥१२१॥
 एकाकाररसास्वादी विष्वाकाररसाकुलः । अजीववस्तुतोषजाप्रदुसुतः शून्यतामयः ॥१२२॥

आत्मप्रदेशपरिस्फन्दनहेतुवो यत्येति । सुप्तः कल्लोलपरिहता योऽथावर्षवः समुद्रः तस्य उपमा सादर्यं यत्येति
 सुप्तार्णवोपमः मनोवाक्कायव्यापाररहित इत्यर्थः । योगिनां (योगानां) मनोवाक्कायव्यापारणां स्नेहं प्रतिपम-
 इतीति । अपाकृष्टतमवीरित्यनेन हनोर्धातोर्दप्रत्ययः । योगानां मनोवाक्कायव्यापारणां या कृता किट्टिशचूर्णं
 मंडूरादिदलनवत्, तस्याः निलोपनं निजात्मप्रदेशेभ्यो दूरीकरणाय, तत्र उद्यतो यक्षपरः ॥१२५॥ स्थितस्तावद्-
 गतिनिवृत्तिमागतः स्थूलवपुर्योगं वादरपरमौदारिककाययोगो यस्य स तयोक्तः । गीष्वा वाक् च मनश्च चित्तं
 तयोयोगं आत्मप्रदेशास्फन्दनहेतुः, तस्य कारयकः कृशकारकः श्लक्ष्णविधायकः । पश्चाद्भगवान् सूक्ष्मवाग्मान-
 स्योयोगं तिष्ठति । असूक्ष्मा सूक्ष्मा कृता सूक्ष्मीकृता वपुषः क्रिया काययोगो येन स तयोक्तः ॥१२६॥

सूक्ष्मकायक्रियायां सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठतीत्येवंशीलः सूक्ष्मकायक्रियास्थायी । पश्चाद्भगवान् क्रियत्काल-
 पर्यन्तं सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठति । वाक् च चित्तं च याक्चित्तं, तयोयोगो वाक्चित्तयोगः सूक्ष्मभालौवाक्चित्त-
 योगः सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्तं हन्ति विनाशयतीति । एको अस्त्रायो दंडः सूक्ष्मकाययोगः विद्यते यस्य
 स एकद्वी भगवान् उच्यते । कियत्कालं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामपरमशुक्रध्याने स्वामी तिष्ठतीति एकद्वधी

प्राप्त कर दिया है, अतः आप उत्सन्नयोग कहलाते हैं । अथवा विश्वासघातीको भी योग कहते
 हैं, आपने विश्वासघातियोंको उच्छिन्न कर दिया है, इसलिए आप उत्सन्नयोगी कहलाते हैं
 (६) आप सुप्त समुद्रकी उपमाको धारण करते हैं इसलिए सुप्तार्णवोपम कहलाते हैं । जिस प्रकार
 सुप्त समुद्र कल्लोल-रहित शान्त एवं नीरव स्तब्ध रहता है, उसी प्रकार आप भी योगके आभासे
 आत्मप्रदेशोंकी चंचलतासे सर्वथा रहित हैं (१०) । मन, वचन कायके व्यापाररूप योगके स्नेहको
 आपने दूर कर दिया है, इसलिए योगसंहापह कहलाते हैं (११) । आप योगीकी कृष्टियोंके
 निलोपके लिए उद्यत हुए हैं, अर्थात् योग-सम्बन्धी जो सूक्ष्म रजःकण आत्मप्रदेशोंपर अवशिष्ट हैं
 उन्हें दूर करनेके लिए तत्पर हुए हैं, अतः योगिजन आपको योगकिट्टिनिलोपनोद्यत कहते हैं (१२) ।
 स्थूल वपुर्योग अर्थात् वादरपरमौदारिककाययोगको आपने स्थित कहिए निवृत्त किया है, अतः आप
 स्थितस्थूलवपुर्योग कहलाते हैं । भगवान् योग-निरोधके समय सर्व-प्रथम वादरकाययोगका निरोध
 करते हैं (१३) । पुनः वादरवचनयोग और वादरमनोयोगको कृश करते हैं, अर्थात् उन्हें
 सूक्ष्मरूपसे परिणत करते हैं, इसलिए आप गीर्मनोयोगकारयक कहलाते हैं (१४) । पश्चाद्
 सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्ममनोयोगमें अवस्थित रहते हैं, इसलिए उन्हें सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्य
 कहते हैं (१५) । पुनः भगवान् वपुः क्रिया अर्थात् औदारिककाययोगको सूक्ष्म करते हैं, इसलिए
 उन्हें सूक्ष्मीकृतवपुःक्रिय कहते हैं (१६) ।

अर्थ—हे शीलेश, आप सूक्ष्मकायक्रियास्थायी हैं, सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा हैं, एकद्वधी हैं,
 परमहंस हैं, परमसंवर हैं, नैःकर्म्यसिद्ध हैं, परमनिर्जर हैं, प्रबलप्रभ हैं, मोघकर्मा हैं, नुत्कर्मपाश
 हैं, शैश्वर्यलंकृत हैं, एकाकाररसास्वादी हैं, विश्वाकाररसाकुल हैं, अजीवन हैं, अमृत हैं, अजायुत
 हैं, असुप्त हैं और शून्यतामय हैं ॥१२०-१२६॥

व्याख्या—औदारिककाययोगको सूक्ष्म करनेके अनन्तर कुछ काल तक आप सूक्ष्मकाय-
 योगमें अवस्थित रहते हैं, इसलिए सूक्ष्मकायक्रियास्थायी कहलाते हैं (१०) । पुनः आप सूक्ष्म
 वचनयोग और सूक्ष्ममनोयोगका विनाश करते हैं, इसलिए सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा कहलाते हैं (१५) ।
 तदनन्तर आपके केवल एक सूक्ष्मकाययोगरूप वृण्ड विद्यमान रह जाता है, इसलिए आप एकद्वधी
 कहलाते हैं । जितने समय तक भगवान् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक सृतीय शुक्रध्यानमें अवस्थित

प्रेयानयोगी चतुरशीतिलचतुरशोऽशुभः । निःपीतानन्तपयायोऽविधासंस्कारनाशकः ॥१३०॥

बुद्धो निर्बचनीयोऽक्षुर्यानामनशुप्रियः । प्रेष्ठः स्थेयान् स्थिरोऽनिष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः सुनिष्ठितः ॥१३१॥

भूतार्थशूरो भूतार्थदूरः परमनिर्गुणः । व्यवहारसुषुप्तोऽतिजागरूकोऽतिसुप्रियतः ॥१३२॥

कथ्यते, न तु काष्ठादिदण्डं करे करोति भगवान् । परम उत्कृष्टो हंस आत्मा यस्मैति । परम उत्कृष्टः सर्वे निर्बचनीयोऽर्क्यस्य ॥१२७॥ निर्गतानि कर्माणि शानावरणादीनि यस्मैति निःकर्मा । निःकर्मणो भावः कर्म वा नैःकर्मम् । नैःकर्म्ये सिद्धः प्रसिद्धो नैःकर्म्यसिद्धः । परमते ये अश्वमेधादिकं हिंयायशकर्म न कुर्वन्ति ते वेदान्तवादिन उपनिषदि पाठकाः नैःकर्म्यसिद्धा उच्यन्ते । परमा उत्कृष्टा असंख्येयगुणा कर्मणां निर्बचयस्मैति । प्रज्वलन्ती लोकालोकं प्रकाशयन्ती प्रमा केवलज्ञानतेजो यस्य स तयोक्तः । मोघानि निःफलानि कर्माणि अरुद्धेघादीनि यस्मैति । नुटन्ति स्वयमेव क्षिणन्ते कर्माण्येव पाशा यस्मैति नुट्कर्मपाशाः, उत्कृष्ट-निर्बचनानित्यर्थः । शीलानां अष्टादशसहस्रसंख्यानामीशः शीलेशः । शीलेशस्य भावः शैलेशी । यण् च श्वीनृपसकाव्या । शैलेश्या शीलप्रमुत्वेन अलंकृतः शैलेश्यलंकृतः ॥१२८॥ एकाभ्वावाकारः एकाकारः, एकं विशेषज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । एकाकार एव रसः परमानन्दामृतं तस्य आस्वाद्योऽनुभवं यस्य स एकाकारस्वादादः, निजशुद्धबुद्धैकस्वभावाम्भशानामृतरसानुभवनवानित्यर्थः । विश्वस्य लोकालोकस्य आकारो विशेषज्ञानं, स एव रसः अनन्तसौख्योत्पादनं; तत्र आकुलो व्यापृतः । आनन्दाद्युपहितत्वात् अज्ञोऽवन् । न मृतः अमृतः, जीवन्मुक्तत्वात् । न जागर्तीति अजाग्रत् योगनिद्रारहितत्वात् । आत्मस्वरूपे सावधानत्वात् न मोहनिद्रां प्राप्तः । शून्यतया मनोवचनकायव्यापाररहितत्वात् ॥१२९॥

रहते हैं, उतने समय तक उनका एकदण्डा संज्ञा रहती है (१६) । आप कर्म और आत्माका क्षीर-नीरके समान उत्कृष्ट विवेक करनेवाले हैं, अतः आपका परमहंस कहते हैं (२०) । आपके सर्व कर्मोंके आरक्षणका सर्वथा निरोध हो गया है, अतः आप परमसंवर कहलाते हैं (२१) । आपने सर्व कर्मोंका अभाव कर सिद्धपद प्राप्त किया है, अतः आप नैःकर्म्यसिद्ध कहलाते हैं (२२) । आपके कर्मोंकी असंख्यातगुणश्रेणीरूप परम अर्थात् उत्कृष्ट निर्जरा पाई जाती है, इसलिए आप परमनिर्जर कहलाते हैं (२३) । आपक प्रज्वलत्प्रभाववाला अर्थात् लोकालोकको प्रकाशित करनेवाला अतिशय प्रभावान् कवलज्ञानरूप तेज पाया जाता है, इसलिए आप प्रज्वलत्प्रभ कहलाते हैं (२४) । आपने विद्यमान अघातिया कर्मोंका मोघ अर्थात् निष्फल कर दिया है, इसलिए आपको मोघकर्मा कहते हैं (२५) । आपक कर्मोंका पाश अर्थात् बन्धन स्वयमेव ही प्रतिक्षण टूट रहे हैं, इसलिए आपको नुट्कर्मपाशा कहते हैं (२६) । शीलकं अठारह हजार भेदोंका धारण करनेसे आप शैलेश्यलंकृत कहलाते हैं (२७) । आप एक आकाररूप अर्थात् निज शुद्धबुद्धैकस्वभावरूप ज्ञानामृतरसके आस्वादन करनेवाले हैं, अतः एकाकाररसास्वादी कहलाते हैं (२८) । विश्वकार अर्थात् लोकालोकके आकार रूप जो विशिष्ट ज्ञानामृतरस है, उसके आस्वादनमें आप आकुल कहिण निरत हैं, अर्थात् निजानन्द रस लीन हैं अतएव आप विश्वकाररसाकुल कहलाते हैं (२९) । आप जीवित रहते हुए भी इवासोच्छ्वास नहीं लेते हैं अर्थात् आनापानवायुसे रहित हैं, इसलिए अजीवन् कहलाते हैं (३०) । आप मरणसे रहित हैं, अर्थात् जीवन्मुक्त हैं, अतः अमृत कहलाते हैं (३१) । आप योगनिद्रामें अवस्थित हैं अतः अजाग्रत कहलाते हैं (३२) । आप आत्मस्वरूपमें सावधान हैं, मोहनिद्रासे रहित हैं, अतः असुप्त कहलाते हैं (३३) । आप शून्यरूप हैं, अर्थात् मन, वचन, कायके व्यापारसे रहित हैं, अतएव शून्यतामय कहलाते हैं (३४) ।

अर्थ—हे जागरूक, आप प्रेयान हैं, अयोगी हैं, चतुरशीतिलचतुरशु हैं, सगुण हैं, निःपीतानन्तपयाय हैं, अविधासंस्कारनाशक हैं, बुद्ध हैं, निर्बचनीय हैं, अणु हैं, अखीयान हैं, अनणुप्रिय हैं, प्रेष्ठ हैं, स्थेयान हैं, स्थिर हैं, निष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं, सुनिष्ठित हैं, भूतार्थशूर हैं, भूतार्थदूर हैं, परमनिर्गुण हैं, व्यवहारसुषुप्त हैं, अतिजागरूक हैं और अतिसुस्थित हैं ॥१३०-१३२॥

अतिशयेन प्रियः (प्रेयान्) । न विद्यन्ते योगा मनोवाक्यायव्यापारा यत्येति । चतुरशीतिलक्षा गुणा यत्येति । न विद्यन्ते गुणा रगादयो यस्य षोडशुणाः । निःपीताः अविद्यक्षिताः केवलज्ञानमध्ये प्रवेशिताः अनन्ताः सर्वत्रत्याशां पर्याया येन स तथोक्तः । अविद्या अज्ञानं तस्याः संस्कार आसंस्कारमन्वयोऽनुभवं तस्य नाशकः मूलाहुन्मूलकः, निर्मूलकार्षं कषकः ॥१३०॥ वर्धते स्म वृद्धः, केवलज्ञानेन लोकांशोर्वाप्राप्तिं स्मेति समुद्रघातापेक्षया लोकप्रमाथो वा वृद्धः । निर्वक्तुं निश्चिकिमानेत् शक्यो निर्वचनीयः । अप्रथा निर्गतं वचनीयमपक्षीचित्यस्य यस्माद्वा । 'अथ रथं चया भयं मया कण कण हन ध्वन शब्दे', अथति शब्दं करोति अणुः । 'पद्यसिबसिहनिमनित्रपिर्दिकदिबंविचद्वाणिस्यश्च उपत्ययः' अणुरिति जातम् । अणोरन्यतिसूक्ष्मः अणुयान् । न अणुधः, न अणुधो अनणुधो महान्तः इन्द्र मुनीन्द्र-चन्द्रादयः, तेषां प्रियः अतीवामीष्टः । अतिशयेन इन्द्र-धरयोन्द्र-मुनीन्द्र-चन्द्रादीनां प्रियः प्रेष्ठः । अतिशयेन स्थिरः ।

व्याख्या— हे सर्व हितंकर, आप जगतको अतिशय प्रिय हैं, अतः प्रेयान् कहलाते हैं (३५) । आप योग-रहित हैं, अतः अयोगी हैं (३६) । आपके चौरासी लाख उत्तर गुण पाये जाते हैं^१, अतः योगिजन आपको चतुरशीतिलक्षगुण नामसे पुकारते हैं (३७) । राग, द्वेष आदि वैभाषिक गुणोंके अभावसे आपको अगुण कहते हैं (३८) । सर्व द्रव्योंकी अविद्यक्षित अनन्त पर्यायोंको आपने अच्छी तरह ही लिया है, अर्थात् केवलज्ञानके द्वारा जान लिया है, उन्हें आत्मसात् कर लिया है, अतः आपको निःपीतानन्तपर्याय कहते हैं (३९) । अविद्या अर्थात् अनादि-कालीन अज्ञानके संस्कारका आपने सर्वथा विनाश कर दिया है, अतः आपको अविद्यासंस्कारनाशक कहते हैं । अथवा आपने अविद्याको अपने विशिष्ट संस्कारोंसे नाश कर दिया है (४०) । आप सदा वृद्धिकां प्राप्त होते रहते हैं, अथवा लोकपूरण-समुद्रघातकी अपेक्षा सबसे बड़े हैं, अथवा केवल-ज्ञानकी अपेक्षा लोकांशोर्वाप्राप्तिं व्याप्त हैं, अतः वृद्ध कहलाते हैं (४१) । आप निरुक्तिके द्वारा वचनीय अर्थात् कहनेके योग्य हैं, अथवा वचनीय अर्थात् निन्दा-अपवादसे रहित हैं, अतः निर्वचनीय कहलाते हैं (४२) 'अणिति, शब्दं करोतीत्यणुः' अर्थात् जो शब्द करे उसे अणु कहते हैं । अर्हन्त अवस्थामें आपकी दिव्यध्वनि स्थिरती है, अतः आप भी अणु कहलाते हैं । अथवा पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी अंशको अणु कहते हैं । वह अतिसूक्ष्म होनेसे इन्द्रियोंके अगोचर रहता है । आप योगियोंके भी अगम्य हैं, अतः अणुसदृश होनेसे अणु कहलाते हैं (४३) । आप अणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इसलिए अणुयान् कहलाते हैं । अणु यद्यपि सूक्ष्म है, इन्द्रियोंके अगोचर है, तथापि वह मूर्त होनेसे अवधि-मनःपर्ययज्ञानियोंके दृष्टि-गोचर हो जाता है । पर आप अवधि-मनःपर्ययज्ञानी महायोगियोंके भी अगोचर हैं, क्योंकि अमूर्त हैं, अतः अतिसूक्ष्म होनेसे आपको अणुयान् कहते हैं (४४) । अणुता अर्थात् सुद्रुतासे रहित महान् पुरुषोंको अनणु कहते हैं । आप इन्द्र, नागेन्द्र, मुनीन्द्रादि महापुरुषोंके प्रिय हैं, अभीष्ट वल्लभ हैं, अतः अनणुप्रिय कहलाते हैं । अथवा शरीर-स्थितिके लिए स्वभावतः आनेवाले नोआहारवर्गणुके परमाणु भी आपको अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि योगनिरोध करनेपर आप उन्हें भी ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिए भी अनणुप्रिय कहलाते हैं (४५) । आप सर्व जगतको अत्यन्त प्रिय हैं, अतः प्रेष्ठ कहलाते हैं (४६) । योग निरोध करने पर अर्थात् अयोगिकेशली गुणस्थानके प्राप्त हो जानेपर आप प्रवेश-परिस्पन्दसे रहित निश्चल रहते हैं, अतः एकरूपसे स्थिर रहनेके कारण आप स्थिर कहलाते हैं^२ (४७) । अत्यन्त स्थिरको स्थेयान् कहते हैं । आप सुमेरुके समान अचल हैं, अतः स्थेयान् कहलाते हैं (४८) । आप अपने ध्येयमें अत्यन्त दृढ़ता-पूर्वक स्थिर हैं अतः निष्ठ कहलाते हैं (४९) । अत्यन्त प्रशंसाके योग्य होनेसे आपको श्रेष्ठ कहते हैं (५०) । ज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त वृद्ध होनेसे आप श्रेष्ठ

१ विशेषके लिए प्रस्तावना देखिये । २ अर्थात् सुविधाके लिए स्थेयान्ते पहले स्थिरको रखा है ।

उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिमः । अमेयमहिमाऽत्यन्तशुद्धः सिद्धिस्वर्धरः ॥१३१॥

सिद्धालुजः सिद्धपुरीपान्थः सिद्धगणातिथिः । सिद्धसंगोन्मुखः सिद्धालिखः सिद्धोपगृहकः ॥१३२॥

पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलारवः पुण्यशंखलः । वृत्ताग्रमुन्यः परमशुद्धजेरयोऽपचारकृत् ॥१३३॥

योगनिरपेक्षे वति उद्गात्सेनेन पद्मात्सेनेन वा तिष्ठति निश्चलो भवतीति स्थिरः । अतिशयेन प्रशस्यः, अतिशयेन वृद्धः, प्रशस्यो वा ज्येष्ठः । सुष्ठु शोभनं यथा भवति तथा न्यतिशयेन स्थितः सुनिष्ठितः । धृति-स्थिति-मात्स्या-न्त्यगुणे इत्थं । अथवा शोभना निष्ठा योगनिरपेक्षः संजातो अत्येति सुनिष्ठितः । तारकतादिदर्शनात् संजातेऽप्ये इतच्प्रत्ययः ॥१३१॥ भूलायेन परमायेन सत्यायेन शूरो भूतार्थशरः, पापकर्मसेनाविध्वंसनसमर्थत्वात् । अथवा भूतानां प्राणिनां अर्थं प्रयोजने स्वर्ग-मोक्षलाभने शरः सुभटः । अथवा भूतः प्राप्तः अर्थः आत्म-पदार्थो येन स भूतार्थः, युक्तार्थस्तत्र शरः । अकातरः । भूतार्थः सत्यार्थो दूरः केवलज्ञानं विना अग्रगत्यात् विप्रकृष्ट । अथवा भूता इतीता ये अर्थाः पंचेन्द्रियाण्यथाः मुक्तमुक्तास्तेभ्यो दूरो विप्रकृष्टः संचेन्द्रियाण्यथा-यामनिकट इत्यर्थः । निर्गताः गुणा राग-द्वेष-मोहादयोऽशुद्धगुणा यस्माद्विहितं नियुग्णः, परम उत्कृष्टो नियुग्णः परमनियुग्णः । व्यवहारे विदार-कर्मणि धर्मोपदेशादिके च सुष्ठु अतिशयेन सुप्तो निश्चिन्तः अग्न्यापृतः । जागर्तीत्येवंशीलः जागरूकः, आत्मरूपे सदा साधधानः । अतिशयेन जागरूकः अतिजागरूकः । अतिशयेन सुस्थितः सुखीभूतः ॥१३२॥

उदिताद्युदितं परमप्रकर्षमागतं माहात्म्यं प्रमाधो यस्य स तथोक्तः । निर्गता उपाधिर्धर्मचिन्ता

कहलातं हैं (५१) । आप अच्छी तरहसे आराममें स्थित हैं, अतः सुनिष्ठित कहलाते हैं (५२) । भूतार्थ अर्थात् परमार्थसे आप शूर-वीर हैं, क्योंकि कर्मोंकी सेनाका आपने विध्वंस किया है, इसलिए भूतार्थशर कहलाते हैं । अथवा भूत अर्थात् प्राणियोंके अर्थ कहिए प्रयोजन या अर्माष्टको पूर्ण करने में आप शूर हैं, सुभट हैं । अथवा भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थमें आप शूर हैं । अथवा आत्मस्वरूपकी प्राप्तिरूप प्रयोजन आपका पूर्ण हो गया है, ऐसे शूर होनेसे भी आपको भूतार्थशर कहते हैं (५३) । भूतकालमें भोगकर छाड़े हुए पंचेन्द्रियोंके विषयोंको भूतार्थ कहते हैं, आप उनसे दूर हैं, अर्थात् सर्वथा रहित हैं, अतः भूतार्थदूर कहलाते हैं । अथवा भूत कहिए प्राणियोंके प्रयोजनभूत अर्थसे आप अत्यन्त दूर हैं । अथवा भूत-पिशाचोंके समान संबोधित किये जाने पर भी जो प्रबंधको प्राप्त नहीं होते हैं, ऐसे अभव्य जीवोंको भूत कहते हैं उनके प्रयोजनभूत अर्थसे आप अत्यन्त दूर हैं, अर्थात् उन्हें सम्बोधनेमें असमर्थ हैं, इसलिए भी भूतार्थदूर कहलाते हैं । अथवा सत्यार्थका ज्ञान केवलज्ञानके विना दूर अर्थात् असम्भव है ऐसा आपने प्रतिपादन किया है (५४) । राग, द्वेष आदि वैभाषिकगुणोंके अत्यन्त अभाव हो जानेसे आप परमनिर्गुण कहलाते हैं । अथवा 'परं + अनिर्गुण' ऐसी सन्धिके अनुसार यह भी अर्थ निकलता है कि आप निश्चयसे गुण-रहित नहीं हैं, किन्तु अन्नत गुणोंके पुञ्ज हैं (५५) । आप व्यवहार अर्थात् संसारके कार्योंमें अत्यन्त मौन धारण करते हैं, या उनसे रहित हैं, अतएव व्यवहारसुप्त कहलाते हैं (५६) । अपने आत्मस्वरूपमें आप सदा अतिशय करके ज्ञात अर्थात् सावधान रहते हैं, इसलिए अतिजागरूक कहलाते हैं (५७) । आप अपने आपमें अत्यन्त सुखसे स्थित हैं, अतः अतिसुस्थित कहलाते हैं (५८) ।

अर्थ—हे अचिन्त्यमाहात्म्य, आप उदितोदितमाहात्म्य हैं, निरुपाधि हैं, अकृत्रिम हैं, अमेय-महिमा हैं, अत्यन्तशुद्ध हैं, सिद्धिस्वर्धर हैं, सिद्धालुज हैं, सिद्धपुरीपान्थ हैं, सिद्धगणातिथि हैं, सिद्धसंगोन्मुख हैं, सिद्धालिख हैं, सिद्धोपगृहक हैं, पुष्ट हैं, अष्टादशसहस्रशीलाख हैं, पुण्यशंखल हैं, वृत्ताग्रमुन्य हैं, परमशुक्ललेख्य हैं और अपचारकृत् ॥१३३-१३५॥

व्याख्या—आपका माहात्म्य उत्तरोत्तर उदयशील है, परम प्रकर्षको प्राप्त है इसलिए आपको उदितोदितमाहात्म्य कहते हैं (५६) । आप सर्व परिग्रहरूप उपाधियोंसे रहित हैं, अतः

धर्मोपदेशविहारकर्मादिको यत्येति । अथवा निर्गत उप समीपात् आधिर्मानवी पीडा यत्येति निरुपाधिः, जन्म-जरा-मरण-व्याधित्रयपरहितत्वात् निश्चित इत्यर्थः । अथवा निश्चित उपाधिपरत्तमधर्मस्यात्मस्वरूपस्य चिन्ता परमशुद्ध्यान् यत्येति । अकरण्येन अविधानेन धर्मोपदेशादेरकृत्रिमः । इतु कन्धात्रिमम् । महतो भावो महिमा । पृष्ठादिभ्य इमर । वा अमेयोऽमर्यादीभूतो लोकालोकव्यापी महिमा केवलज्ञान-व्याप्तिर्यस्यासावभेयमहिमा । अत्यन्तमतिशयेन शुद्ध. कर्ममलकलकरहितः अत्यन्तशुद्धः, रागद्वेषमोहादिरहितो वा, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मपरहितो वा, सन्निकटतरसिद्धपर्यायत्वात् । सिद्धोपलोपलब्धेः कन्यायाः स्वयंवरः परिणेतो ॥१३३॥ सिद्धानां मुक्तात्मनामनुजो लघुभ्राता, परचाञ्जातत्वात् । सिद्धानां मुक्तात्मनां पुरी नगरी मुक्तिः ईषत्प्राग्भारगंघ्रं पत्न्यं, तस्याः पान्थः पथिकः । सिद्धानां मुक्तजीवानां गणाः समूहः, अनन्तसिद्ध-समुदायः सिद्धगणाः, तस्य अतिथिः प्राधुर्यकः । सिद्धानां भवविच्युतानां संगो मेलस्तं प्रति उन्मुखो बद्धात्कंठः । सिद्धः कर्मविच्युतैः सत्पुरुषैः महापुरुषैरालिंगितुं योग्यः आरलेषोचितः सिद्धालिङ्ग्यः । सिद्धानां मुक्तिबलमानामुपगृहकः आलिंगनदायकः अंकपालीविधायकः ॥१३४॥ पुष्पाति स्म पुष्टः पूर्व-सिद्धसमानज्ञानदर्शनसुखवीर्यधनन्तगुर्यः सत्तलः । अरनुवते क्षयेन अमीष्टस्थानं प्राप्नुवन्ति जातिशुद्धत्वात् स्वस्वामिनमभिमतस्थानं नयन्तीति अरवाः, अष्टभिर्यथा (दश) अष्टादश, अष्टादश च तानि सहस्राणि अष्टादशसहस्राणि । अष्टादशसहस्राणि च तानि शीलानि अष्टादशसहस्राशीलानि, तान्येव अरवा वाकिनो यस्य सांष्टादशसहस्राशीलाश्चः । पुण्यं सद्देवशुभायुर्नामगोचलक्ष्यं शंखलं पथ्योऽर्दनं यस्य स भवति पुण्यशंखलः । वृत्तं चारित्रं अग्रं मुखं युयं वाहनं यत्येति । कपायानुरजिता योगशूलैर्योच्यते, जीर्षं हि कर्मणा लिम्प्यतीति लेख्या । कृत्ययुतोऽन्यत्रापि चेति सूत्रेण कर्तारं ध्व्यू, नामिनश्चोपधाया लघोरिति गुणः, प्रयोदरादित्वात् पकारस्य शकारः, ज्ञियामादा । परमशुद्धा लेख्या यस्य स तथोक्तः । अपचरयाम-

निरुपाधि कहलाते हैं । अथवा मानसिक पीडाको उपाधि कहते हैं, आप उससे सर्वथा रहित हैं । अथवा धर्मोपदेश, विहार आदि कार्योंको भी उपाधि कहते हैं । योग-निरोध कर लेने पर आप उनसे भी रहित हो जाते हैं । अथवा आत्मस्वरूपके चिन्तन करनेवाले परमशुद्धचिन्तनको उपाधि कहते हैं । वह आपके निश्चित है, इससे भी आप निरुपाधि नामका सार्थक करते हैं (६०) । आप अपने स्वाभाविक रूपको प्राप्त हैं, अतः अकृत्रिम कहलाते हैं । अथवा योगनिरोधके पश्चात् धर्मोपदेशादिको नहीं करनेसे भी आप अकृत्रिम कहलाते हैं (६१) । अमेय अर्थात् अमर्यादीभूत लोकालोकव्यापी महिमाके धारण करनेसे आप अमेयमहिमा कहलाते हैं (६२) । आप राग, द्वेष, मोहादिरूप भावमलसे, अद्रकर्मरूप द्रव्यमलसे और शरीररूप नोकर्ममलसे सर्वथा रहित हैं, अतः अत्यन्तशुद्ध कहलाते हैं (६३) । आत्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप सिद्धिके आप स्वयंवर अर्थात् परिणेतो हैं, अतः सिद्धिस्वयंवर नामसे प्रसिद्ध हैं (६४) । सिद्धोंके पश्चात् मुक्ति प्राप्त करनेसे आप सिद्धोंके लघुभ्राता हैं, अतः सिद्धानुज कहलाते हैं (६५) । ईषत्प्राग्भार नामक सिद्धपुरीके आप पथिक हैं, अतः सिद्धपुरीपान्थ कहलाते हैं (६६) । सिद्धसमुदायके आप अतिथि अर्थात् मेहमान या पाहुने हैं, अतः सिद्धगणातिथि कहलाते हैं (६७) । सिद्धोंके संगमके लिए आप उन्मुख अर्थात् उत्कण्ठित हैं, इसलिए सिद्धसंगोन्मुख कहलाते हैं (६८) । सिद्धोंके द्वारा आलिंगन या मंत्र करनेके योग्य होनेसे आप सिद्धालिङ्ग्य कहलाते हैं (६९) । सिद्धोंके उपगृहक अर्थात् आलिंगन-दायक या अंकपाली-विधायक होनेसे आप सिद्धोपगृहक कहलाते हैं (७०) । सिद्धोंके समान अनन्त ज्ञानादिगुणोंसे पुष्टिको प्राप्त होनेके कारण आप पुष्ट कहलाते हैं (७१) । अठारह हजार शीलके भेदरूप अश्वोंके स्वामी होनेसे आप अष्टादशसहस्राशीलाश्च कहलाते हैं । जिस प्रकार उत्तम अश्व मनुष्यको क्षणभरमें अमीष्ट स्थानपर पहुँचा देता है, उसी प्रकारसे आपको अपने अमीष्ट सिद्धिरूप शिवपुरीको पहुँचानेवाले शीलके अठारह हजार भेद प्राप्त हैं (७२) । आपके पुण्यरूप शंखल अर्थात् पाषेय या मार्गका भोजन पाया जाता है, अतः आप पुण्यशंखल कहलाते

क्षेपिष्ठोऽन्यक्षणासखा पंचलध्वजस्थितिः । द्वाप्तसतिप्रकृत्यासी त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥१३५॥

अवेद्योऽयाजकोऽयत्रयोऽयाजव्योऽनमिपरिभट्टः । अनामिहोत्री परमनिस्तुहोऽत्यन्तनिर्दयः ॥१३६॥

अशिष्योऽशासकोऽदीक्ष्योऽदीक्षकोऽदीक्षितोऽक्षयः । अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥१३७॥

पंचारो मारणं कर्मशत्रुशामेवापचारो घातिकर्मणां चिह्नं सनमित्यर्थः । अपचारं घातिसंघातवातनं पूर्वमेव कृतवान् भगवानित्यर्थः । अथवा अपचारं मारणं कृतं तति उच्छेदयतीति अपचारकृत् ॥१३५॥

अतिशयेन क्षिप्रः शीघ्रतर क्षेपिष्ठः, एकेन क्षणेन त्रैलोक्यशिखरगामिस्तात् । अन्यक्षणासखा अन्यक्षणासखा, संसारस्य पश्चिमः समयः, तेन सह गामुको मित्रमित्यर्थः । अथवा अन्यक्षणास्य पंचमकल्याणस्य सखा मित्रम् । अथवा अन्यक्षणासख इति पाठे अन्यक्षणाः सखा मित्रं यस्येति । पंच च तानि लक्ष्मणराघि च पंचलक्ष्मणराघि, अ इ उ ऋ ल इत्येवंरूपाणि, क च ट त प रूपाणि वा, क ख ग घ ङ इत्यादि रूपाणि वा । यावत्कालपंचलक्ष्मणराघ्युच्चार्यन्ते तावत्कालपर्यन्तं चतुर्दशे गुणस्थाने अयोगिकेवल्पपरजाभि स्थितिर्यस्येति । पंचानामक्षणाणां मध्ये य. पूर्वः समयः स समयो द्विचरमसमयः कथ्यते, उपान्त्यसमयश्चाभि धीयते । तस्मिन्नुपान्त्यसमये द्विसप्ततिप्रकृतीर्मगवान् क्षिपते द्विसप्ततिप्रकृतीरस्यति क्षिपते इत्येवंशीलः द्वाप्त-

हैं (७३) । घुत् अर्थात् सम्यक् चारित्र्य ही आपका मुख्य गुण्य कहिए वाहन है, इसलिए आप वृत्ताभ्युपगम्य कहलाते हैं (७४) । परमशुक्त लेख्यके धारक होनेसे परमशुक्तलेख्य कहलाते हैं (७५) । आपने घातिया कर्मोंके अपचार अर्थात् मारणको किया है, इसलिए अपचारकृत् कहलाते हैं । जिस प्रकार शत्रु पर विजय पानेका इच्छुक कोई मनुष्य, मारण उच्चाटन, विप-प्रयोग आदिके द्वारा शत्रुका विनाश करता है, उसी प्रकार आपने भी ध्यान और मंत्र रूप विप-प्रयोगके द्वारा कर्मोंका मारण, उच्चाटन आदि किया है । अथवा आप अपचार अर्थात् मारणको 'कृतं तति' कहिए उच्छेदन करते हैं, अर्थात् हिंसा-विधान करनेवाले मतोंका निराकरण करते हैं, इसलिए भी अपचारकृत् कहलाते हैं (७६) ।

अर्थ—हे क्षेमकर, आप क्षेपिष्ठ हैं, अन्यक्षणासखा हैं, पंचलध्वजस्थिति हैं, द्वाप्तसति-प्रकृत्यासी हैं, त्रयोदशकलिप्रणुत् हैं, अयाजक हैं, अयज्य हैं, अयाज्य हैं, अनमिपरिभट्ट हैं, अनमि-होत्री हैं, परमनिःस्पृह हैं, अत्यन्तनिर्दय हैं, अशिष्य हैं, अशासक हैं, अदीक्ष्य हैं, अदीक्षक हैं, अदीक्षित हैं, अक्षय हैं, अगम्य हैं, अगमक हैं, अरम्य हैं, अरमक हैं और ज्ञाननिर्भर हैं ॥१३६-१३७॥

ध्याख्या—हे जगत्कल्याणकर, आप अत्यन्त शीघ्रगामी हैं, एक क्षणमें त्रैलोक्यके शिखर पर जा विराजते हैं, अतः क्षेपिष्ठ कहलाते हैं (७३) । आपके संसारवासका जो अन्तिम क्षण है, उसके आप सखा हैं, क्योंकि उसके साथ ही निर्वाणको गमन करते हैं । सहगामीको ही मित्र कहते हैं, अतः आप अन्यक्षणासखा कहलाते हैं । अथवा क्षण शब्द कल्याण-वाचक भी है । अन्तिम निर्वाणकल्याणके आप मित्र हैं, क्योंकि वही आपको मुक्ति-लाभ कराता है । अथवा अन्तिम क्षण ही आपका सखा है, क्योंकि उसके द्वारा ही आप अजर-अमर बनते हैं (७४) । अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानमें आपकी स्थिति अ, इ, उ, ऋ, ल, इन पाँच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण-काल-प्रमाण रहती है, इसलिए आपको पंचलध्वजस्थिति कहते हैं (७५) । आप चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य या द्विचरम समयमें अघातिया कर्मोंकी बहत्तर प्रकृतियोंका नाश करते हैं, इसलिए आपको द्वाप्तसतिप्रकृत्यासी कहते हैं । वे बहत्तर प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—औदारिकादि पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, छह संहनन, आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध, पाँच वर्ण, तीन आंगोपांग, ये ५० प्रकृतियाँ, तथा देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगति, अयशस्तविहायोगति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, दुर्भग, निर्माण, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येकशरीर, अपयाम, अगुरुतुषु, उच्छ्वास,

तिप्रकृत्यासी । त्रयोदश कालीन् त्रयोदशकर्मप्रकृतीः नुदति क्षिपते त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥१३६॥ न विद्यते वेदः स्त्रीपुंनपुंसकत्वं यस्येति अवेदः, लिङ्गत्रयरहित इत्यर्थः । न याजयति, निजां पूजां कारयति, अतिनिःस्पृहत्वात् । यष्टुं शक्यो यज्यः, न यज्यः अयज्यः । शक्तिरहिपवर्गान्ताञ्च यप्रत्ययः । शक्तिप्रहृयात् शक्यायों प्राहः स्वाभिनेऽलक्ष्यस्वरूपत्वात् केनापि यष्टुं न शक्यते, तेन अयज्य इत्युच्यते । इष्यते याज्यः, न यष्टुं शक्यते अयाज्यः । ऋत्वर्याव्यजनांताद् ध्वष् । कर्मसमिधां भस्मीकरणेन अनेर्गाहपत्याहवनीयदक्षिणाग्निनामत्रव-
वैश्वानरस्य न परिग्रहः स्त्रीकारो यस्य सोऽनग्निपरिग्रहः । अग्निहोत्रो विप्रव्रतं यरुविशेषः, अग्निहोत्रो विद्यते यस्य सोऽग्निहोत्री ब्राह्मणविशेषः । न अग्निहोत्री, अग्निं विनापि कर्मन्वहनदहनकारित्वात् । परम उत्कृष्टो निस्पृहः परमनिःस्पृहः । अथवा पर उत्कृष्टा केऽलक्षानायन्तचतुष्टयलक्ष्योपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः । परमश्चासौ निःस्पृहः परमनिःस्पृहः । अतिगतो विनष्टोऽन्तो विनाशो यस्येति अत्यन्तः । निश्चिता सगुण-
निर्गुणप्राणिवर्गैरक्षयलक्षणा दया कस्या यस्येति निर्दयः । अथवा अतिशयेन अन्ते अन्तके यमे निर्दयो

उपघात, परघात कोई एक वेदनीय कर्म और नीच गोत्र । इन वहतर प्रकृतियोंको अयोगिकेवली भगवान् चौदहवें गुणस्थानके द्विचरम समयमें सत्तासे व्युद्भिन्न करते हैं (८०) । वे ही अन्तिम समयमें मनुष्यगति, मनुष्यगत्यातुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग आदेय, यथाः-
कीर्त्ति, तीर्थकरप्रकृति, मनुष्यायु, उच्चगोत्र और कोई एक वेदनीयकर्म, इन तेरह कलि अर्थात् कर्मप्रकृतियोंको 'नुदति' कहिए क्षेपण करते हैं, सत्त्वसे व्युद्भिन्न करते हैं, इसलिए चरमसमयवर्ती अयोगिकेवली भगवान्को त्रयोदशकलिप्रणुत् कहते हैं (८१) । आप तीनों वेदोंसे रहित हैं, अतः अवेद या अपगतवेदी कहलाते हैं । अथवा आपने ऋग्वेदादिको प्रमाण नहीं माना है, इसलिए भी अवेद कहलाते हैं । अथवा 'अ' शब्द शिव, केशव, वायु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, अग्नि और सूर्यका वाचक है । 'व' शब्द वरुणाका वाचक है । आप इन सबके 'इय' अर्थात् पापको 'यति' कहिए खंडित करते हैं, इसलिए भी अवेद नामको सार्थक करते हैं (८२) । अतिनिःस्पृह होनेसे आप भक्तोंके द्वारा अपनी पूजाको नहीं कराते हैं, अतः अयाजक कहलाते हैं । अथवा अय नाम गतिका है । वह तीर्थ प्रवर्त्तनरूप गति तेरहवें गुणस्थानमें होती है । पर अयोगिकेवली भगवान् तो व्युपरतक्रियानिवर्त्ति शुक्लध्यानवाले हैं, अतः उनके योगिनिरोधके साथ ही विहार धर्मोपदेश आदि सर्व क्रियाएं बन्द हो जाती हैं, इसलिए भगवान् अयके अजक अर्थात् गतिके निरोधक होनेसे अयाजक कहलाते हैं (८३) । आपका स्वरूप अलक्ष्य है, अतः किसीके द्वारा भी नहीं पूजे जा सकते, इसलिए आपको अयज्य कहते हैं (८४) । आप अतीन्द्रिय अमूर्त्तस्वरूप हैं, इन्द्रियोंके अगोचर हैं, इसलिए किसीके द्वारा द्रव्यपूजाके योग्य नहीं है, अतएव आपको अयाज्य कहते हैं (८५) । अग्नि तीन प्रकारकी होती है—गाहपत्य, आहवनीय और दाक्षिणाग्नि । आपके इन तीनों ही प्रकारकी अग्नियों का परिग्रह नहीं है, अतः अग्निपरिग्रह कहलाते हैं । अथवा स्त्रीके ग्रहणको भी परिग्रह कहते हैं । आप अग्नि और स्त्री दोनोंसे रहित हैं, इसलिए भी अग्निपरिग्रह कहलाते हैं (८६) । अग्निके द्वारा यह करनेवाले ब्राह्मणोंको अग्निहोत्री कहते हैं, आप विना ही अग्निके कर्मरूप समिधाको भस्म करनेवाले हैं, अतः अग्निहोत्री कहलाते हैं (८७) । आप संसारको सब वस्तुओंकी इच्छासे सर्वथा रहित हैं, अतः परमनिःस्पृह कहलाते हैं । अथवा पर अर्थात् उत्कृष्ट मा कहिए लक्ष्मीके धारकको परम कहते हैं । आप समवसरणरूप उत्कृष्ट लक्ष्मीके धारण करने पर भी उससे सर्वथा निःस्पृह हैं, इसलिए भी आपको परमनिःस्पृह कहते हैं (८८) । आप परम दयालु होकरके अत्यन्त निर्दय हैं, यह परस्पर विरोधी कथन भी आपमें संभवता है—जिसके सभी छोटे बड़े प्राणियों पर भी दया निश्चितरूपसे पाई जाती है, उसे निर्दय कहते हैं और अन्त रहितको अत्यन्त कहते हैं । इस प्रकार

महायोगीश्वरो ब्रह्मसिद्धो ज्येष्ठोऽपुनर्भवः । ज्ञानैकचित्तजीवधनः सिद्धो लोकाग्रगामुकः ॥१३३॥

इत्यन्ताष्टकम् । एकमेकत्र १००८ ।

निःकङ्क्षः । अथवा अत्यन्ता अतिशयेन विनाशं प्राप्ताः निर्दयाः अक्षरप्लेच्छादयो यस्मादिति । अथवा अतिद्वयेन अन्ते मोक्षगमनकाले निश्चिता दया स्व-परजीवरक्षालक्षणा यत्येति ॥१३७॥ न केनापि शिष्यते अशिष्यः । अथवा मोक्षगमनकाले मुनिशिष्यसङ्घादादिगणैः वेष्टितोऽपि परमनिःस्पृहत्वात् निरीहत्वाच्च अशिष्यः । न शास्ति न शिष्यान् धर्मं ब्रूते अद्यात्कः, योगनिरोधत्वात् । न केनापि दीक्ष्यते अदीक्ष्यः, स्वयंबुद्धत्वात् । न कमपि दीक्ष्यते ब्रतं प्राइयति, साधुचरितार्थत्वात् । न केनापि ब्रतं प्राहितः, स्वयमेव स्वस्य गुरुत्वात् । नास्ति ह्ययो विनाशो यस्य । अथवा न अक्षाणि इन्द्रियाणि याति प्राप्नोति अक्षयः । आतोऽनुपलगात्कः । न गन्तुं शक्यः अगम्यः । शक्तिवहिपवर्गान्ताच्च यप्रत्ययः । अविशेषस्वरूप इत्यर्थः । न कमपि गच्छतीत्यगमकः, निजबुद्धात्मस्वरूपे स्थित इत्यर्थः । आत्मस्वरूपं विना (न) किमपि रम्यं मनोहरं वस्तु यत्येति । आत्मस्वरूपमन्तरेण न कापि रमते । ज्ञानेन केवलज्ञानेन निर्भरः परिपूर्णाः आकाण्डममृतवृत्त-सुवर्णाषट्कवदित्यर्थः ॥१३८॥

इत्यन्तःकृच्छ्रतम् ॥१०॥

यह अर्थ हुआ कि आप अनन्त दयाके भंडार हैं । अथवा अन्त अर्थात् यमराजके ऊपर आप अत्यन्त-भिद्वैय हैं, अर्थात् उसके अन्तक या विनाशक हैं, इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है । अथवा हिंसा करनेवाले निर्दयी पुरुषोंके आप अतिशय अन्तको करनेवाले अर्थात् उनके विनाशक हैं, क्योंकि उनके भतका खंडन करते हैं । अथवा अन्तमें अर्थात् मोक्ष-गमनके समय आपमें निश्चित रूपसे परिपूर्णा दया पाई जाती है, इसलिए भी आपको अत्यन्तनिर्दय कहते हैं, (८६) । आप किसीके भी शिष्य नहीं हैं, क्योंकि स्वयं ही प्रबोधको प्राप्त हुए हैं, अतः आपको अशिष्य कहते हैं । अथवा निर्वाण-गमनके समय आप गणधरादि समस्त शिष्य-परिवारसे रहित हो जाते हैं, इसलिए भी आप अशिष्य कहलाते हैं (६०) । योगनिरोधके पश्चात् आप शासन नहीं करते हैं, अर्थात् शिष्योंको उपदेश नहीं देते हैं, अतः अशासक कहलाते हैं (६१) । आप किसीके द्वारा भी दीक्षाको प्रदण नहीं करते, क्योंकि स्वयंबुद्ध हैं, अतः अदीक्ष्य कहलाते हैं (६२) । आप कृत-कृत्य हो जानेसे किसीको दीक्षा भी नहीं देते हैं, इसलिए अदीक्षक कहलाते हैं (६३) । आप किसीसे भी दीक्षित नहीं हैं, स्वयं ही अपने आपको गुरु हैं, अतः अदीक्षित नामको चरितार्थ करते हैं (६४) । आपके आत्मस्वरूपका कमी क्षय नहीं होता, अतः अक्षय कहलाते हैं । अथवा आपका ज्ञान अक्ष कहिप इन्द्रियोंकी सहायताको प्राप्त नहीं करता है (६५) । आप बड़े-बड़े योगियोंके भी गम्य नहीं हैं, वे भी आपका स्वरूप नहीं जान पाते हैं, इसलिए आपको अगम्य कहते हैं (६६) । आप किसीके भी पास नहीं जाते हैं, किन्तु सदा अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं, इसलिए अगमक कहलाते हैं (६७) । आपके आत्मस्वरूपके सिवाय अन्य कोई भी वस्तु रम्य नहीं है, अतः आपको अरम्य कहते हैं (६८) । आप अपने सुख-सुख अत्मस्वरूपको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी रमण नहीं करते, किन्तु स्वर-रत रहते हैं, अतएव अरमक कहलाते हैं (६९) । आप ज्ञानसे अती-आति परिपूर्णे हैं अर्थात् भरे हुए हैं, इसलिए ज्ञाननिर्भर कहलाते हैं (१००) ।

इस प्रकार दशम अष्टक-शातक समाप्त हुआ ।

अर्थ—हे भगवन्, आप महायोगीश्वर हैं, ब्रह्मसिद्ध हैं, अदेह हैं, अपुनर्भव हैं, ज्ञानैकचित्त हैं, जीवधन हैं सिद्ध हैं, और लोकाग्रगामुक हैं ॥१३६॥

हृद्महोत्तरं नाम्नां सहस्रं भक्तिसौहार्दाय । योऽनन्तानामधीतेऽस्ती मुक्त्वन्तां भक्तिमरतुते ॥१४०॥

हृद् भोकोत्तमं पुंसाभिर्दं शरण्यामुक्त्वन्वाय । हृद् मंगलनमप्रथिभिर्दं परमपावनम् ॥१४१॥

हृदमेव परमतीर्थमिदमेवेहसाधनम् । हृदमेवास्त्रिजगत्कर्मज्ञेशुक्त्वकारणम् ॥१४२॥

एतेषामेकमप्यहंशान्मासुभारवद्भवैः । मुच्यते किं पुनः सर्वान्पथैश्चतुः जिनायते ॥१४३॥

महायोगिना गणधरदेवानामीश्वरः स्वामी । द्रव्यरूपेण सिद्धो द्रव्यसिद्धः साक्षात्सिद्ध इत्यर्थः । न विद्यते देहः शरीरं यस्येति अदेहः, परमौदारिकतैजसकर्मणशरीरत्रयपरिहृत इत्यर्थः । न पुनः संसारे भवतीति । अथवा न विद्यते पुनर्भवः संसारे यस्येति । अथवा न पुनः भयो क्लो उपलक्ष्यात् ब्रह्माविष्ण्वादिको देवः संसारेऽस्ति, अयमेव श्रीमद्भगवदहं सर्वज्ञ एव देव इत्यर्थः । ज्ञानमेव केवलज्ञानमेव एका अद्वितीया चिन्चेतना यस्येति ज्ञानैकचित् । जीवेन आत्मना निर्वृतो निष्पन्नो जीवधनः जीवमय इत्यर्थः । सिद्धिः स्वामोपलब्धिः संजाता यस्येति । लोकस्य त्रैलोक्यस्य अग्रे शिखरे तनुवातवातवलये मुक्तिशिलाया उपरि मनागूनीकगव्युत्तिप्रदेशे गच्छतीत्येवंशीलः ॥१३६॥

इत्यन्ताष्टकम् ।

(हृद्) प्रत्यक्षीभूतं अनन्तानां अतीतानागतवर्त्तमानकालापेक्षया अनन्तसंख्यानां अर्हतां श्रीमद्भगवदहं सर्वज्ञानां अप्येत्तरं अष्टाधिकं सहस्रं दशशतप्रमाणं यः पुमान् आसन्नमव्यजीवः भक्तितः परमधर्मानुरागेण विनयतः अर्थात् पठति अस्मी भव्यजीवः, मुक्तिरन्ते यस्याः सा मुक्त्यन्ता, तां मुक्तिं अभ्युदयलक्ष्मीभोगं अरतुते भुंक्ते, संसारे उत्तमदेवोत्तममनुष्यपदस्य अभ्युदयलोक्यं मुक्त्वा मोक्षलोक्यं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१४०॥ हृद् प्रत्यक्षीभूतं श्रीचिन्तनमस्तत्त्वं लोकोत्तमं अर्हंल्लोकोत्तम-सिद्धलोकोत्तम-साधुलोकोत्तम-केवलप्रकृतधर्मलोकोत्तमवत् । पुंसां भव्यजीवानां हृद् शरणं अर्हच्छरण-सिद्धशरण-साधुशरण-केवलप्रकृतधर्मशरणवत् । कथम्भूतम् ? उक्त्वा उक्तिम् । हृद् प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं मङ्गलं मं मलं पापं अनन्तभक्तोपाकृतमश्रुमं कर्म गालयतीति । अथवा मगं सुखं अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणां लाति ददातीति । अर्हन्मङ्गल-सिद्धमङ्गल-साधु-मङ्गल-केवलप्रकृतधर्ममङ्गलवत् । कथम्भूतं मङ्गलम् ? अग्नीयं अत्राय त्रैलोक्यशिखराय मोक्षाय हितं अग्नीयं

व्याख्या—आप गणधरदेवादि महायोगियोंके भी ईश्वर हैं, अतः महायोगीश्वर हैं (१) । आप द्रव्यरूपसे साक्षात् सिद्ध हो चुके हैं, इसलिए द्रव्यसिद्ध कहलाते हैं (२) । आप शरीरसे रहित हैं, अतः अदेह कहलाते हैं (३) । अब आप संसारमें कभी भी जन्म नहीं लेंगे, लौटकर नहीं आवेंगे, इसलिए आपको अपुनर्भव कहते हैं (४) । आपकी केवलज्ञानमय ही चेतना है, इसलिए ज्ञानैकचित् कहलाते हैं (५) । आप जीवरूपसे धन हैं, अर्थात् अपने आप निष्पन्न जीवमय हैं, इसके अतिरिक्त आपमें अन्यका संश्लेष भी नहीं है (६) । आपने स्वामोपलब्धिरूप सिद्धिको प्राप्त कर लिया है, अतः सिद्ध कहलाते हैं (७) । लोकके अग्र भागपर गमनशील होने से आप लोकाग्रगामुक कहलाते हैं (८) ।

इस प्रकार अन्तिम अष्ट नामोंके समूहरूप अष्टक समाप्त हुआ । उपर्युक्त दश शतकोंके साथ इस अष्टकको जोड़ देनेपर आपके १००८ नाम पूर्ण हो जाते हैं ।

अर्थ—जो आसन्न भव्य पुरुष भक्तिसे कालत्रयकी अपेक्षा अनन्त संख्यावाले अर्हन्तोंके इन एक हजार आठ नामोंको पढ़ता है, वह मुक्ति है अन्तमें जिसके ऐसी मुक्ति अर्थात् अभ्युदयलक्ष्मीको प्राप्त करता है अर्थात् स्वर्गादिकके सुख भोगकर अन्तमें निर्वाण-ज्ञान करता है । आपके सहस्रनामोंके स्तवनरूप यह जिनसहस्रनाम लोकमें उत्तम है और पुरुषोंको परम शरण है । यह मुख्य मंगल है और परम पावन है । यही परम तीर्थ है, यही इष्टका साधन है और यही सर्व क्लेश और संकष्टोंके क्षयका कारण है । अर्हन्तभगवान्के इन सहस्रनामोंमेंसे एक भी नामका उच्चारण करनेवाला मनुष्य

मुख्यं मङ्गलमित्यर्थः । इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं परम पावनं परमपवित्रं तीर्थकरपरमदेवपङ्क-
 मनुष्यमात्रस्यापि स्थापकमित्यर्थः ॥ १४१ ॥ इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव परं उत्कृष्टं संसारसमुद्रतटस्थो-
 पायभूतम् । इदमेव मनोऽभीष्टवस्तुदायकं अखिलानां शारीर-मानसार्गंतुकानां क्लेशानां दुःखानां संक्लेशानामार्त्त-
 रौघध्यानानां क्षयकारणं विध्वंसविधायको हेतुरित्यर्थः ॥ १४२ ॥ पूर्वोक्तानां अष्टाधिकसहस्रसंख्यानां श्रीमद्भगवद-
 हस्तवर्कतीर्थकरपरमदेवानां मध्ये एकमपि नाम उच्चारयन् जिह्वाग्रे कुर्वन् पुमान् अनन्तजन्मोपाजितपापैर्मुच्यते
 परिह्रियते परित्यज्यते । किं पुनः सर्वाणि, यः सर्वाणि अहंज्ञामानि अष्टाधिकसहस्रसंख्यानि उच्चारयति
 पठति भक्तिपूर्वकं यः स पुमान् पापैर्मुच्यते इति । किं पुनरुच्यते सर्वाणि नामान्युच्चारयन् पुमान् भव्यजीवोऽ-
 नन्तमोपाजितमहापातकैरपि मुच्यते एवात्र सन्देहो न कर्तव्यः । अष्टाधिकसहस्रनाम्नां यो विद्वज्जनशिरोरत्नं
 अर्थं जानाति अर्थज्ञः, स पुमान् जिन इवाचरति जिनायते, उपमानादाचारे, आर्प्यताश्चति सूत्रद्वयेन
 क्रमादायिप्रत्यय आत्मनेपदं च सिद्धम् ॥ १४३ ॥

॥ इति जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् ॥

पापोंसे मुक्त हो जाता है, फिर जो सर्व नामों उच्चारण करेगा, उसका तो कहना ही क्या है ।
 आपके इस सहस्रनामकी अधिक क्या प्रशंसाकी जाय, जो पुरुष इनके अर्थको जानता है, वह जिन
 भगवान्के समान आचरण करता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि गुणी पुरुषोंके द्वारा महान् सम्मान को प्राप्त
 होता है ॥१४०-१४३॥

व्याख्या—प्रत्येकार जिनसहस्रनामके अध्ययन करनेका फल बतलाते हुए कहते हैं कि जो
 निकट भव्यजीव अर्हन्त भगवान्के इन सहस्रनामोंको भक्ति पूर्वक पढ़ता है, वह स्वर्गलोक और
 मनुष्यलोकके उत्तमोत्तम भोगोंको भोगकर अन्तमें मोक्ष सुखको प्राप्त होता है । जिस प्रकार लोकमें
 अर्हन्त मंगल-स्वरूप हैं, सिद्ध मंगल-स्वरूप हैं, साधु मंगल-स्वरूप हैं और केवली भगवान्के
 द्वारा प्रणीत धर्म मंगल-स्वरूप हैं, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनामरूप स्तवन भी मंगल-स्वरूप हैं ।
 तथा जैसे अर्हन्त भगवान् लोकमें उत्तम हैं, सिद्ध भगवान् लोकमें उत्तम है, साधु लोकमें उत्तम हैं,
 और केवल-प्रणीत धर्म लोकमें उत्तम है, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनाम-स्तवन भी लोकमें उत्तम
 है । तथा जैसे अर्हन्त भगवान् शरण हैं, सिद्ध भगवान् शरण हैं, साधु शरण हैं और केवलि-प्रणीत
 धर्म शरण है, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनामस्तवन भी जीवोंको शरणभूत हैं । जैसे सम्मेदाचल,
 गिरनार आदि तीर्थ पतित-पावन हैं, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनाम स्तवन भी परम तीर्थ है, सर्व
 मनोवाञ्छित पदार्थोंका देनेवाला है, सभी प्रकारके शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक दुःख और
 संकलेशोंका नाशक है । जो पुरुष जिनभगवान्के एक भी नामका उच्चारण करता है, वह भी पापोंसे
 मुक्त हो जाता है फिर जो भक्ति-पूर्वक सम्पूर्ण नामोंका उच्चारण करेगा, वह तो नियमसे ही पापोंसे
 मुक्त होगा । इस जिनसहस्रनामकी अधिक क्या प्रशंसा की जाय, इसके अर्थका जानकार व्यक्ति तो
 जिन भगवान्के समान सम्मानको प्राप्त करता है, इसलिये भव्यजीवोंको चाहिए कि वे प्रतिदिन
 इसका भक्तिपूर्वक पाठ करें ।

इस प्रकार जिनसहस्रनामस्तवन समाप्त हुआ ।

अ प्रतिके अन्तमें इस प्रकारकी पुष्पिका पाई जाती है :—

*इत्याशाधरसुरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् । मुनि श्रीविनयचन्द्रेण लिखितम् । श्रीमूलवधे
 धरस्वतीगन्धे म० श्री ५ सकलकीर्ति, तल्पदे म० श्री ५ मुवनकीर्ति, तल्पदे म० श्री ५ शानभूषण तद्भ्रातृ-
 स्थविराचार्यगौरः श्री ५ रत्नकीर्ति, तच्छिष्यमुनिश्री विनयचन्द्रपठनार्थे । ग्रन्थात् ११४५ शुभं भवतु ।.....
वंचाचार्यादि व्रततोषोपापनयननियमेल्यादिसमस्तपापदोषप्राक्खिच निः.....समस्तकर्मद्वयविना-
 शाननिःशुद्धचिद्रूपप्रातिनिमित्तवैषधरेण मुनिविनयचन्द्रेण भावना भाविता ।

जिनसहस्रनाम [श्रुतसागरी टीका]



ध्यात्वा विद्यानन्दं समन्तभद्रं मुनीन्द्रमहन्तम् ।
श्रीमत्सहस्रनाम्नां विवरणमाकर्षिन् संसिद्धयै ॥

अथ श्रीमद्वाशाधरसूरिर्ग्रहस्थाचार्यवर्यो जिनयज्ञादिसकलरालाप्रवीणस्तर्क-व्याकरण-संज्ञोऽलंकार-साहित्य-सिद्धान्त-स्वसमय-परसमयागमनिपुणबुद्धिः, संसारपारावारपतनभयभीतो निर्ग्रन्थलक्षणमोक्षमार्ग-श्रद्धालुः प्रज्ञापुञ्ज इतिविरदावलीविरजमनः, जिनसहस्रनामस्तवनं 'चिकीर्षुः' 'प्रभो भवाङ्गभोगेषु' इत्यादिस्वामिप्रायसंस्मरणपरः श्लोकमिममाह । श्रीविद्यानन्द्वसूरीणां शिष्याः श्रीश्रुतसागरनामानस्तु* तद्विरचयं कुर्वन्तीति ।

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभोरुकः ।

एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥ १ ॥

हे प्रभो*, त्रिभुवनैकनाथ, यः कोऽपि तीर्थंकरपरमदेवस्तत्त्वेदं सम्बोधनम् । एष प्रत्यक्षीभूतोऽहं* आशाधरमहाकविः त्वां भवन्तं* विज्ञापयामि, विशतिं कगेमि । कथंभूतोऽहम् ? भवाङ्गभोगेषु संसार-शरीर-भोगेषु निर्विण्णो निर्वेदं प्राप्तः । उक्तञ्च—

भवतस्तुभोयविरक्तमखु जो अण्णा क्कापुइ ।

तासु गुरुक्की वेरुक्कडी संसारिणि तुहेइ ॥

कल्पात्कारणाभिर्विण्ण इत्याह—दुःखभीरुको यस्मात् इति* अप्याहारः, सोपस्काराणि वाक्यानि* भवन्तीति वचनात् । भक्त्यस्माद्विरचमिति भवः, अक्षय्यादिभ्यश्च । अंगति कुटिलं गच्छति रोगादिपीडितं रागादिविकृतं* चेत्यङ्गम् । अत्रापि*^{१०} अच् । भुज्यन्ते रागाद्रेपमोहाद्याविष्टे पुरुषैः स्त्रीभिरचेति भोगाः । अकर्त्तरि च कारके संज्ञार्था वञ् । भवश्च अङ्गच भोगाश्च भवाङ्गभोगाः, इतरेतरयोगो द्वन्द्वः । तेषु भवाङ्ग-भोगेषु । निर्विण्णः, निरपूर्वो विद विचारणो क्ते सक्ति दाहस्य च उभयोरपि नत्वं; निर्विग्न इत्यर्थः । भयेन चलिन्तं इति यावत् । उक्तञ्च ।

वेत्तेर्विदितं वितेर्विन्नं चित्तं विद्यते विग्नम् ।

चित्तं घने प्रतीते च विन्दतेर्विघ्नमन्ध्रम् ॥

अन्यत्र लामार्थं इतिवचनात् विद ज्ञाने अदादौ, विद विचारणे रुधादौ, विद सत्प्रायां दिवादौ, विद्वत् लामे तुदादौ, चतुर्णादिसु मध्ये विद विचारणे इत्यस्य निर्विण्ण इति प्रयोगो ज्ञातव्याः, अन्येषामप्यदनात् । दुःखाद्भीरुकः दुःखभीरुकः । भियो रुक्कुकौ च । कथंभूतंत्वाम् शरण्यम् । श्रुत्याति भयमनेनेति शरण्यम्, कर्त्तव्यधिकार्यायोश्च युद् । शरणाय हितः शरण्यः, तं शरण्यम् । यद्गुणवाहितः । अस्तिमथनसमर्थः इत्यर्थः । भूयः कथंभूतं त्वाम् ? कर्त्तव्यार्णवम् । क्रियते स्वर्गगामिभिः प्रायिवर्गेषु इति कर्त्तव्य, ऋ कृ वृ ऋ षमिद्वान्निर्जन्त्य उन् । अर्थां जलं विद्यते यत्न सोऽर्थावः । अर्थावः सलोपश्च, अस्यर्थे वप्रत्ययः, कर्त्तव्याः अर्थावः कर्त्तव्यावः, तं कर्त्तव्यावर्थां दयासमुद्रमिति यावत् ।

* १ ज संविधीपुः । २ ज श्रुतसागरसूरिः । ३ स० प्रे०—सहस्रनामस्तवन विवरणं । ४ ज हे त्रिपु० । ५ ज हमा० । ६ स भगवन्तं । ७ ज इत्येवमाहारः । ८ स० प्रे० सत्प्रायाः । ९ ज चैति अर्गं । १० ज अत्राप्यच् ।

सुखलालसया मोहाद् भ्राम्यन् बहिरितस्ततः ।

सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥

सुखयति आधनः प्रीतिमुत्पादयतीति सुखम् । अचि इन् लोपः । भ्रंशं पुनःपुनर्वा लसनं लालसा । मुह्यत्यनेनेति मोहो अज्ञानम् । अकर्तारि च कारके संज्ञार्था घञ् । भ्राम्यतीति भ्राम्यन्, वर्तमाने इन्मुह्यन्-शाचप्रथमैकाधिकरणाभन्निप्रयोः शन्तु । विवादेर्बन्, शमादीर्णा दीर्घो यनि । बहिल् इत्स् ततस् इमान्य-व्ययानि । हे भगवन्, सुखलालसया सुखस्य शर्मणः सद्देशस्य सातस्य लालसया अत्याकाङ्क्षया । मोहाद् अज्ञानात् मिथ्यात्वकर्मोदयाच्च भ्राम्यन् पर्यटन् सन् बहिः कुदेवादी प्राथयमानः इतस्ततः यत्र तत्र, तत्र सर्वश्रुतीतरागस्य नामापि अभिधानमात्रमपि पुरा पूर्वकाले अनादिकाले न ज्ञातवान् अहम् । कर्मभूतस्य तव । सुखैकहेतोः सुखस्य परमानन्दलक्षणास्य एकोऽ द्वितीयो हेतुः कारात् सुखैकहेतुस्तस्य सुखैकहेतोः ।

अथ मोहप्रहावेशशैथिल्यात् किञ्चिदुन्मुखः ।

अनन्तगुणमातेभ्यस्त्वां भ्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः ॥ ३ ॥

हे स्वामिन्, अथ अस्मिन् भवे मोहप्रहावेशशैथिल्यात् । मोहो अज्ञानं मिथ्यात्वमोहो वा, स एव प्रहः पिशाचः, आश्रित्यकारित्वात् मोहप्रहः, तस्य आवेशः प्रवेशः अययार्थप्रवर्तनम्, तस्य शैथिल्यं उपशमः क्षोभपशमो वा, तस्मात् मोहप्रहावेशशैथिल्यात् । कियत्, शैथिल्यात् किञ्चित् ईषत् मनाक् । उन्मुखः यदोत्कण्ठः । कियत् उन्मुखः ? किञ्चित्-अल्पमात्रम् । त्वां भवन्तं स्तोतुं स्तुतिविषयीकर्तुं अहमुद्यतः उद्यम-परः सज्जातः । किं कृत्वा ? पूर्वं त्वां श्रुत्वा भवन्तमाकर्ष्य । कीदृशं भ्रुत्वा ? अनन्तगुणं अनन्तकेवलज्ञानं अनन्तकेवलदर्शनं अनन्तसुखमनन्तवीर्यं इत्याद्यनन्तगुणसंयुक्तम् । केभ्यः भ्रुत्वा ? आतेभ्यः उदयसेन-मदनकीर्ति-महावीरनामादिगुरुभ्य आचार्येभ्यः सकाशात् ।

भक्त्या प्रोत्साह्यमाशोऽपि दूरं शक्त्या तिरस्कृतः ।

त्वां नामाष्टसहस्रं ण स्तुत्वाऽऽत्मानं पुनाम्यहम् ॥४॥

हे त्रिभुवनैकनाथ, अहं आशाधरमहाकविः त्वां भवन्तं स्तुत्वा स्तुतिं नीत्वा आत्मानं निजजीवत्यरुपं पुनामि पवित्रशामि, अनन्तभवोपाजितः बहुलनिकाचितदुहितमुक्तो भवामि । केन कृत्वा ? स्तुत्वा नामाष्ट-सहस्रं ण अष्टभिःषिकं सहस्रं अष्टसहस्रं नाम्नां अष्टसहस्रं नामाष्टसहस्रम्, तेन नामाष्टसहस्रेण । कथन्भूतोऽहम् ? भक्त्या परमवर्मातुरागेण प्रोत्साह्यमाशः प्रकृष्टमुद्यमं प्राप्यमाशः, त्वं जिनवरस्तवनं कुर्विति प्रेर्यमाशः । अपरः कथन्भूतोऽहम्, दूरं अतिशयेन शक्त्या सामर्थ्येन तिरस्कृतः, त्वं जिनस्तवनं मा कर्षीरिति निषिद्धः । अपरायं माशार्थः—भक्तिरपि स्त्री, शक्तिरपि स्त्री । तयोर्मध्ये एका स्त्री प्रेरयति, अपरा मां निषेधयति । कत्या वचनं करोमि ? यथेकत्या एव वाक्यं करोमि तदा अन्यतरा कुप्यति मया इति विचार्यं द्वयोरपि वाक्यं विदधामीति स्तोकां स्तुतिं नामाष्टसहस्रमाशोऽपि स्तुतिं करोमि । एवं सति भक्तिः सुप्रसन्ना भविष्यति । अधिकं स्तुतिं न करोमीति शक्तिरपि सुप्रसन्ना भविष्यति । स्त्रीषु अकुरुतेन भवितव्यमिति वचनात् । स्त्री हि कुपिता प्राणनाशं करोति । तथा चोक्तं—

क्रुद्धाः प्राणहराः भवन्ति मुजगाः वृष्टैव काळे बन्धि-

सेवामौषधवन्धः सन्ति बहवः सद्यो विषण्णुषिद्धः ।

इन्धुः स्त्रीमुजगाः *परेष्ट च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा,

तस्माद् दृष्टिविषादिवत्पिहर त्वं तद्व्यं आ स्म वाः ॥

१ इ भवोपाजितानि बहुलक.चिद० । अ भवोपाजितनिकाचिद० । २ इ प्राप्यमानः । ३ इ कुपीति । ४ इ 'एका' इति पाठो नास्ति । ५ अ इरी । ६ इ मोषधयम् । ७ स परेष्ट० । ८ इ दृष्टिहे ।

जिन-सर्वज्ञ-यशार्ह-तीर्थकृन्नाययोगिनाम् ।

निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धान्तकृतां चाष्टोत्तरैः शतैः ॥ ५ ॥

हे सकलविमलकेवलशान, अर्हं 'अष्टोत्तरैः शतैः' स्तुत्वा आत्मानं पुनामीति क्रियाकारकसम्बन्धः ।
केषां शतैरित्याह—जिनसर्वज्ञयशार्हतीर्थकृन्नाययोगिनाम्, जिननामशतेन सर्वज्ञनामशतेन यशार्हनाम-
शतेन तीर्थकृन्नामशतेन नाथनामशतेन योगिनामशतेन । समासस्तु जिनश्च सर्वज्ञश्च यशार्हश्च तीर्थकृन्
नायश्च योगी च जिनसर्वज्ञयशार्हतीर्थकृन्नाययोगिनस्तेषां जिनसर्वज्ञयशार्हतीर्थकृन्नाययोगिनाम् । इति षट्
शतानि । तथा निर्वाणब्रह्मबुद्धान्तकृतां निर्वाणश्च ब्रह्मा च बुद्धश्च अन्तकृन् निर्वाणब्रह्मबुद्धान्तकृताः,
तेषां इति चत्वारि शतानि (५) । तथाथा, तदेव निरूपयति—

जिनो जिनेन्द्रो जिनराट् जिनप्रभो जिनोत्तमः ।

जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वरः ॥ ६ ॥

अनेक विषयमभवद्गहनव्यसनप्रापयद्देवैर्न कर्मारतीन् जयति क्षयं नयतीति जिन^१ । इष्यजिह्विन्मो
नह् (१) । एकदेशेन समस्तभावेन वा कर्मारतीन् जितवन्तो जिनाः, सम्यग्दृष्टयः भ्रावकाः प्रमत्तसंयताः
अप्रमत्ताः अपूर्णकरणाः अनिर्दृष्टिकरणाः सूक्ष्मसाम्यरथाः उपशान्तकथायाः क्षीणकथायाश्च जिनशब्दे-
नोच्यन्ते । तेषामिन्द्रः स्वामी जिनेन्द्रः । अथवा जिनश्चासिन्द्रो जिनेन्द्रः (२) । जिनराट् जिनेषु अर्हत्सु
राजते जिनराट्, त्रिवपा^२ सिद्धः (३) । जिनपृष्ठ-जिनेषु प्रभः प्रधानं जिनप्रभः (४) । जिनोत्तमः-
जिनेषु उत्तमो जिनात्तमः (५) । जिनाधिपः जिनानामधिपः स्वामी जिनाधिपः (६) । जिनाधीशः-
जिनानामधीशः स्वामी जिनाधीशः (७) । जिनानां स्वामी जिनस्वामी (८) । जिनानामीश्वरः स्वामी
जिनेश्वरः (९) ।

जिननाथो जिनपतिजिनराजो जिनाधिराट् ।

जिनप्रभुजिनविभुजिनभर्ता जिनाधिभूः ॥ ७ ॥

जिनानां नाथः स्वामी जिननाथः (१०) । जिनानां पतिः स्वामी जिनपतिः (११) । जिनानां
राजा स्वामी जिनराजः (१२) । जिनानामधिराट् स्वामी जिनाधिराट् (१३) । जिनानां प्रभुः स्वामी
जिनप्रभुः (१४) । जिनानां विभुः स्वामी जिनविभुः (१५) । जिनानां भर्ता स्वामी जिनभर्ता (१६) ।
जिनानामधिभूः स्वामी जिनाधिभूः (१७) ।

जिननेता जिनेशानो जिनेनो जिननायकः ।

जिनेट् जिनपरिबुद्धो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥

जिनानां नेता स्वामी जिननेता (१८) । जिनानामीशानः स्वामी जिनेशानः (१९) । जिनानामिनः
स्वामी जिनेनः (२०) । जिनानां नायकः स्वामी जिननायकः (२१) । जिनानामीट् स्वामी जिनेट् (२२) ।
जिनानां परिबुद्धः स्वामी जिनपरिबुद्धः । परिबुद्ध-इवी प्रसुबलवत्तेः (२३) । जिनाना देवः स्वामी जिनदेवः
(२४) । जिनानामीशिता स्वामी जिनेशिता (२५) ।

जिनाधिराजो जिनपो जिनेशी जिनशासिता ।

जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिजिनपालकः ॥ ९ ॥

जिनानामधिपराजः स्वामी जिनाधिराजः (२६) । जिनान् प्रातीति जिनपः । आतोऽनुपसर्गात्कः
(२७) । जिनेषु इष्टे ऐश्वर्यवान् भवति इत्येवंप्राप्तो जिनेशी (२८) । जिनानां शासिता रक्षकः जिन
शासिता (२९) । जिनानामधिको नाथः जिनाधिनाथः (३०) । जिनानामधिपतिः स्वामी जिनाधि-
पतिः (३१) । जिनानां पालकः स्वामी जिनपालकः (३२) ।

जिनचन्द्रो जिनादित्यो जिनाको जिनकुञ्जरः ।

जिनेन्दुजिनधोरियो जिनधुर्यो जिनोत्तरः ॥ १० ॥

जिनानां चन्द्रः आह्लादको जिनचन्द्रः (११) । जिनानामादित्यः प्रकाशको जिनादित्यः (१४) । जिनानामकोः प्रकाशकः जिनाकोः (१५) । जिनानां कुञ्जरः प्रधानः जिनकुञ्जरः (१६) । जिनानामिन्दुश्चन्द्रः जिनेन्दुः (१७) । जिनानां धुरि नियुक्तो जिनधोरियः (१८) । जिनानां धुरि नियुक्तो जिनधुर्यः (१९) । जिनेषु उत्तरः उत्कृष्टः जिनोत्तरः (४०) ।

जिनधर्यो जिनधरो जिनसिंहो जिनोद्ग्रहः ।

जिनधर्मो जिनवृषो जिनरत्नं जिनोरसम् ॥ ११ ॥

जिनेषु धर्यो मुख्यो जिनधर्यः (४१) । जिनेषु वरः श्रेष्ठः जिनधरः (४२) । जिनानां जिनेषु वा सिंहः मुख्यः जिनसिंहः (४३) । जिना उद्ग्रहः पुष्याः यस्य स जिनोद्ग्रहः^१, जिनानुद्ग्रहति ऊर्ध्वं नयतीति वा जिनोद्ग्रहः (४४) । जिनेषु ऋषभः^२ श्रेष्ठो^३ जिनधर्मः (४५) । जिनेषु वृषः श्रेष्ठः जिनवृषः (४६) । जिनेषु रत्नं उत्तमः जिनरत्नम् (४७) । जिनानामुरः प्रधानो जिनोरसम् । उरः प्रधानार्थं राजादौ (४८) ।

जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाश्र्यं जिनपुंगवः ।

जिनहंसो जिनोत्सो जिननागो जिनाग्रणीः ॥ १२ ॥

जिनानामीशः स्वामी जिनेशः (४९) । जिनानां शार्दूलः प्रधानः जिनशार्दूलः (५०) । जिनानां अग्रथं प्रधानं जिनाश्र्यम् (५१) । जिनानां पुङ्गवः प्रधानः जिनपुङ्गवः (५२) । जिनानां हंसो भास्करः जिनहंसः (५३) । जिनानामुत्सः सुकुटः जिनोत्सः (५४) । जिनानां नागः प्रधानः जिननागः (५५) । जिनानामग्रणीः प्रधानः जिनाग्रणीः (५६) ।

जिनप्रवेकश्च जिनग्रामणीजिनसत्तमः ।

जिनप्रवहः परमजिनो जिनपुरोगमः ॥ १३ ॥

जिनानां प्रवेकः प्रधानः जिनप्रवेकः (५७) । जिनानां ग्रामणीः प्रधानः जिनग्रामणीः । अथवा जिनग्रामान् सिद्धसमूहान् नयतीति जिनग्रामणीः (५८) । जिनानां सत्तमः श्रेष्ठः प्रधानः जिनसत्तमः (५९) । जिनेषु प्रवहो मुख्यः जिनप्रवहः (६०) । परया उत्कृष्टया मया लक्ष्या अम्युदय-निःश्रेयसलक्षणोपलक्षितया वर्तते इति परमः । परमश्चासौ जिनः परमजिनः (६१) । जिनानां पुरोगमः प्रधानः अग्रसरः जिनपुरोगमः (६२) ।

जिनध्रष्टो जिनज्येष्ठो जिनमुक्यो जिनाग्रिमः ।

श्रीजिनश्चोत्तमजिनो जिनवृन्दारकोऽरिजित् ॥ १४ ॥

जिनानां श्रेष्ठः प्रशस्त्यः जिनश्रेष्ठः (६३) । जिनानां ज्येष्ठः अतिशयेन वृद्धः प्रशस्त्यो वा जिनज्येष्ठः (६४) । जिनेषु मुख्यः प्रधानः जिनमुख्यः (६५) । जिनानामग्रिमः प्रधानः जिनाग्रिमः (६६) । शिवा अम्युदय-निःश्रेयसलक्षणया लक्ष्या उपलक्षितो जिनः श्रीजिनः (६७) । उत्तमः उत्कृष्टो जिनः उत्तमजिनः (६८) । जिनानां वृन्दारकः श्रेष्ठः जिनवृन्दारकः । जिनानां वृन्दारको देवता वा जिनवृन्दारकः (६९) । अरिं मोहं जितवान् अरिजित् (७०) ।

निधिग्ना विरजाः शुद्धो निस्तमस्को विरज्जिनः ।

घातकर्मन्तकः कर्ममर्माविरकर्महानघः ॥ १५ ॥

निर्गतो विनध्यो किञ्चोऽन्तपयो यस्येति निधिग्नाः (७१) । विगतं विनष्टं रज्जो शान-दर्शनावस्थाद्वयं यस्येति विरजाः (७२) । शुद्धः—कर्ममलकलंकयहितः (७३) । निर्गतं तमो अज्ञानं यस्येति निस्तमस्काः

(७४) । निर्गतं अज्ञानं यत्येति निरञ्जनः, इत्यकर्म-भावकर्म-नोक्तमर्थितः (७५) । घातिकर्मणां मोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शानाकरणांतरायायां अन्तको विनाराकः घातिकर्मान्तकः (७६) । कर्मणां मर्म जीवनस्थानं विष्यतीति कर्ममर्मावित् । न हि इति वृषि व्यधिरुचिसहितानिषु क्विबन्तेषु प्राधिकारकायामेव दीर्घः (७७) । कर्म इन्तीति कर्मह्वा (७८) । अविद्यमानमपं पापचतुष्टयं यत्येति अनघः (७९) ।

वीतरागोऽद्भुद्वेषो निर्मोहो निर्मदोऽमदः ।

वितृष्णो निर्ममोऽसंगो निर्मयो वीतविस्मयः ॥१६॥

वीतो विनष्टो रागो यत्येति वीतरागः । अजेवीं । (८०) । अविद्यमाना जुद् बुभुक्षा यत्येति अद्भुत् (८१) । अविद्यमानो द्वेषो यत्येति अद्वेषः (८२) । निर्गतो मोहो अज्ञानं यस्मादिति निर्मोहः (८३) । निर्गतो मदोऽहंकारोऽष्टप्रकारो यस्मादिति निर्मदः (८४) । अविद्यमानो गदो रेगो यत्येत्यगदः । इत्यनेन ये केवलानां रेगं कवलाहारं च कथयन्ति ये प्रत्युक्ताः निराकृताः (८५) । विगता विशेषेण विनष्टा तृष्णा विषयाभिकांक्षा अभिलाषो यत्य स भवति वितृष्णः । विशिष्टा वा तृष्णा मोक्षामिलाषो यत्येति वितृष्णः । वीनां पक्षिणां निस्तारणे तृष्णा यत्येति वितृष्णः । नदुपलक्ष्यं अन्येषामपि कर्मवद्धानां पशूनां संसारिणां निस्तारकेच्छ इत्यर्थः । तथा सति अपायविचयनशकं धर्मध्यानं भवति भगवत्^१ इत्यर्थः (८६) । निर्गतं ममेति मनो यत्येति निर्ममः । निभिता मा प्रमाणं यत्येति निर्मः, प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणावानित्यर्थः । निर्मः सन् पदार्थान् भाति मिनोति मिमीते वा निर्ममः । आतोऽनुपसर्गात्क (८७) । अविद्यमानः संगः परिग्रहो यत्येति असंगः । न सप्यक् गम्यते ध्यानं विना प्राप्यते अमंगः । ङोऽसंज्ञायामपि (८८) । निर्गतं भयं यस्य, भयानां वा यस्मा-दिति निर्मयः । अथवा निभिता भा दीप्तियत्र तत् निर्म केवलाख्यं ज्योतिः, तथाति गच्छति प्राप्नोति निर्मयः । आतोऽनुपसर्गात्कः (८९) ।

इहपरलोयत्तायां अगुप्ति-भय-मरणा-वेदना^२ कस्तं ।

सप्तविहं भयमेयं सिद्धिर्दुं जिह्वारिदेव^३ ॥

वीतविस्मयः—वीतो विनष्टो विस्मयोऽद्भुतरसोऽष्टविधो मदो वा यत्येति वीतविस्मयः ।

ज्ञानं पूर्जा कुलं जातिं बलवृद्धिं तपो वपुः ।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥

अथवा वीतो विनष्टो वेगैरुद्वल्य स्मयो गर्वो यस्मादिति वीतविस्मयः । भगवान् विषं कर्मविषं च विनाशयति यस्मादिति भावः (९०) ।

अस्वप्नो निःश्रमोऽजन्मा निःस्वेदो निर्जरोऽमरः ।

अरत्यतीतो निश्चिन्तो निविधादस्त्रिषष्टिजत् ॥१७॥

अस्वप्नः— अविद्यमानः स्वप्नो निद्रा यत्येति अस्वप्नः, अग्रमत इत्यर्थः । अथवा असून् प्राथिनां प्राथान् अरोऽयति जीवन् नयतीति परमकारुणिकत्वात् अस्वप्नः, अन्यत्रापि च उपलभ्यः (९१) । निःश्रमः- निर्गतः श्रमः खेदो यत्येति निःश्रमः, निश्चितः श्रमो बाह्यान्तरालक्ष्यं तपो यत्येति निःश्रमः (९२) । अजन्मा न विद्यते जन्म गर्भवानो यत्येति अजन्मा (९३) । निस्वेदः-शिशुत्वेऽपि स्वेदरहितो निःस्वेदः । अथवा निःस्वानां दरिद्राणां इं कामं वाञ्छितं अमीहं भनादिकं ददातीति निःस्वेदः ।

१ सिद्धान्तवृद्धवा विचिन्त्यमेतत्कथनमस्ति २ वृ वैयथा । ३ ज 'इह च परब इहपरी तौ लोकी च इहपरलोकी । भक्त्यां भक्त्यां भपालनं, अगुप्ति-अगुप्तिः प्राकाराभवाः । मरयं च श्रुत्युभ । वेदवा वेदना पीडा । आकारिकं वनादिगर्भो-रूपं, भयशब्दः प्रत्येकमसिद्धमन्वीयः १ इहलोकमय २ परलोकमय ३ अत्रायमय ४ अगुप्तिमय ५ मरयमय ६ वेदनामय ७ आकारिकमयमित्यादि' इति पाठोऽधिकः ।

कत्ताच्छुद्धाद्ये अक्षुष्यादद्ये पद्' षोडश तुहुं कल्पयत् ।
तुष चरद्याविहाजे केवलशाद्ये तुहुं परमपठ परमपठ ॥

इत्याभिधानात् (६४) । निर्जराः-निर्गता जप यस्मादिति निर्जरः (६५) । अमरः-न म्रियते अमरः (६६) । अरदयतीतः-अरतिरक्षन्तिस्तथा अतीतो रहितः अरत्यतीतः (६७) । निश्चिन्तः-निर्गता चिन्ता यस्मादिति निश्चिन्तः (६८) । निर्विषाद्-निर्गतो विषादः पश्चात्तापो यस्मादिति निर्विषादः । अथवा निर्विषं पापविषयहितं परमानन्दमृतं श्रुति आस्वादयाति निर्विषादः (६९) । त्रिषष्टिजित्-त्रिषष्टि कर्मप्रकृतीनां जयतीति त्रिषष्टिजित् । कास्तास्त्रिषष्टिप्रकृतय इति चेदुच्यते-नरकायुः तिर्यगायुः देवायुः इत्यायुर्कर्मणः प्रकृतयस्तिष्ठः । सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति दर्शनमोहस्य कर्मणः प्रकृतयस्तिष्ठः । अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाभारित्रिमोहस्य कर्मणः प्रकृतयश्चतस्रः । तथा अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभाभस्त्वारः । तथा प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभाभस्त्वारः । तथा संज्वलनक्रोधमानमायालोभाभस्त्वारश्चेति षोडश कथायाः । तथा हास्यं रतिः अरतिः शोक-भयजुगुप्साः षट् । ऋग्वेद-पुंवेद नपुंसकवेदारश्चेति त्रयो वेदाः, एवमष्टाविंशतिप्रकृतयो मोहनीयरथ । नामकर्मणः प्रकृतयस्त्रयोदश । तथाहि-साधारण आतप-एकैन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति चतुर्गिन्द्रियजातिनरकगाति-नरकगात्यानुपूर्वी-स्थावर-सूक्ष्म-तिर्यग्गातितिर्यग्गात्यानुपूर्व्यं उद्योत इति । मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणं अर्थाज्ञानावरणं मनःपर्ययज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणं इति पञ्च ज्ञानावरणप्रकृतयः । दर्शनावरणस्य नव । तथाहि-चक्षुर्दर्शनावरणं अर्चक्षुर्दर्शनावरणं अर्थादर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्थानशब्दिः । एवं आवरण १४ । अन्तरयकर्मप्रकृतयः पंच-दानान्तरयः लाभान्तरयः भोगान्तरयः उपभोगान्तरयः वीर्यान्तरयः । ३ । २८ । १३ । १४ । ५ । एवं त्रिषष्टिजित् (१००) ।

॥ इति जिनशतकनामा प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वदर्शी सर्वविलोकनः ।

अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखारम्भकः ॥१॥

अथेदानीं सर्वज्ञशतं व्याख्यास्यामः । सर्वज्ञः-सर्व त्रिलोकं कालत्रयवर्तिद्रव्यपर्यायसहितं वस्तु अलोकं च जानातीति सर्वज्ञः (१) । सर्ववित्-सर्वं वेत्तीति सर्ववित् (२) । सर्वदर्शी-सर्वं द्रष्टुमवलोकयितुं शीलमस्य स सर्वदर्शी (३) । सर्वविलोकनः-सर्वस्मिन् अवलोकनं ज्ञानचक्षुर्भूयस्य स सर्वविलोकनः (४) । अनन्तविक्रमः-अनन्तोऽपर्यन्तो विक्रमः पराक्रमो यत्येत्यनन्तविक्रमः, केवलज्ञानेन सर्ववस्तुवेदकशक्तिरित्यर्थः । अथवा शरीर-सामर्थ्येन मेवाधिकान् अपि समुत्पाद्यनसमर्थ इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

करतलेन महातलजलस्यरेणुजलनिधीनपि विष्णुः कञ्चु कियेत् ।

प्रचलयेद् गिरिराजमचक्रुवा वस्तु जिनः कतमः परमोन्नतः ॥

अथवा अनन्ते अलोकाकारो किमो शानेन गमनं यत्थेति अनन्तविक्रमः । अथवा अनन्तः शेष-
नमः श्रीविष्णुः आकाशस्थितसर्वाचनमसादयो विशेषण क्रमबोर्नग्रीभूता यत्थेति अनन्तविक्रमः । अथवा
अनन्तो विशिष्टः क्रमधारित्रं अनुक्रमो वा यत्थेति अनन्तविक्रमः (५) । अनन्तवीर्यः—अनन्तं वीर्यं शक्तिरत्येति
अनन्तवीर्यः (६) । अनन्तसुखात्मकः—अनन्तं सुखमात्मनो यस्य सोऽनन्तसुखात्मकः । नद्यन्ताप्येवञ्च बहुमीदृ-
कः । अथवा अनन्तं सुखं निश्चयनयेन आत्मानं कायति कथयति यः सोऽनन्तसुखात्मकः । कै गै रै शब्दे ।
आतोऽनुपसर्गाकः (७) ।

अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदृशवाऽखिलार्थदृक् ।

न्यज्ञदृग्निश्चतस्रश्शुर्विश्वेषसुरोपधिक् ॥ १६ ॥

अनन्तसौख्यः—अनन्तं सौख्यं यत्थेति अनन्तसौख्यः (८) । विश्वज्ञः—विश्वं जगत् जानातीति
विश्वज्ञः । नाम्नुपसर्गाकः कः (९) । विश्वदृशवा—विश्वं दृष्टवान् विश्वदृशवा । दृशोः ष्वन्निप्
अतीति (१०) । अखिलार्थदृक्—अखिलान् अर्थान् परयतीति अखिलार्थदृक् । सर्वद्वन्द्वपर्यायितु केवलस्य
इति वचनात् (११) । न्यज्ञदृक्—न्यज्ञं सर्वं परयतीति न्यज्ञदृक् । न्यज्ञं इन्द्रियरहितं परयतीति वा न्यज्ञदृक् ।
(१२) । उक्तञ्च काम्यपिशाचैर्न—

सम्बन्धु अर्धिद्विड षाण्मड जो मयद्दु^२ ख पत्तिवह ।

सो गिण्द्विड पंधिद्विय थिरउ बह्वतथिहिं पाण्डिउ पियह ॥

विश्वतस्रश्शुः—विश्वतो विश्वस्मिन् चक्षुः केवलदर्शनं यत्थेति विश्वतस्रश्शुः । सार्वभौमिकं तस्
इत्येके (१३) । विश्वस्रश्शुः—विश्वस्मिन् लोकालोके चक्षुः केवलज्ञान-दर्शनद्वयं यत्थेति विश्वस्रश्शुः (१४) ।
अशेषधिक्—अशेषं लोकालोके वेतीति अशेषधिक् (१५) ।

आनन्दः परमानन्दः सदानन्दः सद्बोधः ।

नित्यानन्दो महानन्दः परानन्दः परोदयः ॥ २० ॥

आनन्दः—आसमन्तात् नन्दति आनन्दः (१६) । परमानन्दः—परमः उत्कृष्टः आनन्दः सौख्यं
यत्थेति परमानन्दः (१७) । सदानन्दः—सदा सर्वकालं आनन्दः सुखं कस्य स सदानन्दः । अथवा अन्^२
समीचीनं आनन्दो यत्थेति सदानन्दः (१८) । सद्बोधः—सदा सर्वकालं उदयो अनस्तवामनं यत्थेति ।
अथवा सदा सर्वकालं उत्कृष्टो अयः शुभावहो विधिर्यस्य स सद्बोधः ।

मत्स्विका मन्त्रिका प्रकीर्तमुक्त्वात्तौ ।

प्रशस्तवाचकान्यन्यथाः शुभावहो विधिः ॥

इति अमरदत्तः (१६) । नित्यानन्दः—नित्यः शाश्वतः आनन्दः सौख्यं यत्थेति नित्यानन्दः (२०) ।
महानन्दः—महान् आनन्दः सौख्यं यत्थेति महानन्दः । अथवा महेन तन्त्ररूपज्ञया आनन्दो भव्यानां यस्मा-
दिति महानन्दः (२१) । परानन्दः—पर उत्कृष्ट आनन्दो यत्थेति परानन्दः । अथवा परेयां त्वंप्राथिनांमा-
नन्दो यस्मादिति परानन्दः (२२) । परोदयः—परः उत्कृष्ट उदयोऽनुदयो यत्थेति परोदयः । अथवा परेयां
भव्यानां उत्कृष्टः अयः पुण्यं विशिष्टं शुभं शुभायुर्नामश्रेयलक्षणं निबन्नादिरहितं तीर्थकरनामगोत्रोप-
लक्ष्योपलक्षितं पुण्यं यस्मादिति परोदयः (२३) ।

परमोजः परंतेजः परंभाम धरंमहः ।

प्रत्यञ्ज्योतिः परंज्योतिः परंभ्रह्म परंरहः ॥ २१ ॥

परमोजः—परं अतिशयवत् ओजः उत्साहरूपः परमोजः (२४) । परंतेजः—परं उत्कृष्टं तेजो
भूतिभास्करप्रकाशस्वरूपः परंतेजः (२५) । परंभाम—परुत्कृष्टं भाम तेजःस्वरूपः परंभाम (२६) ।

परमहः—परमुत्कृष्टं महः तेजःस्वरूपः परमहः (२७) । प्रत्यग्ज्योतिः—प्रत्यक् पाश्चात्यं ज्योतिः तेजः-
स्वरूपः प्रत्यग्ज्योतिः (२८) । **परंज्योतिः**—परमुत्कृष्टं ज्योतिः चक्षुःप्रायः परंज्योतिः, ^१ लोफालोकलोचनत्वात्
(२९) । **परंब्रह्म**—परमुत्कृष्टं ब्रह्म पञ्चमज्ञानस्वरूपः परंब्रह्म (३०) । **परंरहः**—परमुत्कृष्टं रहो गुह्यस्वरूप-
स्तत्त्वस्वरूपो वा परंरहः । तत्त्वे रते च गुह्ये च रह इत्यभिधीयते इति वचनात् (३१) ।

प्रत्यगात्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदयः ।

परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतनः ॥ ५२ ॥

प्रत्यगात्मा—प्रत्यक्-पाश्चात्यः आत्मा बुद्धिर्यस्य स प्रत्यगात्मा ।

सुषोँऽनौ पवने चित्ते धृतौ^२ बलेऽसुमत्यपि ।

बुद्धौ काये मताऽऽत्मा स्वभावे परमात्मनि ॥

इत्यभिधानात् (२२) । **प्रबुद्धात्मा**—प्रबुद्धः प्रकर्षेण केवलज्ञानसहितः आत्मा जीवो यस्य स प्रबु-
द्धात्मा (३३) । **महात्मा**—महान् केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापकः आत्मा यस्य स महात्मा (३४) । **आत्ममहोदयः**—आत्मनो महानुदयो यस्य स आत्ममहोदयः, कदाचिदपि न ज्ञानरहित इत्यर्थः । अथवा
महस्य पूजायां उदयस्तीर्थकरनामोदयो यस्य स आत्ममहोदयः (३५) । **परमात्मा**—परमः उत्कृष्टः केवल-
ज्ञानी आत्मा जीवो यस्य स परमात्मा (३६) । **प्रशान्तात्मा**—प्रशान्तो घातिकर्मक्षयवान् आत्मा यस्य स
प्रशान्तात्मा (३७) । **परात्मा**—पर उत्कृष्टः केवलज्ञानोपेतत्वात् परात्मा । अथवा परे एकेंद्रियादिपंचेन्द्रिय-
पर्यन्ता प्राणिनः आत्मानो निश्चयनयेन निजसमाना यस्य स परात्मा । उक्तञ्च **योगीन्द्रदेवेन**—

जीवा जिष्णवर जो मुयाइ जिष्णवर जीव मुयेइ ।

सो समभावि परिद्वियउ लहु शिष्वाणु लहेइ^३ ॥

अत्र हेतुहेतुमद्भाव उक्तो भवतीति भावः (३८) । **आत्मनिकेतनः**—आत्मैव शरीरमेव निकेतनं
यहं यस्येति आत्मनिकेतनः, व्यवहारेणेत्यर्थः । निश्चयनयेन तु आत्मा जीवो निकेतनं यहं यस्य स आत्म-
निकेतनः (३९) । तथा चोक्तं **योगीन्द्रदेवैः**—

ते बंदउ सिरि सिद्धगणु जे जप्या शिवसंति ।

सोबालोउ बि सयल्लु हल्लु^४ अण्णहि विमल्लु शिषंत^५ ॥

व्यवहारनयेन तु—

एकस्तम्भं नचद्वारं पञ्च पञ्च 'जनाभितम् ।

जनेककण्ठमेवेदं शरीरं योगिनां गृहम् ॥

परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठितः ।

ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निकृष्टात्मा दृढात्मदृक् ॥ २३ ॥

परमेष्ठी—परमे उत्कृष्टे इन्द्र-धरपोन्द्र-नरेन्द्र-गणेश-द्रादिर्बन्धिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी (४०) ।
महिष्ठात्मा अतिशयेन महान् आत्मा यस्येति महिष्ठात्मा । अथवा महौ अष्टमभूमौ तिष्ठतीति महिष्ठः,
महिष्ठः आत्मा यस्येति महिष्ठात्मा । उक्तञ्च—

१ इ स लोक० । २ स मे० 'चित्ते तांये ते समुपस्यपि' इति पाठः ।

३ इ प्रतापीदृक् पाठः—जीवा जिनवर जो यः कोऽपि जीवान् जिनवर जानाति मुयाइ जिष्णवर जीव मुयेइ । सो
समभावि परिद्वियउ लहु शिष्वाणु लहेइ ५ ४ अ हल्लु । ५ स निषंत । ६ अ बना० ।

योरह्व^१-भवयवासिप-माशुस-जोहसिप-कपवासी व ।

मेवेव-सध्वलिन्ही मोक्खमही अट्टमी पुहई ॥

श्रेष्ठात्मा- अतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठः । अथवा अतिशयेन वृद्धः लोकालोकव्यापी श्रेष्ठः, श्रेष्ठः आत्मा यस्येति श्रेष्ठात्मा, केवलज्ञानापेक्षया सर्वव्यापिजीवस्वरूप इत्यर्थः (४२) । **स्वात्मनिष्ठः-** स्वात्मनि निजशुद्धबुद्धकस्वरूपे न्यतिशयेन स्थितः स्वात्मनिष्ठितः (४३) । **ब्रह्मनिष्ठः-** ब्रह्मणि केवलज्ञाने न्यतिशयेन तिष्ठतीति ब्रह्मनिष्ठः (४४) । तथा चोक्तं—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।

ब्रह्मेति गीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा^२ ॥

महानिष्ठः- महती निष्ठा स्थितिः क्रिया यथावत्तत्कारिणं यस्येति महानिष्ठः परमौदार्यतया प्राप्त इत्यर्थः । सामाधिककृतेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्प्रदायव्याख्यातमिति चारित्रं पञ्चविधम् (४५) ।

निरुदात्मा- न्यतिशयेन रूढलिभुवनप्रसिद्ध आत्मा यस्येति निरुदात्मा (४६) । **ददात्मदृक्-** ददात्मा निश्चलस्वरूपा अनन्तब्रह्मोपेता सत्तामात्रावलोकिनी दृक् दर्शनं यस्येति ददात्मदृक् (४७) । उक्तं च नेमि-
चन्द्रेण भगवता सैद्धांत्यचक्रवर्तिना—

दंसख पुर्व्वं खायां ह्युमत्यायां^३ य दोग्धि उवन्नोगा ।

जुगवं जम्हा केवलिखाहे जुगारं तु ते दोग्धि ॥

तथा चोक्तं आशाधरेण—

नत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं भवं^४ दर्शनं,

साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।

ते नेत्रे क्रमदर्शिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः,

सूजन्ती^५ युगपद्युनर्विरजसां युष्माकमंगाविगाः ॥

ननु अयमभिप्रायः सिद्धानां कथितः, अर्हतां कथं संगच्छते, इत्याह—सत्यं, अर्हितद्वयोरन्तरं शरीरसहिताशरीरयोर्वर्तते; न तु अनन्तचतुष्टयन ।

एकविधो महाविधो महाब्रह्मपदेश्वरः ।

पञ्चब्रह्ममयः सार्वः सर्वविधेश्वरः स्वभूः ॥ २४ ॥

एकविधः- एका अद्वितीया केवलज्ञानलक्ष्योपलक्षिता मतिश्रुतावधिमनःपर्यपरिहता विद्या यस्येति एकविधः । (४८) । उक्तञ्च पूज्यपादेन—

आधिकमेकमनन्तं त्रिकाक्षसर्वाधंयुगपद्वभासव् ।

सकलसुखधाम सततं बदेष्टं केवलज्ञानव् ॥

महाविधः- महती केवलज्ञानलक्ष्या विद्या यस्येति महाविधः (४९) । **महाब्रह्मपदेश्वरः-** ब्रह्मणः केवलज्ञानस्य पदं स्थानं ब्रह्मपदम् । महश्च तद् ब्रह्मपदं च महाब्रह्मपदं मोक्षः, तस्य ईश्वरः स्वामी महा-
ब्रह्मपदेश्वरः । अथवा महाब्रह्मणो गणेश्वरदेवादयः पदयोश्चरणाद्योर्नामः महाब्रह्मपदः, तेषामीश्वरः महाब्रह्म-
पदेश्वरः । अथवा महाब्रह्मपदं समवसरणं तस्येश्वरः महाब्रह्मपदेश्वरः (५०) । **पञ्चब्रह्ममयः-** पञ्चभि-
र्ब्रह्मभिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानैर्निर्भूतो निष्पन्नः पञ्चब्रह्ममयः, ज्ञानचतुष्टयस्य केवलज्ञानान्तर्गमित्वात् ।
अथवा पञ्चभिर्ब्रह्मभिः अर्हितद्वान्चायोषाभ्यायसर्वसाधुभिर्निर्भूतः पञ्चब्रह्ममयः, पञ्चपरमेष्ठिनां शुशीरुपेतत्वात्

१ इ नारद्व्य० स मे० चारक । २ स गङ्गा । ३ इ 'कषस्थकार्णा' श्लवधिकपाठः । ४ इ 'कथितं' श्लवधिकः पाठः । ५ इ सूजन्ती ।

(५१) । सार्धं—सर्वेभ्यः सदृष्टिमिथ्यादृष्टिभ्यः एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय-सूक्ष्म-बाह्य-पर्याप्तापर्याप्त-लब्धपर्याप्तादिजीवानां हितः सार्धं, सर्वप्राणिवर्गाहितो^१पदेष्टराकल्पात् । अत्र शैबिको ऋ^२ शतस्यः, यगाद्यर्थोपत्नात् (५२) । सर्वविद्येश्वरः—सर्वा चावै विद्या सर्वविद्या, सकलाविमलकेवल-ज्ञानम्, तस्या ईश्वरः स्वामी सर्वविद्येश्वरः । अथवा सर्वा विद्या विद्यन्ते येषां ते सर्वविद्याः भ्रुतकेवल-गणधर-देवानागरकेवलिनः तेषामीश्वरः सर्वविद्येश्वरः । अथवा सर्वासु विद्यासु स्वसमय-परसमय-सम्बन्धिनीपु विद्यासु लोकप्रतिष्ठासु चतुर्दशसु ईश्वरः समर्थः सर्वविद्येश्वरः । कास्ताः सर्वविद्याः ? एकादशांगानि चतुर्दश पूर्वाधि चतुर्दश प्रकीर्णकानि च । कास्ताः परसमयचतुर्दशविद्या इति चेत्—

षडंगानि चतुर्वेदा मीमांसा न्यायविस्तरः ।

धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या^३श्चैताश्चतुर्दश ॥

शिक्षा कल्पो न्यायकरणं ज्योतिषं छंदो निरुक्तं चेति षडंगानि । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदश्चतुर्वेदोऽ-थर्वणवेदश्चेति चत्वारो वेदाः । मीमांसा पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा ज्येष्कमीमांसा न्यायविस्तरः । नीति-शास्त्रं धर्मशास्त्रं अष्टादश स्मृतयः पुराणं च तदपि अष्टादशप्रकारं । तेषामन्तर्गता लोकोत्तो शतव्याः । सर्वविद्येश्वर इत्यनेन सर्वज्ञानान्ताज्ज्योतिषो ह्यः सर्वज्ञो न भवतीति सूचितम् । उक्तञ्च—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिको नेति का प्रमा ।

तावुन्नो यदि सर्वज्ञो मतभेदाः कथं तयोः ॥ इति ॥

अलमतिविस्तरेण (५१) । सुभूः—शोभना समवसरणलक्षणा मोक्षलक्षणा ईश्वरभारनाम्री भूः स्थानं यस्येति सुभूः (५४) ।

अनन्तधीरनन्तात्माऽनन्तशक्तिरनन्तदृक् ।

अनन्तानन्तधीशक्तिरनन्तचिद्वनन्तमुक् ॥२६॥

अनन्तधीः—केवलज्ञानलक्षणा धीर्बुद्धिर्यस्येति अनन्तधीः । अथवा अनन्तस्य शोभनागत्य धीश्चिन्तनं यस्मिन् सोऽनन्तधीः । अथवा अनन्ते मोक्षे धीर्यस्य, अथवा अनन्तेषु सिद्धेषु दीक्षावसरे धीर्यस्य सोऽनन्तधीः (५५) । अनन्तात्मा—अनन्तेन केवलज्ञानेनोपलक्षिता आत्मा यस्येति अनन्तात्मा । अथवा अनन्तो विनाशरहित आत्मा यस्येति अनन्तात्मा । अथवा अनन्तानन्ताः आत्मानो जीवा यस्य मते सोऽनन्तात्मा । अथ^४ मुक्तिं गच्छन्सु जीवेषु कदाचित्तदन्तो भविक्यतीति ज्ञेय, संसाराणिःसरत्स्यपि जीवेषु तेषामनन्तत्वात् । तदुक्तं—

जह्या होहिसि पेषुः क्षियागमे अल्पि उत्तरं लह्या ।

एकधिगोदसरीरे भागमर्थतेषा सिद्धिगया ॥

हाल्लरीशंखादिशन्दश्च अपभ्रकरादिनिर्गच्छद्वातवत् संसारिजीवानामन्तो न वर्तते सिद्धानामनन्तत्वेऽ-पीत्यर्थः । इत्यनेन ये वर्तन्ति मुक्तिं गतेषु जीवेषु संसारो रिक्तो भवति, तदनन्तरं परमेश्वरः कर्ममलकलंकं तेषां लगयते, पद्भ्योत्ते संसारे पतन्ति, पुनरपि च मुक्तिमार्गश्चलतीति प्रत्युक्ता भवन्ति (५६) । अनन्त-शक्तिः—अनन्ता शक्तिः सामर्थ्यं यस्येति अनन्तशक्तिः (५७) । अनन्तदृक्—अनन्ता दृक् केवलदृष्टानं यस्येति अनन्तदृक् (५८) । अनन्तानन्तधीशक्तिः—अनन्तानन्ता धीः शक्तिर्विक्रमः प्रज्ञासामर्थ्यमग्राधा यस्येति अनन्तानन्तधीशक्तिः (५९) । उक्तञ्च—

सुभूया अथयं जैव प्रथयं धारयं लया ।

स्फुल्हापोहनियातीः भोतुरष्टौ गुणः च विदुः^५ ॥

अनन्तचित्—अनन्ता चित् केवलज्ञानं यस्येति अनन्तचित् (६०) । **अनन्तमुद्**—अनन्ता मुद् ह्यः सुखं यस्येति अनन्तमुद् (६१) ।

सदाप्रकाशः सर्वार्थसाक्षात्कारी समप्रधीः ।

कर्मसाक्षी जगच्चक्षुरलक्ष्यात्माऽबलस्थितिः ॥ २६ ॥

सदाप्रकाशः—सदा सर्वकालं प्रकाशः केवलज्ञानं यस्येति सदाप्रकाशः । एकसमयेऽपि ज्ञानं न बुध्यति भगवत् इत्यर्थः (६२) । **सर्वार्थसाक्षात्कारी**—सर्वान् अर्थान् द्रव्याणि पर्यायांश्च साक्षात्करोति प्रत्यक्षं जानाति पश्यति चेत्येवंशीलः सर्वार्थसाक्षात्कारी, सर्वद्रव्यपर्यायिषु केवलस्य इति वचनात् (६३) । **समप्रधीः**—समग्रा परिपूर्णा श्रेयप्रमाणा धीः बुद्धिः केवलज्ञानं यस्येति समप्रधीः (६४) । **कर्मसाक्षी**—कर्मणां पुण्यपापानां साक्षी ज्ञायकः कर्मसाक्षी, अन्वकारेऽपि प्रविश्य पुण्य पापं वा यः कश्चित्करोति तत्सर्वं भगवान् जानातीत्यर्थः (६५) । **जगच्चक्षुः**—जगतां त्रिभुवनस्थितप्राणि वर्णाणां चक्षुर्लोकचरमानः, तं विना सर्वेऽप्यन्धाः वर्तन्त इत्यर्थः (६६) । **अलक्ष्यात्मा**—अलक्ष्यः अविज्ञेयः आत्मा स्वरूपं यस्येति अलक्ष्यात्मा, लुप्तस्थानां मुनीनामपि अदृश्य इत्यर्थः (६७) । **अबलस्थितिः**—अचला निश्चला स्थितिः स्थानं सीमा वा यस्येति अबलस्थितिः । आत्मनि एकलोलीभावो दृढचारित्र इत्यर्थः (६८) ।

निराबाधोऽप्रतर्क्यात्मा धर्मचक्री विद्वांवरः ।

भूतात्मा सहजज्योतिर्विश्वज्योतिरतीन्द्रियः ॥ २७ ॥

निराबाधः—निर्गता आबाधा कष्ट यस्येति निराबाधः (६९) । **अप्रतर्क्यात्मा**—अप्रतर्क्यः अविज्ञेयः अविचार्यः अचक्य आत्मा स्वभावः स्वरूपं यस्येति अप्रतर्क्यात्मा (७०) । **धर्मचक्री**—धर्मयोः पलाङ्गितं चक्रं धर्मचक्रम् । धर्मचक्रं विद्यते यस्य स धर्मचक्री । भगवान् पृथिवीस्थितमव्यजनसंबोधनार्थं यदा विद्धारं करोति तदा धर्मचक्रं स्वामिनः संनायाः अग्नेऽग्ने निराधारं आकाशे चलति । उक्तञ्च धर्मचक्रलक्षणं श्रीदेवनन्दिना^१—

स्फुरत्सहस्रकिरणं विमलमहारत्नकिरणिकरपरीणम् ।

सहस्रसहस्रकिरणेषु तिमंजलमप्रगामि धर्मसुचक्रम् ॥

सर्वेषाममयदानदायकं भवति (७१) । **विद्वांवरः**—विदां विद्वज्जानानां मध्ये वरः श्रेष्ठः विद्वांवरः । **क्वचिन्नं ह्युच्यन्ते विमक्तयोः**प्रमिधानात् (७२) । **भूतात्मा**—भूतः सत्यार्थः आत्मा यस्येति भूतात्मा । कोऽप्यौ आत्मशब्दस्य सत्यार्थ इति चेदुच्यते—अत सातत्यगमने इति तावद् धातुर्वर्तते । अतति सततं गच्छति लोकालोकस्वरूपं जानातीत्यात्मा । सर्वेषात्पुण्यो मन्^२ । सर्वे गत्वर्थां ज्ञानार्था इत्यभिधानात् । तथा चोक्तं—

सत्तार्था मंगले वृद्धौ निवासे व्यासिसंपदोः ।

अग्निप्राये च शक्तौ च प्राहुर्भवे गतौ च भूः ॥

इति वचनात् भूतो लोकालोकस्य ज्ञानेन व्यापक आत्मा यस्येति भूतात्मा, न तु पृथिव्यतेजोवासु-लक्ष्णचतुर्भूतमयश्चावर्तकप्रयित आत्मा वर्तते (७३) । **सहजज्योतिः**—सहजं स्वाम्भाविकं ज्योतिः केवलज्ञानं यस्येति सहजज्योतिः (७४) । **विश्वज्योतिः**—विश्वरिम्न् लोके अलोके च ज्योतिः केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणं ज्योतिलौचनं यस्येति विश्वज्योतिः । अथवा विश्वस्य लोकस्य ज्योतिश्चक्षुः विश्वज्योतिः लोकलोचनमित्यर्थः । **ज्योतिश्चक्षुषि शारके इत्यभिधानात्** (७५) । **अतीन्द्रियः**—अतिक्रान्तानि इन्द्रियाणि येनेति अतीन्द्रियः, इन्द्रियज्ञानरहित इत्यर्थः (७६) । उक्तञ्च—

१ अ 'स्वामिना महारकेण' इत्यधिकः पाठः । २ इ मय ।

सष्वण्डु अर्धिदिड थाणमठ जो मवम्यु न पस्वियह ।
सो थिदिठ पंथिदिथ थिरठ वड्ठतरथिदि पथिठ पिथह ॥

केवली केवलालोको लोकालोकविलोकनः ।
विचिक्तः केवलोलोऽप्यक्तः शरण्योऽचिन्त्यवैभवः ॥ २८ ॥

केवली—केवलं केवलज्ञानं विद्यते यस्येति केवली (७७) । केवलालोकः—केवलोलोऽसहायो मति-
ज्ञानादिनिरपेक्ष आलोकः केवलज्ञानोद्योतो यस्येति केवलालोकः (७८) । लोकालोकविलोकनः—
लोकालोकयोर्विलोकनं अवलोकनं यस्येति लोकालोकविलोकनः (७९) । विचिक्तः—विचिन्त्यते स्म
विचिक्तः सर्वविषयेभ्यः पृथग्भूतः । विचिर्' पृथग्भावे (८०) । केवल—केवलः असहायः । अथवा
के आत्मनि बलं यस्येति केवल- (८१) । अव्यक्तः—इन्द्रियाणां मनसः अग्रगम्यः अगोचर- केवलज्ञानेन
गम्य इत्यर्थः (८२) । शरण्यः—शरणे साधुः शरण्यः, अस्तिमयनसमर्थ इत्यर्थः (८३) । अचिन्त्य-
वैभवः—अचिन्त्यं मनसः अग्रगम्यं वैभवं विभुत्वं प्रभुत्वं यस्येति अचिन्त्यवैभवः (८४) ।

विश्वभृद्भिश्चरूपात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
विश्वव्यापी स्वयंज्योतिरचिन्त्यात्माऽमितप्रभः ॥ २९ ॥

विश्वभृत्—विश्वं विभार्तं धरति पुण्याति वा विश्वभृत् (८५) । विश्वरूपात्मा—विशति
प्रविशति पर्यटति प्राणिनोऽस्मिन्निति विश्वं त्रलोक्यं तद्रूपस्तदाकार आत्मा लोकपूरयावसरे जीवो यस्येति
विश्वरूपात्मा । अथवा विशति जीवादयः पदार्था यस्मिन्निति विश्वं केवलज्ञानं विश्वरूपः केवलज्ञानस्वरूपः
आत्मा यस्येति विश्वरूपात्मा । अहि ङटि खटि विश्वभ्य- भवः (८६) । विश्वात्मा—यथा चक्षुषि
स्थितं कजलं चक्षुर्गति, प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इत्युपचर्यते तथा विश्वरहितः प्राणिगणो विश्वशब्दोच्यते,
विश्वं आत्मा निजसदृशो यस्येति विश्वात्मा (८७) । विश्वतोमुखः—विश्वतश्चतुर्दिक्षु मुखं वक्त्रं
यस्येति विश्वतोमुखः, केवलज्ञानवन्तं स्वामिनं सर्वेऽपि जीवा निज-निजसन्मुखं भगवन्तं पश्यन्तीति भावः,
तस्य तादृशनिर्मलत्वात् । अथवा विश्वतोमुखं खलु जलमुच्यते तत्त्वभावत्वात्, अमितजन्मपातकप्रक्षालन-
त्वात्, विषयसुखतृष्णानिवारकत्वात् प्रसन्नभावत्वाच्च भगवानपि विश्वतोमुख उच्यते । अथवा विश्वं संसारं
तस्यति निराकरोति मुखं यस्येति विश्वतोमुखः, भगवन्मुखदर्शनेन जीवः पुनर्भवेन संभवेदिति भावः ।
अथवा विश्वतः सर्वोण्डु मुखं यस्येति विश्वतोमुखः, सहस्रशीर्षः सहस्रपात् इत्यभिधानात् (८८) ।
विश्वव्यापी—विश्वं लोकालोकं केवलज्ञानेन व्याप्नोतीत्येवंशीलः विश्वव्यापी । अथवा लोकपूरणप्रस्तावे
विश्वं जगत् आत्मप्रदेशोऽप्यभिप्नोतीत्येवंशीलः विश्वव्यापी (८९) । स्वयंज्योतिः—स्वयं आत्मा ज्योतिश्च-
क्षुर्ज्योतिर्येति स्वयंज्योतिः, प्रकाशकत्वात् स्वयंसूर्य इत्यर्थः (९०) । अचिन्त्यात्मा—अचिन्त्यः अवागमनस-
गोचरः आत्मा स्वरूपं यस्येति अचिन्त्यात्मा, अचिन्त्यस्वरूपः (९१) । अमितप्रभः—अमिता प्रभा केवल-
ज्ञानस्वरूपं तेजो यस्येति अमितप्रभः । अथवा अमिता प्रभा कांठिभास्कर-कांठिचन्द्रसमानं शरीरतेजो यस्येति
अमितप्रभः (९२) ।

महौदार्यो महाबोधिर्महालाभो महोदयः ।
महोपभोगः सुगतिर्महाभोगो महाबलः ॥ ३० ॥

महौदार्य—महत् औदार्यं दानशक्तियस्येति महौदार्यः । भगवान् निग्रन्धोऽपि सन् याच्छित्तफलप्रदा-
यक इत्यर्थः । उक्तञ्च—

निःकिंचनोऽपि जगते न क्वानि जिव दिजसि निकामं कामितानि ।
नैवात्र चित्रमपथा समस्ति वृष्टिः किमु खादिह नो चकास्ति ॥

अथवा वैपग्यकाले सर्वत्यागीति भावः (६३) । महाबोधिः—महती बोधिवैद्यम्बं रत्नत्रयप्राप्तिकां यत्येति महाबोधिः (६४) । उक्तञ्च—

रत्नत्रयपरिप्राप्तिबोधिः सोऽशीव बुद्धिना ।

तन्व्या कथं कथंचिच्छेकायो वक्षो महाविद् ॥

महालामः—महान् लामो नवकेवललम्बिलक्ष्णो यत्येति महालामः । सम्पत्त्वं चारिषं शानं दर्शनं दानं लामो भोग उपभोगो वीर्यं चेति नवकेवललम्बयः (६५) । **महोदयः**—महान् तीर्थकरत्नम-
कर्मण्य उदयो विपाको यत्येति महोदयः । अथवा महान् उत्कृष्टः अयः शुभावहो विधिवत्येति महोदयः ।
अथवा महान् कदाचिदप्यस्तं न यास्यति उदयः कर्मक्षयोत्पन्नः केवलज्ञानस्योद्गमो यत्येति महोदयः । अथवा
महस्तेजो दया सर्वप्राणिकरुणा यत्येति महोदयः । अथवा महत् केवलज्ञानेन युक्ता दया यत्येति महोदयः ।
उक्तञ्च—

यस्य ज्ञान-दयासिन्धोरगाक्षस्थानवाः गुणाः ।

सेष्यतामन्वयो धीराः सन्निये चामुताव च ॥

शानेन दयया च मोक्षो भवतीति सूचितमत्र (६६) । **महोपभोगः**—महान् उपभोगरञ्जत्र-चामर-
सिंहासनाशोकतमप्रमुखो मुहुर्भोग्यं समवसरणादिलक्ष्णं वस्तु यत्येति महोपभोगः (६७) । **सुगतिः**—
शोभना गतिः केवलज्ञानं यत्येति सुगतिः । अथवा शोभना गतिः पंचमीगतित्येति सुगतिः । अथवा शोभना
गतिर्गणनगमनं यत्येति सुगतिः, छद्मस्यावस्थायां मन्दगमनो वा (६८) । तथा चोक्तं—

गिरिभित्त्वदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः ख्वहानवतः ।

तव समवादानवतो गतयूजितमपगतप्रमादानवतः ॥

महाभोगः—महान् भोगः गन्धोदकवृष्टि-पुष्पवृष्टि-शीत-मृदु-सुगंधपृषतो वातादिलक्ष्णो भोगः
सकृद् भोग्यं वस्तु यत्येति महाभोगः । समयं समयं प्रत्यनन्वसाधारणशरीरस्थितिहेतुपुण्यपरमाणुलक्ष्णो
नोकर्माभिधानो भोगो यत्येति महाभोगः । अथवा महान् आमोगो मनस्कारो लोफालोकव्यापकं केवलज्ञानं
यत्येति महाभोगः । चित्तामोगो मनस्कार इत्यभिधानात् (६९) । **महाबलः**—महत् बलं समस्तवस्तु-
परिच्छेदकलक्ष्णं केवलज्ञानं यत्येति महाबलः । अथवा महत् बलं शरीरसामर्थ्यं निर्भयत्वं च यत्येति
महाबलः (१००) । तथा चोक्तं आशाधरेण—

नारपत्यान्^१ विस्मयान्ताहृतपतनरुजो वृत्तकम्पान् वितन्वन् ,

निःश्रेणीकृत्य भोगं^२, बलवितपयुतन्मूलमाद्गदित्वाहिः ।

श्रीकृष्णद्विगुणावनितरुक्षित्वाशोऽवतीर्थःस्ववर्षा-

व्यासङ्गं संगमस्य व्यञ्जित विजयको महावीरनाथः स बोऽन्यात् ॥

अख्यायमर्थः—श्री वीरनाथः किल बालकुमारः बालक्रीडां काकपक्षधरैः राजकुमारैः समान-
वयोभिर्यदा तदक्रीडां करोति, तस्मिन्नवसरे सौधमेन्द्रसभायां कथा बभूव—यद्देवानां मध्ये श्रीवीरनाथः शूरो
वर्तते । तच्छ्रुत्वा संगमको नामदेवस्तत्परीक्षितुं कुंडपुरं प्रातः । तत्रोद्यानवने बहुमी राजकुमारैः सह क्रीडां
कुर्वन्नाथः श्रीवीरस्वामी संगमासुरेण दृष्टः । तस्मिन्नवसरे दृष्टमारुह्य श्रीवीरराजो^३ राजकुमारैः सह क्रीडां
कुर्वन्नास्ते । संगमो नाम देवः सर्परूपं धृत्वा तदमूलमारम्य स्कन्धपर्यन्तं वेष्टयित्वा स्थितः । तं दृष्ट्वा
सर्वेऽपि दृष्टकुमारः विटपेभ्यो भयविह्वला धरण्यां पतिताः यत्र तत्र पलायिताश्च । श्रीवीरस्तु तं कालदाचर्यं
सर्पं समाह्वय्य ललाब्जिह्वाघातेन तेनाहिना मातुबलसंगं गत इव क्रीडां चकार । संगमस्तु विजृम्भमाणाप्रमोदा-
न्योधिः स्वामिनः स्तुतिं चकार, त्वं मन्वावीर इति स्वामिनो नाम कृत्वा स्वर्गं गतः । तदवदातमवतारयन्

१ इ 'नृप पुत्रान्' इत्यधिकः पाठः । २ इ 'सर्परातीर' इत्यधिकः पाठः । ३ इ अ श्रीवीरो ।

आशाधरः पद्मिदं चकार—नार्पत्यानित्यादि । सखगर्हदः । स जगत्प्रसिद्धः महावीरनाथः श्रीमहावीर-
स्वामी यो पुष्पान् अव्यात् संरक्षतात् । स कः ? यः संगमस्य संगमनामदेवस्य स्ववर्णाञ्चासंगं व्यञ्जित
निजयशो व्यावर्णानपरायणं कृतवान् भगवान् । किं कुर्वन्, नार्पत्यान् राजपुत्रान् दत्तसभ्यान् कृताघःपतनान्
वितन्वन् कुर्वन् । कथम्भूतान् नार्पत्यान् ? विस्मयान्ताहृतपतनरजः-विस्मयेन आश्वयेंश अन्तर्हिता विस्मृता
पतनरक् पतनवेदना येषां ते विस्मयान्ताहृतपतनरजः, तान् तथोक्तान् । भगवान् कथम्भूतः आर्द्राहिताहिः
आर्द्रतया सकल्याया आहितौ सर्पशरीरे आरोग्यपिता इही पादौ येन स आर्द्राहिताहिः । अस्य सर्पकीटकशरीरे
मन्त्रस्याचम्पनवाधा मा भूदित्यभिप्रायः । किं कृत्वा ? पूर्वं भोगं सर्पशरीरं निःश्रेणीकृत्य अधिरोहिणी
कृत्वा विधाय । आरोग्यं स्वास्तोपानं निःश्रेयिस्त्वबिरोहणी इत्यभिधानात् । कथंभूतं भोगं, बलवित-
पृथुतन्मूलं बलवितं वेष्टितं पृथु महत् तन्मूलं येन भोगेन स बलवितपृथुतन्मूलस्तं तथोक्तम् । भगवान् कथम्भूतः
अवतीर्णः ? तरोरध आगतः । कस्मादवतीर्णः ? श्रीकुंडदुग्धगण्डावनितर्षिशखरत्, श्रीमान् लक्ष्मीविराजितो
योऽसौ कुंडदुग्धः कुंडदुग्धं नामपत्तनं तस्य गृह्णा समीपवर्तिनी या अवनिभूमिः तस्यां योऽसौ ततः आमलक्षी-
वृक्षः, तस्य शिखरं अग्रं श्रीकुंडदुग्धगण्डावनितर्षिशखरम्, तस्मात्तथोक्तात्, इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

सर्वश्रेष्ठचरचनाविचक्षणो लक्षणे प्रवीणतरः ।

श्रीविद्यालम्बिगुरोः शिष्यः श्रीश्रुतसागरो जयति ॥

इति सर्वश्रुतनामा द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।



अथ तृतीयोऽध्यायः ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः^१ । अथेदानीं यज्ञार्हशतं विनियते^२ ।

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महाहो मधवाञ्जितः ।

भूतार्थयज्ञपुरुषो भूतार्थं क्रतुर्पांरुषः ॥ ३१ ॥

यज्ञार्हः—यज्ञ देवपूजासंगतिकरणदानेषु । जिनानां यजनं यज्ञः । याचि विधि प्रच्छिद्य यजि स्वपि
रक्षियतां नह । यज्ञं हृन्द-धरणेन्द्र-नरेन्द्रादिकृतामर्हणां पूजामनन्यसंभविनीमर्हतीति यज्ञार्हः । कर्मण्ययम् (१) ।
भगवान्—भगो ज्ञानं परिपूर्णेयर्थं तपः श्रीः वैराग्यं मोक्षश्च विद्यते यस्य स भगवान् (२) । उक्तञ्च—

देववर्षस्य समप्रस्य ज्ञानस्य तपसः श्रियः ।

वैराग्यस्याथ मोक्षस्य वण्णां भग इति स्मृतः ॥

अर्हन्—इन्द्रादिकृतामनन्यसंभविनीमर्हणामर्हतीति योग्यो भवतीति अर्हन् । सर्वमाने शन्तुजानशाव-
प्रथमैकाधिकरत्नात्मनितयोः इत्यनेन शन्तुप्रत्ययः । अथवा अकारशब्देन अरिर्लभ्यते, स एव मोहनीयः ।
'ससुवायेषु प्रकृताः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते, इत्यभिधानात् । रकारेण रजो रहस्यं च लभ्यते । किं तत्
रजः ? शान्तावस्थां दर्शनावर्णं च द्वयमेतत् रज उच्यते, रहस्यशब्देन अन्तरायकर्मोच्यते । मोहनीयं एतत्कृतुष्वयं
च पातिफर्मचतुष्टयं कल्पते । तत् इत्या अर्हणामर्हतीत्यर्हन् । तदुक्तं श्रीश्रीतत्मेन महर्षिणा—

मोहादिसर्वदोषारिचातकेभ्यः सदाहृतरजोभ्यः ।

विरहितरहस्यकृतेभ्यः पूजाहोम्यो नमोऽर्हन्भ्यः ॥

तथा च चारित्रस्यारप्रस्थे चासुपडेन राज्ञा नान्दीसूत्रस्य पूर्वार्धेऽयमेवाद्योऽवतारितः—

अरिहृत्तन-रजोहृत्तन-रहस्वहरं पूजनाहंमहंन्यम् ।
सिद्धान् सिद्धाष्टशुभान् रत्नत्रयसाधकान् सुखे साधुम् ॥

तथा चोक्तमुमास्वामिना—मोहद्वयगणानन्दरंजावरद्वान्तरावधयथा केवलयम्^१ (३) । महार्हः—
महत्स्य यशस्य अहो योग्यः महार्हः । अथवा महमर्हतीति महार्हः । कर्मण्यम् । अथवा महाभावावरं महार्हः ।
अहंः प्रशंसावामिति साधुः । (४) । मघवार्चित — मघक्ता मघोना वा शतकतुना शक्रेण इन्द्रेण
इन्द्रस्य वाऽर्चितः पूजितः मघवार्चितः । अथवा मघं कैतवं कण्ठं वायन्ति शोषयन्ति ये ते मघवाः जैना^२
दिगम्बराः तैर्चितः मघवार्चितः । अन् सुवर् मघोर्ना च । सौ च मघवान् मघवा वा (५) । भूतार्थ-
यज्ञपुरुषः—भूतार्थः सत्यार्थः यज्ञपुरुषः पूजार्हः पुरुषः भूतार्थयज्ञपुरुषः । भागवताः किल नापयथा यज्ञपुरुषं
वदन्ति, तन्मिथ्यार्थं इत्यर्थः (६) । भूतार्थं कतुपुरुषः—भूतार्थः सत्यार्थः क्रतुपुरुषः यज्ञपुरुषः भूतार्थ-
क्रतुपुरुषः । अत्रापि स एतार्थः (७) ।

पूज्यो भट्टारकस्तत्रभवानत्रमघान्महान् ।
महामहार्हस्तत्रायुस्ततो दीर्घायुरर्घ्यवाक् ॥ ३२ ॥

पूज्यः—पूज्यां नियुक्तः पूज्यः (८) । भट्टारकः—महान् पंडितानारयति^३ प्रेरयति स्याद्वादपरी-
क्षार्थमिति भट्टारकः (९) । तत्रभवान्—पूज्यः (१०) । अत्रमघान्—पूज्यः (११) । महान्—
पूज्यः (१२) । महामहार्हः—महापूजायोग्यः (१२) । तत्रायुः—पूज्यः (१४) । ततोदीर्घायुः—
पूज्यः (१५) । अर्घ्यवाक्—अर्घ्या पूज्या वाक् यस्य स अर्घ्यवाक् (१६) ।

आराध्यः परमाराध्यः पञ्चकल्याणपूजितः ।
दृग्विशुद्धिगणोदग्रो वसुधाराचितास्पदः ॥ ३३ ॥

आराध्यः—पूज्यः (१७) । परमाराध्यः—परमैरिन्द्रादिभिरपराध्यते परमाराध्यः । अथवा
परमभ्रातापराध्यः (१८) । पञ्चकल्याणपूजितः—पञ्चसु कल्याणेषु गर्भावतार-जन्माभिषेक-निःक्रमण-
शान-निर्वाणेषु पूजितः पञ्चकल्याणपूजितः । (१९) । दृग्विशुद्धिगणोदग्रः—दृशः सम्यक्त्वस्य विशुद्धि-
निरतीचाराता यस्य गत्यात् द्वादशभेदगणस्य स दृग्विशुद्धिः, दृग्विशुद्धिश्रौतौ गणः दृग्विशुद्धिगणः, तस्मिन्
उदग्रः उत्कर्षेण मुख्यः दृग्विशुद्धिगणोदग्रः । काऽसौ दृग्विशुद्धिरिति चेदुच्यते—

मूढत्रयं मदाब्जाद्यै तथाऽनायतनामि षट् ।
अहौ शङ्खादपरचेति इन्द्रोषाः पञ्चविंशतिः ॥

तत्र मूढत्रयम्—लोकमूढं देवतामूढं पार्श्विमूढं चेति मूढत्रयम् । तत्र लोकमूढम्—

सूर्वादीं ब्रह्मत्यानानं सक्कान्तौ ऋविष्यम्बधः ।
सन्ध्यासेवाग्निस्कारो देहगोदार्थनाधिधिः ॥
गोपुष्टान्तनमस्कारस्तन्मूढस्य भिषेधकम् ।
रत्न-बाहन-भू-भूष-शक-शैवादिसेवनम् ॥
आपगासागरस्नानसुखधः सिकारभ्रमात् ।
तिरिपत्तोऽभिपत्तत्र लौकिकमूढं निराद्यते ॥

१ तन्मा० १०, १। २ इ जैतदिगम्बराः। ३ ज 'पंडितान् गणवरदीन् आरयति' इति पाठः ।

तत्र देवतामूढम्—

वरोपलिप्सवाऽऽशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता बहुपासित देवतामूढमुच्यते ॥

तत्र पाण्डिभूढम्—

सप्रन्यारम्भहिसार्त्ता संसारावतवर्तिनाम् ।
पाण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाण्डिभूढोहनम् ॥

तत्राष्टौ भवाः—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाञ्छित्य मानिरत्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥

तत्र अनायतनानि षट्—

कुदेव-शास्त्र-शास्त्रुषां तस्त्रेवकनृषां तथा ।
स्थानके गमनं पुंसामित्यनायतनानि षट् ॥

तत्र शंकादयोऽष्टौ दोषाः सप्तभयरहितत्वं जैनं दर्शनं सत्यमिति निःशंकितत्वम् (१) । इह-परलोक-
मौगोपमोगकाञ्चारहितत्वं निःकाञ्चत्वम् (२) । शरीरादिकं पवित्रमिति मिथ्यासङ्कल्पनिरासो निर्विचिकित्सतां
(३) अनार्हतदृष्टतत्त्वेषु मोहरहितत्वममूढदृष्टितां (४) । उत्तमज्ञादिभिरात्मनो धर्मवृद्धिकरणं चतुर्विध-
संशयोपक्षम्पन्नं चोपवृंहणं उपगृह्णानपरनामधेयम् (५) । क्रोधमानमायालोभादिषु धर्मविष्वंसकारणेषु
विद्यमानेष्वपि धर्मादप्रच्यवनं स्थितीकरणम् (६) । जिनशासने सदानुगमित्वं वात्सल्यम् (७) । सम्प-
न्दर्शन-ज्ञानचारित्रतपोभिरात्मप्रकाशानं जिनशासनोद्योतकरणं च प्रभावना (८) । एतेऽष्टौ सम्पत्तवृष्ट्याः ।
तद्विपरिता अष्टौ दोषाः । तथा चर्मजलपुततैलभूतनाशानमूलक-परिघनीकंद-पलाण्डु-तुम्बक-कलिंग-सूर्य-
कन्द-सर्वपुष्प-सन्धानकमक्षणावर्जनादिकं दृग्विशुद्धिरुच्यते । ते के द्वादश गण्याः ?

निर्ग्रन्थकृत्पवनिता-व्रतिका-भ-भौम-

नागस्त्रियो भवन-भौम-भ-कल्पदेवाः ।

कोष्ठस्थिता नृ-पशवोऽपि नमन्ति यस्य

तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय ॥

इति वसन्ततिलकावृत्ते कथितो द्वादशविधगणः अर्हदक्षिणतो गण्यते । तथाहि—प्रथमकोष्ठे
निर्ग्रन्था मुनयस्तिष्ठन्ति । द्वितीयकोष्ठे पोद्दशस्वर्गवानता भवन्ति । तृतीयकोष्ठे व्रतिकाः पंचमगुणस्थान-
वर्तिन्यो राजपत्न्यादयः ज्ञानयश्च तिष्ठन्ति । चतुर्थकोष्ठे ज्योतिषां सूर्यचन्द्रमसग्रहनक्षत्रताराणां ऋषयो वसन्ति ।
पंचमे कोष्ठे व्यन्तराणां गार्हापथानां देव्य आसते । षष्ठे कोष्ठे भवनवासिनां वासिताः सन्ति । सप्तमे कोष्ठे
भवनवासिनो देवा जाग्रति । अष्टमे कोष्ठे अष्टविधा व्यन्तरसुराश्चकासति । नवमे कोष्ठे ज्योतिर्देवाः पंचवा
वर्तन्ते । दशमे कोष्ठे कल्पजा देवा षोडशभेदा उपविशन्ति । एकादशे कोष्ठे नृपादयो मनुष्याः सन्तिष्ठन्ते ।
द्वादशे कोष्ठे सिंह-गजाश्च-हंस-मयूर-उन्मुगर्दमादयोऽपि भवन्ति । ते सर्वेपि दृग्विशुद्धिरुचिता भवन्तीति
आगमाद् बोद्धव्यः ।

मिथ्याद्विभ्रमभ्योऽसंज्ञी जीवोऽत्र विद्यते नैव ।

यस्मान्मयवसायो चः संद्विग्नो विपर्यस्तः ॥

जन्वाः परयन्ति रूपाश्चि अण्वन्ति वधिराः श्रुतिम् ।

सूकाः स्पष्टं विभावन्ते संक्रयन्ते च पङ्कजः ॥

वद्रस्य च गणः क्रूरो भवति । मिष्यादृष्टिश्च मांसाहारी प्रमथनामा भवति, न तथा स्वामिनो गण इति भावः (२०) । वसुधारार्चितास्पदः—वसुधारामी रज-सुवर्णादिवनवर्षावैरर्चितं श्रुतिमास्पदं मातुरङ्गायं यत्येति वसुधारार्चितास्पदः । धने वृद्धौषधे रत्ने स्वादौ च वसु कथ्यते इत्यभिधानात् (२१) ।

सुस्वप्नदर्शी दिव्यीजाः शचीसेवितमातृकः ।

स्याद्रत्नगर्भः श्रीपूतगर्भो गर्भोत्सवीच्छृतः ॥ २४ ॥

सुस्वप्नदर्शी—सुप्तु शोभनान् स्वप्नान् मातुर्दर्शयतीति सुस्वप्नदर्शी ।

गज-बुधम-सिंह-कमलादामेन्दु-रवीति मीन-घटौ^१ च सरः ।

अव्यासनं सुरसद्य च नारायुर्दं मखिगण्यो वद्विः ॥

गर्भागमनकाले मुले गजराजप्रवेशश्च, इति सुस्वप्नदर्शी (२२) । दिव्यीजाः—दिव्यं अमानुषं अचोऽवष्टम्भो दीप्तिः प्रकाशो बलं धातु तेजो वा यस्य स दिव्यीजाः (२३) ।

धातु तेजो बलं दीप्तिरवष्टम्भश्च कथ्यते ।

श्रीजःशब्देन विद्वन्निः प्रकाशः भुतसागरीः ॥

शचीसेवितमातृकः—शच्या शक्रस्य महादेव्या सेविता आराधिता माता अम्बिका यस्य स शची-सेवितमातृकः । 'नदीकृदन्ताच्छेवाद्वा बहुवीही कः (२४) । रत्नगर्भः—गर्भेषु उत्तमो गर्भः रत्नगर्भः, रत्नैरुपलक्षितो गर्भो वा यस्य स रत्नगर्भः; नवमासेषु रजवृष्टिसम्भवात् (२५) । श्रीपूतगर्भः—श्रीशब्देन श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी-शान्ति-पुष्टिप्रभृतयो दिक्कुमार्यो लभ्यन्ते । श्रीभिः पूतः पवित्रितो गर्भो मातुर्दरं यस्य स श्रीपूतगर्भः (२६) । गर्भोत्सवीच्छृतः—गर्भस्य उत्सवो गर्भकल्याणं देवैः कृतं तेजो-च्छृतः उन्नतः गर्भोत्सवोच्छृतः (२७) ।

दिव्योपचारोपचितः पद्मभूर्निष्कलः स्वजः ।

सर्वोयजन्मा पुण्यांगो भास्वानुद्भूतवैचतः ॥ २५ ॥

दिव्योपचारोपचितः—दिव्येन देवोपनीतेनोपचारेण पूज्या उपचितः पुष्टिं प्राप्तः पुष्टिं नीतो वा दिव्योपचारोपचितः (२८) । पद्मभूः—पद्मैरुपलक्षिता भूर्मातुरंगण^२ यत्येति पद्मभूः । अथवा मातुर्दरे स्वामिनो दिव्यशक्त्या कमलं भवति, तत्कर्मिकायां सिंहासने भवति, तस्मिन् सिंहासने स्थितो गर्भरूपो भगवान् बुद्धिं याति, इति कारणात् पद्मभूर्भगवान् भण्यते, पद्माद् भवति पद्मभूः (२६) । उक्तञ्च महापुराणे—

कुण्डोदयं सप्तं देवं सा दधानोदरे शयश्च ।

कुण्डोदयं द्योवासीन्मानवीया दिव्यीकलाद् ॥

निष्कलः—निर्गता कला कालो यत्येति निष्कलः । निश्चिता कला विज्ञानं वा यत्येति निष्कलः । उक्तञ्च—

षोडशोऽङ्गो विषोर्दुर्लभं रैवृष्टिः कृत्वा न तथा ।

शिवं काञ्चन विज्ञेया कला बुधजमैरिह ॥

अथवा निर्गतं कलं रेतो यत्येति निष्कलः, अथवा निर्गतं कलमवीर्यं यत्येति निष्कलः, कवलाद्यपरहितत्वात् । उक्तञ्च—

अव्यक्तमपुरज्यामे कर्त्तं रेतस्वजीर्वाके ।

अथवा निष्कं हेम लाति आद्यते रत्नदृष्टेरवतरे निष्कलः । अथवा निष्कं सुवर्णं लाति दद्याति पञ्चाब्-
धावसरे द्यतुर्बनस्येति निष्कलः । अथवा निष्कं लाति राज्यावसरे यज्ञोविभूषणं यद्वाति सतरत्नं सहस्ररत्नार्द्रं
कण्ठे दधातीति निष्कलः (३०) । उक्तञ्च—

सुवर्णोविभूषणे साहस्रते हेज्जस्य हेज्जि च ।
तत्पक्षे चैव दीनारे कर्णे निष्को निगद्यते ॥

स्वजाः—स्वेन आत्मना जायते उत्पद्यते, स्वानुभूत्या प्रत्यक्षीभवतीति स्वजः । अथवा शोभनो
रागद्वेषमोहादिरहितः अजो ब्रह्मा स्वजः । अन्यस्तु लोकोक्तलक्षणः अजः, स तु दुरजः । (३१) । तथा
चोक्तं भट्टाकलङ्केन—

उवरवांसुदपाधि रागबहुलं चेतो यदीयं पुनः,
पात्री-द्वयह-कमण्डलुप्रभृतयो यस्याकृताधंस्थितिम् ।
आदिभ्रातृवितुं भवन्ति स कथं ब्रह्मा भवेन्सादृशां,
सुवृष्याभमरागरोषरहितो ब्रह्मा कृताधोऽस्तु नः ॥

सर्वीयजन्मा—सर्वेभ्यो हितं सर्वीयम्, सर्वीयं जन्म यस्येति सर्वीयजन्मा । भगवज्जन्मलमये नारका-
यामपि क्षणं सुखं भवति यस्मात्, तेन सर्वीयजन्मा (३२) । पुण्याङ्गः—पुण्यं पुण्योपाजर्जनहेतुभूतमङ्गं
शरीरं यस्येति पुण्याङ्गः, मलमूत्ररहितशरीरत्वादिति । अथवा पुण्यानि पूर्वोपर-विद्योषरहितानि अङ्गानि
आचारप्राज्ञादीनि द्वादश यस्येति पुण्याङ्गः । अथवा पुण्यानि पापरहितानि अङ्गानि हस्त्यरवादीनि ऊर्ध्वगा-
मीनि यस्येति पुण्याङ्गः (३३) । भास्वा २—भायो दीप्तयो विद्यन्ते यस्य स भास्वान्, चन्द्रार्ककोट्येपि
अधिकतेजा इत्यर्थः (३४) । उद्भूतदैवतः—उद्भूतं उदयमागतमुत्कृष्टभूतं वा दैवतं पुण्यं यस्य स उद्भू-
तदैवतः । अथवा उद्भूतं अनन्तानन्तभवोपार्जितं दैवं कर्म तस्यति क्षयं नयतीति उद्भूतदैवतः । अथवा
उत्कृष्टानां भूतानां प्राणिनां शक्रादीनां दैवतं देवः उद्भूतदैवतः (३५) ।

विश्वविज्ञातसंभूतिविश्वदेवागमाद्भुतः ।
शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः सहस्राक्षहयुत्सवः ॥ ३६ ॥

विश्वविज्ञातसंभूतिः—विश्वस्मिन् त्रिमुक्ते विशाता संभूतिर्जन्म यस्येति विश्वविज्ञातसंभूतिः ।
अथवा विश्वस्मिन् विशाता प्रदिता विख्याता संभूतिः सर्माचीनमेश्वर्यं यस्येति विश्वविज्ञातसंभूतिः (३६) ।
विश्वदेवागमाद्भुतः—विश्वेषां भवनवासि-व्यन्तर-ज्यातिष्क-कल्पवासिनां देवानामागमनेन सेवोपदौक्तेन
अद्भुतमाश्चर्यं यस्मात् लोकानां स विश्वदेवागमाद्भुतः । अथवा विश्वदेवानां आगमेन शास्त्रेण अद्भुत-
माश्चर्यं यस्मादिति विश्वदेवागमाद्भुतः (३७) । शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः—शच्या इन्द्राप्या सृष्टो
विक्रियया कृतः प्रतिच्छन्दः प्रतिक्रियो मायामयबालको यस्य स शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः (३८) । सहस्राक्ष-
हयुत्सवः—सहस्राक्षस्य इन्द्रस्य दृशां लोकानां उत्सवः आनन्दो यस्मादिति सहस्राक्षहयुत्सवः (३९) ।
तथा चोक्तं समन्तभद्रस्वामिना—

सव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा दुस्मिन्वापिवाद् ।
इयथ. शकः सहस्राक्षो बभूव बहुविधस्यः ॥

द्वयवैराघतासीनः सर्वशुकनमस्कृतः ।
हर्षाकुलामरस्वगश्चारणार्थिमतोत्सवः ॥ ३७ ॥

द्वयवैराघतासीनः—द्वयम् नर्तनं कुर्वन् योऽजावैराघतः, तस्मिन् आसीन उपविष्टः । इं सत्यस्य
इति साधुः, द्वयवैराघतासीनः (४०) । सर्वशुकनमस्कृतः—सर्वैः द्वात्रिंशदा शकैर्देवैर्नैर्मस्कृतः प्रणाम-

माखिव्यकीकृतः सर्वशकनमस्तुतः । दशभिर्मवनवातिभिः अष्टभिर्वन्तरशकैः चन्द्रेण रविणा च द्वादशभिः कल्पवासीन्द्रैर्नमस्तुत इत्यर्थः । के ते द्वादश कल्पवासीन्द्राः ? सौभर्मः ऐशानः खानकुमारः माहेन्द्रः ब्रह्म-
लोकेन्द्रः सान्त्वनेन्द्रः शुक्लेन्द्रः शतारिन्द्रः आनतेन्द्रः प्राणतेन्द्रः आरयोन्द्रः अच्युतेन्द्रचेति द्वादश (४१) ।
हर्षाकुलामरखगाः—न म्रियन्ते आधुषा विना अमराः, से गच्छन्तीति खगाः । अमराश्च खगाश्च अमर-
खगाः । हर्षया जन्माभिषेकावलोकनार्थं आकुला अर्षीराः हर्षाकुलाः, हर्षाकुलाः आनन्देन उत्तुका विह्वली-
भूता परमधर्मानुरागं प्राप्ताः अमरखगा यत्येति च हर्षाकुलामरखगाः (४२) । चारणार्थिमतोत्सवः—
चारणार्थीणां मतोऽभीष्टः उत्सवो जन्माभिषेककल्याणं यत्येति चारणार्थिमतोत्सवः । क्रियाविषया ऋद्धिर्दिधा-
चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति । तत्र चारणत्वं तावदनेकविधं । तत्रेयमार्था—

जंवाभ्रेष्यद्भिश्चिक्काजलदक्षकलपुष्पबीजतन्तुगवैः ।

चारणनाम्नः स्वैरं चरत्स्र दिधि स्तुमो विक्रियद्धिं गताम् ॥

तत्र अंधाचारणाः भूमेरपरि आकाशे चतुरङ्गलप्रमाणा जहोत्स्तेप-निक्षेपशीप्रकारणपटवः बहुयोजन-
शतगमनप्रवणाः जह्वाचारणाः । श्रेयिं आलीं आलम्ब्य पूर्ववद्गच्छन्ति ते श्रेयिचारणाः एजमभिष्वालाम-
स्तुशन्तो गच्छन्ति अग्निशिलाचारणाः । एवं जलमस्तुरय भूमाविष पादोद्धार-निक्षेप-कुशलाः जलचारणाः ।
अथवा वापी-तडाग-नचादिषु जलमुपादाय अक्वायिकजीवानविराधयन्तो गच्छन्ति ते जलचारणाः । एवं
दलोपरि गच्छन्ति ते दलचारिणः । एवं फलानामुपरि गच्छन्ति ते फलचारणाः । एवं पुष्पाणामुपरि
गच्छन्ति ते पुष्पचारणाः, तद्विराधनां न प्रकुर्वन्ति । एवं बीजाङ्कुरोपरि गच्छन्ति ते बीजचारणाः । एवं
तन्तूनामुपरि गच्छन्ति ते तन्तुचारणाः । ते चारणा आकाशगामिनश्चारणाः कथ्यन्ते । पर्यक्सनस्था
आकाशे गच्छन्ति, निषण्णा वा गच्छन्ति, कायोत्सर्गेष वा आकाशे गच्छन्ति, पादोद्धारनिक्षेपेष्वेन वा
आकाशे गच्छन्ति, पादोद्धारनिक्षेपणं विनापि उन्ना एव उड्डीयन्ते ये ते आकाशगामिनश्चारणाः कथ्यन्ते ।
तेषां मतोत्सवः चारणार्थिमतोत्सवः (४३) ।

व्योम विष्णुपदारक्षा स्नानपीठायिताधिराट् ।

तीर्थेशम्मन्थबुधधिः स्नानाम्बुस्नातवासधः ॥ ३८ ॥

व्योम—विशेषेण अबति रक्षति प्राणिवर्गानिति व्योम (४४) । विष्णुपदारक्षा—वेवेष्टि
व्याप्नोति लोकमिति विष्णुः, प्राणिवर्गः । विषे किञ्च इत्यनेन नुप्रत्ययः । विष्णोः प्राणिवर्गस्य पदानि
चतुर्दशमार्गास्थास्थानानि गुणस्थानानि च तेषामासन्ताद् रक्षा विष्णुपदारक्षा, परमकाशयिकत्वात् स्वामिनः ।
उक्तञ्च—गोमट्टसारग्रन्थे श्रीनेमिचन्द्रेण भगवता ।

गह्रं दिवं च काये जोए वेए कसायखाये य ।

संजम दंसय खेत्सा भविवा सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

तथा चतुर्दशगुणस्थानगाथाद्वयं—

मिष्णो सासण्ण मिसो जविदयसम्मो य वेसविरदो य ।

विरदो पमत्त इयरो जपुष्प अण्णिण्हि सुद्धमो य ॥

उचसंल खण्णिमोहो सजोगकेवखिण्णियो अजोगी य ।

धोइस गुण्णठायण्णि य कमेय सिद्धा मुयेयण्णा ॥

व्योम विष्णुपदारक्षा इति नामद्वयं आविष्टलिङ्गं शतव्यम् (४५) । स्नानपीठायिताधिराट्—
स्नानस्य जन्माभिषेकस्य पीठं चतुष्किञ्च तदिवाचरति स्म स्नानपीठायितः अधिराट् मेरुपर्वतो यस्य च स्नान-

पीठान्तिद्रियत् (४६) । तीर्थेशम्मन्वदुग्धाग्निः—तीर्थानां जलाशयानामाशः स्वामी तीर्थेशः । तीर्थेशमालानं मन्यते तीर्थेशम्मन्वः, तीर्थेशम्मन्वो दुग्धाग्निः क्षीरसागरो यस्य स तीर्थेशम्मन्वदुग्धाग्निः (४७) । स्नानाम्बुस्नातवासवः—स्नानाम्बुना स्नानजलेन स्नातः प्रक्षालितशरीरो वासवो देवेन्द्रो यस्येति स्नानाम्बुस्नातवासवः । स्वामिनः स्नानजलेन सर्वेऽपि शक्ताः स्नानं कुर्वन्ति (४८) ।

गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यो वज्रसूचीशुचिभवाः ।
कृतार्थितशचीहस्तः शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः ॥३६॥

गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यः—गन्धाम्बुना ऐशानेन्द्रावर्जितेन गन्धोदकेन पूतं पवित्रीभूतं त्रैलोक्यं यस्येति गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यः (४९) । वज्रसूचीशुचिभवाः—परमेश्वरस्य कर्णौ किल स्वभावेन सङ्छिद्रौ भवतः । ऊर्णनामपटलसदृशेन पटलेन क्षम्भितौ च भवतः । पश्चाद्देवेन्द्रो वज्रसूचीं गृहीत्वा तत्पटलं दूरीकरोति, कर्णोच्छिद्रौ च प्रकटीभवतः, तत्र कुंडले आरोपयति । अयं आचार इति कर्णविधं करोति । तत्प्रस्तावे इदं भगवतो नाम—यत् (वज्र -) सूच्या शुचिनी भ्रक्वी कर्णौ यस्येति वज्रसूचीशुचिभवाः (५०) । कृतार्थितशचीहस्तः—कृतार्थितौ सफलीकृतौ शच्या इन्द्रमहादेव्या इस्तौ येन स कृतार्थितशचीहस्तः । भगवतो जन्मामिषेकानन्तरं इन्द्राणि किल जलकषान् दूरीकरोति, वज्राभस्त्यानि परिधापयति, विलेपनं तिलकादिकं च विदधाति । तस्मिन्नवसरे शच्या कर्षी कृतार्थी भवत इति कृतार्थितशचीहस्तः (५१) । शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः शक्रेण उद्घुष्टमुच्चैरुच्चारितं इष्टं सर्वैर्मानितं नाम यस्येति शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः (५२) ।

शकारब्धानन्दनृत्यः शचीविस्मापिताम्बिकः ।
इन्द्रनृत्यन्तपितृको रैदपूर्णमनोरथः ॥३७॥

शकारब्धानन्दनृत्यः—शक्रेण सौषमेंद्रेण आरब्धं मेरुस्तके जिनेश्वरप्रे आनन्दनृत्यं भगवजन्मामिषेककष्योत्पन्नविशिष्ट-पुण्यसमुपार्जन-समुदभूतहर्षनाटकं यस्येति शकारब्धानन्दनृत्यः (५३) । शचीविस्मापिताम्बिकः—शच्या इन्द्राण्या सौषमेंद्रपत्न्या विस्मापिता स्वपुत्रवैभवदर्शनेनाश्रयं प्रापिता अम्बिका माता यस्येति शचीविस्मापिताम्बिकः । गोरप्रधानस्यान्तस्य शिवामादादीनां चेति इस्वः (५४) । इन्द्रनृत्यन्तपितृकः—नर्तनं वृत्तिः । शिवी किः । इन्द्रस्य वृत्तिः इन्द्रवृत्तिः । इन्द्रवृत्तिः अन्ते अग्रे पितृर्षंनुर्वस्येति इन्द्रनृत्यन्तपितृकः । नदीकृदन्ताच्छेषाहा बहुव्रीहौ कः । मेरुस्तके स्वाम्यग्रे स्वाम्यानयनानन्तरं पितुरग्रे च बारहस्य सौषमेंद्रो नृत्यं करोतीति नामद्वयेन सूचितमिति भावः (५५) । रैदपूर्णमनोरथः—रैदेन कुबेरवक्ष्येण सौषमेंद्रादेशात् पूर्णाः परिपूरिताः समाप्तिं नीता भोगोपभोगपूर्येण मनोरथा दोहदा यस्येति रैदपूर्णमनोरथः (५६) ।

आशार्थीन्द्रकृतासेवो देवर्षीष्टशिवोद्यमः ।
दीक्षाक्षणक्षुब्धजगद्भुङ्क्वःस्वःपतीद्वितः ॥३८॥

आशार्थीन्द्रकृतासेवः—आज्ञा जिह्वारादेश इति यावत् । आशया आदेशस्य अर्थी ग्राहकः आशार्थी, स चासाविन्द्रश्च आशार्थीन्द्रः । आशार्थीन्द्रेण कृता विहित्वा आसमन्तात् सेवां पर्थुपासनं यस्येति आशार्थीन्द्रकृतासेवः (५७) । देवर्षीष्टशिवोद्यमः—देवानां ऋषयो देवर्षयो लौकान्तिकाः । देवर्षीणां लौकान्तिकदेवानामिष्टो क्लमः शिवोद्यमः शिवस्य मोक्षस्य उद्यमो यस्येति देवर्षीष्टशिवोद्यमः । उक्तञ्च—

चतुर्लक्षां सहस्राणि सप्त चैव शताष्टकम् ।
विशतिर्भिक्षिता एते लौकान्तिकपुराः स्मृताः ॥

पञ्चमस्वर्गस्य अन्ते वसन्ति, अष्टसागरयुगो भवन्ति, दीक्षाकल्याणौ तीर्थकरसम्बोधनार्थमागच्छन्ति भूलोकम् । अन्येषु कल्याणेषु नागच्छन्ति । एकं मनुष्यजन्म गृहीत्वा मुक्तिं गच्छन्तीति लौकान्तिकदेवा भवन्तीति

शतस्यम् । (५८) । दीक्षाज्ञानानुभवजनम्—दीक्षाक्षये निःक्रमवाक्य्यायो ह्युर्व्वं क्षीमं प्राप्तं जगत् त्रैलोक्यं यत्येति दीक्षाज्ञानानुभवजनम् (५९) । भूर्भुवःस्वःपतीदितः—भूर् पाताललोकः, भुवर् मध्यलोकः, स्वर् ऊर्ध्वलोकः । तेषां पतयः स्वामिनः भूर्भुवःस्वःपतयः, तैरीदितः स्तुतीनां कोटिभिः कथितः भूर्भुवःस्वःपतीदितः (६०) । वैदिकादिका एते शब्दाः स्फापन्ताः श्रव्ययाः श्रातव्याः । उक्तञ्च संहितायां गायत्रीमंत्रः—ॐ भूर्भुवःस्व स्तस्वितुर्वरेण्यं अगो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

कुबेरनिर्मितास्थानः श्रीयुगयोगीश्वरार्चितः ।

ब्रह्मं ऋषो ब्रह्मविद् वेद्यो याज्यो यज्ञपतिः ऋतुः ॥ ५२ ॥

कुबेरनिर्मितास्थानः—कुबेरेण ऐलविलेन राजयजेन शक्रभाण्डागारिणा धनदयज्ञेण निर्मितं स्रष्टं आस्थानं समवसरणं यत्येति कुबेरनिर्मितास्थानः । उक्तञ्च—

मानस्तम्भाः सरसि प्रचिन्मलजलसंस्कारिकापुष्पवाटी

प्राकारो नाञ्चशाला द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाञ्च ।

सालः कल्पद्रुमाद्यां सपरिहृतितवनं स्तूपहर्म्यावली च,

प्राकारः स्फाटिकोन्तर्द्व-सुर-मुनिसभापीठिकाग्रे स्वयम्भूः ॥

इति वृत्ते स्तूपाः पूर्वं यद्गीता अपि हर्म्यावलीपश्चात् श्रातव्या इति विरोधः (६१) । श्रीयुक्— श्रियं नवनिधिलक्षणां द्वादशद्वारेषु दीनजनदानार्थं शोभार्थं वा युनक्तोति श्रीयुक् । अथवा श्रियं अमृत्युदवनिःश्रेयसलक्षणां पलक्षितां लक्ष्मीं युनक्तं योजयति भक्तानामिति श्रीयुक् (६२) । योगीश्वरार्चितः— यम-निवमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिलक्षणा अष्टौ योगा विद्यन्ते येषां ते योगिनः । योगिनां मुनीनां ईश्वर गणेशदेवादयः, तैर्चितः पूजितः योगीश्वरार्चितः । अथवा योगी चासौ ईश्वरश्च संयोगकेवली, स चाद्यं आर्चितः, योगीश्वरार्चितः । अथवा योगो विद्यते स्त्रीसंयोगो विद्यते यस्य स चासौ ईश्वरो ऋतः, तेनार्चितः योगीश्वरार्चितः । श्रीवधमान्वाजनः किल उज्जयिनीनगरस्य बाह्ये अतिमुक्तकान्ति-शमशाने यत्रो कायांतर्गंथ स्थितः । तत्र पार्वतीसहितो ऋत आगतः । स दुष्टस्वभावः परमेश्वरचैवैपरीक्षार्थं सर्वपात्रौ उपसर्गं कुर्वन् स्थितः । विद्याबलनानेकराक्षस-सिंह-शार्दूल-वेतालरूपाणि कृत्वा भीषितवान्, तथा हृषद्बृहदादिकं च कृतवान् । तं चालयितुमसमर्थः सन् उमया सह पादयोः पतित्वा नर्त्तनं विधाय महति महावीरसन्ना कृत्वा वृषभासदः पार्वत्या सह कापि गतः, इति योगीश्वरार्चितः (६३) । ब्रह्मं ऋषः—ब्रह्म-भिरहृमिन्द्रैरीड्यः स्वस्थानस्थितैः स्तूयते ब्रह्मं ऋषः । अथवा ब्रह्मनाम्ना मायाविना विद्याधरेण ईड्यः ब्रह्मं ऋषः । अथवा ब्रह्मणा शानेन द्वादशाङ्गन ईड्यो ब्रह्मं ऋषः (६४) । ब्रह्मविद्—ब्रह्मणा मात्मानं वेत्तीति ब्रह्म-वित् (६५) । वेद्यः—वेदे ज्ञाने नियुक्तो वेद्यः । अथवा वेदितुं योग्यो वेद्यः (६६) । याज्यः—याज्यते याज्यः । स्वराद्यः (६७) । यज्ञपतिः—यज्ञस्य पतिः स्वामी यज्ञपतिः (६८) । यदाह संहितायाम्—

देवः सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भर्गाय ।

दिव्यो गन्धर्वः केतपूःकेत^१-ः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं ज स्रवदत् ।

ऋतुः—क्रियते योगिभिर्ध्यानेन प्रकटो विधीयते ऋतुः (६९) ।

यज्ञांगममृतं यज्ञो हृषिः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः ।

भावा महामहपतिर्महायज्ञोऽग्रयाजकः ॥ ७३ ॥

यज्ञाङ्गम्—यज्ञस्य अङ्गं अभ्युपायः, स्वामिनं विना पूज्यो जीवो न भवतीति यज्ञाङ्गम् । आविष्टलिङ्गं नामेदं (७०) । अमृतम्—मरणां मृतम्, न मृतं अमृतं मृत्युपक्षित इत्यर्थः । आविष्टलिङ्गमिदं नाम ।

१ इ प्रथिमे 'उक्तञ्च संहितायां गायत्री मंत्रः' इतिना लिलकार उस्पर इरताल फिरा कुभा ई और भायेका पाठ नही है । २ इ सालः । ३ इ केतं पूषकेतं । ४ केतपूकेतन ।

अमृतं रथयनम्, जरापरणनिवारकत्वात् । संसार-शरीर-भोग-तृष्यानिवारकत्वात्, स्वभावेन निर्मलत्वाद्वा
अमृतं जलम् । अनन्तसुखदायकत्वाद्वा अमृतं मोक्षः । अमृतं अयाचितं स्वभावेन लभ्यत्वाद् । अमृतं यज्ञ-
शेषः, यज्ञे कृतेऽनुभूयमानत्वात् । अमृतं आकाशरूपः, कर्ममलकलङ्कलेपरहितत्वात्, शाश्वतत्वाद्वा ।



तदेजति तच्चैजति तद्दूरे तद्दृष्टिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तद्गु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥

इति वेदान्तवाद्युक्तत्वादाकाररूपः परमानन्दरस्त्वभावत्वात् अमृतं स्यादु । अथवा शरीरतेजोदाय-
कत्वादमृतं घृतम् । तदुक्तमश्वमेधे—आहोदनं पचति रेत एवञ्च ते यदाज्यमुच्चिष्यते^१ तेन रसनामभ्युष्यादसे ।
तेजो वा आर्ज्यं प्रजापत्योऽम्भः प्रजापतिमेव तेजसा समद्धं यन्त्यऽपूतो वा एषो मेष्यो यद्वधः । अमृतं मनो-
हरो वा, मनोव्यापारनिवारकत्वात् (७१) । तदुक्तं—

गोक्षे सुधायां पानीये यज्ञशेषेऽभ्ययाचिते ।
गौरसस्वाद्युनोर्जभावाकारो घृतहृद्ययोः ॥
रसायनेऽग्ने च स्वर्गे तथाऽमृतमुदीर्यते ॥

यज्ञः—इष्यते पूज्यते यज्ञः । कृष्योऽग्नावामनीष्टौ च यज्ञ इत्युच्यते बुधैः इति वचनादात्मस्वरूपः
(७२) । इविः—इष्यते निजात्मनि लक्षतया दीयते हविः (७३) । अचि-द्युचि-रुचि-दु-स्पृष्टि द्यावि-
द्वर्दिन्यः इस् । पादो द्वितीयः । सूत्रं ४४ । स्तुत्यः—स्तोतुं योग्यः स्तुत्यः । घृत् घृषीयूशासुस्तु
गुह्यं क्वय् । (७४) । स्तुतीश्वरः—स्तुतेरीश्वरः स्तुतीश्वरः । स्तुती स्तुतिकरणे ईश्वरा इन्द्रादयो
यस्य स स्तुतीश्वरः (७५) । भावः—समवसरणविभूतिर्मदितत्वात् भावः । अथवा यः पुमान् विद्वान्
भवति स भावः कथ्यते । अथवा स्वर्गमोक्षादिकारणभूतत्वात् भावः । अथवा शब्दानां प्रवृत्तिहेतुत्वाद्भावः ।
भगवन्तं विना शब्दः कुतः प्रवर्तते, अहं ह्यहमप्रसूतं गणधररचिणमित्यादिभ्रुतस्तुतिसद्भावात् । अथवा
निजगुह्यबुद्धैकत्वभावत्वात् भावः । उक्तञ्च—

अहमप्रवृत्तिहेतुर्भाभिप्रायो जन्म वस्तु च ।
आत्मसीक्षा क्रिया भूतियोनिश्चैष्टा बुधस्तथा ॥
सत्ता स्वभावो जन्तुश्च शृंगारादेश्च कारणात् ।
अर्थेषु पंचदशसु भावशब्दः प्रकीर्तितः ॥

अथवा मां दीप्तिमवति रक्षति अवाप्नोति आलिङ्गति ददाति वा भावः (७६) । उक्तञ्च—

पात्रने च गतौ कान्तौ प्रीतौ तृष्टौ च याचने ।
स्वाम्यर्थेऽवगमे हीक्षावदीक्षौ अवयोरपि च ॥
प्रवेशे च क्रियायां चाङ्गिगने हृष्टिभावयोः ।
हिंसायां च तथा हानेऽभिलाषे भाव इष्यते ॥

महामहपतिः—महामहस्य महापूजायाः पतिः स्वामी महामहपतिः । अथवा महस्य यज्ञस्य पतिः
महपतिः महाशक्तौ महपतिः महामहपतिः (७७) । महामहत्तुः—महान् धातिकर्मसमिद्धो मलक्षयो यज्ञो
यस्य स महामहत्तुः । अथवा महान् इन्द्र-धरत्येन्द्र-महामण्डलेश्वरादिभिः कृत्वात् विभुवनमव्यजनमेलोपकसंजा-
तत्वात् क्षीरसागरजलधारस्वर्गसञ्जातचन्दनकारमीरजकुण्ड्यागुरुगन्धद्रवमुक्ताफलाक्षतामृतपिण्डहविः^२ पाक-

१ इ सुञ्जिते । २ इ हविः गुरुधमं हविः । अ हविः पानैकनेष इति पाठः ।

नैवेद्यदिव्यरत्नप्रदीपकालागुणसिताम्रधूपकल्पतरुत्पन्नालिकेरकदलीफलपनसादिफलमहापङ्कसुमप्रकरदर्मदूर्वा -
सिद्धार्धनन्द्यावर्तस्वस्तिकद्वयत्रयचामरादशोगीतनृत्यधादिप्रादिसम्भूतो यशो यस्येति महायज्ञः । न तु माहादि-
सर्वप्राथिसंघातघातलक्ष्यो बुधदुर्दैयत्रिजादिलक्ष्यो यज्ञः, महापापोपादकत्वात् । अथवा महान् केवलशान-
लक्ष्यो यशो यस्य स भवति महायज्ञः । अथवा महान् पञ्चविधो यशो यस्य स महायज्ञः (७८) ।
तथा चोक्तं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तपश्चान् ।
होमो देवो बहिर्भौतो नृपयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

अग्रयाजकः—अग्रः श्रेष्ठोऽधिकः प्रथमो वा याजको यज्ञकर्त्ता अग्रयाजकः ।
अग्नीध्राया धनेर्वायां कृत्विजो याजकाश्च ते ।

अग्नीध्र-पैतृ-प्रशास्तु-ब्राह्मण्य-सन्देश्य-ज्ञायाकमावस्तु-ब्रह्मा-सैत्रो--वस्त्व--प्रति-प्रस्थानु-प्रतिहस्तु-नेष्ट्र
नेतृ-सुमह्वण्याः, इत्थं सदस्याः सदसृश कृत्विजः । यो यजमानेन यज्ञं क्त्रयति स याजक उच्यते । अग्र-
याजकः अग्रदेवपूजकः त्रैलोक्याग्रस्थितेपत्त्याग्भारनामशिलोपरि तनुवातस्थितसिद्धपरमेश्वरणां दीक्षावसरे नमः
सिद्धेभ्यः इति नमस्कारकर्मकारक इत्यर्थः (७९) ।

दयायागो जगत्पूज्यः पूजाहो जगद्वर्धितः ।
देवाधिदेवः शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरुः ॥ ४४ ॥

दयायागः—दया सगुण-निगुणसर्वप्राथिव्यवर्गाणां कल्या, यागः पूजा यस्य स दयायागः । मिथ्या-
दृष्टयो ब्राह्मणाः कर्मचंडालाः ब्राह्मणादीनपि मारयित्वाऽमिकुण्डे जुहति, स यागो न भवति । किन्तु मह-
दागो भवति (८०) । उक्तञ्च—ब्राह्मणं ब्राह्मणं क्षत्रियं राजन्वं भरुज्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं इत्यादि
देवसबिन्नध्याये काङ्क्षो द्वारिशतिः । जगत्पूज्यः—जगतां त्रिभुवनस्थितभव्यजीवानां पूज्यो जगत्पूज्यः (८१) ।
पूजाहः—पूजाया अष्टविधार्चनस्य अहो योग्यः पूजाहः (८२) । जगद्वर्धितः—जगतां त्रैलोक्यस्थित-
भव्यप्राणिनां अर्चितः पूजितो जगद्वर्धितः (८३) । देवाधिदेवः—देवानां इन्द्रादीनामधिको देवः
देवाधिदेवः । उक्तञ्च—

मानुषीं प्रकृतिमभवतीतवान् देवतास्वपि च देवता वतः ।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिन बृष प्रसीद नः ॥

अथवा देवानामाधिमानसी पीडा देवाधिः । देवाधि दीव्यति जिगीषुतया स्फेष्टयतीति देवाधिदेवः
(८४) । शक्रार्च्यः—शक्रवंतीति शक्राः द्वात्रिंशदिन्द्राश्लेषामर्त्यः पूज्यः शक्रार्च्यः (८५) । देवदेवः—
देवानामिन्द्रादीनामार्याभ्यो देवः देवदेवः । अथवा देवानां राशां देवो राजा देवदेवः राजाधिराज इत्यर्थः ।
अथवा देवानां मेघकुमारणां परमार्याभ्यो देवदेवः (८६) । उक्तञ्च—

आवात भो मेघकुमारदेवाः प्रभोर्विहारावसराससेवा ।
सृहीत वज्रांशुमुदीर्घांशपा गंधोवकैः प्रोक्षत वज्रभूमिम् ॥

जगद्गुरुः—जगतां जगति स्थितप्राथिव्यवर्गाणां गुरुः पिता भनोपदेशको वा महान् जगद्गुरुः (८७) ।

संहृतदेवसंघार्च्यः पञ्चयानो जयध्वजी ।
भामण्डलो वतुःषष्टिन्वामरो देवदुन्दुभिः ॥ ४५ ॥

संहृतदेवसंघार्च्यः—संहृत इन्द्रादेशेनामंत्रितो योऽसौ देवतपः चतुर्गिणायदेवसमूहः, तेन अर्च्यः
पूज्यः संहृतदेवसंघार्च्यः (८८) । उक्तञ्च—

यस्यैतेऽतिस्वर्हितं ज्योतिर्वन्तरदिवीकसाममृतमुजः ।
कुलिहाशुदाशापनया कुर्वन्त्यन्ये समन्ततो ध्वाङ्गानम् ॥

पद्मयानः—पद्मेन यानं गमनं यस्य स पद्मयानः (८६) । उक्तञ्च—

वरपद्मरागकेसरमतुलसुलस्पर्शहेमभयदक्षनिचयम् ।
पावन्वासे पद्मं सप्त पुरः पृष्ठतश्च सप्त भवन्ति ॥

जयध्वजी—जयध्वजाः विद्यन्ते यस्य स जयध्वजी (६०) । भामण्डली—भामण्डलं कोट्यर्क-
समानतेजोमंडलं विद्यते यस्य स भामंडली (६१) । चतुःषष्टिःश्यामरः—चतुरधिकषष्टिः चतुःषष्टिः ।
चतुःषष्टिश्यामराणि प्रकीर्णकानि यस्य स चतुःषष्टिचामरः (६२) । देवदुन्दुभिः—देवानां संबन्धिन्यो
दुन्दुभयः सार्धद्वादशकोटिपट्टहाः यस्येति देवदुन्दुभिः (६३) ।

वागस्पृष्टासनश्छत्रत्रयराट् पुष्पवृष्टिभाक् ।
दिव्याशोकां मानमर्दीं संगीताहोऽष्टमंगलः ॥६६॥

वागस्पृष्टासनः—वाग्भिर्वागीभिरसृष्टं आसनं उरःप्रभृतिस्थानं यस्य स वागस्पृष्टासनः । उक्तञ्च—

ग्रहो स्थानानि वर्यानासुरः कंठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तासु च ॥
हृकारं पंचमैयुं कभन्तस्थाभिश्च संयुतम् ।
उरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥

अश्वर्कवर्गहृदिसर्जनीयाः कण्ठ्याः । श्लुवर्णद्वयगंगा मूर्धन्याः । वज्राकृतिकर्णौ जिह्वामूलीयः ।
१ इति जिह्वामूलीयः । लृध्वर्णतथगंला दन्त्याः । नासिकयोऽनुस्वारः । उवर्णपवर्गत्रयध्वान्त्या श्रोत्र्याः ।
हृध्वर्णचवर्गदशास्तालध्याः । ए ऐ कंठतालध्वी । ओ औ कंठोऽर्था । वा दन्त्योऽर्थाः । अश्वर्णः सर्वसुल-
स्थानश्च । इत्युक्तानि वर्णस्थानानि । भगवतः वाक् वर्यात्मकोऽपि शब्दः । न सृशति । ये तु अक्षरपर्यहृतं ध्वनिं
भगवतः कथयन्ति, ते अयुक्तवादिनः ; अक्षरात्मकशब्दं विना अर्थस्यानुपलभ्यात् । तथा च ये देवकृतजिन-
ध्वनिं ध्वनयन्ति तेऽपि अयुक्तवादिनः ; जिनगुणविलापनत्वात् ।

अरहंतभासियस्थं गणहरदेवहिं गौधयं समं ।
पञ्चामिभ भक्तिजुचो सुदय्याणमहोवहिं सिरसा ॥

इति सिद्धान्तवचनावधृत्वाच्च । तेन शयते अक्षरात्मक एव स्वामिनो ध्वनिर्भवति । स्वामिन एव च
ध्वनिर्भवतीति निरक्षरी इत्यस्यार्थः—निर्गलान्यक्षराणि यस्या सा निरक्षरी, न तु अक्षररहिता इत्यर्थः वागस्पृष्ट-
सनः (६४) । छत्रत्रयराट्—छत्रत्रययोपयुं परं धृतं गजते छत्रत्रयराट् (६५) । पुष्पवृष्टिभाक्—द्वादश-
योजनानि व्याप्य पुष्पवृष्टिर्भवति, तानि च पुष्पाणि उपरिसुलानि अर्धोदन्तानि स्युः । इदंविधां पुष्पवृष्टिं भजते
शोभयत्या पद्मार्ताति पुष्पवृष्टिभाक् (६६) । दिव्याशोकः—दिव्योऽमानुषो महामंडपोपरि स्थितः योजनैकप्रमाणा-
कटप्रो मणिमयोऽशोकोऽशोकवृक्षो यस्य स दिव्याशोकः (६७) मानमर्दीं—मानस्तम्भचतुष्टयेन प्रत्येकं सरो-
वरचतुष्टयवेष्टितेन प्रत्येकं सालत्रितयपरिवृतेन प्रत्येकं षोडशसोपानयुक्तपीठेन प्रत्येकं पद्मासनस्थितजिनप्रतिमा-
चतुष्कृष्णेन प्रत्येकं उपरितनभागे सरोवरसहितेन द्वैमयक्षेत्रे तत्रकृतजलक्रोडेन प्रत्येकं छत्रत्रयशोभितेन प्रत्येकं
षंदाचामरादिभिराजितेन मित्यावादिनां मानमहंकारं दूरादपि दर्शनमात्रेण मह्ययति शतलंकीकरोतीत्येवशीलो
मानमर्दीं (६८) । संगीताहोः—गीतद्वयवादित्रिजगज्माननाट्यशालागतदेवांगानादृत्ययोग्यः संगीताहोः । यत्र

नाट्यशालायां रत्नस्तम्भसङ्घशोभितायां एका पि नदी नृत्यन्ती स्तम्भेषु प्रतिबिम्बिता रूपसहस्रं दर्शयति ।
 बभ्रुं कापि स्फुटपति नटद्रुं फोडि नदीनाम्, इति वचतात् संगीताईः (६६) । अष्टमंगलः—ब्रह्मो मंगलानि
 प्रतिप्रतोति यस्येति अष्टमंगलः । उक्तञ्च—

शुद्धार-दाक्ष-कल्लहा-श्वज-सुप्रतीक-रवेलातपत्र-वरदपर्व-चामराणि ।
 प्रत्येकमष्टशतकानि विभान्ति यस्य तस्मै नमस्त्रिसुब्रजप्रभवे शिवाय ॥

सुप्रतीकशन्देन स्तम्भाधारः नानाविचित्रचित्रितः पूज्यद्रव्यस्थापनायोग्यः कुम्भिकापरनामा समुच्यते ।
 अन्यत्सुगामम् (१००) ।

अकलंक पूजपादाः विद्यानन्दाः समन्तभद्राद्याः ।
 श्रुतसागरेष्व विजुता दिशन्तु सिद्धिं तृतीयशते ॥
 इति यशार्शतनामा तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

• तीर्थकृत्तीर्थवृद् तीर्थकरस्तीर्थकरः सुदृक् ।
 तीर्थकर्त्ता तीर्थमर्ता तीर्थेशस्तीर्थनायकः ॥ ४७ ॥

ॐ नमः । तीर्थकृत्—तीर्थते संसारसागरे येन तत्तीर्थं द्वादशशतं शास्त्रम्, तत्करोतीति तीर्थकृत् ।
 रश्मि-काशि-कुबि^२-बाह-वचि-रिचि-सिचि-गुन्वस्थक्^१ । किन्व् धातोस्तोऽन्तः पातुषन्धे (१) । तीर्थवृद्—
 तीर्थं यजतीति तीर्थवृद् (२) । तीर्थकरः—तीर्थं करोतीति तीर्थकरः (३) । तीर्थकरः—तीर्थं करो-
 तीति तीर्थकरः । त्रयोऽंगमत्वात् भोऽन्तः (४) । सुदृक्—शोभना दृक् क्षायिकं सम्बन्धं यस्य स सुदृक् ।
 शोभनलोचनो वा सुदृक् (५) । उक्तञ्च—

नेमिर्षिशालनवनो नयनोदितर्द्धरिभ्रान्तपुद्धिबिम्बो विमबोऽथ भूयः ।
 प्राहो महाजनगराजगराजि सन्न सूतेन चारु जगवे जगवेकनाथः ॥

तीर्थकर्त्ता—तीर्थस्य कर्त्ता तीर्थकर्त्ता (६) । तीर्थमर्ता—तीर्थस्य मर्ता स्वामी तीर्थमर्ता ।
 अथवा तीर्थं विमर्तौत्येवंशीलः तीर्थमर्ता (७) । तीर्थेशः—तीर्थस्य ईशः स्वामी तीर्थेशः (८) ।
 तीर्थनायकः—तीर्थस्य नायकः स्वामी तीर्थनायकः (९) ।

धर्मतीर्थकरस्तीर्थप्रथेसा तीर्थकारकः ।
 तीर्थप्रवर्त्तकस्तीर्थवेष्ठास्तीर्थविधायकः ॥ ४८ ॥

धर्मतीर्थकरः—धर्मभारित्रं स एव तीर्थः, तं करोतीति धर्मतीर्थकरः (१०) । तीर्थप्रथेसा—
 तीर्थं प्रथयतीति करोति तीर्थप्रथेसा (११) । उक्तञ्च—

१ पशमिदं ज्ञाती नास्ति । २ इ कुबि । इ प्रती नास्त्वर्थं पाठः ।

सृजति करोति प्रखयति घटयति निर्माति निर्मिमाते च ।
अनुतिष्ठति विदधाति च रचयति कल्पयति वेति^२ करवायें ॥

तीर्थकारकः— तीर्थस्य कारकः तीर्थकारकः (१२) । तीर्थप्रवर्त्तकः— तीर्थस्य प्रवर्त्तकः तीर्थ-
प्रवर्त्तकः (१३) । तीर्थवेधाः— तीर्थस्य वेधा कारकः तीर्थवेधाः (१४) । तीर्थविधायकः— तीर्थस्य
विधायकः कारकः तीर्थविधायकः (१५) ।

सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेव्यस्तैथिकतारकः ।

सत्यवाक्याधिपः सत्यशासनोऽप्रतिशासनः ॥ ४६ ॥

सत्यतीर्थकरः— सत्यतीर्थं करोतीति सत्यतीर्थकरः (१६) । तीर्थसेव्यः— तीर्थानां तीर्थभूत-
पुरुषार्थां सेव्यः सेवनीयः तीर्थसेव्यः (१७) । तैथिकतारकः— तीर्थे शाले नियुक्तस्तैथिकः । तीर्थे गुरुः,
तस्मिन्निद्युक्ता सेवाभ्यः तैथिकाः । अथवा तीर्थे जिनपूजनम्; तत्र नियुक्तस्तैथिकाः । अथवा तीर्थे पुण्यक्षेत्रं
गिरनारादि, तथात्राकारकाः तैथिकाः । अथवा तीर्थं पात्रं त्रिविधं तस्य दानादौ नियुक्तस्तैथिकाः, तेषां तारको
मोक्षदायकस्तैथिकतारकः (१८) उक्तञ्च—

दुर्योधनं खीरजो योनिः पात्रं सत्री गुरुः सुतम् ।

पुण्यक्षेत्रावतारी च ऋषिजुष्टजलं तथा ॥

उपाधयज्ञी विद्वान्सस्तीर्थमित्युचिरे चिरम् ॥

सत्यवाक्याधिपः— त्वादि-स्वादिचयो वाक्यमुच्यते । क्रियासहितानि कारकाणि वाक्यं कथ्यते ।
सत्यानि सत्यपुरुषयोग्यानि, तानि च तानि वाक्यानि सत्यवाक्यानि । सत्यवाक्यानामधिपः स्वामी सत्यवाक्या-
धिपः । अथवा सत्यानि वाक्यानि येषां ते सत्यवाक्या भूषयः । ऋषयः सत्यवचन इत्यभिधानात् । सत्य-
वाक्यानामृषीणां दिगम्बरसुनीनामधिपः सत्यवाक्याधिपः । अथवा सत्यवाक्यानां सत्यवादिनां आधि धर्म-
चिन्तां पाति रक्षति सत्यवाक्याधिपः (१९) । सत्यशासनः— सत्यं शासनं शालं यस्य स सत्यशासनः ।
अथवा सत्यं श्यन्ति, अस्तस्यं वदन्ति, पूर्वापर्यधरोधिशालं भवते ते सत्यशाः जिमिनि-कपिल-कणचर-नार्वाक
शाक्याः, तान् अस्यति निराकरोति इति सत्यशासनः । कोऽसौ पूर्वापरविरोध इति चेत् पूर्वं भुवन्ति-आह्वयो न
इत्यस्यः, सुरा न पेया । पश्चात् कथयन्ति-ब्रह्मण्ये ब्राह्मण्यमालमेत । इन्द्राय चत्रियं भरुण्यो वैश्यं तमसे
शूद्रमुत्तमसे उत्करं आत्मने ज्ञीषं कामाय पुंश्रलं, अतिक्रुष्टाय मागधं, गीताय सुरतं, आदित्याय क्षियं
गर्भिर्वाय् । तथा सौत्रमथौ य एवंविधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च तिल एव श्रुतौ
सम्मता-पैथी गौडी माधवी वेति । तथा ब्रह्मचारी सदाह्यचिरित्येवमुक्त्वा पश्चात् गोसवे ब्राह्मण्यो गोसवे-
नेष्ट्वा संब्रह्मण्ये मातस्मभिलषति । उपेहि मातरमुपेहि स्वसारम् । तथा—

तिल-सर्षपमात्रं च मांसं खादन्ति ये द्विजाः ।

तिष्ठन्ति नरके तावदावच्छग्न-दिवाकाराः ॥

एवमुक्त्वा—

महोद्यो वा महाजो वा भोजिनाय विद्यास्यते ।

निवेद्यते तु दिग्भाय ह्यकुसुगन्धनिधिर्विधिः ॥

तथा—

गंगाहारे कुशावर्त्ते बिल्वके नीलपर्वते ।

स्नात्वा कनकले तीर्थे संभवेद्य पुनर्भवे ॥

दुष्टमन्तर्गतं चिदं दीर्घस्मानाच्च हृद्यधिति ।
शतशोऽपि क्लौबैर्तं सुरामान्दनिवाद्युधि ॥

तथा न हि स्वास्त्वर्भूतानि उक्तवा ।

यज्ञार्थं पशवः पृष्टाः स्वयमेव स्वयन्मुषा ।
यज्ञो हि हृद्यैः सर्वेषां तस्माद्यज्ञे यथोऽवधः ॥

इत्यादि पूर्वापरविरोधवाक्यानि बोधव्यानि (२०) । अप्रतिशासनः—'अविद्यमानं प्रतिशासनं निध्यामत्तं यत्र सोऽप्रतिशासनः । अथवा अविद्यमानं प्रतिशं दुःखं आसने यस्य स अप्रतिशासनः । भगवान् खलु हृद्यभनायः किंचिदूनपूर्वकालपर्यन्तं पद्यासन एवोपविष्टः धर्मोपदेशं दत्तवान्, तथापि दुःखं नान्वभूत्, अनन्तसुखानन्तवीर्यत्वात् (२१) ।

स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरध्याहृतार्थवाक् ।
पुण्यवागर्ध्यवागर्धवागर्धीयोक्तिरिच्छवाक् ॥१०॥

स्याद्वादी—स्याच्छब्दपूर्वं वदतीत्येवंशीलः स्याद्वादी । स्यादस्ति घटः, स्यात्नास्ति घटः, स्यादस्ति नास्ति घटः, स्यादवाच्यो घटः, स्यादस्ति वाऽवक्तव्यो घटः, स्यात्नास्ति वाऽवक्तव्यो घटः, स्यादस्ति नास्ति वाऽवक्तव्यो घटः, एवं पदादिष्वपि पर्यायेषु योज्यम् । तथा जीवादिपदायैष्वपि द्वयेषु कार्येषु^२ तत्त्वेषु च योजनीयम् । स्याच्छब्दोऽयमव्ययः सर्वथैकान्तनिषेधको शातव्यः (२२) । उक्तञ्च—

सर्वथा नियमत्यागी यथाष्टमपेशक ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाच्च ॥

दिव्यगीः—दिव्या अमानुषी गीर्वाची यस्य स दिव्यगीः (२३) । दिव्यध्वनिः—दिव्यो अमानुषो ध्वनिः शब्दव्यापारो वचनरचना यस्येति दिव्यध्वनिः (२४) । अध्याहृतार्थवाक्—अध्याहृतार्था परस्परविरोधार्था असंकुलार्था वाग्वाची यस्येति अध्याहृतार्थवाक् । उक्तञ्च—

व्याहृतार्थवाग्लक्षणम्—

अज्ञो मधिसुपाधिष्यत्तमनंगुक्षिराववेत् ।
तमग्नीवः प्रत्यसुहृत्तमङ्गिहोऽभ्यनन्दयत् ॥

अथवा—आसमन्ताद् हननं आहतम्, अवीनां छागादीनां आहतस्य आहनस्य अयोऽभिषेधः प्रयोजनं वा यस्याः सा अध्याहृतार्था । अविशब्दात् आहतशब्दाच्चोपरि अकारप्ररलेषो शातव्यः । अध्याहृतार्था छागादिप्राथिनानामघातप्रयोजना वाग्यस्य स अध्याहृतार्थवाक् (२५) । पुण्यवाक्—पुण्या पुण्योपावर्जन-हेतुभूता वाग्वाची यस्य स पुण्यवाक् । अथवा पुण्या अस्त्रिय-येम-चर्मनिवारखत्वात् पवित्रा वाक् यस्य स पुण्यवाक् । इत्यनेन ये यतयोऽपि सन्तो रोमवस्त्रं परिदधति, चर्मजलं पिबन्ति, गजास्थिवलययादिकं च करे धारयन्ति ते प्रत्युक्ता भवन्ति (२६) । अर्ध्यवाक्—अर्थादनपेता अर्ध्यां निरर्थकतापहिता वाग्वाची यस्य स अर्ध्यवाक् । अथवा अर्ध्यां गवाधर-चक्रि-शक्रादिभिः प्रार्थनीया^२ वाग् यस्य स अर्ध्यवाक् । अथवा अर्धयेषु जीवादिपदायैषु नियुक्ता परमतपदायोच्छेदिनी वाग्यस्य स अर्ध्यवाक् । अथवा अर्धिन्यो याचकेभ्यो हिता बोधि-समाधिदायिनी वाग् यस्य स अर्ध्यवाक् । अथवा अर्ध्यां हेतुवादिनी, न तु आशामात्रा वाग् यस्य । अथवा अर्ध्यां निवृत्तिकथिका अनेकप्रकार धनदायिनी वा वाक् यस्य स अर्ध्यवाक् । उक्तञ्च—

वस्तु-प्रत्य-प्रकाराभिषेधेषु विषयेषु च ।
विदुसौ कृति हेतौ च^३ नवार्थेष्वर्थ उच्यते ॥

१. अ 'न विषते' । २. अ कार्येषु । ३. इ स 'च अर्थे' हेतु पाठः ।

अथवा अर्थो याचनीयः अर्थ्यः प्रार्थ्यः इति वाक् नाम^१ यस्य स अर्थ्यवाक्, अयाचक इत्यर्थः (२७)। **अर्थमागधीयोक्तिः**—भगवन्प्राधाया अर्थं मगधदेशभाषात्मकम्, अर्थं च सर्वभाषात्मकम्। कथमेवं देशोपनीतत्वं तद्वतिशयस्येति चेत्—मगधदेशवर्णिघाने तथा परिश्रुतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तन्ते मागध-देवातिशयक्यात् मागधभाषया परस्परं भाषन्ते, प्रीतिकरदेवातिशयवशात् परस्परं मित्रतया च प्रवर्तन्ते, इति कारणात्। अर्थमागधीया उक्तिर्भाषा यस्य स अर्थमागधीयोक्तिः (२८)। **इडवाक्**—इडा परमातिशयं प्राप्ता वाक् भाषा यस्य स इडवाक्। इडशी वाक्स्यापि न भवतीति भावः (२९)।

अनेकान्तविगेकान्तध्वान्तभिद् दुर्णयान्तकृत् ।

सार्धधागप्रयज्ञोक्तिः प्रतितीर्थमद्वयवाक् ॥११॥

अनेकान्तविद्—अनेकान्तं स्याद्वादं अनेकत्वभावं वस्तु दिशति उपदिशति अनेकान्तविद् (३०)। **एकान्तध्वान्तभिद्**—एकान्तं यथा स्वरूपादिचतुष्टयेन सत्, तथा पररूपादिचतुष्टयेनापि सत्। एवं सत्येकान्तवादो भवति। स एव ध्वान्तं अन्वकारं वस्तुयथाकन्स्वरूपप्रच्छादकत्वात् एकान्तध्वान्तम्। एकान्तध्वान्तं भिनत्ति नयवशात् शतखण्डीकरोतीति एकान्तध्वान्तभिद् (३१)। **दुर्णयान्तकृत्**—दुर्ण्याः पूर्वोक्तस्वरूपादि-पररूपादिचतुष्टयप्रकारेण संदेव असंदेव नित्यमेव अनित्यमेव एकमेव अनेकमेवेत्यादि-दुष्टतया प्रवर्तन्ते ये नया एकदेशवस्तुप्रादिणो दुर्ण्याः कथ्यन्ते। दुर्ण्यानामन्तकृद् विनाशकः दुर्णयान्तकृत् (३२)। **सार्धवाक्**—सार्था अर्थसहिता न निरर्थका^२ वाक् यस्य स सार्धवाक्। अथवा सार्था प्रयोजनवती वाक् यस्य स सार्धवाक्। अथवा अर्थैर्जीवादिपदार्थैः सहिता वाक् यस्य स सार्धवाक्। अथवा सा लक्ष्मी-रज्जुदयनिःश्रेयसलक्षणा, तथा सहितः अर्थवाक् यस्य स सार्धवाक्। भगवद्वाग्नीमनुश्रुत्य जीवाः स्वर्ग-मोक्षादिकार्यं साधयन्तीति कारणात् (३३)। **अप्रयज्ञोक्तिः**—अप्रयज्ञा अविश्वज्ञापूर्विका भव्यजीवपुण्य-प्रेरिता वाक् यस्य स अप्रयज्ञोक्तिः। तथा चोक्तं—

लोकालोकदशः सदस्यसुकृतैरास्याद्यार्थश्रुतं

निर्यातं प्रथितं गयोधरवृषेयान्तमुं हूँतेन यत् ।

आरातीयमुनिप्रवाहपतितं यस्तुस्तकेष्वर्षितं

तज्जनेन्द्रसिहापंथाभि विधिना यष्टुं श्रुतं शाश्वतम् ॥

अथवा अप्रयज्ञा अनायासकारिणा उक्तिर्यस्य स अप्रयज्ञोक्तिः (३४)। **प्रतितीर्थमद्वयवाक्**—प्रतितीर्थानां हरि-हर-हिरण्यगर्ममतातुस्रारिणा जिमिनि-कपिल कण्ठ-चर-चावक-शाक्यानां वा मिथ्यादृष्टीनां मद्दृष्टी अहंकारनिरकारिणी वाक् वार्या यस्य स प्रतितीर्थमद्वयवाक् (३५)।

स्यात्कारध्वजवागीडापेतवागवलौघवाक् ।

अचौदशेयवाक्छास्ता रुद्रवाक् सप्तमंगवाक् ॥२॥

स्यात्कारध्वजवाक्—स्यात्कारः स्याद्वाहः, स एव ध्वजभिन्द्, अनेकान्तमतप्रसादमंडनत्वात् स्यात्कारध्वजा वाग् वार्या यस्य स स्यात्कारध्वजवाक् (३६)। **ईहापेतवाक्**—ईहापेता निराकांक्षा प्रत्युत्कारान-पेक्षिणी वाक् यस्य स ईहापेतवाक्। अथवा ईहा उद्यमस्तदपेता वाक् यस्य स ईहापेतवाक्, अहं लोके सम्बोधनामीत्युद्यमवहितवाक् स्वभावेन सम्बोधकवागित्यर्थः। (३७)। तथा चोक्तम्।

न क्वापि वीक्षा वदते च वाके काळे क्वचिक्कोऽपि तथा निबोधः ।

न पूरयाम्बुधिभित्तुदंष्ट्रः स्वयं हि शीतघ्न तिरन्मुपैति ॥

अचलौष्ठवाक्—अचलौ निश्चलौ श्रोत्रौ अघरी यस्यां सा अचलौष्ठ, अचलौष्ठ वाक् भाषा यस्य स अचलौष्ठवाक् (३८) । **अपौरुषेयवाक्छास्ता**—^१अपौरुषेयीषामनादिभूतानां वाचां वाचीनां शास्ता गुहः अपौरुषेयवाक्छास्ता । अथवा अपौरुषेयीषां दिव्यानां वाचां शास्ता अपौरुषेयवाक्छास्ता (३९) । **रुद्धवाक्**—रुद्धा मुखविकासपरिहृता वाक् यस्य स रुद्धवाक् (४०) । **सप्तमंगिवाक्**—सप्तानां मंगानां समाहारः सप्तमंगी । सप्तमंगीसहिता वाक् यस्य स सप्तमंगिवाक् । बाफारी श्रीकृतौ ह्रस्वौ क्वचित् इति वचनात् मंगीशब्दस्य ईकारस्य ह्रस्वः । के ते सप्तमंगाः ? स्यादस्ति ज्ञान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति स्यादशब्दस्य स्यादस्ति चावक्तव्यं स्यान्नास्ति चावक्तव्यं स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यम् । एतेषां सप्तानां मंगानां क्तिरः तत्त्वार्थश्लोकवाचि-कालंकारे तथा तत्त्वार्थराजवाचिकालंकारे देवागमालंकारे अष्टसहस्रपरनाम्नि न्यायकुमु-दचन्द्रोदये न्यायविनिश्चयालंकारे प्रमेयकमलमार्तण्डे प्रचण्डे इत्यादौ ज्ञातव्यः । (४१) ।

अवर्णगीः सर्वभाषामयगीर्व्यकवर्णगीः ।

अमोघवागक्रमवागवाच्यानन्तवागवाक् ॥४३॥

अवर्णगीः—न विद्यन्ते वर्णा अक्षराणि गिरि भाषायां यस्य स अवर्णगीः । अथवा अवगतं श्रुतं पुनः पुनरन्यासो यस्यां सा अवर्णा, ईदृशी गीर्यस्य स अवर्णगीः । अभ्यासमन्तरेणापि भगवान् विद्वानित्यर्थः । उक्तञ्च वाग्भटेन—

अनप्ययनविद्वांसो निद्रंभ्यपरमेरवराः ।

अनलंकारसुभगाः पान्नु युष्मान् जितेरवराः ॥

अथवा अवर्णाः आकारादिलक्ष्योपलक्षिता गिरो वाप्यो यस्य स अवर्णगीः^२ । दीक्षावखरे नमः-स्त्रिभ्यः इति उक्तवान् (४२) । **सर्वभाषामयगीः**—सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य स सर्व-भाषामयगीः (४३) । **व्यकवर्णगीः**—व्यक्ता वर्णा अक्षराणि गिरि यस्य स व्यकवर्णगीः (४४) । **अमोघवाक्**—अमोघा सफला वाक् यस्य स अमोघवाक् (४५) । **अक्रमवाक्**—अक्रमा युगपद्वक्तिनी वाक् यस्य स अक्रमवाक् (४६) । **अवाच्यानन्तवाक्**—अवाच्या ककुमराख्या अनन्ता अनन्तार्थप्रकाशिनी वाक् यस्य स अवाच्यानन्तवाक् (४७) । **अवाक्**—न विद्यते वाक् यस्य स अवाक् (४८) ।

अद्वैतगीः सन्नतगीः सत्यानुभयगीः सुगीः ।

योजनव्यापिगी क्षीरगौरगीस्तीर्थकृत्वगीः ॥ ५४ ॥

अद्वैतगीः—अद्वैता एकान्तमयी गीर्वाणी यस्य स अद्वैतगीः । आत्मैकशासिका अद्वैता प्रोच्यते (४९) । **सन्नतगीः**—सदृता सत्या गीर्यस्य स सदृतगीः (५०) । **सत्यानुभयगीः**—सत्या सत्यार्था अनुभया अस्त्यरहिता सत्यासत्यरहिता च गीर्यस्य न सत्यानुभयगीः (५१) । **सुगीः**—सुष्ठु शोभना गीर्यस्य स सुगीः (५२) । **योजनव्यापिगी**—योजनव्यापिनी गीर्यस्य स योजनव्यापिगीः (५३) । **क्षीरगौरगी**—क्षीरवद् गोबुधवद् गौर उज्वला गीर्यस्य स क्षीरगौरगीः (५४) । **तीर्थकृत्वगीः**—तीर्थकृत्वा अमितजन्मपातकप्रक्षालिनी गीर्यस्य स तीर्थकृत्वगीः (५५) ।

भव्यैकशब्दगुः सद्गुञ्जिभगुः परमार्थगुः ।

प्रशान्तगुः प्राशिनकगुः सुगुर्नियतकालगुः ॥ ५४ ॥

भव्यैकशब्दगुः—भव्यैरैकेः केवलैः शब्दा भोक्तुं योग्या गीर्वाणी यस्य स भव्यैकशब्दगुः । गौर-प्रधानस्यान्तस्य शिवाभादीनां चेति ह्रस्वः । सन्ध्याशब्दाभिधुतौ ह्रस्वादेशे (५६) । **सद्गुः**—सती समी-चीना पूर्वापरविषेधरहिता शाश्वती वा गीर्वाणी यस्य स सद्गुः (५७) । **शिबगुः**—चित्रा विचित्रा

१ स अपौरुषेयाणां । २ स प्रे 'सिद्धाः गिरि भाषायां यस्य स अवर्णगीः' इति पाठः ।

मानाप्रकारं त्रिभुवनभव्यकनचित्तचमत्कारिणी गौर्वाणी यस्य स चित्रगुः (५८) । परमार्थगु—
परमार्था सत्यमयी गौर्यस्य स परमार्थगुः (५९) । प्रशान्तगुः—प्रशान्ता कर्मज्ञयकारिणी पण्डितेभ्योद्दि-
रक्षिता गौर्यस्य स प्रशान्तगुः (६०) । प्राशिनकगुः—प्ररने भवा प्राशिनकी, प्राशिनकी गौर्यस्य स प्राशिन-
कगुः । प्ररने विना तीर्थकरो न ब्रूते यतः, ततएव कारणादीरस्य गयचरं विना क्रियत्कालपर्यन्तं
अविर्नाभूत् (६१) । सुगुः—सुष्टु शोभना गौर्यस्य स सुगुः (६२) । नियतकालगुः—नियतो निश्चितः
कालोऽकरो यस्याः सा नियतकाला । नियतकाला गौर्यस्य स नियतकालगुः (६३) । तदुक्तं—

पुष्पण्डे मज्जयहे अवरण्डे मज्जिमाप रत्नीप ।

सु-सुगवधिया विग्नाय दिव्यज्जुषी क्वह सिद्धं तं ॥

सुश्रुतिः सुश्रुतो याज्यश्रुतिः सुश्रुतमहाश्रुति ।

धमश्रुतिः श्रुतिपतिः श्रुत्युद्धर्त्ता ध्रुवश्रुति ॥ ५६ ॥

सुश्रुति—सुष्टु शोभना श्रुतिर्यस्य स सुश्रुतिः, अत्राधितवागित्यर्थः (६४) । **सुश्रुतः**—शोभनं
भूतं शास्त्रं यस्य स सुश्रुतः, अत्राधितार्थभूत इत्यर्थः । अथवा सुष्टु श्रुतिशयेन श्रुतो विख्यातस्त्रिभुवनजन-
प्रसिद्धः सुश्रुतः (६४) । **याज्यश्रुति**—याज्या पूज्या महापण्डितैर्मान्या श्रुतिर्यस्य स याज्यश्रुतिः (६५) ।
सुश्रुत्—सुष्टु शोभनं यथा भवति तथा शृणोतीति सुश्रुत् (६७) । **महाश्रुति**—महती सर्वार्थप्रकाशिका
श्रुतिर्यस्य स महाश्रुतिः (६८) । **धर्मश्रुति**—धर्मेषु विशिष्टपुण्येन निदानरहितेन पुण्येनोपलक्षिता श्रुति-
र्यस्य स धर्मश्रुतिः, तीर्थकरनामकर्मप्रदायिनी भयानां श्रुतिर्यस्येति धर्मश्रुतिः (६९) । **श्रुतिपति**—
श्रुतीनां शास्त्राणां पतिः स्वामी श्रुतिपतिः (७०) । **श्रुत्युद्धर्त्ता**—श्रुते, श्रुतीनां वा उद्धर्त्ता उद्धारकारकः
श्रुत्युद्धर्त्ता (७१) । **ध्रुवश्रुति**—ध्रुवा शाश्वती अनादिकालीना श्रुतिर्यस्य स ध्रुवश्रुतिः (७२) ।

निर्वाणमार्गदिग्मार्गदेशकः सर्वमार्गदिक् ।

सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥२७॥

निर्वाणमार्गदिक्—निर्वाणानां मुनीनां मार्गं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चाग्नित्रलक्षणं मोक्षमार्गं दिशति
उपदिशति यः स निर्वाणमार्गदिक् । अथवा निर्वाणस्य मोक्षस्य तत्फलभूतस्य सुखस्य वा मार्गं सूत्रं दिशतीति
निर्वाणमार्गदिक् (७३) । **मार्गदेशकः**—मार्गस्य रत्नत्रयस्य देशकः उपदेशकः मार्गदेशकः (७४) ।
सर्वमार्गदिक्—सर्वं परिपूर्वं मार्गं सर्वेषां सदृष्टि मिथ्यादृष्टीनां च मार्गं संसारस्य मोक्षस्य च मार्गं
दिशतीति सर्वमार्गदिक् (७५) । **सारस्वतपथः**—सस्वत्या. भारत्या. पन्थाः मार्गं. सारस्वतपथः । अथवा
सारस्य स्वतत्त्वस्य आत्मज्ञानस्य पन्था. सारस्वतपथः (७६) । **तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत्** तीर्थेषु समस्त-
समयसिद्धान्तेषु परमोत्तमं परमप्रकृतं तीर्थं व रोतीति तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् । अथवा तीर्थपरमोत्तमेन जैन-
शास्त्रेषु तीर्थं मिथ्यादृष्टीनां शास्त्रं हन्तीति छिन्नचीति शतखंडीकरोतीति तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् (७७) ।

देष्टा वाग्मीश्वरो धर्मशासको धर्मदेशकः ।

वागीश्वरस्त्रयीनाथस्त्रिभंगोशो गिरां पतिः ॥२८॥

देष्टा—दिशति स्वामितया आदेशं ददातीति देष्टा (७८) । **वाग्मीश्वरः**—वाग्मिनो वाचोयुक्ति-
पटवस्तेवाग्मीश्वरः वाग्मीश्वरः (७९) । **धर्मशासकः**—धर्मं चारित्रं रत्नत्रयं वा, जीवानां रक्षार्थं वा,
वस्तुत्वभावो वा ज्ञानादिदशविधो वा धर्मः । तं शारित शिष्ययति धर्मशासकः (८०) । उक्तञ्च—

धम्मो वस्तुसहायो ज्ञानादिभावो य इसविहो धम्मो ।

रयणत्तवं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

धर्मदेशकः—धर्मस्य देशकः कथकः धर्मदेशकः (८१) । **वागीश्वरः**—वाचां वाणीनामीश्वरो
वागीश्वरः (८२) । **अधीनाथ**—अधीनै लोकोक्तं कालत्रयं च, तस्याः नाथ. धर्मदेशकः त्रयीनाथः ।

सम्पद्दर्शन-शान-चारित्र्यायां वा समाहारलक्ष्मी, तस्याः नाथः । ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराणां वा नाथः त्रयीनाथः ।
श्रुत्येद-यजुर्वेद-सामवेदानां वा नाथः हेतयोपदेशकः त्रयीनाथः (८३) । उक्तञ्च—

सर्वज्ञत्वनिजन्वमत्थविद्यावीप्रिकमुक्तिः सूरिभिः ,
साध्याचारपुरस्सरं विरचितं बल्काक्षिकाद्यं च यत् ।
सौकर्यं शाक्यवचकवीगुरुवचबान्यच्च बहौकिकं ,
सोऽयं भारतिमुक्तिमुक्तिफलदः सर्वोऽनुभावस्तव ॥

त्रिभंगीशः—त्रयो भंगाः समाहृतात्रिभंगी । तस्या ईशत्रिभंगीशः । उक्तञ्च—

पयोव्रतो न दृष्यन्ति न पयोऽपि दृष्टिमतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्सर्वं त्रयात्मकम् ॥

अथवा—सत्ता उदय उदोरथा इति त्रिभंगी शास्त्रे कथिता, तस्या ईशत्रिभंगीशः । उक्तञ्च—

संसारसंभवाद्यं जीवाद्यं जीविषाहं बहुषारं ।
गयदोभागसिमेगं हृष्यद्यहृदृगितिभंगिदलं ॥

६५६१ आयुष एते भागाः क्रियन्ते । द्वयोर्भागयोग्योर्गतयोस्तृतीये भागस्य प्रथमसमये गतिं ब्रूनाति ।
यदि न ब्रूनाति तदा तृतीयभागस्य त्रयो भागाः क्रियन्ते । तत्रापि द्वयोर्भागयोग्योर्गतयोस्तृतीये भागे प्रथम-
समये गतिं ब्रूनाति । यदि तत्रापि प्रथमसमये न ब्रूनाति तदा तृतीयभागस्य त्रयो भागाः क्रियन्ते, द्वयोर्भागयो-
र्गतयोस्तृतीये भागे प्रथमसमये गतिं ब्रूनाति । यदि तत्रापि प्रथमसमये न ब्रूनाति, तदा तृतीयभागस्य त्रयो
भागाः क्रियन्ते । एवं भागद्वये गते तृतीये भागे गतिं ब्रूनाति । एवं ६५६१।२१८७।७२६।२४३।८१।२७।६
३।१ एवं नववारान् भागाः क्रियन्ते । इति त्रिभंगीशः (८४) । गिरांपतिः—गिरां वाणीनां पतिः ।
गिरांपतिः । स्वयिह ह्युप्यन्तेऽभिधानात् (८५) ।

सिद्धाहः सिद्धवागाह्वासिद्धः सिद्धैकशासनः ।

जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः सिद्धमंत्रः सुसिद्धवाक् ॥१६॥

सिद्धाहः—सिद्धा आशा वाग्यस्य स सिद्धाहः (८६) । सिद्धवाक्—सिद्धा वाग् यस्य स सिद्ध-
वाक् (८७) । आह्वासिद्धः—आशा वाक् सिद्धा यस्य स आशासिद्धः (८८) । सिद्धैकशासनः—सिद्धं
एकमद्वितीयं शासनं वाक् यस्य स सिद्धैकशासनः (८९) । जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः—जगति संसारे प्रसिद्धो
विख्यातः सिद्धान्तो वाग् यस्य स जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः (९०) । सिद्धमंत्रः—सिद्धो मंत्रो वेदो यस्य स सिद्ध-
मंत्रः (९१) । सुसिद्धवाक्—सुष्ठु अतिशयेन सिद्धा वाक् यस्य स सुसिद्धवाक् (९२) ।

शुचिभ्रवा निरुक्तोक्तिस्तंत्रहृन्म्यायशास्त्रकृत् ।

महिष्ठवाग्महानादः कवीन्द्रो दुन्दुभिस्ववः ॥६०॥

शुचिभ्रवाः—शुचिनी पवित्रे श्रवसी कर्षी यस्य स शुचिभ्रवाः (९३) । निरुक्तोक्तिः—निरुक्ता
निश्चिता उक्तिर्वचनं यस्य स निरुक्तोक्तिः (९४) । तन्त्रकृत्—तत्रं शास्त्रं करोतीति तन्त्रकृत् (९५) । न्याय-
शास्त्रकृत्—न्यायशास्त्रं अविश्वशालं कृतवान् न्यायशास्त्रकृत् (९६) । महिष्ठवाक्—महिष्ठा पूज्या वाक् यस्य
स महिष्ठवाक् (९७) । महानादः—महान् नादो ध्वनियस्य स महानादः (९८) । कवीन्द्रः—कवीनां गणधर-
देवादीनामिन्द्रः स्वामी कवीन्द्रः (९९) । दुन्दुभिस्ववः—दुन्दुभिर्जयपटहः, तद्वत्स्वनः शब्दो यस्य स दुन्दु-
भिस्ववः (१००) ।

इति तीर्थहृच्छ्रुतनामा चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

नामसहस्रज्ञानं तीर्थकृतान्मल्पकोऽभ्युपायोऽयम् ।
तीर्थकरनामकृते श्रुतसागरसुरभिः प्रविज्ञातः ॥
विद्यानन्दकलकं समन्तभद्रं च गौतमं नत्वा ।
नाथज्ञानं व्याक्रियते शृणुत श्रुतसागरैर्मुनिभिः ॥

नाथः पतिः परिवृद्धः स्वामी भर्ता विभुः प्रभुः ।
ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥

नाथः—राज्यावस्थायाम् नाथते, पठं भागधेयं याचते च नाथः । नाथ नाथ याचने इति धातोः प्रयो-
गात् अचा सिद्धम् । नाथ्येते स्वर्गमोक्षौ याच्येते भक्तैर्वा नाथः । अन्यत्रापि चेति कर्मणि अच् (१) । पतिः—
पाति रक्षति संसारदुःखादिति पतिः । पाति प्राणिवर्गं विषय-कषायेभ्य आत्मानमिति वा पतिः । पातेर्दंतिः
श्रीपादिकः प्रत्ययोऽयम् (२) । परिवृद्ध—परि समन्तात् वृंहति स्म वर्हति स्म वा परिवृद्धः स्वामी । परिवृद्ध-वृद्धौ
प्रभु-ब्रह्मवतोरिति के निपातनात् नलोप इडभावश्च निपातस्य फलम् । गृहं गृहि-गृहिं गृहिं गृह्यौ इति प्रकृत्य-
न्तेरेण वा गृहिं गृहिं गृह्यौ इत्यस्य गृहं गृहिं गृहं गृहिं गृहं गृहिं गृह्यौ इति छान्दसा मन्यन्ते (३) । स्वामी—
स्व आत्मा विद्यतेऽस्य^१ स स्वामी । स्वस्येति सुरात्वं चेति, इन् आत्वं च (४) । भर्ता—विभक्तिं धरति
पुष्पाति वा जगद्भव्यजनं । उत्तमस्थाने धरति केवलज्ञानार्दिभिः गुणैः पुष्पातीति भर्ता (५) । विभुः—विभ-
वति विशेषेण मंगलं करोति, वृद्धिं विदधाति, समवसरणसमायां प्रभुतया निवर्तति केवलज्ञानेन चयचरं
जगद् व्याप्नोति, सम्यद् ददाति जगत्कार्यामीति अभिप्रायं वैराग्यकाले करोति, तारयितुं शक्नोति, तारयितुं
प्राडुर्भवति, एकेन समयेन लोकांलोकं गच्छति जानातीति विभुः । तदुक्तं—

सत्पार्था मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्भवोः ।
अभिप्राये च शक्नौ च प्राडुर्भवे गतौ च भूः ॥

सुबो वृद्धिर्वां प्रेभु चेति साधुः (६) । प्रभुः—प्रभवति समर्थो भवति, सर्वेषां स्वामित्वात् प्रभुः ।
(७) ईश्वरः—ईष्टे समर्थो भवति, ऐश्वर्यवान् भवति ईश्वरः । कसि-पसि-भासीशस्याप्रमदां च
शीलायें वरः । ईकारप्रसलेषे ई लक्ष्मीरभ्युदय-निश्रेयसलक्षणा, तस्या ईश्वरः स्वामी ईश्वरः लक्ष्मीकान्त
इत्यर्थः । घोषबल्योश्च कृति नेट् (८) । अधीश्वरः—अधिक ईश्वरः इन्द्रादीनामपि प्रभुः अधीश्वरः ।
अधियां अशानिनां परात्मामपि सम्बोधने समर्थं अधीश्वरः (९) । अधीशः—अधिक ईशः स्वामी
अधीशः । अधियां हरि-हर-हरिण्यगर्भादीनामीशः (१०) । अधीशानः—ईष्टे ईशानः अधिकः ईशानः
अधीशानः । अथवा ये अधियो निर्धिक्ता लोका भवन्ति ते स्वामिनः ऐश्वर्यं दृष्ट्वा ईशानमिति मन्यन्ते,
मिथ्यामतिष्ठात् (११) । उक्तञ्च—

त्वामेव वीतसमसं पर्यादिनोऽपि,
नूनं विभो हरि-हरादिधिया प्रपन्नाः ।
किं काचकामादिभिरीरा सिलोऽपि शंसौ,
नो गृह्यते द्विविचवर्षाविषययेण ॥

अधीशिता—अधिकतोऽधिको वा ईशिता स्वामी अधीशिता (१२) । ईशिता—ईष्टे ऐश्वर्य-
वान् भवतीत्येवशीलः ईशिता (१३) ।

ईशोऽधिपतिरीशान इन् इन्द्रोऽधिपोधिभूः ।
महेश्वरो महेशानो महेशः परमेशिता ॥६२॥

ईशः—ईष्टे निग्रहानुग्रहसमर्थात् ईशः (१४) । उक्तञ्च—

सुहृत्सवधि श्रीसुमगत्वमरतुते द्विषत्सवधि प्रत्यवयवप्रलीयते ।
अवातुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चिन्मिदं तवेहितम् ॥

अधिपतिः—अधिकः पतिः स्वामी अधिपतिः (१५) । ईशानः—ईष्टे अहमिन्द्रायामपि स्वामी भवति ईशानः (१६) । इन्द्रः—एति योगिनां ध्यानबलेन हृदयकमलमागच्छति इन्द्रः । इव् जि-कृषिभ्यो^१ नक् (१७) । इन्द्रः—इदंति परमैश्वर्यं प्राप्नोति, शक्रादीनामप्याराध्यत्वाद् इन्द्रः । स्फावि-संधि-बंधि-शकि-क्षिपि-सुद्वि-रुदि-मदि-संधि-बंधि-उदीरिभ्यो रक् (१८) । अधिपः—अधिकं पाति सर्वजीवान् रक्षति अधिपः । उपसर्गे त्वातो इः । अथवा अधिकं पिबति केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोति अधिपः (१९) । अधिभूः—अधिका त्रैलोक्यसम्बन्धिनी भूर्भूमिर्यस्य स अधिभूः, त्रिभुवनैकनाथ इत्यर्थः ।

सत्तार्था मंगले वृद्धौ निवासे ष्यासि-संपदो ।

अभिप्राये च शकौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥

इति वचनात् । अधिकं मलं गालयति, मंगं सुखं वा ददाति अधिभूः, अधिकवृद्धिर्योगात् अनन्त-कालं मुक्तिनिवासात् केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापनात् अधिकसंपदसंगतात्, लोकालोकव्याप्त्यभिप्रायात्, अनन्तराशक्तित्वात्, विरुद्धपर्यायेण प्रादुर्भावात्, एकेन समयेन त्रैलोक्याग्रगमनात् अधिभूः । उक्तञ्च—

योयाभावे वेळि जिम थक्कह थाखु बळेवि ।

मुकदं जसु पह विविथय परमसहाड भयेवि ॥

अधिभूनायको नेता इति वचनात् त्रिभुवनैकनाथ इत्यर्थः (२०) । महेश्वरः—महात्मिन्द्रा-दीनामीश्वरः स्वामी महेश्वरः । अथवा महस्य पूजाया ईश्वरः स्वामी महेश्वर (२१) । महेशानः—महाभ्राह्मणादीशानो महेशानः । अथवा महतामीशानः, अथवा महस्य यत्स्य ईशानो महेशानः (२२) । महेशः—महाभ्राह्मणादीशः महेशः । अथवा महतानीशः महेशः । अथवा महस्य यागत्य ईशः महेशः (२३) । परमेशिता—परमः प्रकृष्टः ईशिता परमेशिता । अथवा परा उत्कृष्टा मा बहिरभ्यन्तरलक्षण लक्ष्मीः परमा । परमाया ईशिता परमेशिता (२४) ।

अधिदेवो महादेवो देवस्त्रिभुवनेश्वरः ।

विश्वेशो विश्वभूतेशो विश्वेष्ट विश्वेश्वरोऽधिराट् ॥ ६३ ॥

अधिदेवः—अधिकः शक्रादीनां देवः परमाराध्यः अधिदेवः (२५) । महादेवः—महान् इन्द्रा-दीनामाराध्यो देवो महादेवः । अथवा महादेवः क्षत्रियः, तस्य देवी महादेवीति कारणात् महादेवशब्देन क्षत्रिय एव क्षत्रियभार्या महादेवीति । (२६) । देवः—दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे देवः परमाराध्य इत्यर्थः (२७) । त्रिभुवनेश्वरः—त्रीणि भुवनानि समाहृतानि त्रिभुवनं स्वर्ग-मर्त्य-पाताललोकानि, तस्य त्रिभुवनस्य ईश्वरः त्रिभुवनेश्वरः (२८) । विश्वेशः—विश्वस्य त्रैलोक्यस्य ईशः स्वामी विश्वेशः (२९) । विश्वभूतेशः—विश्वेषां भूतानां प्राणिवर्गाद्यामीशः स्वामी विश्वभूतेशः । अथवा विश्वेषां भूतानां व्यन्तर-विशेषाद्यामीशः विश्वभूतेशः । अथवा विश्वभूतैलोक्यम्, तस्य ता लक्ष्मीस्तस्या ईशो विश्वभूतेशः (३०) । विश्वेष्ट—विश्वस्य त्रिभुवनस्य ईष्ट स्वामी विश्वेष्ट (३१) । विश्वेश्वरः—विश्वस्य भूभुव स्वप्नस्य ईश्वरः प्रभुः विश्वेश्वरः (३२) । अधिराट्—अधिकं राजते अधिराट् । अथवा अधि वशीकृता राजानो येन स अधिराट् । उक्तञ्च—अधि वशीकरणाधिष्ठानाध्यवनेरवैस्मरवाधिक्तेषु । (३३) ।

लोकेश्वरो लोकपतिर्लोकनाथो जगत्पतिः ।

त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभुः ॥ ६४ ॥

लोकेश्वरः—लोकानां त्रिभुवनजनानामीश्वर, स्वामी लोकेश्वरः । अथवा लोकस्य सम्यग्दर्शनस्य ईश्वरः लोकेश्वर । लोकं लोकं दशने इति भातोः प्रयोगात् (३४) । लोकपतिः—लोकस्य त्रिभुवनस्थित-प्राणिवर्गस्य पति स्वामी लोकपतिः (३५) । लोकनाथः—लोकस्य त्रिभुवनस्य नाथः स्वामी लोकनाथः । अथवा लोकैर्कर्तृभूतैर्मगवान् कर्मतापन्नं मोक्षं प्रति याच्यते । याचि नाथेत्यादीनां द्विकर्मकर्तृत्वं याचिधातोः । नाथ्यते मोक्षं याच्यते इति लोकनाथः (३६) । जगत्पतिः—जगतां त्रिभुवनानां पतिः स्वामी जगत्पतिः (३७) । त्रैलोक्यनाथः—त्रैलोक्यस्य भुवनत्रयस्य नाथ स्वामी त्रैलोक्यनाथः (३८) । लोकेशः—लोकानां जगज्जनानामीशः स्वामी लोकेशः (३९) । जगन्नाथः—जगतां नाथो जगन्नाथः (४०) । जगत्प्रभुः—जगत्त्रैलोक्यस्य प्रभुः स्वामी जगत्प्रभुः (४१) ।

पिताः परः परतरो जेता जिष्णुरनीश्वरः ।

कर्त्ता प्रभूष्णुर्भाजिष्णुः प्रभविष्णुः स्वयंप्रभुः ॥ ६५ ॥

पिता—पाति रक्षति दुर्गं ली पतितुं न ददाति इति पिता । स्वस्याद्यदः स्वरट-नप्त् नेष्ट-त्वष्ट-वृत् होत्-पोह्-प्रशास्तु-पितृ-दुहितृ-जामातृ-भ्रातरः, एते तु नृपत्ययान्ता निपात्यन्ते (४२) । परः—परिपतिं पालयति पूरयति या लोकान् निर्वाण्यदे स्थापयति परः । अच् । सिद्धादपर परः (४३) । परतरः—परस्मात् सिद्धात् उक्तुष्टः परः परतरः; सर्वथा धर्मोपदेशेन गुरुत्वात् (४४) । जेता—जयति सर्वोत्कथं प्रवर्तते इत्येवंशीलो जेता (४५) । जिष्णुः—जयति सर्वोत्कथं प्रवर्तते इत्येवंशीलो जिष्णुः । जि-भुष्ठाः ण्युक् (४६) । अनीश्वरः—न विद्यते ईश्वरः एतस्मादपरः अनीश्वरः (४७) । कर्त्ता—अनन्तज्ञानं अनन्तदर्शनं अनन्तवीर्यं अनन्तलौक्यमात्मनः करोतीति कर्त्ता (४८) । उक्तञ्च

ऊँवो उवधोगमभो अमुषि कृता सदेहपरिमायो ।

भोक्ता संसारथो सिद्धो सो विस्सलोद्दुर्गई ॥

एवं सति—

अकर्त्ता निर्गुणः शुद्धो नित्य सर्वगतोऽक्रियः ।

असूर्शचेतनो भोक्ता पुमान् कपिलशासने ॥

इति न घटते । कथं न घटते ?

अकर्त्तापि पुमान् भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता ।

नित्योऽपि जातसंसर्गः सर्वगोऽपि वियोगमाक् ॥

शुद्धोऽपि देहसंबद्धो निर्गुणोऽपि स मुच्यते ।

इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तं न युक्तं कापिलं वचः ॥

प्रभूष्णुः—प्रभवति इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-चन्द्र-गयान्द्रादीनां प्रभुत्वं प्रामोतीत्येवंशीलः प्रभूष्णुः (४९) । भ्राविष्णुः—भ्राजुभ्राष्टुभ्राष्टु दोषो इति भातोः प्रयोगात् भ्राजते चन्द्रार्ककोटिम्योऽपि अधिकां दीप्तिं प्रामोतीत्येवंशीलः भ्राविष्णुः । अत्रयत्कृन् भू सहि रुचि वृत्ति वृत्ति चरि प्रजनापप्रपेनामिष्णुच् (५०) । प्रभविष्णुः—प्रभवति अनन्तराकित्वात् समर्थो भवतीत्येवंशीलः प्रभविष्णुः (५१) । उक्तञ्च—

दानं प्रियवाक्साहितं ज्ञानमगर्भं समाश्रितं शीघ्रम् ।

त्यागसाहितं च विषं दुश्कर्तुममेतच्छतुर्भद्रम् ॥

तथा चोक्तममोघवर्षेण राह्या—

किं शोच्यं कापण्यं सति विभवे किं प्रशस्यमौदार्यम् ।

सनुतरवित्तस्य तथा प्रभविष्योर्धनसहिष्णुत्वम् ॥

स्वयंप्रभु — स्वयमात्मना प्रभुः समर्थः, न तु केनापि कृतः स्वयंप्रभुः (५२) ।

लोकजिद्धिश्चजिद्धिश्चजिजेता चिश्चजित्वरः ।

जगज्जेता जगज्जैत्रो जगज्जिष्णुर्जगज्जयी ॥६६॥

लोकजिद्—लोकं संसारं जितवान् लोकजिद् (५३) । चिश्चजिद्—चिश्चं त्रैलोक्यं जितवान् चिश्च-जिद् (५४) । चिश्चजिजेता—चिश्चं त्रैलोक्यं विजयते निजतेवकं करोतीत्येवंशीलो चिश्चजिजेता (५५) । चिश्चजित्वरः—चिराति आत्मप्रदेशेषु मिलति बन्धमायाति श्लेषं करोति इति चिश्चं शानाकरखाद्यष्टक-मंसमुद्भूतं जयति क्षूयं नयतीत्येवंशीलो चिश्चजित्वरः । सृजीय्^१ नरां कवरप् । धातोस्तोन्तः पानुबन्धे कवरप् नदादौ पठ्यते चिश्चजित्वरी जिन्ध्याति. (५६) । जगज्जैत्रो—जगतां सर्वमिध्यादृष्टीनां जेता जयनशीलः जगज्जेता (५७) । जगज्जैत्रः—जगति जयतीत्येवंशीलः जगज्जेता । दृद् । जगज्जैत्रेव जगज्जैत्रः । स्वार्थे ञच् । जगज्जैत्रस्य वा जगज्जैत्रे. । इदमर्थे ञच् । द्वात्रिंशत् इत्यर्थः (५८) । जगज्जिष्णुः—गच्छती-त्येवंशीलं जगत् । पंचमोपधाया बुद्धि चागुणे दीर्घः । यममनतनगरमां क्वौ पंचमलोपः । ञच् ञच् । धातो-स्तोन्तःपानुबन्धे । जगत् इति कोऽर्थः ? मनः, तज्जयतीत्येवंशीलः जगज्जिष्णुः । जि-सुधोःष्णुक् । राज्या-वस्थापेक्षया सर्वरिपूणां जेता, समवसरणमंडितापेक्षया त्रैलोक्यजयनशीलः (५९) । जगज्जयी—जगज्जयी-त्येवंशील जगज्जयी । जीय्दृष्टिबिभ्रिपरिभूवमाभ्यमाभ्यथा च । तच्छीकार्थे इद् प्रत्ययः (६०) ।

अग्रणीर्गामर्णो नेता भूर्भुवःस्वरधीश्वर ।

धर्मनायक ऋद्धीशो भूतनाथश्च भूतभृत् ॥६७॥

अग्रणीः—अग्रं त्रैलोक्योपरि नयति अग्रणीः (६१) । उक्तञ्च —

प्रान्त-संघातयोर्मिह्याप्रकारे प्रथमेऽधिके ।

पलस्य^२ परिमाणे वाऽऽक्षम्बनोपरिवाच्ययोः ।

पुरः श्रेष्ठे दशस्वेव विकिरमं न कथ्यते ॥

ग्रामणीः - ग्रामं सिद्धसमुद्भूतं नयतीति ग्रामणीः (६२) । नेता—नयति स्वधर्ममित्येवंशीलो नेता (६३) । भूर्भुवःस्वरधीश्वरः - भूर्धोलोकः, भुवर्मध्यलोकः, स्वर्ध्वलोकः, तेषामधीश्वरः स्वामी भूर्भुवःस्वरधीश्वरः (६४) । धर्मनायक - धर्मस्य अर्हिसालक्षण्यस्य नायको नेता धर्मनायकः (६५) । ऋद्धीश - ऋद्धानामीशः स्वामी ऋद्धीशः । उक्तञ्च --

बुद्धि तवो विय लद्धी विठवणलद्धी तद्देव ओसहिधा ।

रस बल अकलीया विय लद्धीयां सामिथो वंदे ॥

तथा बुधाशाघरेण महाकविनाऽऽर्द्धयः प्रोक्ताः । तथाहि—

निर्वृत्तौ हवतपद्पुरात्मभेद-संविद्धिकस्वरसुदोऽद्भुतदिव्यकृतीम् ।

बुद्धयौषधीचलतपोरसविक्रियद्विज्ञेजक्रियाद्विकलितान् सुलभे मदधीम् ॥

तत्र बुद्धिः—अष्टादशविधा—केवलज्ञानं १ अविज्ञानं २ मनःपर्ययज्ञानं ३ बीजबुद्धिः ४ कोष्ठबुद्धिः, ५ पदानुवारित्वं ६ संभिन्नोत्तुल्यं ७ दूरस्वादनं ८ दूरस्पर्शनं ९ दूरदर्शनं १० दूरप्राणं ११ दूर-अवयं १२ दूरपूरित्वं १३ चतुर्दशपूरित्वं १४ अष्टांगमहानिमित्तकत्वं १५ प्रज्ञाभ्रमणता १६ प्रत्येकबुद्धत्वं १७ वादित्वं १८ ॥ चेति । तत्र द्रव्य-ज्ञेय-काल-भाव-करण-क्रमव्यवधानाभावे युगपदेकसिद्धौ समयेऽत्रिकालवर्तिसर्व-

द्रव्यगुणपर्यायपदार्थावभासकं केवलज्ञानम् ॥ १ ॥ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः प्रत्येकं विज्ञायमानैर्देशाधि-
परमाधि-सर्वाधिभेदमिदं अविज्ञानावरणक्षयोपराम्निमित्तं रूपिन्द्रव्यविषयमवधिज्ञानम् ॥ २ ॥ द्रव्य-क्षेत्र-
काल-भावैः प्रत्येकमवगम्यमानैः श्रुजुमतिविपुलमतिभेदं मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमकारणं रूपिन्द्रव्यानन्त-
भारविषयं मनःपर्ययज्ञानम् ॥ ३ ॥ सुकृष्टसमर्थकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायपेक्षं बीजमेकमुत्तं यथाऽनेक-
बीजकोटिप्रदं भवति, तथा नोमनहन्द्रियभ्रुतावरणक्षीयान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षं सति संख्येशाब्दस्य अनन्तार्थ-
प्रतिबद्धस्य अनन्तलिङ्गैः सह एकबीजपदस्य ग्रहणादनेकार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः ॥ ४ ॥ कोष्ठागारिकस्थापिता-
नामसंकीर्णानामविनष्टानां भूयसामन्वयीजानां यथा कोष्ठेऽवस्थानं, तथा परोपदेशादवधारितानामर्थग्रन्थ-
बीजानां भूयसां अव्यतिकीर्णानां बुद्धावस्थानं कोष्ठबुद्धिः ॥ ५ ॥ पदानुसारित्वं त्रिधा-प्रतिस्वारी अनुसारी
उभयसारि चेत । तत्र बीजपदादध.स्थितान्येव पदानि बीजपदस्थितलिङ्गेन जानाति प्रतिस्वारी । उपस्थिता-
न्येव पदानि जानाति अनुसारी । उभयपार्श्वस्थितानि पदानि यदा नियमेन अनियमेन वा जानाति उभयसारि ।
एवमेकस्य पदस्यार्थं परत उपभुज्य आदावति मध्ये वा अश्लेषग्रन्थार्थधारणं पदानुसारित्वम् ॥ ६ ॥
द्वादशयोजनायामे नवयोजनवित्तारे चक्रवर्तिस्कन्धाकारे गज-वाजि-खरोष्ट्र-मनुष्यादीनामक्षरानक्षररूपाणां
नानाविधकर्त्तितराध्यानां युगपद्वृत्तज्ञानां तपोविशेषबललामापादितसर्वजीवप्रदेशप्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियपरिष्कारमा-
त्सर्वेषा मेककाले ग्रहणं तदप्रतिपादनसमर्थत्वं च संभिन्नश्रोतृत्वम् ॥ ७ ॥ तपःशक्तिविशेषाविर्भावित्वा-
साधारणरसनैन्द्रियभ्रुतावरणक्षीयान्तरायक्षयोपशामांगोपांगनामलाम्भापेक्षस्य अवधृतनवयोजनक्षेत्राद्बहिर्बहुयोजन-
विप्रकृष्टक्षेत्रादायात्स्य रसस्य आस्वादनवामर्थ्यं दूरास्वादनम् । अवधृतक्षेत्रं यत्कथितं तत्किम् ? पंचेन्द्रि-
यसंश्लेषर्शनं नव योजनम्, रसनं नवयोजनम्, प्राणं नव योजनम्, अवलोकनं योजनानां त्रिपष्टि-अधिचक्रद्वारातोपे-
तसप्तचत्वारिंशत्सहस्रं ४७२६३ । अथर्वं योजनद्वादशकम् (१२) । इति अवधृतक्षेत्रम् । तथा पंचेन्द्रियसंश्लेष-
र्शनं धनुषां चतुःशताधिकं सहस्रपदकम् । रसनं धनुषां द्वादशाधिकं पंचशतकम् । प्राणं धनुषां चतुःशतानि ।
चक्षुः अष्टाधिकनवशतोपेतयोजनह्रस्वपंचकम् । श्रोत्रं अष्टसहस्राणि धनुषाम् । चतुर्गिन्द्रियस्पर्शनं द्वादशाधिका-
नि द्वादशतधन्वि । प्राणं शतद्वयं धनुषाम् । चक्षुः चतुःपंचाशदधिकनवशतात्रे योजनानां द्वे सहस्रे । त्रीन्द्रि-
यस्पर्शनं योद्दश शतानि धनुषाम् । रसनं अष्टाविंशतियुतं शतमेकं धनुषाम् । प्राणं धनुःशतमेकम् । द्वीन्द्रियस्पर्-
शनं अष्टशतानि धनुषाम् । रसनं चतुःषष्टिधनुषाम् । एकैन्द्रियस्पर्शनं धनुषां चतुःशतानि । उक्तञ्च—

सपिण्यस्स बार सोदे तिण्हं नव जोयणाण चक्खुस्स ।

ससेनालसहस्सा वे सय तेसट्टिमिदरे य ॥

इति संक्षिपंचेन्द्रियविषयक्षेत्रगाथा । तथा एकैन्द्रियादीनां अवधृतक्षेत्रगाथा—

षण्ण वीसडदसय करी जोयण्णुद्धादालहीणातिसहस्सा ।

अट्टसहस्स धरणां विसया हुणुणा य आ जसण्णि प्पि ॥

विशतिकृतिः ४००, अष्टकृतिः ६४, दशकृतिः १०० । एवं कदिशब्देन कृतिः, कृतिशब्देन
गुणाकारो लभ्यते । एवं स्पर्शानावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरस्पर्शनम् ॥ ८ ॥ एवं रसनावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरा-
स्वादनम् ॥ ९ ॥ प्राणावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरप्राणम् ॥ १० ॥ एवं चक्षुरवधृतत्रिषष्टिचक्रद्वारातोपे-
तसप्तचत्वारिंशत्सहस्रयोजनाद्बहिर्दूरं पर्यन्ति ॥ ११ ॥ एवं श्रोत्रावधृतद्वादशयोजनाद्बहिर्दूरयातं शब्दं शृण्वन्ति
॥ १२ ॥ रोहिणीप्रभृतिप्रमुखपंचशतमहाविद्यादेवताभिः अनुगतांगुष्ठप्रमेनादिसप्तशतज्जुल्लकविद्यादेवताभि-
स्त्रीन् धारनागतभिः प्रत्येकमात्मोत्प्लवकवामर्ष्यादिष्करणकथनकुरात्तामिर्गवतीमिदचलितचारित्रस्य दश-
पूर्वदुल्लभुतसागरोत्तराणां दशपूर्वित्वम् ॥ १३ ॥ शूलकं वलीनां चतुर्दशपूर्वित्वम् ॥ १४ ॥ अथौ महानिमित्तानि
कथ्यन्ते—आन्तरिक्षं १ शौर्मि २ आगं ३ स्वर्गः ४ व्यंजनं ५ लक्षणं ६ छिन्नं ७ स्वर्गश्चेति ८ अष्टमहा-
निमित्तानि । तत्र सूर्यचन्द्रग्रहन्क्षत्रतरका पंचविचक्रयोर्तिर्गणोदयास्तमवप्रभृतिभिरतीतानागतफलप्रविभागदर्शनं

श्रान्तरिजम् ॥१॥ भूमौ वन-शुषिर-स्निग्ध-रुद्धादिविभावेन पूर्वादिदिक्स्वविन्यासेन च वृद्धि-हानि-जय-परा-
जयादिविशानं भूयन्तर्गतकनकरूप्यप्रथितसंस्वनं भौमम् ॥ २ ॥ गजारवादिस्त्रिभ्यां मानवानां च सत्त्वस्वभाव-
वातादि-प्रकृति-रस-अधिरादिसप्तधातु-शरीर-वर्षा-गन्ध-निम्नोन्नतांग-प्रत्यङ्गनिरीक्षणादिभिन्निकालभाविमुख-
दुःखादिविभावं आङ्गम् ॥३॥ नर-नारी-खर-पिंगलोलक-वायव-शिवा-शृगालादीनां अक्षयनक्षत्रपलकमुष्मा-
शुभशब्दभ्रवणेन इष्टानिष्टफलाधिर्भावः स्वरः ॥ ४ ॥ शिरो-मुख-ग्रीवादिषु तिलक-मयक-सांक्षान्दण्यादि-
वीक्षणेन त्रिकालाहिताहितावेदनं श्वजनम् ॥५॥ कर-चरणतल-वक्षःस्थलादिषु श्रीवृक्ष-स्वस्तिक-पंगार-कलशा-
कुलिशादिलक्षणावीक्षणात् त्रैकालिकस्थान-मानैरवर्षादिविरोपकं लक्ष्यम् ॥ ६ ॥ वज्र-शङ्ख-छत्रोपानदासन-
शयनादिषु देव-मानव-राक्षसकृतविभागेषु शङ्ख-कंटक-मूषकादिदृष्टददर्शनात् कालत्रयविषयभागेन लाभालाम-
मुख-दुःखादिसंस्वनं छिन्नम् ॥७॥ वात पित्त-श्लेष्मदोषोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिविभागेन चन्द्र-सूर्य-धरा-समुद्र-
मुखप्रवेशनसकलमहीमंडलोपगूहनादिशुभस्वप्नदर्शनात् द्रुत-तैलाकास्त्रीयदेह-खर-करभारूढाप्राग्दियामनाद्यशुभ-
स्वप्नदर्शनात् आगामिजीवित-मरण-सुख-दुःखाधाधिर्भावकः स्वप्नः ॥८॥ स च द्विविधः—छिन्न-मालाविक-
ल्यात् । गजेन्द्र-वृषभ-सिंहयोत-प्रभृतिरिच्छन्नः । पूर्वापरसम्बन्धानां भानां दर्शनं माला । एतेषु महानिमित्तेषु
कुशलत्वं अष्टांगमहानिमित्तता (१५) । अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगद्गने चतुर्दशपूर्वेषु एव विषये अनुपयुक्ते
अनधीतद्वादशांगचतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरयज्ञयोपशमाविर्भूतासाधारणप्रशाशकिलाभात्
निःसंशयनिरूपणं प्रशाशमण्यत्वम् । सा च प्रशा चतुर्विधा—श्रौत्यत्तिकी वैनीयिकी कर्मजा पारियामिकी चेति ।
तत्र जन्मान्तरविनयजनितसंस्कारसमुत्पन्ना श्रौत्यत्तिकी ॥ १ ॥ विनयेन द्वादशांगानि पठतः समुत्पन्ना वैनीयिकी
॥ २ ॥ दुष्कृतपश्चरणाबलेन गुरुपदेशेन विना समुत्पन्ना कर्मजा ॥ ३ ॥ स्वकीय-स्वकीयजातिविशेषेण समुत्पन्ना
पारियामिकी चेति ॥ ४ ॥ (१६) । परोपदेशं विना स्वशक्तिविशेषादेव ज्ञान-संयमविधाने नैतृष्यं प्रत्येक-
बुद्धता (१७) । शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्सु अप्रतिहृतया^१ प्रतिभया निरुत्तराभिधानं पररूपोपज्ञं च
वादित्वम् (१८) । इति बुद्धिश्चन्द्रिकाद्वाराविधा समाप्ता ।

^१श्रौषधिर्दृष्टविधा—अस्वाप्यानामपि व्याधीनां सर्वेषां विनिवृत्तिहेतुः आमर्श १ ज्वेल २ जल्ल
३ मल ४ विट् ५ सर्वौषधिप्राप्त ६ आस्याविष ७ हृद्यविष ८ भेदात् । इत-पादादित्स्पर्शः आमर्शः
सकलौषधित्वं प्राप्नो येषां ते आमर्शौषधिप्राप्ताः ॥ १ ॥ ज्वेलो निष्ठोयं तदुपलक्ष्यं श्लेष्मलालाविट् सिद्धाण-
कादीनां तदौषधित्वं प्राप्नो येषां ते ज्वेलौषधिप्राप्ताः ॥२॥ स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्लः, स श्रौषधि प्राप्नो
येषां ते जल्लौषधिप्राप्ताः ॥३॥ कर्णदन्तनासिकालोचनसमुद्भवो मलः श्रौषधित्वं प्राप्नो येषां ते मलौषधिप्राप्ताः
॥४॥ विट् उच्चारः, शुक्रं मूर्धं च श्रौषधियेषां ते विटौषधिप्राप्ताः ॥५॥ अंग-प्रत्यंग-नख-दंत-केशादिरवयवः,
तत्संस्पर्शा वाय्वादिः सर्वौषधित्वं प्राप्नो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ताः ॥ ६ ॥ उपविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो
निर्विषो भवति ते आस्याविधाः । अथवा येषां वचःश्रवणान्महाविषपरीता अपि पुरुषा निर्विषीभवन्ति ते
आस्याविधाः । अथवा आसीविषमविषं येषां ते आस्यविधाः ॥ ७ ॥ येषामालोकनभात्रादेवातितीव्रविष-
दूषिता अपि विगतविषा भवन्ति ते हृद्यविधाः । अथवा हृष्टविषाणां विषं अविष येषां ते हृद्याविधाः
॥ ८ ॥ (२) बलालम्बना श्लेष्टिर्त्रिविधा—मनोवाक्कायविषयभेदात् । तत्र मनोऽनिन्द्रिय-श्रुतावरण-
वीर्यान्तराद्यज्ञयोपशमप्रकर्षे सति खेदं विना अन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिन्तने अत्रदाताः मनोबलिनः ॥ १ ॥
चिह्नाश्रुतावरण-वीर्यान्तराद्यज्ञयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चैर्द्वारणो
सत्यपि भ्रमविपहिता अहीनकण्ठाश्च वाग्बलिनः ॥ २ ॥ वीर्यान्तराद्यज्ञयोपशमप्रकर्षादाविर्भूतासाधारणकाय-
बलित्वात् मासिक-चातुर्मासिक-सांस्तरिकादिप्रतिभायोगधारणेऽपि भ्रमह्वेशविपहितास्त्रिभुवनमपि कनीयस्यां-
गुल्फोद्भूत्यान्यत्र स्थापयितुं समर्थाश्च कायबलिनः ॥ ३ ॥

तोपोऽतिशयशुद्धिः सप्तविधा—उग्रतपः १ दीप्ततपः २ तप्ततपः ३ महातपः ४ घोरतपः ५ घोर-
पराक्रमः ६ घोरगुणब्रह्मचारी ७ चेति । तत्रोग्रतपसो द्विभेदाः—उग्रोग्रतपसः अचस्थितोग्रतपसश्चेति ।

तत्र एकमुपवासं कृत्वा पारुषं विधाय द्विदिनयुषोष्य तत्पारुषान्तरं पुनरप्युपवासत्रयं कुर्वन्ति । एवमेकौत्तर-
 वृद्ध्या यावज्जीवं त्रिगुप्तिगुप्ता सन्तो ये केचिदुपवसन्ति ते उभोप्रतपसः । दीक्षोपवासं कृत्वा पारुषान्तर-
 मेकान्तरेण चरतां केनापि निमित्तेन पद्योपवासे जाते तेन विहरतामद्योपवाससंभवे तेनाचरतामेवं दशम-
 द्वादशदिक्कमेण अथो न निर्वर्त्तमानाः यावज्जीवं येषां विहरणं तेऽवस्थितोप्रतपसः (१) । महोपवासकश्चोऽपि
 प्रवर्षमानकायव्याम्नसबलाः विगन्धरहितयदनाः पद्योत्पलादिमुग्भिनिःश्वासाः प्रतिदिनप्रवर्षमानाप्रच्युत-
 महादीप्तिशरीराः दीप्ततपसः । (२) । ततायसकटाहपतितजलकषयवदाशुशुक्लाप्ताहारतया मलरुचिर्गदिभाव-
 परिष्णामविपहिताभ्यवहृत्प्रास्तनतपसः (३) । अग्निमादिजलचारयाद्यष्टगुणालंकृताः विस्फुरितकायप्रभाः
 त्रिविधाक्षौण्डिक्युक्ताः सर्वोपधिप्राप्ताः अमृतीकृतपाणिपात्रनिपतितसर्वाहाराः सर्वामरेन्द्रभ्योऽनन्तबलाः,
 आशीषिष-दृष्टिविषदिसमान्विताश्च तप्ततपसः, सकलविद्याचारिणो मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययज्ञानावगत-
 त्रिभुवनगतव्यापाराः महातपसः (४) । वात-पित्त-श्लेष्म-मन्निपातसमुद्भूतज्वर-नासाक्षि-कुक्षिशूल-कुष्ठ-
 प्रमेहादिविषयवोरगततापितदेहा अप्रयच्युतानशनादितपसोऽनशने षण्मासोपवासाः, अत्रमोदयं एककलाहारः,
 वृत्तिपरिसंख्यानं चतुर्गोचरगृहाः, रसपरिव्यागे उष्णजलबौतोदनभोजिनः, विविक्तशयनानसने भीमश्मनानाद्रि-
 मस्तकगिरि-गुहा-दरी-कन्दर-शून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयज्ञ-गजस-पिशाचप्रद-सत्वेतालरूपविकारेषु पुरुषाचारु-
 तानुपतसिंहव्याघ्रादित्यालमृगमीशेषु च घोरचौरादिप्रचरितेष्वभिर्षन्तानासाः, कायक्लेशे अतितीव्रशीला-
 तपवर्निपातप्रदेशेषु अत्रावकाशातपन-शुद्धमूलयोगप्राहिणः । एवमभ्यन्ततपोविशेषं येषु उल्लूकतपोऽ-
 नुष्ठायिनो घोरतपसः (५) । त एव शरीरतपोयोगवर्धनपर्याप्तिभुवनोपसंहरणमही-महाचल-प्रसन-सकलसागर-
 सलिलसंशोषण-जलाम्बि-शिला-शैलादिवर्षणैकता ये ते घोरपराक्रमाः (६) । चिगेपितासखलितब्रह्मचर्या-
 वासाः प्रकृष्टचारित्रमोहज्ञपोषणमात् प्रणष्टदुःस्वप्नाः घोरगुणब्रह्मचारिणः । अथवा 'अघोरब्रह्मचारिणः'
 इति पाठे अघोरं शान्तं ब्रह्मचारिणं येषां ते अघोरगुणब्रह्मचारिणः, शान्ति-पुष्टिहेतुत्वात् । येषां तपो-
 माहात्म्येन डामरेति-मारि-दुर्मिन्न-वैर-कलह-वध-बन्धन-रोगादिप्रशमनशक्तिः समुत्पद्यन्ते ते अघोरगुण-
 ब्रह्मचारिणः (७) ।

रखिप्राप्ताः पञ्चविधाः—आत्यविषाः १ दृष्टिविषाः २ क्षीरास्त्राविणः ३ मध्यास्त्राविणः ४ सर्पि-
 रास्त्राविणः ५ अमृतास्त्राविणश्चेति ६ । प्रकृष्टतपोबलाः यतयो यं ब्रुवते त्रियस्येति, स तत्तन्नादेव महा-
 विपपरीतो त्रियते ते आत्यविषाः । आशीर्विषा इति केचित्, तत्राययमेवार्थः— तथाऽऽस्तादेव
 त्रियमाणत्वात् (१) । उल्लूकतपोयै यतयः क्रुद्धा यमीच्छन्ते स तर्दयोप्रविपपरीतो त्रियते ते दृष्टिविषाः (२) ।
 विरसमन्थशनं येषां पाणिपुटे निरक्षिप्तं क्षीरसगुणवीर्यपरिष्णामितां भजते, येषां वा वचांसि श्रोत्राणां क्षीरवत्
 क्षीराणां संतर्पकाणि भवन्ति ते क्षीरास्त्राविणः (३) । येषां पाणिपुटे पतित आहारेणो नीरग्नोऽपि मधुरस-
 वीर्यपरिष्णामितां भजते, येषां वा वचांसि श्रोत्राणां दुर्लार्दितानामपि मधुरगुणेषु पुरार्थति ते मध्यास्त्राविणः
 (४) । येषां करपुटं प्रासं जलतर्कादिकमपि घृतपुष्टिं करोति, घृतं भवति; अथवा श्रोत्राणोऽस्त्रामिभृत्तमा-
 स्यादिति घृतवत्पुष्टिं तेषां करोति ते सर्पिरास्त्राविणः (५) । येषां करपुटं प्रासं भोजनं यत्किंचिदपि अमृतं
 भवति, येषां वा वचनानि प्राणिनाममृतवदनुप्राहकारिण भवन्ति तेऽमृतास्त्राविणः (६) ।

विक्रियागोचरा अर्द्धिर्बहुविधा-अग्निमा १ महिमा २ लघिमा ३ गरिमा ४ प्राप्तिः ५ प्राकाम्यं ६
 ईशित्वं ७ वशित्वं ८ अग्रप्रतिघातः ९ अन्तर्धानं १० कामरूपित्वं ११ इत्येवमादिः । तत्र अस्तुशरीरविकर्या
 अग्निमा । विस्फिन्द्रमपि प्रविश्याऽऽसीत, उपवेशित्, तत्र चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं दृजेत् (१) । मेरोरपि मह
 तरशरीरविकर्यां महिमा (२) । वायोरोपि लघुतरशरीरता लघिमा (३) । वज्रादपि गुरुतरदेहता गरिमा (४) ।
 भूमौ स्थित्वाऽऽङ्गुल्यग्रेण मेघशिखर-दिवाकर-दिरपर्शनसामर्थ्ये प्राप्तिः (५) । अस्तु भूमाविष गमनं, भूमौ जल
 इवोन्मज्जन-निमज्जनकरणं प्राकाम्यम् । अनेकजातिक्रियागुणाद्रव्यादीनां स्वान्द्रिज्जगममिन्नं च निमर्षणं प्राकाम्यम् ।
 सैन्यादिरूपमिति केचित् (६) । त्रैलोक्यस्य प्रमुता ईशित्वम् (७) । सर्वलोकवशीकरयालम्बिर्वशीलत्वम् (८) ।

१ स मे० 'यथा प्राथितानां दुर्बलानां घोरं पुष्टिं नयति' इत्यधिकः पाठः ।

अग्निमध्ये विवृतीश्च गमनप्रतिघातः (६) । अदृश्यरूपता अन्तर्धानम् (१०) । युगपदनेकाकाररूपविकल्पा-
शक्तिः कामरूपित्वम् । यथाभिलाषितैकमूर्तामूर्ताकारं^१ स्वांगस्य मुहुर्मुहुःकरणं कामरूपित्वमिति वा (११) ।

क्षेत्रद्विप्रासा द्वेषा-अक्षीयमहानसाः १ अक्षीयमहालयाश्चेति २ । लामान्तरायक्षयोपशमप्रकर्ष-
प्राप्त्येव्यो यतिव्यो यतो भिक्षा दीयते, ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत, तद्विवसे नात्रं क्षीयते ते
अक्षीयमहानसाः (१) । अक्षीयमहालयत्वं प्राप्ता यतयो यत्र हस्तचतुष्टयमात्रावासे वसन्ति, तत्र देव-मनुष्य-
तिर्यग्योनयः सर्वे निवसेयुः, परस्परमबाधमानाः सुखमासते, तेऽक्षीयमहालयाः (२) ।

क्रियाविषया श्रद्धिर्द्विधा-चारणत्वं आकाशगमित्वं चेति । तत्र चारणा अनेकविधाः-जल १ जंघा
२ तन्तु ३ पुष्प ४ पत्र ५ बीज ६ श्रेणि ७ अग्निशिखाद्यालम्बनगमनाः ८ । जलमुपादाय धाप्यादियु अप्का-
यिकबीजानविराधयन्तो भूमाविव पादोद्धार-निलोपकुरालाः जलचारणाः । भूमेष्वपि आकाशे चतुरंगुलप्रमाणे
जङ्गोत्क्षेप-निलोपे शीप्रकरणापक्षयो बहुयाज्जनशतमाशुगमनप्रवणाः जंघाचारणाः । पत्रमितरे च वेदितव्याः ।
पर्यंकावस्थानाः वा निषण्णा वा कार्योत्सर्गंशरीरा वा पादोद्धार-निलोपेषुविधिमन्तरेण वा आकाशगमन-
कुराला आकाशगामिनः । एवं श्रद्धिप्राप्ता आचार्योपाध्यायसर्वसाधवोऽपि श्रद्धिशब्देनोच्यन्ते । प्रस्थप्रमितं
धान्यं प्रस्थ इति यथा, तथा श्रद्धिप्राप्ता मुनयोऽपि श्रद्धयः । श्रद्धीनामीशः श्रद्धीशः (६६) ।

भूतनाथः- भूतानां प्राणिनां देवविशेषाणां च नाथः स्वामी भूतनाथः । भूतैः प्रुथिव्यतेजोवायु-
मिश्रतुर्मूर्तेरुपलक्षितो नाथो भूतनाथः । अतीतानामुपलक्षणात् वर्तमानमवित्यक्तं च नाथः भूतनाथः ।
अथवा भुवि प्रुथिव्या उताः सन्तानं प्राप्ता प्रुथिव्यां व्याप्ता^२ ये ते भूताः, तेषां नाथः भूतनाथः (६७) ।
भूतशृत्-पूर्वोक्तो भूतशब्दाथः । भूतान् विभक्तिं पालयति भूतशृत् (६८) ।

गतिः पाता वृषो वर्षो मंत्रकृच्छुभलक्ष्णः ।

लोकाध्यक्षो सुराधर्षो भव्यबन्धुर्निवस्तुकः ॥ ६८ ॥

गतिः-गमनं ज्ञानमात्रं गतिः, सर्वेषां अस्मिन्मयनसमर्थो वा गतिः । आदिष्टलिङ्गं गतिः शरणात्
(६९) । पाता-पाति रक्षति दुःखादिति पाता रक्षकः (७०) । वृषः-वर्षति धर्माभूतं वृषः । नाम्नु-
पचप्रीकृष्णं कः (७१) । वर्षः-त्रिव्यते वर्षः । स्वराषः । सेनायातदेवेन्द्रादिभिर्वेष्टंश्च इत्यर्थः । वर्षो वर-
णियो मुक्तिलक्ष्म्याभिलाष्यायि इत्यर्थः । मुख्यो वा वर्षः (७२) । मन्त्रकृच्छ-मन्त्रं श्रुतं कृतवान् मन्त्रकृत् ।
मिथ्यादृष्टयस्तु मन्त्रं चत्तारिशदध्यायादिलक्ष्णां वेदं मन्त्रं भणन्ति (७३) । शुभलक्ष्णः-शुभानि लक्ष्-
णानि यस्य स शुभलक्ष्णः । कानि तानि शुभलक्ष्णानितीति चेदुच्यन्ते^३ -पाणिपादेयु श्रीवृद्धः शंखः अर्जुनं
स्वस्तिकः अंडुराः तोरणं चामरं छत्रं श्वेतं सिंहासनं ध्वजः मत्स्यौ कुंभौ कच्छपः चक्र समुद्रः सरोवरं विमानं
भवनं नागः नापी नरः सिंहः बाघः धनुः मेरुः इन्द्रः गंगा नगरं गोपुरं चन्द्रः सूर्यः जाल्यश्वः वीणा ध्वजनं वेणु
सूदक्षः मालो हृद्दः पट्टकूलं भूषा पक्षशालिज्ञेयं वनं सफलं रत्नद्वीपः वज्रः भूमिः महालक्ष्मीः सरस्वती सुरभिः
वृषभः चूडारत्नं महानिधिः कल्पवल्ली धनं जम्बूवृद्धः ग दृष्टः नक्षत्राणि तारकः राजसदनं ब्रह्माः सिद्धार्थ-
तरुः प्रातिहार्याणि अष्टमंगलानि ऊर्ध्वरेखादीनि अन्यानि च शुभलक्ष्णानि अष्टशतम् (७४) । लोका-
ध्यक्षः-लोकानां प्रजानामध्यक्षः प्रत्यक्षीभूतः ।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ।

तदधत्, सर्वेषां प्रत्यक्षत्वात् । अथवा लोकानां अभ्यक्षो लोको परिमुक्तः, राजनियोगिकनाकाध्यक्ष-
वत्^४ । अथवा लोकाधीणि भुवनानि अभ्यक्षाणि प्रत्यक्षाणि यस्येति लोकाध्यक्षः । अथवा लोकेभ्यः प्रजाभ्यः

१ इ यथाभिलाषितैकमूर्ताकारं । २ स प्र० 'क.क्षु/विज्जलचारजो जलाधीःसन् बापी गत्वा तन्मध्यादपालितं शृङ्गन्
तज्जलं कमयकसुप्रविष्टं सत् श्रद्धिमाहाश्व्याप्राप्तुर्न भवति' इत्यधिकः पाठः । ३ इ प्राप्ता । ४ इ चेदुच्यते । ५ इ राज-
नियोगिकं नाकाध्यक्षवत् ।

अधिकानि अक्षीषि शानतज्ञानानि लोचनानि यस्येति लोकाध्यक्षः (७५) । दुराधर्षः—दुःखेन महता कष्टेनापि आसमन्तात् धर्षितुं परामवितुमशक्यो दुराधर्षः । ईषदुःखसुखकृष्णकृष्णार्थेषु खलु प्रत्ययः (७६) । भव्यबन्धुः—भव्यानां रक्षत्रययोग्यानां बन्धुरूपकारकः भव्यबन्धुः (७७) । निरस्तुकः—स्थिरप्रकृतिरित्यर्थः (७८) ।

धीरो जगद्धितोऽजज्यस्त्रिजगत्परमेश्वरः ।

विश्वासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वरः ॥६६॥

धीरः—ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीरः । अथवा धियं राति ददाति भक्तानामिति धीरः । तर्हि दाघातोर्दानार्थत्वात्तद्योगे चतुर्थां कथं न भवति ? सत्यं, यस्मै दिप्सा दातुमिच्छा भवति, तत्र चतुर्थां भवति । परमेश्वरस्तु स्वभावेन बुद्धिं ददाति, नत्विच्छया, तस्याः माहजनितात्वात् । स तु मोहो भगवति न वर्तते, तेन लिगात् पृष्टी भवति, सम्बन्धमात्रविवक्षितत्वात् (७९) । जगद्द्विगतः—जगता द्वितः, जगद्भवो वा द्वितो जगद्धितः, स्फुटमेतत् (८०) । अजज्यः—न जेतुं केनापि इन्द्रादिना काम-क्रोध-मोह-लोभादिना वा शक्यः अजज्यः । इक्ष्वे यः स्वरवत् स्वराद्यः (८१) । त्रिजगत्परमेश्वरः—त्रयाणां जगतां परम उत्कृष्ट ईश्वरः स्वामी त्रिजगत्परमेश्वरः । अथवा त्रिजगतां परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीस्तस्या ईश्वरः त्रिजगत्परमेश्वरः (८२) । विश्वासी—विश्वासो विद्यते यस्य स विश्वासी । तदस्वास्तीति मलं खीन् । अथवा विश्वस्मिन् लोकांलोकै केवलज्ञानापेक्षया आस्ते तिष्ठतीत्येवंशीलः विश्वासी । नाम्यजसौ धामिस्ताच्छीष्ये (८३) । सर्वलोकेशः—सर्वस्य लोकस्य त्रैलोक्यस्थितप्राणिगणस्य ईशः प्रभुः सर्वलोकेशः (८४) । विभवः—विगतो भवः संसारो यस्य स विभवः । अथवा विशिष्टो भवो जन्म यस्य स विभवः (८५) । भुवनेश्वरः—भुवनस्य त्रैलोक्यस्य ईश्वरः प्रभुः भुवनेश्वरः (८६) ।

त्रिजगद्बल्लभस्तुक्त्रिजगन्मंगलोद्भवः ।

धर्मचक्रायुधः सद्योजातस्त्रैलोक्यमंगलः ॥७०॥

त्रिजगद्बल्लभः—त्रिजगतां बल्लभोऽर्भोष्ठः त्रिजगद्बल्लभः (८७) । तुक्—उन्नतः त्रिशिष्टफल-दायक इत्यर्थः (८८) । उक्तञ्च—

तुंगात्फलं यत्सद्विचिन्नाच्च प्राप्यं ससृष्टाक्ष धनेश्वरादेः ।

निरभसोऽप्युच्चतमादिबाह्रैर्कापि निर्याति शुची पयोधेः ॥

त्रिजगन्मंगलोद्भवः—त्रिजगतां त्रिभुवनस्थितभव्यजीयानां मंगलानां पंचकल्याणानायुद्भवः प्राति-यंस्मादसौ त्रिजगन्मंगलोद्भवः । तीर्थकरनाम्नोत्रयोर्मक्तानां दायक इत्यर्थः (८९) । धर्मचक्रायुधः—धर्म एव चक्रम्, पापागतिलंठकत्वात् धर्मचक्रम् । धर्मचक्रमायुधं शस्त्रं यस्यासौ धर्मचक्रायुधः (९०) । उक्तञ्च—

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वत् ।

समयं यदि जालीते श्रेयो ज्ञाता भूवं भवति ॥

सद्योजातः—सद्यस्तकालं स्वर्गात्प्रच्युत्य मातुर्गर्भे उत्पन्नत्वात्सद्योजातः (९१) । उक्तञ्च—

सद्यो जातश्चरति विश्वस्वर्गावतरणेऽप्युत्तः ।

त्वमद्य वामर्षां धत्से कामनीयकमुद्बहन् ॥

त्रैलोक्यमंगलः—त्रैलोक्यस्य मंगं सुखं लाति ददाति मलं वा गालयति इति त्रैलोक्यमंगलः (९२) ।

वरदोऽप्रतिघोऽच्छेद्यो दृढीयानभयंकरः ।

महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥५१॥

वरदः—वरमभीष्टं स्वर्गं मोक्षं च ददाति वरदः (६३) । अप्रतिघः—अविद्यमानः प्रतिघः क्रोधो यस्य स अप्रतिघः (६४) । अच्छेद्यः—न छेतुं शक्यः अच्छेद्यः (६५) । दृढीयान्—अतिशयेन दृढः दृढीयान् (६६) ।

पृथुं मृदुं दृढं चैव मृदां च कृशमेव च ।

परिप्लवं दृढं चैव बभेदान् रषिषौ स्मरेत् ॥

अभयंकरः—न भयं करो रौद्रः अभयंकरः । अथवा अभयं निर्मयं करोतीति अभयंकरः (६७) । महाभागः—महान् भागो राजदेयं यस्य स महाभागः । अथवा महेन पूजया आसमन्ताद् भज्यते सेव्यते महाभागः (६८) । निरौपम्यः—निर्गतनौपम्यं यस्य स निरौपम्यः (६९) । धर्मसाम्राज्यनायकः—धर्म एव साम्राज्यं चक्रवर्त्तित्यम्, तस्य नायकः स्वामी धर्मसाम्राज्यनायकः (१००) ।

नाथशतमेतद्विष्यं निजशुद्धयनुसारतो भया विद्वृतम् ।

सर्वमलनाशहेतुं भयजनैर्भावितं भवति ॥

विद्यानन्दिमुनीन्द्रास्त्रंजातः सर्वेशुरिसुखहेतुः ।

श्रीं कुन्दकुन्दवंशे श्रुतसागरसूरिर्हि जयतु ॥

इति नाथशतनामा पंचमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

योगी प्रव्यक्तनिर्वेदः साम्यारोहणतत्परः ।

सामयिकी सामयिकी निःप्रमादाऽप्रतिक्रमः ॥ ७२ ॥

योगी—योगी ध्यानसामग्री अष्टाङ्गा विद्यते यस्य स योगी । कानि तानि अष्टाङ्गानि ? यम-नियम-सासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधय इति । तत्र यमो महाव्रतानि पञ्च । कानि तानि ? प्राणा-तिपातविरतिः १ श्रवणविरतिः २ स्तेयविरतिः ३ ब्रह्मचर्यं ४ आकिञ्चन्यम् ५ । रात्रिशुक्तिपरिहारशुभ्रतं षष्ठम् । (१) कालमर्यादासहितं व्रतं नियमः (२) । (आसनं) उद्गासनं पद्मासनं च (३) प्राणायामो वायु-रोधः (४) विषयेभ्यः पञ्चम्य ऐन्द्रियेभ्यो मनः पश्चात् आनीय ललाटपट्टे अर्द्धमन्त्ररूपेण स्थाप्यते प्रत्याहारः (५) धारणा पञ्चविधा । सा का ? तिर्यग्लोकः सर्वोऽपि सर्वोपरं चिन्त्यते । तन्मध्ये जम्बूद्वीपः सहस्रदलं कमलं चिन्त्यते तन्मध्ये महामेघः कर्षिका चिन्त्यते । तदुपरि पद्मासनेन अर्द्धमुण्डविष्ट इति चिन्त्यते । इति पार्थिवीधारणा कथ्यते । तत्र त्रिकोणमभिमण्डलं मध्येरेफ-रकारैर्वैष्टितं कोषाग्रेषु स्वस्तिकत्रयसहितं चिन्त्यते । तन्मध्ये उपविष्टोऽहमिति चिन्त्यते । नामो षोडशदलं कमलं चिन्त्यते । तत्कर्षिकायां 'अर्द्ध' लिखितं चिन्त्यते । तत्पत्रेषु षोडश स्वराः लिखिताश्चिन्त्यते । हृदयमध्ये अष्टदलं कमलं अर्धोमुखं स्थितं अष्टकर्मवृत्तं

चिन्त्यते । सर्वकारेभ्यो रक्षाभिर्मंडलस्थितेभ्योऽभिज्ञवाला निर्गच्छन्त्यभिन्त्यते । ताभिः शरीरं दहते बहिः, अभ्यन्तरे 'अहं' अक्षरस्थितेऽन्तःस्थे भूमौ निर्गच्छन् चिन्त्यते । तन्मध्यात्स्फुलिङ्गा निर्गच्छन्तभिन्त्यन्ते । ताभिश्चदलं कमलं दहते । इति शरीरं कर्माणि च भस्मभूतानि चिन्त्यन्ते । टंकोत्कीर्णस्फटिकविम्बसदृश आत्मा स्थित इति चिन्त्यते । इति आग्नेयीधारणा । तदनन्तरं वायुमण्डलं चिन्त्यते, तेन तद्रस्म उद्धा-
र्यते । इति मादृतीधारणा । तदनन्तरं वरुणमण्डलं चिन्त्यते, तेनात्मा प्रज्ञाल्यते । इति वादृणी-
धारणा । तदनन्तरं समवसरणमंडित आत्मा केवलज्ञानमंडितः कोटिभास्करतेजाः निर्ग्रन्थादिभिर्द्वादशगणै-
र्नम्यमानभिन्त्यते । इति तात्त्विकीधारणा । एवं पञ्चविधा धारणा (६) । आर्चनौघ्रपरिहारेण यत्
धर्मशुक्लप्यानद्वयं क्रियते, तदज्ञानम् (७) । आत्मरूपे स्थीयते जलभूतघटवत् निश्चलेन भूयते स समाधिः (८) ।
एवमहाज्ञो योगो यस्य विद्यते स योगीत्युच्यते (१) । उक्तञ्च—

तत्त्वे पुमान् मनः पुंसि मनस्यथकदम्बकम् ।
यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः ॥

प्रव्यक्तनिर्वेदः—प्रव्यक्तः स्फुटो मुलकमलविकाससूचितो निर्वेदः संसार-शरीर-भोगवैराग्यं यस्य स
प्रव्यक्तनिर्वेदः (२) । उक्तञ्च—

भवतशुभोयविरत्तमशु जो भप्पा उक्ताएह ।
तासु गुस्वकी वेस्वडा संसारिणि तुष्टेह ॥

साम्यारोहणतत्परः—साम्यस्य समापेरोहणे चटने तत्परः, अनन्यवृत्तिः साम्यारोहणतत्परः
(३) । उक्तञ्च—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिञ्च योगरचेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥

सामयिकी—सर्वजीवानां समतापरिणामः सामयिकम् । सम्यक् अयः समयः शुभावहो त्रिधि-
बैनधर्मः, समय एव सामयिकम् । स्वार्थे शैविक^१ इकष् । सामयिकं सर्वसाद्ययोगविरतिलक्षणं विद्यते
यस्य स सामयिकी । अथवा सा लक्ष्मीर्भाया यस्य स सामायः, सर्वार्थि (किं) समूहः; स विद्यते यस्य स
सामायी । सामायी एव सामायिकः । स्वार्थे कः । सामायिकां गणधरदेवसमूहो विद्यते यस्य स सामायिकी ।
इन् अस्त्यर्थे (४) । सामायिकः—समयं जनधर्मं नियुक्तः सामयिकः । इकष् (५) । नि प्रमादः—
निर्गतः प्रमादो यस्य स निःप्रमादः । (५) । उक्तञ्च—

विकहा तह य कसाया ह्'द्वय शिहा तहेव पयजो य ।
चदु चदु पयमेगेगे होति पमादा य पयथरसा ॥

अप्रतिक्रमः—न विद्यते प्रतिक्रमो यस्य स अप्रतिक्रमः । कृतदोषनिपकरणं प्रतिक्रमणम् । ते तु
दोषाः स्वामिनो न विद्यन्ते तेन प्रतिक्रमणमपि न करोति, ध्यान एव तिष्ठति तेन अप्रतिक्रमः (७) ।

यमः प्रधाननियमः स्वभ्यस्तपरमासनः ।

प्राणायामचणः सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रियः ॥७३॥

यमः—यमो यावज्जीवननियमः, तद्योगात् स्वाम्यपि यमः, सर्वसाद्ययोगोपरतत्वात् (८) । प्रधान-
नियमः—प्रधानो मुख्यो नियमो यस्य स प्रधाननियमः (९) । उक्तञ्च—

१ इ स्वार्थे शैविकम् ।

विद्यमो यमञ्च विहितौ द्वेषा भोगोपभोगसंहारे ।

विद्यमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो विद्यते ॥

स्वभ्यस्तपरमासनः—सुष्ठु अतिशयेन अभ्यस्तमनुरीक्षितं आसनं पद्मासनं येन स स्वभ्यस्त-परमासनः । किञ्चिद्गुणकोटिपूर्वपर्यन्तं भगवान्, खलु पद्मासनेनोपविष्टो हि धर्मोपदेशं ददाति । अचन्त्येन विंशद्दशपर्यन्तमेकासनेन पद्मासनेन तिष्ठति । मध्ये नानाविधकालपर्यन्तं शतव्यम् । अथवा सुष्ठु अति-शयेन अभ्यस्ता मुक्ता या परमा परमलक्ष्मीस्तां अस्यति त्यजति निःक्रमणकाले यः स स्वभ्यस्तपरमासनः (१०) । प्राणायामचरणः—प्राणायामे कुम्भक-पूरक-रेचकादिश्चक्षणे वायुप्रचारे (चणो) विचो विचक्षणाः प्रवीणाः प्राणायामचरणः । विचो चंचु चणौ इति तद्वितः चरणप्रत्ययः (११) । तथा चोक्तम्—

मन्दं मन्दं क्षिपेद्वायुं मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत् ।

न क्वचिद्धार्यते वायुर्न च शीघ्रं विमुच्यते ॥

तथा चोक्तम्—

खासविशिख्यगुड सप्तडा शंभरि जल्यु विलाह ।

तुष्टह मोहु तडित्ति तदि मखु १अत्यवखहं जाह ॥

सिद्धधर्मप्रत्याहारः—सिद्धः प्राप्तिमायातः प्रत्याहारः पूर्वोक्तनिर्विषय बीजाक्षरललाटस्थापनं मनो यस्य स सिद्धप्रत्याहारः (१२) । जितेन्द्रियः जितानि विषयसुखपराङ्मुखीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-ग्राह-चक्षुःश्रोत्रलक्षणानि येन स जितेन्द्रियः (१३) । निरुक्तं तु—

जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्यात्मनमात्मना ।

गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥

धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठः समाधिराट् ।

स्फुरत्समरसीभाव एकी करणनायकः ॥७४॥

धारणाधीश्वरः—धारणा पूर्वोक्ता पञ्चविधा, तस्यां अधीश्वरः समर्थो धारणाधीश्वरः । अथवा धारणा जीवानां स्वर्ग मोक्षयोः स्थापना, तस्या धीर्बुद्धिधारणाधीः भव्यजीवानां स्वर्गे मोक्षे च स्थापना बुद्धिस्तस्या ईश्वरो रत्नत्रयदानसमर्थस्तद्विना तद्द्रव्यं न भवतीति कारणात् धारणाधीश्वरः, मोक्षहेतुरत्नत्रय-बुद्धिदायक इत्यर्थः (१४) । इत्यनेन—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वन्नमेव वा ॥

इति निरस्तम् । धर्मध्याननिष्ठः—धर्मध्याने आशापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणे न्यतिशयेन तिष्ठतीति धर्मध्याननिष्ठः (१५) । समाधिराट्—समाधिना शुक्लध्यान-केवलज्ञानलक्षणेन राजते शोभते समाधिराट् (१६) । स्फुरत्समरसीभावः—स्फुरत् अतिशयेन चित्ते चमत्कुर्वन् समरसीभावः सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धिकत्वभावा इति परिणामः समरसीभावो यस्य स स्फुरत्समरसीभावः । अथवा स्फुरत् आत्मनि समरसीभाव एकलोलिभावावो यस्य स स्फुरत्समरसीभावः (१७) । एकी—एक एव अद्वितीयसंकल्प-विकल्प-रहित आत्मा विद्यते यस्य स एकी । अथवा एके एकसदृशा आत्मनो जीवा विद्यन्ते यस्य स एकी (१८) । उक्तञ्च वेदान्ते—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाद्बुद्धिजायतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

करुणानायकः—करुणानां पञ्चानामिन्द्रियाणां मनःपट्टानां स्व-स्ववियोगमननिषेधे नायकः समर्थः करुणानायकः । अथवा करुणशब्देन परिणामा उच्यन्ते, तेषां त्रिविधानामपि नायकः प्रवर्तकः । (१६) । तथा चोक्तं जिनसेनपादैः—

करुणप्रयाथापत्यम्बकयेऽर्षपदामि वै । ज्ञेयान्यसूनि सूत्रार्थसंज्ञावर्णनैरनुक्रमात् ॥
करुणाः परिणामाः ये विभक्ताः प्रथमे चरणे । ते भवेदुद्धृतीयेऽस्मिन् चरणेऽन्ये च पृथग्विधाः ॥
द्वितीयचर्यासम्बन्धिपरिणामकदम्बकम् । तत्रान्यच्च तृतीये स्यादेवमाचरमक्षयात् ॥
ततश्चाथ प्रवृत्ताक्यं करुणं तन्निदृश्यते । अपूर्वकरये नैवं ते ह्यपूर्वाः प्रतिचक्षणम् ॥
करुणे त्वनिवृत्ताक्ये न निवृत्तिरिहागिनाम् । परिणामैर्भिद्यस्ते हि समा भावाः प्रतिचक्षणम् ॥
तत्रार्थं करुणे नास्ति स्थितिघाताद्युपक्रमः । हापयन् केवलं शुद्धयन् बन्धं स्थित्यनुभागयोः ॥
अपूर्वकरयेऽप्येवं किन्तु स्थित्यनुभागयोः । हन्यादग्रं गुणश्रेयसां कुर्वन् संक्रमनिर्जरे ॥
तृतीये करुणेऽप्येवं घटमानः पटिदृषीः । अकृत्वान्तरमुक्त्वाद्यत् कर्मारिन् बोद्धशाष्ट च ॥
गयोरथाद्योर्नामप्रकृतीर्नियतोदयाः । स्थानगुद्धिन्निकं चास्येद् घातेनैकेन योगिराट् ॥
ततोऽष्टौ च कषायस्तान् हन्यादध्यात्मतरविवत् । पुनः कृतान्तरः शेषाः प्रकृतीरप्यनुक्रमात् ॥
अरवकर्णक्रिया कृष्टिकरणादिश्च यो विधिः । सोऽत्र वाच्यस्ततः सूक्ष्मसम्परायत्वसंश्रयः ॥
'सूक्ष्मीकृतं ततो लोभं जयन् मोहं व्यजेष्ट सः । कश्चितो ह्यरिस्त्रोऽपि सुजयो विजिगीषुषा' ॥

एवमथःप्रवृत्तकरुण अपूर्वकरुण-अनिवृत्तिकरुणलक्षणस्यैव करुणास्तेषां नायकः प्रवर्तकः करुणानायक इत्युच्यते (१६) ।

निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्रः ऋषिः साधुर्यतिर्मुनिः ।

महर्षिः साधुचौरयो यतिनाथो मुनीश्वरः ॥७४॥

निर्ग्रन्थनाथः—निर्ग्रन्थानां चतुर्विधमुनीनां नाथो निर्ग्रन्थनाथः । उक्तञ्च—

निर्ग्रन्था शुद्धसुलोत्तरगुणमणिभिर्भेजंगारा इतीषुः ।
संज्ञा ब्रह्मादिवर्णैर्भूषय इति च ये बुद्धिलव्यादिसिद्धेः ।
श्रेयोरारोहणैर्वै यतय इति समप्रतराप्यक्षबोधै-
र्ये मुन्यासथा च सर्वान् प्रमुमह इह तानर्धयामो मुमुक्षुन् ॥

निर्ग्रन्थनाथ इति द्वादशगुणस्थानवर्ती । ब्रह्मादिसिद्धेरिति कांऽर्थः ? बुद्धिलव्या औपधलव्या^१ च ब्रह्मर्षिः । विक्रियालव्या अर्दीयमहानसालयलव्या च राजर्षिः । विद्यदृगमनलव्या देवर्षिः । केवलज्ञानवान् परमर्षिः (२०) । उक्तञ्च—

देशप्रत्यक्ष-बल्केवलभृदिह मुनिः स्यादपिः प्रोद्धृ तद्धिं-
रारूढश्रेणियुस्योऽजनि^२ यतिरनगारोऽपरः साधुरुक्तः ।
राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाऽधीशक्ति-
प्राप्तो बुद्धयौषधीशो विद्यदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥

योगीन्द्रः—योगिनां ध्यानिनाभिन्द्रः स्वामी योगीन्द्रः (२१) । ऋषिः—रिषी^३ ऋषी गतौ । ऋषति गच्छति बुद्धिः ऋदि औषधार्द्धि विक्रियार्द्धि अर्दीयमहानसालयार्द्धि विद्यदृगमनार्द्धि केवलज्ञानार्द्धि प्राप्नोतीति ऋषिः । 'यनाम्युपधा' क्तः । अथवा रिष ऋषी ह्यदान-संबन्धयोः (२२) ।

१ इ लक्ष्मीकृतं च लक्ष्मीकृतं । २ महापुराण, पर्व २०, श्लोक २४६-२६० ।

३ अ यद्धं वा । ४ अ जनयति । ५ इ ऋषि ।

रेफयाक्तेशराह्नीनाऋषिमाहुर्मनीषिष्वः ।

मान्यत्वादात्मविद्यानां महर्षिः कीर्त्यते मुनिः ॥

साधु—साधयति रत्नत्रयमिति साधुः । कृ वा पा ङि मि स्वदि साध्य सुदयसि जनि चरि चटिन्व उवृ । (२३) । यतिः—यतते यत्नं करोति रत्नत्रये इति यतिः । सर्वेषामुत्पन्न इः (२४) । निरुक्तं तु—
यः पापपाहनाग्राय यतते स यतिर्भवेत् ॥

मुनिः—मन्यते जानाति प्रत्यक्षप्रमाणेन चराचरं जगदिति मुनिः । मन्यते किन्त उवृ (२५) । महर्षिः—महांश्चासौ ऋषिः ऋद्धिसम्पन्नः महर्षिः (२६) । उक्तञ्च—

रिसिषो रिद्धि^२पचयथा मुषिषो पचकत्वाविषो षेवा ।

अहयो कसायमहया सेसा मय्यारया भविष्या ॥

साधुधौर्येयः—साधूनां रत्नत्रयसाधकानां धुरि नियुक्तः साधुधौर्येयः । स्वयम्वादेरेषष् (२७) । यतिनाथः—यतीनां निःकथायाणां नाथः स्वामी यतिनाथः (२८) । तथा च लौकिकं वाक्यम्—

पक्षिणां काकर्चाढालः पशुर्षाढालगर्दभः ।

यतीनां कोपर्षाढालः सर्वेषाढालनिन्दकः ॥

मुनीश्वरः—मुनीनां प्रत्यक्षशानिनामीश्वरो मुनीश्वरः (२९) ।

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महाव्रती ।

महाक्षमो महाशीलो महाशान्तो महादमः ॥३६॥

महामुनिः—महांश्चासौ मुनिः प्रत्यक्षशानी महामुनिः (३०) । महामौनी—मुनिषु शानिषु भवं मौनम् । मौनं विद्यते यस्य स मौनी । महंश्चासौ मौनी महामौनी । वर्षसहस्रपर्यन्तं खल्वादिनाथो न धर्ममुपदिदेश । इंदराः स्वामी महामौनी भण्यते (३१) । महाध्यानी—ध्यानं धर्म-शुक्लध्यानं द्वयं विद्यते यस्य स ध्यानी । महंश्चासौ ध्यानी महाध्यानी (३२) । महाव्रती—महाव्रतानि प्राण्यातिपातपरिहारानृतवचनपरित्यागाचौर्यव्रतब्रह्मचर्याकिंचन्य-रजनीभोजन परिहारलक्ष्यानि विद्यन्ते यस्य स व्रती । महान् इन्द्रादीनां पूज्यो व्रती महाव्रती (३३) । महाक्षमः—महती अनन्यसाधारण्या क्षमा प्रशमो यस्य स महाक्षमः (३४) । उक्तञ्च—

आक्रुष्टोऽहं हतो नेव हतो वा न द्विषाकृतः ।

मारितो न ह्रतो धर्मो मदीयोऽजेन बन्धुजा ॥

महाशीलः—महान्ति अष्टादशसहस्रगणानि शीलानि व्रतरक्ष्योपाया यस्य स महाशीलः । कानि तानि अष्टादशशीलसहस्राणीति चेदुच्यते—आशाधरमूलाचारग्रन्थे चतुर्थाध्याये एकसप्तत्यधिकशततमे श्लोकेऽयं विचारः ।

शीलं व्रतपरिरक्षयमुपेतु श्रुभयोगवृत्तिमितरहितम् ।

संज्ञाचरितिदोषौ क्षमादिवसमलात्पर्यं चमार्दीश्व ॥

गुणाः संयमविकल्पाः, शृङ्खलः कायसंयमाः ।

सेव्याऽर्हिस्ताऽऽर्षिताऽऽपिताऽऽक्रमाद्यमहावर्जनाः ॥

शुभयोगवृत्ति उपैतु-शुभमनोवचनकाययोगाः ३ । इतर-हति उपैतु-अशुभमनोवचनकायान् श्रीन् शुभमनवा हन्तु, इति त्रीणि । अशुभमनोवचनकायान् शुभवचना हन्तु, इति षट् । अशुभमनोवचनकायान् शुभकायेन हन्तु, इति नव । एतं नव संज्ञामिगुणिता षट्त्रिंशत् । ते इन्द्रियैः सह गुणिताः अशीत्यधिकं शतं १८० । क्षमादियममलाल्यम्-पृथ्वी अप् तेजो वायु वनस्पति द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंश्लिषंशिपंचेन्द्रिय इति दशाभिगुणिता अष्टादशशतानि भवन्ति १८०० । क्षमादीक्ष-उत्तमक्षमादिभिर्दशभिगुणिता अष्टादश सहस्राणि भवन्ति १८००० । अथवा अशीत्यधिकद्विंशताप्रसप्तदशसहस्राणि चैतन्यसम्बन्धीनि भवन्ति १७२८० । विशात्यधिकसप्तशतानि अचैतन्यसम्बन्धीनि ७२० । देशी मानुषी तिरक्षीति तिस्रः कृतकारितानुमतगुणिता नव ९ । मनोवचनकायगुणिताः सप्तविंशतिः २७ । स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैर्गुणिता पंचत्रिंशदधिकं शतं १३५ । द्रव्यभावगुणिताः सप्तत्यधिके द्वे शते २७० । संज्ञामिगुणिता अशीत्यधिकं सहस्रं १०८० । अनन्तानुबन्ध-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलनषोडशभिगुणिता अशीत्यधिकद्विंशतसप्तदशसहस्राणि भवन्ति १७२८० । इति चैतन्यसम्बन्धिभेदाः । अचैतन्यकृतभेदाः कथ्यन्ते—काष्ठ-पाषाण-लेपकृताः स्त्रियः मनःकायकृतगुणिताः षट् । कृत-कारितानुमतगुणिता अष्टादश १८ । स्पर्शादिपंचगुणिता नवतिः ९० । द्रव्य-भावगुणिता अशीत्यधिकं शतं १८० । कथावैश्वभिगुणिताः विशात्यधिकानि सप्तशतानि ७२० । एकत्र १८०००० । अथ गुण्याः कथ्यन्ते ८४०००००० ।

हिंसा^१ऽजुर्त^२ तथा स्तेवं^३ सैयुनं^४ परिग्रहः^५ ।
 क्रोधादयो जुगुप्सा च^६ भय^७ मप्यरती^८ रतिः^९ ॥
 मनोवाक्कायबुद्धत्वं^{१०} मिथ्यात्वं^{११} सप्रमादकम्^{१२} ।
 विसुनत्वं^{१३} तथाऽज्ञानसहाया^{१४} वाऽप्यनिग्रहः^{१५} ॥

तेषां वर्जनानि एकविंशतिः । २१ अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार-अनाचारैश्चतुर्भिगुणिताश्च-तुरशीतिः ८४ । दशकाय-संयमैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि ८४०० । ते आर्कपितादिभिर्दशभिगुणिताश्च-तुरशीतिसहस्राणि ८४०००० । दशधर्मैर्गुणिताश्चतुरशीतिलक्षाः ८४०००००० । आर्कपितादीनां दशानां भाषा यथा—

आर्कपिय अणुमाणिय जं दिट्टं वायरं च सुदुर्मं च ।
 क्षुण्यं सहाउलयं बहुजयमभवत् तस्सेवी ॥

दशकायसंयमाः के ?

पंचस्थावररक्षा विकलत्रयरक्षा पंचेन्द्रियसंज्ञयसंज्ञी ।
 तद्रक्षा इति दश दश संयमसंयतान् धंदे ॥

अथवा—महत नवविधं शीलं यस्य स महाशीलः । के ते नवविधाः ? मनोवचनकायैः कृतकारि-तानुमोदैर्नव भवन्ति । अथवा—

इत्थिविसयाहिल्लासो भंगविभोवक्तो य पश्चिदरससेवा ।
 संसत्तदम्बसेवा तद्दिदिथाक्षोयथां येव ॥
 सक्कारपुरकारो^२ अदीवसुमरथमथागादहिल्लासो ।
 इट्टविसयसेवा वि य नवनेव्मिदं अर्बं नु ॥

एतानि नव विपरीतानि नवविधत्रहस्रचर्याणि भवन्ति । तानि महान्ति शीलानि यस्य स महाशीलः (३५) ।

महाशान्तः—महाभाष्ये शान्तो रागद्वेषरहितः कर्ममलकलंकरहितो वा महाशान्तः । अथवा महत् शं सुखं अन्तः स्वभावो यस्य स महाशान्तः । अथवा महत्या आशाया बांछाया अन्तो विनाशो यस्य स महाशान्तः (३६) । उक्तञ्च—

राग-द्वेषौ यदि स्वातां तपसा किं प्रयोजनम् ।
तापेव यदि न स्वातां तपसा किं प्रयोजनम् ॥

अन्यच्च—

जं मुचि जहद् अर्थात् सुदु खियमन्पा कायंत् ।
तं सुदु इंदु वि खवि जहद् देविहिं कोटि रमंतु ॥

अन्यच्च—

आहागतं प्रतिप्राणि यस्मिन् विचमलूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति दृष्टा यो विषयैचिता ॥

महादमः—महान् दमस्तपःक्लेशलक्षित्वा यस्य स महादमः । अथवा महान् सर्वप्राणिगणारज्ञा-
लक्षणां दो दानं महादमः । महादे महादाने मा लक्ष्मीर्यस्य स महादमः (३७) । तथा चोक्तं—विश्व-
शम्भुमुनिप्रणीतायामेकाक्षरनाममालायाम्—

दो दाने पूजने जीवो दाने शीण्डे च पालके ।
देवे दीक्षी दुराचर्ये दो मुजे दीर्घदेशके ॥
दयान्या दमने दीने दंष्ट्रकेऽपि दः स्तूतः ।
बद्धे च बन्धने बोधे बाधे बीजे बलीदिते ॥
विदोषेऽपि पुमानेव चालने^१ बीवरे वरे ।

निर्लेपो निर्भ्रमस्वान्तो धर्माध्यक्षो दयाध्यक्षः ।
ब्रह्मयोनिः स्वयंबुद्धो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्वचित् ॥७७॥

निर्लेपः—निर्गतो निर्गद्यो लेपः पापं कर्ममलकलंको यस्य स निर्लेपः । अथवा निर्गतो लेप
आहाये यस्य स निर्लेपः (३८) । उक्तञ्च—

रवेतद्भ्येऽज्ञाने चापि लेपने क्षेप उच्यते ॥

निर्भ्रमस्वान्तः—निर्भ्रमं तत्त्वे भ्रान्तिरहितं स्वान्तं मनोरथो यस्य स निर्भ्रमस्वान्तः, संशय-विमोह-
विभ्रमरहिततत्त्वप्रकाशक इत्यर्थः (३९) । धर्माध्यक्षः— धर्मे चारित्रे अभ्यक्षः अधिकृतः अधिकारी नियोग-
वान् नियुक्तो न कमपि धर्मविषयं कर्तुं ददाति धर्माध्यक्षः । अथवा धर्मस्य आधिष्ठिता धर्माधिः ।
धर्माधौ धर्माचिन्तायां अज्ञो ज्ञानं आत्मा वा यस्य स धर्माध्यक्षः । उक्तञ्च—

आहाकण्यक-विचरि-व्यसनेषु तथैव च ।
अधिष्ठाने च विद्वज्जिराधिष्ठानो नरि स्तूतः ॥

अथवा धर्मादौ धर्माचिन्तायामक्षाणीन्द्रियाणि यस्य स धर्माध्यक्षः (४०) । उक्तञ्च—

अक्षमिन्द्रियमित्युक्तं तुच्छं सौर्वचलं तथा ।
अक्षो रावया तुक् चाल्सा ज्ञानं कर्षव सूचिका ॥
पासकं शकटं कीलो रथस्य च विनीतकः ।
व्यवहारो मन्वाथेषु पुंस्वयं परिकीर्तितः ॥

दयाध्यक्षः—दया ध्वजा पताका यस्य स दयाध्यक्षः । अथवा दयाया अध्वनि मार्गं जायते, योगिनां प्रत्यक्षो भवतीति दयाध्यक्षः । अथवा दया ध्वजा लाङ्घनं यस्य स दयाध्यक्षः (५१) । **ब्रह्मयोगिः**—ब्रह्मणस्तपसो ज्ञानस्यात्मनो मोक्षस्य चारित्रस्य वा योनिरुत्पत्तिस्थानं ब्रह्मयोगिः (५२) । उक्तञ्च—

आत्मनि बोधे ज्ञाने हृत्ते ताते च भरतराजस्य ।
ब्रह्मेति शीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा^१ ॥

स्वयंबुद्धः—स्वयं आत्मना गुह्यमन्तरेण बुद्धो निर्वेदं प्राप्तः स्वयंबुद्धः (५३) । उक्तञ्च—
निश्चिरा तत्तत्त्वा निष्पदिजेहा य अवहिद्यास्वी य ।
विगुह्यमा अरुंता विद्यन्मा ह्येति सिद्धा य ॥

ब्रह्मज्ञः—ब्रह्मणमात्मानं ज्ञानं तपश्चारित्रं मोक्षं च जानातीति ब्रह्मज्ञः (५४) । **ब्रह्मतत्त्ववित्**—ब्रह्मणो मोक्षस्य ज्ञानस्य तपसश्चारित्रस्य च तत्त्वं स्वरूपं हृदयं मर्मं वेतीति जानातीति ब्रह्मतत्त्ववित् (५५) ।

पूतात्मा स्नातको दान्तो भवन्तो बीतमत्सरः ।
धर्मशुक्लायुधोऽक्षोभ्यः प्रपूतात्माऽमृतोद्भवः ॥७०॥

पूतात्मा—पूतः पवित्रः कर्ममलकलंकरहित आत्मा स्वभावो यस्य स पूतात्मा (५६) । **स्नातकः**—स्नातः कर्ममलकलंकरहितः द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितत्वात् पूतः प्रक्षालितः क आत्मा यस्य स स्नातकः (५७) । उक्तञ्च—

पुलाकः सर्वज्ञःक्षत्रो वकुलो भण्यबोधकः ।
कुक्षीले स्तोत्रचारित्रं मिश्रण्यो ग्रन्थहारकः ॥
स्नातकः केवलज्ञानी बोधाः सर्वे तपोब्रजाः ।

दान्तः—दान्तः तपःक्षेत्रज्ञः । अथवा दो दानं अभयदानं अन्तः स्वभावो यस्य स दान्तः (५८) । **भवन्तः**—भदन्त इन्द्र-चन्द्र-धरथोन्द्र-मुनीन्द्रादीनां पूज्यपर्यायत्वाद्भदन्तः । (५९) । **बीतमत्सरः**—बीतो विनष्टो मत्सरः परेषां शुभकर्मद्वेषो यस्य स बीतमत्सरः । अजेवी (५०) । उक्तञ्च **शुभमद्भवेवैः**—

उद्यु कलवं तपस्यस्याधिकमभिभवस्तव्यगच्छन् कषायाः
प्राभूदोघोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किन्तु दुर्लभमन्यैः ।
निष्पूरेऽपि प्रवाहे सज्जलमिवजनाभिप्रवेदोऽप्यवरयं
मात्सर्यमन्ते स्वतुर्यैर्भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि ॥

धर्मशुक्लायुधः—धर्म एव शुद्धः स्वर्ग-मोक्षफलप्रदायित्वात् । धर्मशुद्धः, स एव आयुधं प्रहरणं, कर्मरानुनिपातनत्वात् । धर्मशुद्धः आयुधं यस्य स धर्मशुक्लायुधः । (५१) । **अक्षोभ्यः**—न क्षोभयितुं चारित्राञ्चालयितुं शक्यः अक्षोभ्यः । हेराविति सति स्वराधः कारितस्थानामिद् विकरथे । इतो लोपे रूपमिदम् । अथवा अक्षेण केवलज्ञानेन उच्यते^२ उच्यते पूर्वति^३ अक्षोभ्यः (५२) । **प्रपूतात्मा**—प्रकथंय पूतःपवित्र आत्मा यस्य स प्रपूतात्मा । अथवा प्रपुनाति प्रकथंय पवित्रयति भण्यबीवान् इति प्रभूः, पवित्र-कारकः सिद्धपरमेष्ठी । तस्य ता लाङ्गीरनन्तचतुष्टयं तथा उपलक्षित आत्मा स्वभावो यस्य स प्रपूतात्मा, सिद्ध-स्वरूप इत्यर्थः (५३) । **अमृतोद्भवः**—अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र तत् अर्पतं मोक्षः, तस्य उद्भव उत्पत्तिर्मन्यानां यत्मादवायमृतोद्भवः । अथवा मृतं मरणम्, उद्भवो जन्म । मृतं च उद्भवश्च मृतोद्भवौ । न विद्येते मृतोद्भवौ मरण-जन्मनी यस्य स अमृतोद्भवः (५४) ।

१ इ ब्रह्म । २ अ उच्यते इति पाठो नास्ति । ३ अ उच्यते ।

मन्त्रमूर्तिः स्वसौम्यात्मा स्वतन्त्रो ब्रह्मसम्भवः ।

सुप्रसन्नो गुणाम्भोधिः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥ ७६ ॥

मंत्रमूर्तिः—मंत्रः एतौ अरहंताणं इति उताक्षरो मंत्रः, स एव मूर्तिः स्वस्वयं यस्य स मंत्रमूर्तिः । विप्रान्तु—ईषित्वोर्जिज्ञेवा वायवः स्व देवो वः सविता प्रार्थयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे इत्यादि चत्वारिंशदध्यायान् मन्त्रं भवन्ति । स इह भिषो मंत्रः पापवेदांशो' मूर्तिः काठिन्यं हिंसाकर्महेतुत्वात् निर्दयत्वं यस्य मते स मन्त्र-मूर्तिः । अथवा मन्त्रः स्तुतिः, स मूर्तिः यस्य स मन्त्रमूर्तिः । मन्त्रं स्तुतिं कुर्वन्तो भगवन्तं प्रत्यहं पश्यन्तीति कारणात् मन्त्रमूर्तिः । उक्तञ्च—

त्रिदशेन्द्रमौलिमधिरलकिरविसरोपसुवितम् ।

पादयुगलममलं भवतो विकसकुण्डलोद्यद्वाराण्योदरम् ॥

नखचन्द्ररश्मिकवचासिद्धिचरशिखरगुणिस्यलम् ।

स्वार्थनियतमनसः सुखिचः प्रथमन्त्रि मन्त्रमुक्त्वा महर्षयः ॥

अथवा मन्त्रेण गुप्तभाषणेन तालवो धाद्यचलनेनोपलक्षिता मूर्तिः शरीरं यस्य स मन्त्रमूर्तिः (५५) । स्वसौम्यात्मा—स्वेन आत्मना स्वयमेव परोपदेशं विनैव सौम्योऽक्रूरः आत्मा स्वभावो यस्य स स्वसौम्यात्मा (५६) । स्वतन्त्रः—न पराधीनः स्वः आत्मा तन्त्रं शरीरं यस्य । स्वः आत्मा तन्त्रं इति कर्तव्यता यस्य । स्वः आत्मा इहलोक-परलोकलक्षणद्वयार्थसाधको यस्य स स्वतन्त्रः । स्वः आत्मा तन्त्रं कर्ण्यं यस्य स स्वतन्त्रः । स्वः आत्मा तन्त्रं शास्त्रं यस्य स स्वतन्त्रः । स्वः आत्मा तन्त्रं परिच्छेदो यस्य स स्वतन्त्रः । स्वः आत्मा तन्त्रं औषधं यस्य स स्वतन्त्रः । स्वः आत्मा तन्त्रं कुटुम्बकृत्यं यस्य स स्वतन्त्रः । स्वः आत्मा तन्त्रं प्रधानो यस्य स स्वतन्त्रः । स्वः आत्मा तन्त्रं सिद्धान्तो यस्य स स्वतन्त्रः (५७) । उक्तञ्च—

इति कर्तव्यतायां च शरीरे द्वयर्थसाधके ।

भुतिशास्त्रान्तरे राष्ट्रं कुटुम्बकृति चौषधे^२ ॥

प्रधाने च परिच्छेदे करणे च परिच्छेदे ।

तन्तुवाने च शास्त्रे च सिद्धान्ते तन्त्रमिष्यते ॥

ब्रह्मसम्भवः— ब्रह्मण आत्मनश्चारित्रस्य ज्ञानस्य मोक्षस्य च सम्भव उत्पत्तिर्यस्मात् स ब्रह्मसम्भवः । अथवा ब्रह्मणः क्षत्रियात् सम्भव उत्पत्तिर्यस्य स ब्रह्मसम्भवः । अथवा ब्रह्मा धर्मदृष्टिकारकः, स चासौ सं समीचीनो भवः पापदृष्टिप्रलयकारकः ब्रह्मसम्भवः (५८) । सुप्रसन्नः— सुष्ठु अतिशयेन प्रसन्नः प्रहृषितवदनः स्वर्गमोक्षवरदायको वा सुप्रसन्नः (५९) । गुणाम्भोधिः— गुणानां अनन्तकेवलज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्त-वीर्य-अनन्तशील्य-सम्यक्स-वस्तुत्व-प्रमाणत्व-प्रमेयत्व-चैतन्यादीनां अनन्तगुणानां अम्भोधिः समुद्रः गुणाम्भोधिः । अथवा गुणानां चतुरशीतिलक्षाणां अम्भोधिः गुणाम्भोधिः । के ते चतुरशीतिलक्षगुणाः ?

हिंसाऽनृतं तथा स्तेयं मैथुनं च परिग्रहः ।

क्रोधादयो जुगुप्सा च भयमप्यरती रतिः ॥

मनोवाङ्मायदुष्टत्वं मिथ्यात्वं सप्रमादकम् ।

पिष्टुवस्वं तथाऽज्ञानमजायां चाप्यनिग्रहः ॥

एतेषामेकविंशतेर्वर्जानि एकविंशतिगुण्या भवन्ति । ते च अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतीचार-अनाचारैश्च-
दुर्मित्युत्पिताश्चतुरशीतिर्भवन्ति । उक्तञ्च—

मनसः शुद्धिर्नाहोऽतिक्रम इति च व्यतिक्रमो ज्ञेयः ।
 शीलवृत्तेषु विलंबनमतिचारो विषयवर्तनं चैव ॥
 विषयेष्वतिसक्तिरियं प्रोक्तोऽनाचार इह महामतिभिः ।
 इति चत्वारः सुधिषा विवर्जनीया गुणप्राप्ती ॥

ते च चतुरशीतिगुणाः, दशकायसंयमैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि भवन्ति । ते चाकर्षिताद्यमावदशकेन गुणिताश्चतुरशीतिसहस्रा भवन्ति । ते च दशधर्मेर्गुणिताश्चतुरशीतिलक्षा भवन्ति (६०) । **पुण्यापुण्य-निरोधकः**—पुण्यं च शुभकर्म, अपुण्यं च पापकर्म, सद्ब्रह्मभायुर्नामगोब्राह्मि पुण्यम् अतोऽन्यत्पामिति वचनात् । पुण्यापुण्ययोर्निरोधको निषेधकारकः पुण्यापुण्यनिरोधकः । संवरवले भगवति न पुण्यामासवति, न च पापमासवति, द्वयोरपि निषेधक इत्यर्थः (६१) ।

सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सिद्धात्मा निरुपप्लवः ।
महोदर्को महोपायो जगदेकपितामहः ॥८०॥

सुसंवृतः—सुष्टु अतिशयेन संवृणोति स्म सुसंवृतः, अतिशयवद्विशिष्टसंवरयुक्त इत्यर्थः । उक्तञ्च-

वदसमिर्दंशुत्तीभो धम्माच्छुपिहा परोसहजञ्जो य ।
 चारिसं बहुमेया श्याय्वा भावसंवरविसेला ॥

अस्यायमर्थः—पञ्च महाव्रतानि, पञ्च समितयः, तिस्रो गुप्तयः, दशलाक्षाणि को धर्मः, द्वादशानुपेक्षाः, द्वाविंशतिः परंपहजयः, सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहार्यविशुद्धिःसूक्ष्मताम्परय-यथाख्यातलक्षणं पञ्चविधं चारित्र्यम् । एते प्रत्येकं बहुभेदा भावसवरविशेषा शतान्याः (६२) । **सुगुप्तात्मा**—सुष्टु अतिशयेन गुप्तः आसुवद्विशेषाभ्यामगम्यः, आत्मा टंकोत्कीर्णशायकैकस्वभाव आत्मा जीवा यस्य स सुगुप्तात्मा; तिसृभिर्गुप्तिभिः संवृतत्वात् (६३) । **सिद्धात्मा**—सिद्धो ह्येतत्प्राप्तिमायातः आत्मा जीवो यस्य स सिद्धात्मा । अथवा सिद्धिभिर्भुवनत्रिभुवातः पृथिव्यादिभूतजनितत्वादिभिर्व्यादृष्टितत्त्वरहित आत्मा जायरूपं यत्न स सिद्धात्मा । अथवा सिद्धो मुक्त आत्मा यस्य स सिद्धात्मा (६४) । **निरुपप्लवः**—निर्गता निर्गन्धो मूलातुन्मूलितः समूलकायं कपितः उपप्लवः उत्पात उपसर्गो यस्य स निरुपप्लवः, तपोविष्णुरहितः पदमिदूरः । (६५) । उक्तञ्च—

प्राणस्य दुस्त्रिपासे द्वे मनसः शोकमोहने ।
 जन्मसृष्ट्व् शरीरस्य षड्मिरहितः शिवः ॥

महोदर्कः—महान् सर्वकर्मनिर्माञ्जलक्षणाऽनन्तकेवलशानादिलक्षणश्च उदकः उत्तरफलं यस्य स महोदकः । (६६) । **महोपायः**—महान् सम्यग्दर्शनशानचारित्र्यतपोलेक्षण उपायो मोक्षस्य यत्न स महोपायः (६७) । **जगदेकपितामहः**—जगतामषऊर्ध्वमभ्यलोकस्थितमन्यलोकानामेकोऽद्वितीयः पितामहः जनकजनको हितकारकत्वात् जगदेकपितामहः (६८) ।

महाकारणिको गुप्तो महाह्लेशांकुशः शुचिः ।
अरिजंघः सदायोगः सदाभोगः सदाधृतिः ॥८१॥

महाकारणिकः—कवणायां सर्वजीवदयायां नियुक्तः कारणिकः । महांश्चासौ कारणिको महा-कारणिकः, सर्वदेव मरणनिषेधक इत्यर्थः (६९) । **गुप्तः**—गुप्तोषु पूर्वोक्तेषु चतुरशीतिलक्षसंख्येषु नियुक्तः, साधुर्वा गुप्तः (७०) । **महाह्लेशांकुशः**—महान् तपःसंयमपरीपहवहनादिलक्षणो योऽसौ ह्लेशः कुच्छं स

एवांकुराः शृण्णिर्यस्यनेन्द्रोन्मार्गनिषेधकारकत्वात् महाकुराः (७१) । शुचिः— परमत्रयार्थपालनेन निजशुद्धबुद्धकस्वभावात्मपवित्रतीर्थनिर्मलभावनाजलप्रक्षालितान्तरंगशरीरत्वाच्चुचिः परमपवित्रः । उक्तञ्च—

आत्माऽशुद्धिकरैर्यस्य न संगः कर्मबुद्धनैः ।
स पुमान् शुचिरास्थायतो नाम्बुसंप्लुतमस्तकः ॥

अथवा कर्माष्टकाद्यसमुच्चयमस्मभावकरणाशक्तित्वात् शुचिरिमूर्तिः । जन्मप्रस्थित मलमूत्रपित्वाद्वा शुचिः । अन्यन्तरपापमलप्रक्षालनसमर्थनिलोभस्वचलस्नातत्वाद्वा शुचिः (७२) । अरिजयः— अरीन् अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहमहाशत्रून् जयति निर्मूलकायं कथति-अरिजयः । (७३) । सदायोगः— सदा सर्वकालं योगो आसंसारमलवधामलक्षणं परमशुद्धध्यानं यस्य स सदायोगः । (७४) । सदाभोगः— सदा सर्वकालं भोगो निजशुद्धबुद्धकस्वभावपरमात्मैकतोलीभावलक्षणपरमानन्दामृतरसास्वादस्वभावो भोगो यस्य स सदाभोगः । अथवा सन् समीचीन आभोगो मनस्कारो मनोव्यापारो यस्य स सदाभोगः (७५) । उक्तञ्च—

मुञ्जानोऽभ्युदयं चाहंन् जनैर्भोगीव हृदयते ।
शुचैर्भोगीव तत्त्वं तु जानासि स्वाहमेव ते ॥

सदाभूतिः— सदा सर्वकालं भूतिः संतोषो यस्य स सदाभूतिः, दिवा रात्रौ च सन्तोषवानित्यर्थः । रात्रिभोजनपरिहारपञ्चभावनायुक्त इति भावः । उक्तञ्च—

शिविद्वंशतो खमञ्जुषो ऋण्यजोगे परिद्विदो ।
परीसहार्णं^१ उरंविंशो उत्तमं वदमस्सिदो ॥

भूतिरित्युपलक्षणं एकत्वतपोभावनानाम् (७६) ।

परमौदासिताऽनाश्वान् सत्याशीः शान्तनायकः ।
अपूर्ववैद्यो योगज्ञो धर्ममूर्त्तिरधर्मघक् ॥८२॥

परमौदासिता— परम उत्कृष्टः उदासिता उदास्ते इत्येवंशीलः उदासिता । दृन् । उत्कृष्टौदासीन, शत्रु-मित्रतृणकांचनादिसमानचित्तो मध्यस्थपरिणाम इत्यर्थः (७७) । उक्तञ्च—

देधानाकृष्य लोके मम भवतु सुखी पुजंनरचेद्वधनार्थी,
तत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः ।
मध्यस्थस्त्वेवमेवास्त्रिमिह हि अगज्जायतां सौख्यराशिः,
मत्तो मा भूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पुङ्गवोमि ॥

अनाश्वान्— न आश, न भुक्तवान् अनाश्वान् । क्वंसुकामौ परोहावच चोषवत्योश्च कृति नेट् । अनारवान् अनारवांचौ अनारवांसः इत्यादिरूपाणि भवन्ति । अनाश्रुपा अनारवद्रवामित्यादि च (७८) । उक्तञ्च निरुक्तशास्त्रे—

योऽश्वस्तेषु विभक्तः शाश्वते पथि निष्ठतः ।
समस्तश्च शुचिरवास्वः सोऽनारवाभिह गीयते ॥

सत्याशीः— सत्यु भव्यजीवेषु योग्या सत्या, सत्यु निवोच्या सत्या, सद्गुणो हिता वा सत्या । सत्या सफला वा आशीः अन्नं दानमस्तु इत्यादिरूपा आशीराशीर्वाद्यो यस्य स सत्याशीः । ये केचन मुनयस्तेषा-
माशीर्दातुर्लभान्तरयवशात् कदाचिन्न फलति, अन्मान्ते तु फलत्येव । भगवत्सत्त्वाशीरिहलोके परलोके च

फलस्येव, तेन भगवान् सत्याशीरुच्यते (७६) । शान्तनायकः— शान्तानां रगद्वेषमोहरहितानां नायकः स्वामी, शान्तं मोक्षनगरं प्रापको वा शान्तनायकः । अथवा शन्तोऽङ्कुरः, स चासौ नायकः स्वामी शान्तनायकः । अथवा शान्तः सर्वकर्मरहितो मोक्षमृतस्य नायकः स्वामी शान्तनायकः । अथवा शस्य सुखस्य शान्तो विनाशो यस्मिन् शान्तः संसारः, तस्य न आयः आगमनं यस्य स शान्तनायकः । न भ्राट् नपादिति नस्य स्थितिः (८०) । अपूर्ववैद्यः— विद्या मंत्रौषधलक्षणा विद्यते यस्य स वैद्यः । प्रह्लादित्वात् साप्रत्ययः । स वैद्यो लोकानां व्याधिचिकित्सने किमपि फलमभिलषति तेन स वैद्यः सर्वेषामपि सपूर्वो दृष्टः भुतश्च विद्यते । भगवान् नु सर्वेषां जन्मप्रभृत्यपि व्याधितानां प्राणिनां नाममात्रेणापि व्याधिविनाशं करोति, कुष्ठिनामपि शरीरं सुवर्णशलाकासदृशं विदधाति, जन्मकरामरणां च मूलादुन्मूलयति तेन भगवान् अपूर्ववैद्यो वैद्यः अपूर्ववैद्यः (८१) ।

कायबालप्रहोर्षांगशस्यर्षद्वैजराष्ट्रवान् ।

अष्टावङ्गानि तस्याहुस्त्रिकित्सा येषु संभ्रता ॥

इत्यष्टाङ्गचिकित्साप्रवीणो घाग्मढो वैद्यो यदाह—

रागादिशोभान् सततानुपक्तानशेषकायप्रस्तानशेषान् ।

शौचसुखमोहारतिदान् जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥

अथवा पूर्वाणां उत्पादादिचतुर्दशपूर्वाणां विद्या श्रुतज्ञानं सा विद्यते यस्य स पूर्ववैद्यः श्रुतकेवली । न पूर्ववैद्यः अपूर्ववैद्यः, केवलज्ञानित्वाद्भूत इत्यर्थः । अथवा अपूर्वा आरंभारमप्राप्ता विद्या केवलज्ञानं विद्यते यस्य स अपूर्ववैद्यः । अथवा पूर्वमेव एकादशांगानि पठित्वा तीर्थकरनाम श्रुत्वा अपूर्वविद्यायां भवः अपूर्ववैद्यः (७१) । योगशः—योगं धर्मशुक्लप्यानद्वयं जानात्यनुभवति योगशः । योगं मनोवचनकायव्यापारं शुभमशुभं च जानाति योगशः । अत्रादयो हि द्राम्यतयः किल योगान् औषधप्रयोगान् जानन्ति, पापसूत्रे प्रवृत्तास्तेषामशुभमनोवाक्काययोगैः संसारपर्यटनहेतुभिः पापमासवति । भगवत्सु शुभप्यानद्वये नाम्नि प्रवृत्तत्वात्कर्मद्वयां भवति, तेन भगवानेव योगशो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहहितत्वात्, भगवानेव योगशः मोक्षमार्गप्रवृत्तत्वात् (८२) । उक्तञ्च — वीरनन्दिशिष्यैः पद्मनन्दिपादैः सङ्गोधचन्द्रोदये—

योगतो हि स्रभते विबन्धनं योगतोऽपि सखु मुच्यते नरः ।

योगवत्सं विषयं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदस्त्रिंशत्सुमुमुक्षुषा ॥

तथा चोक्तं—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।

तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥

तथा च सोमदेवः—

वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसंगः स्थिरचित्तता ।

ऊर्मिस्मयसहस्रं च पंच योगस्य हेतवः ॥

प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहने ।

जन्ममृत्यु शरीरस्य षड्भूमि रहितः शिवः ॥

धर्ममूर्तिः— धर्मस्य चारित्रस्य मूर्तिराकारो धर्ममूर्तिः । धर्मस्य न्यायस्य मूर्तिः धर्ममूर्तिः । धर्मस्य अहिंशालक्षणस्य मूर्तिर्धर्ममूर्तिः । धर्मस्य पुण्यस्य मूर्तिः धर्ममूर्तिः । ये भगवन्तं विराजयन्ति तेषां धर्मस्य यमस्य कालस्य कृतान्तस्येति यावत् मूर्तिः, तेषामनन्तरस्यहेतुत्वात् धर्ममूर्तिः । उक्तञ्च—

२ इ नमादिति ।

सुहृत्स्वधि श्रीसुभगत्वमस्युते द्विर्बलस्वधि प्रत्ययवत्प्रज्ञायते ।
मबातुदासीनतमस्त्रयोरपि प्रभोः परं चिन्नमिदं तत्वेदितम् ॥

अथवा धर्मस्य गतिलक्षणस्य मूर्तिरूपमा यस्य स धर्ममूर्तिः, अलक्ष्यस्वरूपत्वात् । तदुपलक्षणमाका-
शादेरपि मुनिः (८३) । उक्तञ्च—

अहिंसादौ तथा न्याये तथा पञ्चदशोऽर्हति ।
आचारोपमयोः पुण्ये स्वभावे च श्वासने ॥
मत्स्यानि चोपनिषदि प्रोक्तो धर्मो यत्र नरि ।
दानादिके नपुंस्येवद्वादशाथेषु धीधनैः ॥

अधर्मधक्—अधर्मं हिंसादिलक्षणं पापं स्वस्य परेषां च दहति भस्मीकरोति अधर्मधक् (८४) ।

ब्रह्मेष्ट महाब्रह्मपतिः कृतकृत्यः कृतक्रतुः ।
गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रयः ॥८३॥

ब्रह्मेष्ट—ब्रह्मणो ज्ञानस्य वृत्तस्य मोक्षस्य च ईष्टं स्वामी ब्रह्मेष्ट (८५) । महाब्रह्मपतिः—ब्रह्मणां
मतिज्ञानादीनां चतुर्णां उपरि वर्तमानं पंचमं केवलज्ञानं महाब्रह्मोच्यते, तस्य पतिः स्वामी महाब्रह्मपतिः । अथवा
महाब्रह्मा सिद्धपरमेष्ठी, स पतिः स्वामी यस्य स महाब्रह्मपतिः । दीक्षावखरे नम. सिद्धेश्वरः इत्युपधारणात्वात् ।
अथवा महाब्रह्मणां गणधराणां लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च पतिः स्वामी महाब्रह्मपतिः (८६) । कृत-
कृत्यः—कृत्यं कृत्यं आत्मकार्यं येन स कृत्यकृत्यः । अथवा कृतं पुण्यं कृत्यं कार्यं कर्तव्यं करणीयं यस्य स
कृतकृत्यः (८७) । कृतक्रतुः—कृतो विहितः क्रतुर्गणः शक्रादिभिर्यस्य स कृतक्रतुः । अथवा कृतं परिपूर्णं
फलं वा कृतौ पूजायां यस्य स कृतक्रतुः । भगवतो भव्यैः कृता पूजा निःफला न भवति किन्तु स्वर्ग-मोक्षदा-
यिका भवति, तेन कृतक्रतुः । अथवा कृतः पर्याप्तः समाप्तिं नीतः क्रतुर्गणो येन स कृतक्रतुः (८८) ।
उक्तञ्च—

मच्छु भिक्षियतं परमेसरहो परमेसरु वि मयास्त ।
दोहिदि समरसहृद्भाहं पुञ्ज चडावठ' कस्त ॥

गुणाकरः—गुणानां केवलज्ञानादीनां चतुरशीतिलक्षाणां वा आकरः उत्पत्तिस्थानं गुणाकरः ।
अथवा गुणानां पट्चत्वारिंशत्संख्यानामाकरो गुणाकरः । उक्तञ्च—

अरहंता क्षयात्ता सिद्धा अष्टेव सूरि कुलीसा ।
उबन्काया पयवीसा साहूयां होंवि अडवीसा ॥

तत्रार्हतां पट्चत्वारिंशद्गुणाः—चतुर्षिंशदतिशयाः पूज्यपादेन नन्दीश्वरभक्तौ विस्तरेण प्रोक्ताः
अष्टप्रतिहार्याणि च, अनन्तचतुष्टयं चेति । सिद्धानां सभ्यक्त्वादयोऽष्टौ गुणाः । आचार्याणां पट्चिंशद्-
गुणाः । ते कै ?

पञ्चाचारवः^१ संवस्रुताचार^२स्तथा यति-
यानाशानस्थानशक्याकृतितु व्यवहारवान्^३ ॥
गुणदोषकथी^४ साधोर्लज्जया^५ दोषसंकृतिः^६ ।
यतिदोषाकथो^७ अन्येषां^८ मय्युक्तादौ च तोषकः^९ ॥
परीषदादिभिः साधोरुद्दिग्भव चक्षाशये ।
हितोपदेशोर्नाथैःस्थापको^{१०} ऽष्टसप्तगुणः ॥

* अ मामनस्यादौ ।

स्थितिकवर्षेऽगुक्त्वाप०^१ऽगुहिष्टाहारभोज्यपि^२ ।
 निद्राग्रामेऽन्यदिवसे तन्नाभोजी^३ विरागमुक्^४ ॥
 दीक्षाप्रभृति नित्यं च समता सुप्रतिक्रमः^५ ।
 अतानीं चारुणं^६ सर्वश्रेष्ठत्वं^७ पाण्डिकादिमान्^८ ॥
 बध्मासयोगी^९ मासद्विनिषिष्टालोकनं^{१०} दश ।
 गुणाः द्विषट्त्तपोधारी षडावरयकसद्विधिः ॥
 आचार्याणां गुणा एते षड्ग्रामां प्रियादेव च ।
 अयोपाध्यायसम्बन्धिगुणाः स्तुः पञ्चविंशतिः ॥
 एकादशसङ्ग्रहिःसप्तपूर्वाणि श्रुतसंभ्रिताः ।

साधूनामष्टाविंशतिगुणाः भवन्ति । ते के ? दशसम्बन्धगुणाः, मत्यादिपंचशानानि, त्रयोदशचारित्र-
 गुणाः एतेषु अष्टाविंशतौ गुणेषु सर्वं प्रतिबद्धम् । परं दश सम्बन्धानि अप्रतिबद्धानि, तान्येव कथ्यन्ते—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
 विस्तारार्थाभ्यां भवभवगाढपरमाचगाढे च ॥

अस्या आर्याया विवरणार्थं वृत्तत्रयम् । तथाहि—

आज्ञासम्बन्धमुक्तं यदुक्त विरुचितं वीतरागाज्ञयैव,
 त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्धाचन्मोहशान्तेः ।
 मार्गभ्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराखोपदेशोपजाता,
 या संज्ञानागमात्त्रिप्रस्तुतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥
 आकर्ण्यार्षारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्धधानः-
 सूक्तसौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजे ।
 कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्,
 संक्षेपेणैव बुद्ध्या रुचिसुपगतवान् साधुसंक्षेपदृष्टिः ॥
 यः श्रुत्वा ह्यदशांगीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टि
 सम्जातायान् कुतश्चित्प्रवचनचचनान्यन्तरेणाथ, दृष्टिः ।
 दृष्टिः सर्गाङ्गवाङ्मप्रवचनभवगाङ्गोत्थितायावगाढा
 कैवल्यालोकितार्थं रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥

एवं अधिकतत्त्वारिशदग्रशतं गुणानां भवति, तेषामाकर इत्युच्यते (८६) । **गुणोच्छेदी**—गुणान्
 क्रोधादीन् उच्छेदयतीत्येवंशीलो गुणोच्छेदी । ‘अगुणांच्छेदी’ इति पाठे अगुणान् दोषानुच्छिनत्तीति
 अगुणोच्छेदी । अपथा अगुणानामुच्छेदो विद्यते यस्य सोऽगुणोच्छेदी, अष्टादशदोषरहित इत्यर्थः । उक्तञ्च—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मथाः ।

न रागाद्वेषमोहाश्च यस्यासः स प्रकीर्त्यते ॥

चक्रापाङ्गितारतिनिद्राविपादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते (६०) । **निर्मिषेयः**—चक्षुषोर्मेयोन्मेषरहितः,
 दिव्यचक्षुरित्यर्थः; ^१लोचनस्पर्धरहित इति यावत् (६१) । **निर्गभयः**—निर्गतो निर्नष्ट आभयो गृहं यस्य
 त निराभयः । अपथा निर्निश्चिन्त आभयो निर्वाणपदं यस्य स निराभयः (६२) ।

सुरिः सुनयतन्वज्ञो महामैत्रीमयः शमी ।

प्रक्षीणबन्धो निर्हन्धः परमधिरनन्तगः ॥८४॥

सूरिः—सते बुद्धिं सूरिः । भू सू कदिभ्य किः (६३) । तथा वेन्द्रनाम्निदेवैः—

पञ्चाचाररतो निरयं मूलचारविदप्रथीः ।

चतुर्विधस्य संघस्य य.स आचार्य इष्यते ॥ १

सुनयतस्वहः—ये स्याच्छब्दोपलक्षितास्ते सुनयाः । यथा स्यान्नित्यः स्यादनित्यः स्यान्नित्यानित्यः स्यादवाच्यः स्यान्नित्यश्चावक्तव्यः, स्यादनित्यश्चावक्तव्यः स्यान्नित्यानित्यश्चावक्तव्य इति सप्त नया अनेकान्ताभिताः सुनया उच्यन्ते । तेषां तत्त्वं मर्म जानातीति सुनयतस्वहः । ये तु सर्वयैकान्ताभिताः नित्य एव, अनित्य एवेत्यादिरूपास्ते दुर्नया ज्ञातव्याः (६५) । **महामैत्रीमयः**—महती चासी मैत्री महामैत्री, सर्वजीव-जीवनबुद्धिः; तथा निर्हुतः महामैत्रीमयः (६५) । **शमी**—शमः सर्वकर्मक्षयो यस्य स शमी । 'समी' इति पाठे समः समतापरिणामो विद्यते यस्य स समी । अथवा शान्त्यतीति शमी इन्मामहानधिभिश्च (६६) । **प्रक्षीणबन्धः**—प्रक्षयण क्षीणः क्षयं गतो बन्धो यस्य स प्रक्षीणबन्धः (६७) । **विद्ध्वंशः**—निर्गतं द्वन्द्वं कलशो यस्य स निर्द्ध्वंशः (६८) । **परमर्षिः**—परमश्चासौ ऋषिः केवलज्ञानर्क्षिसहितः परमर्षिः (६९) । **अनन्तगः**—अनन्तं केवलज्ञानं गच्छति प्राप्नोति अनन्तगः । अथवा अनन्तात् संसारात् गतो युक्तः अनन्तगः । अथवा अनन्ते आकाशे गच्छतीति अनन्तगः (१००) ।

श्रीवीरगौतमगुण्यधिककुन्दकुन्द-श्रीभद्रबाहु-जिनचन्द्र-समन्तभद्रान् ।

देवेन्द्रकीर्तिममखं स्वगुहं च विद्यानन्दिप्रभुं विनयतो विनतोऽस्मि नित्यम् ॥

श्रीश्रुतसागरगुरुणा योगिशरतं पूर्णतां समानीतम् ।

निर्वाणशताध्यायः विचार्यते शृणुत भगवजनाः ॥

इति सूरिश्रुतसागरविरचितायां सहस्रनामटीकायां योगिशरतनामषष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

निर्वाणः सागरः प्राज्ञैर्महासाधुरुदाहृतः ।

विमलाभोऽथ शुद्धाभः अधरो दक्ष इत्यपि ॥८५॥

निर्वाणः—निर्वाति स्म निर्वाणः, सुखीभूतः अनन्तसुखं प्राप्तः । निर्वाणोऽन्वाते इति साधुः । अथवा निर्वाता वाणाः शराःकंदर्पवाणाः यस्मादिति निर्वाणः । अथवा निर्गता वाणाः सामान्यशरास्तदुप-लक्षणां^२ सर्वायुधानां, निर्वाणः । अथवा वने निद्युक्तो वानः, निश्चितो वानो निर्वाणः । यतो भगवान् निःक्रान्तः सन् वनवासी एव भवति, जिनकल्पित्वात्, न तु स्थविरकल्पित्वात् वसत्यादौ तिष्ठति (१) । **सागरः**—सा लक्ष्मीर्गले कण्ठे यस्य स सागरः, अम्युदयनिःश्रेयसलक्ष्मीसमालिगित्वात्^१ । अथवा निःकर्मण्यकल्याणावसरे सा राज्यलक्ष्मीर्गः विषसदृशी, अरोचमानत्वात् सागरः । अथवा सद्य गरेण वर्तते समरो धरयोन्द्रः, तस्यापत्यं संकल्पपुत्रः सागरः । भगवान् यदा बालकुमारो भवति, तदा सिंहासने धरयोन्द्र उपविशति, धरयोन्द्रस्योत्संगे भगवानुपविशति । सौधर्मन्द्रस्तु अथ उपविशति, तदुत्संगे भगवान् पादौ

लालयति; तेन शेषनागस्य पुत्रवत्यतिभासते स्वामी; तस्मात् स्वामी सागर इत्युच्यते । अथवा सया लक्ष्म्या शोभया उपलक्षितः अगः पर्वतो गिरिराजः सागः प्रेक्षः; जन्माभिर्पंकावसरे तं राति गृह्णाति स्वीकरोति सागरः । अथवा साया गताः, दरिद्रियः । तान् रायति शब्दयति आकारयति आह्वयति धनदानार्थं सागरः; भगवतः कनकवर्षित्वात्, दीन-दुःस्थ-दरिद्राणां दारिद्र्यकेटक इत्यर्थः (२) । महासाधुः— दक्षः कुशलो हितश्च साधुश्च्यते । महाश्यालौ साधुर्महासाधुः । राध साधु संसिद्धौ । साधयति सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारिणासीति साधुः; महान् तीर्थकरे भूत्वा रत्नत्रयेण मुक्तिरौख्यसाधक इत्यर्थः (३) । विमलाम्— विमला कर्ममलकलंकरहिता आभा शोभा यस्येति विमलाम् । गोरप्रधानस्यान्तस्य विद्यामादादीनां चेति ह्रस्वः । अथवा विशिष्टा केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यत्र स विमो मोक्षः, तस्य लाभः प्राप्तिर्यस्य स विमलाम् । अथवा विमला राह्यापुपरागरहिता आसमन्ताद्भा दीतिः कांठिभास्कर-चन्द्रकोटियोऽप्यधिकं भामण्डलं यस्य स विमलाम् (४) । शुद्धाम्—शुद्धा शुक्ला आभा दीप्तिर्यस्य स शुद्धाम्; शुक्लेशरयो वा शुद्धाम् । शुद्धः कर्ममलकलङ्करहितः सन् आसमन्ताद्भाति शुद्धाम् (५) । श्रीधरः— अयं बाह्यां समवसरणलक्षणोपलक्षितां अन्त्यन्तरां अनन्तकेवलज्ञानादिलक्षणां धरति श्रीधरः । श्रिया उपलक्षिता धरा समवसरणभूमिरष्टमी भूमिर्वा यस्य स श्रीधरः । अथवा श्रिया निवासभूमिः, धरो हिमवान् गिरिः श्रीधरः, श्रीनिवासपर्वत इत्यर्थः । अथवा श्रियोपलक्षितो धरः कूर्मराजः पृथिव्या आधारभूत्वात् श्रीधरः (६) । दत्तः— दानं दत्तम्, दत्तयोगान्नगवानर्षि दत्तः, वाञ्छितफलप्रदायक इत्यर्थः । दातुमारब्धो दत्तः । दीयते स्म निजालम्बो ध्यानविषयीक्रियते दत्तः । आदिकर्मणि कः, कर्त्तरि च ददो धः, इति व्युत्पत्तेः (७) ।

अमलामोऽप्युद्धरोऽग्निः संयमश्च शिवस्तथा ।

पुष्पाञ्जलिः शिवगण उत्साहो ज्ञानसंज्ञकः ॥८६॥

अमलाम्—अविद्यमाना मलस्य पापस्य आभा लेशोऽपि यस्य स अमलाम् । अथवा न विद्यते मा लक्ष्मीर्येषां ते अमाः, दीन-दुःस्थिते-दरिद्रास्तेषां लाभो धनप्राप्तिर्यस्मादसौ अमलाम् । अथवा अमा निर्ग्रन्था मुनयस्तान् लान्ति गृह्णाति स्वीकुर्वन्ति ये ते अमला गणधरं देवास्तेषां समन्ताद् भाति शोभते अमलाम् (८) । उद्धरः—उत् ऊर्ध्वस्थानं धरति स्थापयति भव्यजीवानिति उद्धरः । अथवा उत् उत्कृष्टे हरः पाप-चोरकः उद्धरः । अथवा उत् उत्कृष्टा धरा समवसरणलक्षणा मुक्तिलक्षणा वा भूमिर्यस्य स उद्धरः । अथवा उत्कृष्टः धरः मेरुलक्षणाः पर्वतः स्नानपर्वतो यस्य स उद्धरः । अथवा उत्कर्षेण हन्ति गच्छति उद्धरं वेगो यस्य स उद्धरः । एकेन समयेन त्रैलोक्याग्रे गमनवेग इत्यर्थः (९) । अग्निः—अग्रति ऊर्ध्वं गच्छति त्रैलोक्याग्रं ब्रजति ऊर्ध्वं श्रियास्वभावत्वात् अग्निः । अग्निसुश्रियुषद्विभ्यो निः (१०) । संयमः—सम्यक् प्रकारो यमो यावज्जीवमतो यस्य स संयमः (११) । शिवः— शिवं परमकल्याणं तद्योगात् पञ्चकल्याणप्रापकत्वात् शिवः, श्रेयस्करत्वात् शिवः । अथवा शिवः शरीरसंयुक्तो मुक्तः, जीवन्मुक्त इत्यर्थः । सिद्धस्वरूपाद्वा शिवः (१२) । पुष्पाञ्जलिः— पुष्पकमलवत् अञ्जलिः इन्द्रादीनां करसंपुटो यं प्रति स पुष्पाञ्जलिः । पुष्पाणां मकुलचम्पक-जाति-मन्दार-मल्लिकाष्टहास-कुमुद-नीलोत्पल-कमल-शतपत्र-कल्हार-केतकी-पारिजात-मचकुन्द-मवमालिका-नर्मद-सन्ता-गफ-घट्पदाना पट्चरणसम्भतकदम्बादिदुसुमानामञ्जलयो यस्मिन् स पुष्पाञ्जलिः, द्वादशयाजन्प्रमाणे पुष्पद्वितिल्यर्थः (१३) । शिवगणः— शिवः श्रेयस्को गणो निर्ग्रन्थादिद्वादशभेदः संघो यस्य स शिवगणः । अथवा गजानां ससंस्थितिः, रथाश्च तावन्तः, अरवानामेकाशीतिः, पञ्चत्रिंशदधिकं शतं पत्तयः इत्येको गण उच्यते । शब्दकाले शिवाः श्रेयस्कराः गणाः यस्य स शिवगणः, सेनासमुद्र इत्यर्थः । अथवा शिवं मोक्षं गणयति सारतया मन्यतेऽन्यदसारमिति शिवाणः (१४) । उत्साहः— सहनं वाहः । भावे ध्वः । उत्कृष्टः साहः सहनं परीषद्वादिक्षमता उत्साहः । अथवा उत्कृष्टां मां मोक्षलक्ष्मीं न हन्तीति अथ-शयमेव मोक्षं सेव्यमानो ददतीति उत्साहः । अथवा उत्कृष्टायाः सायाः अहः दिनं दानावसरदिवसो यस्य स उत्साहः । राजन् अहन् सखि अह प्रलयः । नस्तु क्वचित् नकारलोपः इवर्थावर्थायोः लोपः स्वरे प्रत्यये

व । (१५) । ज्ञानसंज्ञकः— ज्ञानं जानाति विश्वमिति ज्ञानम् । कल्पयुद्धोऽन्वयापि च, कर्त्तरि युद् । ज्ञानमिति संज्ञा यस्य स ज्ञानसंज्ञकः । अथवा ज्ञानं पण्डितान् अनिति जीवति ज्ञानः अत्रान्तर्भूतं ह्य् प्रत्ययः (१६) ।

परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधरः ।

कृष्णो ज्ञानमतिः शुद्धमतिः श्रीभद्र शान्तयुक् ॥८७॥

परमेश्वरः - परमेश्वरौ ईश्वरः स्वामी परमेश्वरः । अथवा परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मी परमा, मौल-
लक्ष्म्योपलक्षिता लक्ष्मीः परमा । परमायाः परमलक्ष्म्या ईश्वरः स्वामी परमेश्वरः । अथवा पत्य परित्रायास्य
रमा परमा, नरकादिगतिगतं पतनरक्षणा लक्ष्मीः परमा । तस्या ईश्वरः परमेश्वरः । उक्तञ्च विम्बप्रकाशे—

पः सूर्ये शोषये बह्वी पाताले वःश्वेऽनिले ।

परित्राये क्षमे क्षत्रे निपाने पंकसंकुले ॥

उषवेशे रथले ।

अथवा परं निश्चितं अः अर्हन्, स चासावीश्वरः परमेश्वरः (१७) । विमलेशः—विमलः कर्म-
मलकलङ्करहितो व्रतधनतिचापे वा विमलः । स चासावीशः विमलेशः । अथवा विविधं मं मलं अघाति-
कर्मं पञ्चाशीतिप्रकृतिवृन्दम्, तल्लशोऽन्वयाप्यो यस्य स विमलेशः, क्लवत्तरपातिकर्मघातकत्वात् विमलेशः
(१८) । यशोधरः—यशः पुण्यगुणकीर्त्तनं धरतीति यशोधरः (१९) । कृष्णः— कर्षति मूलाङ्गुल-
यति निर्मूलकायं कर्षति घातिकर्मणां घातं करोतीति कृष्णः । इष् वि-कृष्ण्यो ऋक् । कृष विलेखने भ्यादौ
परस्मैपदी धातुरयम् (२०) । ज्ञानमतिः—ज्ञानं केवलज्ञानं मतिः ज्ञानं यस्य स ज्ञानमतिः (२१) ।
शुद्धमतिः—शुद्धा कर्ममलकलङ्करहिता मतिः सकलविमलकेवलज्ञानं यस्य स शुद्धमतिः (२२) ।
श्रीभद्रः—भिया अम्युदय-निःश्रेयसलक्षणा लक्ष्म्या भद्रो मनोहरः श्रीभद्रः । (२३) । शान्तः—
शान्त्यति स्म शान्तः रागद्वेषपरहित इत्यर्थः । (२४) ।

वृषभस्तद्वदजितः सम्भवश्चामिनन्दनः ।

मुनिभिः सुमतिः पद्मप्रभः प्रोक्तः सुपार्श्वकः ॥ ८८ ॥

वृषभः—वृषेण अर्हिसालक्ष्म्योपलक्षितेन धर्मैश भाति शोभते वृषभः (२५) । अजितः—न
केनापि कामक्रोधादिना शत्रुणा जितः अजितः (२६) । सम्भवः— सं समीचीनो भवो जन्म यस्य स सम्भवः ।
शंभव इति पाठे शं सुखं भवति यस्मादिति सम्भवः संपूर्वेभ्यः संज्ञायां अच् । अथवा सं समीचीनोऽप्यौदः
अक्रूरशयः शान्तमूर्तिः कपाल-शूल-खट्वांगनादिरहितो भवो रुद्रः सम्भवः (२७) । अभिनन्दनः—
अभि समन्तात् नन्दयति निजरूपश्रुतिश्रयेण प्रजानामानन्दमुत्पादयतीति अभिनन्दनः । अथवा न विद्यते
भीर्भयं यत्र तानि अभीनि भवभयहितानि । स्वरो ह्रस्वो नपुंसके । अभीनि निर्भयानि शान्तप्रदेशानि नन्द-
नानि अशोक-सप्तवर्ष-चम्पक-चूतानां वनानि समवसरयो यस्य स अभिनन्दनः (२८) । सुमतिः—
शोभना लोकालोकप्रकाशिका मतिः केवलज्ञानलक्ष्म्योपलक्षिता बुद्धिर्यस्य स सुमतिः (२९) । पद्मप्रभः—
पद्मवत् रक्तकमलवत् प्रभा वर्षां यस्य स पद्मप्रभः । रक्तवर्णः बन्धुकपुष्पवर्णशरीरः प्रातरर्कवल्लिमशरीर
इत्यर्थः । अथवा पदोश्चरयायोर्मा लक्ष्मीर्यस्य स पद्मः । प्रकृष्टा भा दीप्तिर्यस्य स प्रभः । पद्मश्चासौ प्रभः
पद्मप्रभः । अथवा पद्मः सुर-नरादिसमूहेः निधिविशेषश्च प्रभाति प्रकयेण शोभते पद्मप्रभः । अथवा पद्मः
योजनेकप्रमाणासपादद्विशतहैममयकमलैः प्रभाति शोभते यः स पद्मप्रभः (३०) । उक्तञ्च—

इतिविन्दौ जतं पद्मं पद्मोऽपि उच्यते मतः ।

संख्यादिनिधिवृन्देषु पद्मं ध्वनितर्यं स्मृतः ॥

सुपार्षवः—सुष्ठु शोभने पार्षवे वाम-दक्षिणशरीरप्रदेशौ यस्य स सुपार्षवः (३१) ।

चन्द्रप्रभः पुष्पदन्तः शीतलः श्रेय आह्वयः ।

वासुपूज्यश्च विमलोऽनन्तजिह्वम् इत्यपि ॥८६॥

चन्द्रप्रभः—चन्द्रादि प्रकृष्ट कोटिचन्द्रसमाना भा प्रभा यस्य स चन्द्रप्रभः (३२) । **पुष्पदन्तः**—पुष्पवत् कुन्दकुसुमवदुज्ज्वला दन्ता यस्य स पुष्पदन्तः । अथवा भगवान् छद्मस्थावस्थायां यस्मिन् पर्वत-तटे तपोध्याननिमित्तं तिष्ठति तत्र वनस्पतयः सर्वर्तुष्याणि फलानि च दधति, तेन पुष्पदन्तः (३३) । **शीतलः**—शीतो मन्दो लो गतिर्यस्य स शीतलः । उक्तञ्च—

गिरिभिरवचदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवहानवतः ।

तव समवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥

अथवा शीतं लाति सहेते छद्मस्थावस्थायां शीतलः, तदुपलक्ष्यं उष्णस्य वर्षाणां च त्रिकाल-योगवानित्यर्थः । अथवा शीतलः शान्तमूर्तिः अक्रूर इत्यर्थः । अथवा संसारसंतापनिवारकशीतलवचन-रचनायोगाद् भगवान् शीतल उच्यते । अथवा शीं आशीर्वादः तलः स्वभावो यस्य स शीतलः, प्रिय-हितवचनत्वात् । भगवान् आशीर्वादमेव दत्ते, न तु शार्पः परम कारुणिकत्वात् (३४) । उक्तञ्च—

इत्ये स्वभावेऽप्यधरे चषेटे तालपादपे ।

तलः पुंसि तलं इति प्रोक्तं उवादावधारये ॥

तथा च—

आद्येन हीनं जलचावहरयं मध्येन हीनं मुनि वर्षान्तीयम् ।

अन्तेन हीनं चक्षयेच्छरीरं यस्याभिधानं स जिनः श्रियेऽस्तु ॥

श्रेयान्—अतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् । प्रशस्यस्य श्रः । गुणाधिष्ठेयन्सौ वा (३५) । **वासुपूज्यः**—वासुः शक्रः, तस्य पूज्यः वासुपूज्यः । अथवा वेन वरुणेन पवनेन वा, इन्द्रादीनां वृन्देन वा, वेन गन्धेन वा आ समन्तात् सुष्ठु अतिशयेन पूज्यः वासुपूज्यः । अथवा वा इतिशब्दः स्त्रीलिंगे वर्तमानः मन्त्रवाची वर्चते, अमृतात्मकत्वात् । तेनायमर्थः—वया ॐ ह्रीं श्रीं वासुपूज्याय नमः इति मन्त्रेण सुष्ठु अतिशयेन पूज्यः वासुपूज्यः (३६) । उक्तञ्च विश्वप्रकाशे—

वो दन्त्योऽप्यस्तपोऽप्यश्च वरुणे वारुणे वरे ।

शोषयो पवने गन्धे वासे वृन्दे च वारिधौ ॥

वन्दने वदने वादे वेदनायां च वा क्षियाम् ।

मंभावाते तथा मन्त्रे सर्वमन्त्रेऽप्युत्तमके ॥

विमलः—विगतो विनष्टो मलः कर्ममलकलङ्को यस्य स विमलः । अथवा विविधा विरिष्टा वा मा लक्ष्मीर्येषां ते विमाः इन्द्रादयो देवाः, तान् लाति, निजभादाक्रान्तान् करोति विमलः । अथवा विगता दूरी-कृता मा लक्ष्मीर्यैस्ते विमाः निग्रन्थमुनयः, तान् लाति स्वीकरोति विमलः । अथवा विगतं विनष्टं मलमुच्चारः प्रक्षाषश्च यस्याऽऽजन्म स विमलः (३७) । **अनन्तजिह्वः**—अनन्तं संसारं जितवान् अनन्तजिह्वः । अथवा अनन्तं अलोकाकाशं जितवान् केवलशब्देन तत्पारं गतवान् अनन्तजिह्वः । अथवा अनन्तं विष्णुं शेषनागं च जितवान् अनन्तजिह्वः (३८) । उक्तञ्च नेमिस्तुतौ—

सु तिमद्भागरविबिम्बकिरवाजटिलीशुमंडलः ।

नीलजलदजलराशिबधुः सह बभ्रुभिर्गोहृत्केतुरीश्वरः ॥

हलशुद्धये स्वजनभक्तिमुदितद्वयौ जनेरवतौ ।
धर्मविनयसिकौ सुवरी चरवारविन्धुगुणं प्रथेयतुः ॥

धर्मः—संसारसमुद्रे निमज्जन्तं जन्तुमुद्धृत्येन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्र-वन्दिते पदे धरतीति धर्मः । धर्मि इ तु सु
वर्षिणीपदभावास्तुभ्यो मः । (३६) ।

शान्तिः कुन्धुररो मस्त्रिः सुव्रतो नमिरप्यतः ।
नेमिः पार्श्वो वर्षमानो महावीरः सुवीरकः ॥६०॥

शान्तिः—शान्मतीति सर्वकर्मक्षयं करोतीति शान्तिः । तिक्वतौ च संज्ञायामाक्षिणि ।
संज्ञायां पुल्लिङ्गे तिक्प्रत्ययः (४०) । कुन्धुः—कुधि पुधि लुधि मधि हिंसा-संज्ञेशयोः इति तावत्
भ्वादिकः कुयुधातुः । कुन्धति समीचीनं तपःश्लेशं करोतीति कुन्धुः । पठि अस्ति वसि इनि मनि
अपि इ'दि कंदि नंधि वहि अथिभ्यश्च इत्यस्य उणादौ षष्ठस्य सूत्रस्य वृत्तौ चकारोऽनुक्तसमुच्चय-
मात्रे उप्रत्ययः स तु उप्रत्ययः उणादौ पंचमे सूत्रे गृहीतोऽस्ति । तथाहि—शु सू वृ चरिस्तरितमिभमिभस्त्रि-
झीह्भ्य ङः, इत्यत उप्रत्ययस्य ग्रहणम् (४१) । अरः—अ गतौ धातुः भ्वादौ वर्तते । तत्र अरति गच्छति
केवलशानेन लोकालोकं जानाति इति अरः । सर्वे गल्पार्थाः भाववो ज्ञानार्था इति वचनात् । अथवा अ
ए गतौ इति धातुः अदादौ वर्तते । तत्र इयति गच्छति त्रैलोक्यशिक्षरमारोहतीत्यटः । एकेन समयेन मुक्तिं
प्राप्नोतीत्यटः । अच् पचादिव्यञ्ज अच्प्रत्ययेन सिद्धमिदं रूपम् । अथवा अयति मोक्षार्थिभिर्गम्यते, शान्तिभि-
र्जायते इत्यरः स्वरदृष्टगमिग्रहाम् । कर्मणि अल् प्रत्ययः । नाम्बन्तयोर्धातुविकरवायोगुञ्चः । अथवा उंसार-
मोक्षणे अरः शीघ्रः शीघ्रगो वा । अथवा धर्मरथप्रवृत्तिहेतुत्वादरश्चक्राङ्गभूतः (४२) । मस्त्रिः—मस्त्र मस्त्र च
इत्ययं धातुधाराणे^१ वर्तते तेन मस्त्रते धारयति भव्यजीवान् मोक्षपदं स्थापयतीति मस्त्रिः । सर्वधातुभ्यः इः ।
अथवा मस्त्रत्ये धारयते निजशिरस्तु देवेन्द्रादिभिर्मस्त्रिः । अथवा मस्त्रिर्मुक्तमन्धनुष्याणि तस्तुभिमगन्धत्वान्मस्त्रिः ।
अतएवाह -- मस्त्रिर्मस्त्रिजये मस्त्रः (४३) । उक्तञ्च धन्वन्तरिवैद्येन—

वार्षिकी त्रिपुटा म्यक्षा सुरूपा सुभगा प्रिया ।
श्रीपदी षट्पदानन्दा सुवर्षा मुक्तजन्वना ॥

इति मीगरनामानि । तथा मस्त्रिकावेलनाम—

मस्त्रिका शीतभीरश्च मद्यन्ती प्रमोदिनी ।
मदनी च भवाणी च भूपद्यष्टापदी तथा ॥

सुव्रतः—शोभनानि व्रतानि अहिंसासत्याचौर्यब्रह्मचर्याकिल्बन्धादीनि रात्रिभोजनपरिहारषष्ठासुव्र-
तानि यस्य स सुव्रतः (४४) । नमिः—नम्यते इन्द्र-चन्द्र-मुनीन्द्रैर्नमिः । सर्वधातुभ्यः इः (४५) ।
नेमिः—नयति स्वधर्मं नेमिः । नीद्वल्लिभ्यां मिः (४६) । पार्श्वः—निजमक्तस्य पार्श्वं अट्टर्यरूपेण
तिष्ठति पार्श्वः । यत्र कुत्र प्रदेशे स्मृतः सन् स्वामी समीपवर्त्येव वर्तते पार्श्वः । उक्तञ्च—

अर्चयेयमाद्यं सुभवा मनामना यः सर्वदेशो मुचिनाविनाविना ।
समस्तविज्ञानमयो मयोमयो पार्श्वं कथ्ये रामिगतौ गिरौ गिरौ ॥

अथवा पार्श्वं वक्रोपायः । वक्रस्य मनसः कामस्य वा साधनस्य उपायः वक्रोपायः रागद्वेषपरिहारः^२
तद्योगात् भगवानपि पार्श्वः (४७) । वर्षमानः—वर्षते शानेन वैराग्येण च लक्ष्म्या द्विविधया वर्षमानः ।
अथवा अच समन्ताद् शृङ्खलः परमातिशयं प्राप्तो मानो शानं पूजा वा यस्य स वर्द्धमानः । अवाप्योरश्चोपः ।
(४८) । उक्तञ्च—

१ इ धातुदाधारेण । २ अ रहितः ।

वष्टि-भायुरिरक्खोपसवाप्योत्तरसर्गोः ।

आयं चैव हस्तान्तानां यथा वाचा निहा दिशा ॥

महावीरः—महान् वीरः सुभटः महावीरः, मोहमल्लविनाशात्वात् । अथवा महतीं विशिष्टां ई लक्ष्मीं निःश्रेयसलक्षणां राति ददात्याददाति वा महावीरः । अथवा महाश्राली वीरः श्रेष्ठो महावीरः (४९) । **वीरः** वीरः श्रेष्ठत्वात् । अथवा विशिष्टां ई लक्ष्मीं राति मोक्षलक्ष्मीं ददाति निजमक्तानां वीरः । (५०) । उक्तञ्च

ये वीरपादौ प्रथमन्ति नित्यं ध्यानस्थिताः संवमयोगयुक्ताः ।

ते वीतशोका हि भवन्ति लोके संसारदुर्गं विषमं तरन्ति ॥

सन्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ ।

महापद्मः सुरदेवः सुप्रभश्च स्वयम्भ्रमः ॥६१॥

सन्मतिः—सती समीचीना शार्वती वा मतिर्बुद्धिः केवलज्ञानं यस्य स सन्मतिः । अथवा सतां विद्वज्जनानां मतिः सद्बुद्धिर्यस्मादसौ सन्मतिः (५१) । **महतिमहावीरः**—मस्य मलत्प्यमापस्य हतिर्हनेन विध्वंसनं समूलकाथं कथयं महतिः । महती कर्ममलकलंकसुमटनिर्वाटने^१ महावीरो महासुभटः अनेकसहस्रभट लक्षभटक्रोडीभटानां विघटनपटुर्महतिमहावीरः (५२) । **महापद्म**—महती पद्मा लक्ष्मीः सर्वलोकवक्राश-दायिनी समवरणविभूतिर्यस्य स महापद्मः । अथवा महती लोकालोकव्यापिनी पद्मा केवलज्ञानलक्ष्णोपलक्षिता लक्ष्मीर्यस्य स महापद्मः । अथवा महान्ति पद्मानि योजनैकप्रमाणमहस्रपत्रकनकमयकमलानि सपादद्विशतसं-ख्यानि यस्य स महापद्मः । अथवा महती पदोभ्यस्थयोर्मा लक्ष्मीरिन्द्रादिमनोनेयनहारिणा शोभा यस्य स महापद्मः । अथवा महान्तः प्रत्येकसंख्यातकोटिगणना. पद्माश्चतुर्णिकायिकदेवसमूहा यस्य स महापद्मः (५३) । **सुरदेवः**—सुराणां मारमयानां सुराणां वा देवः सुरदेव परमाप्यथः । **शूरदेव** इति तालव्यपाठे शूराणा-मिन्द्रियज्ये सुभयानां देवः परमाप्यथः स्वामी वा शूरदेवः । तथा चोक्तं—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाङ्गवायुविद्धोऽपि ।

सत्त्वे च शूरशूरो रणशूरो न भवेच्छूरः ॥

अथवा सुराणां देवानि मनोनेयनादोन्द्रियाणि यस्मिन् स सुरदेवः ! अथवा सः सोमः, रः सूर्यः अग्निश्च कामरुच सुराः, तेषां देवो राजा सुरदेवः । अथवा सुष्ठु अतिशयवान् मन्त्रमहिमयुक्तत्वात् उः रुद्रः सः । सुक्ष रश्च अग्निसूर्यौ तयोर्देवः, स्वामी सुरदेवः (५४) । **सुप्रभः**—शोभना चन्द्रार्ककोटिसमा नेत्राणां प्रिया च प्रभा युतिमंडलं यस्य स सुप्रभः । दिवाकर सहस्रभामुस्मयीच्छानां प्रियश्च, इति **शौतमस्वामिना** जिनरूपवर्णनत्वात् (५५) । **स्वयम्भ्रमः**—स्वयं आत्मना प्रभा तेजोमहिना वा यस्य स स्वयम्भ्रमः । अथवा स्वयमात्मना प्रकथेण भाति शोभते स्वयम्भ्रमः । उपसर्गो ल्यातो ङः । स्वयं न अन्व्यः प्रकृष्टः पिता आता च लोकानां हितकारकत्वात् स्वयम्भ्रमः (५६) ।

सर्वायुधो जयदेवो भवेदुद्यदेवकः ।

प्रभादेव उद्भृद्भ्र प्रश्नकीर्त्तिर्जयाभिधः ॥६२॥

सर्वायुधः—सर्वाणि व्यानाभ्यनसंयमतर्पांसि आयुधानि कर्मशत्रुविध्वंसकानि शस्त्राणि यस्य स सर्वायुधः (५७) । **जयदेवः**—ज्येणोपलक्षितो देवो जयदेवः । जयत्वं जयन्तस्य देवेन्द्रपुत्रस्य वा देवः परमा-राप्यो जयदेवः (५८) । **उद्भृद्भ्र**—न्य उपचयश्चयोपचयश्चेति त्रिविध उदयः । तत्र जन्मान्तर सञ्चितं निदान-

दोषरहितं विशिष्टं तीर्थं कर्नामोक्तोत्रादिलक्षणं पुण्यकथनं चयः । स्वर्गादागत्य पुनरपि प्रजापालनादिपुण्योपासना-
मुपचयः । पुनर्निर्वाणगमनं चयोपचयः । तेन त्रिचिधेनापि उदयेनोपलक्षितो देवः उदयदेवः । अथवा उत्कृष्टोऽयः
शुभावहो विधिः उदयः, तेनोपलक्षितो देव उदयदेवः । अथवा यस्य कदाचिदपि क्षयो न भवति, अस्तमनं
नास्ति, स उदयदेवः (५६) । प्रभादेवः—प्रभा चन्द्रार्ककोटितेजस्तयोपलक्षितो देवः सर्वज्ञवीतरागः प्रभादेवः ।
अथवा प्रभा महिमा, तयोपलक्षितो देवः प्रभादेवः । अथवा प्रमानाम एकत्रिशतमं स्वर्गपटलं तत्र देवो
दक्षिणभ्रेषौ श्रष्टादशो विमाने देवो देवेन्द्रः सौचमेन्द्रः प्रभादेवः । प्रभादेवसेवायोगात् भगवानपि प्रभादेवः ।
उक्तञ्च त्रिलोकसारे—

हृगवीस सप्त चत्वारि दोग्ण्या एककेक कृक चतुष्कये ।
तिलिय एककेकद्वयवामा उहृषादि तेसद्वी ॥

अथवा प्रकृष्टा भा लोफालोकप्रकाशिनी दीप्तिः केवलार्थं ज्योतिस्तयोपलक्षितो देवः प्रभादेवः
(६०) । उदङ्कः—उदङ्को अंको विवदं कामरात्रुरिति उदङ्कः, मुक्तिकान्तापतिरिति, मोहारिविजयीति
उदङ्कः । अथवा उद्गतो निर्नष्टोऽङ्कोऽपराधः आगो यस्य स उदङ्कः । अथवा अंको भूषा उद्गता निरामरथा-
भासुरमिति वचनात् यस्य स उदङ्कः । अथवा उत्कृष्टः अङ्कः स्थानं मोक्षलक्षणं यस्य स उदङ्कः । अथवा
उत्कृष्टः अङ्कश्चिन्द्ं प्रातिहार्याष्टकं यस्य स उदङ्कः (६१) । प्रश्नकीर्तिः—प्रश्ने गणधरदेवाद्यनुयोगे सति
कीर्तिः संशब्दनं ध्वनिप्रवृत्तिर्यस्य स प्रश्नकीर्तिः । अथवा प्रश्नस्य पृच्छायाः कीर्तिर्विस्तारो यस्य स प्रश्न-
कीर्तिः । अथवा प्रश्ने सति कीर्तिर्वशो यस्माद्गणधरदेवादीनां स प्रश्नकीर्तिः (६२) । जयः—जयति
मोहारातिमभिमवतीति जयः (६३) ।

पूर्णबुद्धिर्निष्कषायो विज्ञेयो विमलप्रभः ।

वह्लो निर्मलश्चिन्मगुसतः समाधिगुसकः ॥ ६३ ॥

पूर्णबुद्धिः—पूर्णा सम्पूर्णा लोफालोकसर्वतत्त्वप्रकाशिका केवलज्ञान-दर्शनलक्षणा बुद्धिर्यस्य स पूर्ण-
बुद्धिः (६४) । निःकषायः—निर्गता कषायाः क्रोधमानमायालोभाः यस्य स निःकषायः । निष्केन सुवर्णान
सदृशी (सा) सरस्वती कषादिपरीक्षोत्तीर्णा निष्कषा । तस्या आद्य आगमनं यस्य स निष्कषायः । अक्षरपदेऽपि
कचित्सकारस्य पत्वम् । यथा संहितायां हृदाय कारिमानं दाबन्धोपत्वम् । आलभते इति क्रियापदं दूरे वर्तते ।
अथवा निष्कस्य सा लक्ष्मीस्तस्या आयौ रत्नवृष्टिसमागमो यस्य स निष्कषायः । दातुर्यहे मातुर्नन्दिरे च
पञ्चाभ्यर्थाविधायक इत्यर्थः (६५) । तदुक्तं—

सुरमण्य-साहुकारो गंधोदय-रथव-पुष्कवुट्टी य ।

तह दु'दु'होषिषोसो पंचचलुरिया मुखेयव्वा ॥

विमलप्रभः—विमले घातिवंचातघाते सति प्रभा तेजोमण्डलं यस्य स विमलप्रभः । उक्तञ्च—

अथार्थं बहिरप्येव विप्रहादिमहोदयः ।

दिव्यः सत्यो दिवीकस्त्वप्वास्ति रागादिमत्सु सः ॥

अथवा विगतं मं मलं येषां ते विना गणधरदेवानगारकेवलयादयः । विमान् लाति यद्वाति विमला ।
तादृशी प्रभा यस्य स विमलप्रभः (६६) । उक्तञ्च—

मो मन्त्रे मन्दिरे माने सूर्यं चन्द्रे शिवे विधी ।

मात्वाविनि वृथा मन्त्रे मात्वा-प्रतिदानयोः ॥

मं मौली मोऽवहृत्सी मं ।

वह्लः—वहं स्क्वभदेशं लाति ददाति संकमभापेद्धरण्ये वह्लः । अथवा वहं वायुं लाति यद्वाति
पृष्ठत उपमोगतया वह्लः । अथवा वो वायुर्हलः सखा यस्य, पृष्ठतो गामित्वात् वह्लः । अथवा वो वंदनं

हलं सांगलं मस्य, पुण्यकर्षणोत्पादकत्वात् बहलः । अथवा बहति मोक्षं प्रापयति बहलः । शक्ति शक्ति बहि-
भ्योऽङ्कः । व्यापकत्वादिस्तीर्णः (६७) । निर्मलः—निर्गतं मलं विष्णुप्रादिवस्य स निर्मलः । उक्तञ्च—

तिस्थयरा तप्ययरा ह्यह्वरचकी व अह्वरचकी व ।
देवा व भोगभूमा आहारो अथि यथि यीहारो ॥

अथवा निर्गतानि निर्मलानि पापकर्माणि यस्मादसौ निर्मलः । अथवा निर्गता मा लक्ष्मीर्धनं वैश्वस्ते
निर्मा निर्ग्रन्थमुनयः चतुप्रकारास्तान् लाति स्वीकरोति यः स निर्मलः । उक्तञ्च—

निर्ग्रन्थाः शुद्धमूलोत्तरगुणमणिभिर्भेङ्गगारा ह्वीयुः,
संज्ञां ब्रह्मादिधर्मैः श्रुष्य इति च ये बुद्धिलब्ध्यादिसिद्धैः ।
श्रेययोरारोहणैर्षे यतय इति समग्रोत्तराभ्युच्चोर्धे-
र्षे मुन्याख्यां च सर्वान् प्रभुमह इह तानर्बन्धामो मुमुक्षून् ॥

अथवा निर्मान् पञ्चप्रकारनिर्ग्रन्थान् लाति निर्मलः । के ते पञ्चप्रकारा निर्ग्रन्था इत्याह—पुलाकबकुवा
कुशीलनिर्ग्रन्थरनातका निर्ग्रन्थाः, संयमभ्रुतप्रतिस्वनातीर्थलिंगलेखरयोपपादस्थानविकल्पतः साध्याः । इत्यनयोः
सूत्रयोर्विपर्यां तत्कार्यतात्पर्यवृत्तौ नवसहस्रश्लोकप्रमाणायां भ्रुतसागरकृत्यायां ज्ञातव्यं विस्तारतया मयात्र नैव
लिखितम् (६८) । चित्रगुप्तः—चित्रवत् आकाशवत् गुप्तः अलक्ष्यस्वरूपः चित्रगुप्तः । अथवा चित्रा
विचित्रा मुनीनामाश्रयकारिण्यो गुप्तयो मनोवचनकायगोपाया विद्यन्ते यस्य स चित्रगुप्तः । अथवा चित्रं
तिलकदानं प्रतिष्ठायां गुप्तं रूपदंशप्राप्य यस्य स चित्रगुप्तः । अथवा चित्राञ्जलीकथमनोनयनविस्मयाह्लादका-
रिण्यो गुप्तयज्ञयः समवसरणप्राकार यस्य विद्यन्ते स चित्रगुप्तः (६९) । उक्तञ्च—

स्वेन प्ररितजगत्त्रयपिपिडितेन
कान्तिप्रतापशशसामिव सञ्चयेन ।
माथिश्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्मभितो विनासि ॥

समाधिगुप्त—सम्यक् समीचीनानि अत्राधितानि वा आ समन्तान् धीयन्ते आत्मानं आरोप्यन्ते
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतापि परलोकरुपवन्तं निर्बिम्बेन प्रतिपाल्य तं उपसर्ग-पर्यपह्लादिधिनिपातेऽपि न त्यज्यन्ते
यस्मिन्निति समाधिः । उपसर्गं द. कि. । समाधिना गुप्तौ रञ्जितः, न संसारे पतितुं दत्तः समाधिगुप्तः । समैस्तृ-
णाचन-शत्रुमित्र-वनमवन सुखदुःख स्रोदन्दरुक्कनिजानिजेषु समानचित्तैर्मुनितत्तमैरधिगुप्तः अधिपकतया वेदितः
समाधिगुप्तः । अथवा सह मेन मन्दिरेण वर्तन्त इति समा रूढमार्धनो रूढः (७०), तैरधिगुप्तः सेवितः समाधि-
गुप्तः, सद्दृष्टिभिः आवर्कैराराधित इत्यर्थः । अथवा सह मेन मन्त्रेण वर्तन्ते ये ते समा विधाधराः, तैरधिगुप्तः
समाधिगुप्तः । अथवा सह मेन मानेन अहंकारतया वर्तन्ते ते समा असुरदयस्त्वरधिगुप्तः समाधिगुप्तः । अथवा
मैः सुधाचन्द्रमलैः शिवैर्देवा मायाविर्भरनेकपालखण्डिभिवृथामन्त्रैश्च अधिगुप्तः सेवितः समाधिगुप्तः । अथवा
ममाभिवर्षैरधिकः अतिदृढैरपि सेवितः समाधिगुप्तः । अथवा समः शोभितः आधिधर्मचिन्ता येषां ते समा-
धयो लौकान्तिकाहमिन्द्रदेवास्तेषु सो हृदयकमलेषु स्थिरतया रथापितोऽर्शनंशं तत्रस्थैरपि चिन्तितः समाधि-
गुप्तः । अथवा सह मया लक्ष्म्या वर्तत इति समो नारायणः, तेन अधिपकतया गुप्तः सेवितः
समाधिगुप्तः (७०) ।

स्वयम्भूध्यापि कन्दर्पो जयनाथ इतीरितः ।
श्रीविमलो विजयवायोऽजन्तवीरोऽप्युदीरितः ॥१४॥

स्वयम्भूः—स्वयमात्मना शुचिनरपेक्षतया भवति, निर्वेदं प्राप्नोति लोफालोकस्वरूपं जानाति स्वयम्भूः । स्वयं भवति निजस्वभावे तिष्ठति ६. यम्भूः । स्वयं भवति मंगलं करोति स्वयम्भूः । स्वयं भवति निजशुचीर्षुर्द्धिं गच्छति स्वयम्भूः । स्वयं भवति निर्वृत्तो वसति स्वयम्भूः । स्वयं भवति केवलज्ञान-दर्शन-द्वयेन लोफालोके व्याप्नोति स्वयम्भूः । स्वयं भवति सम्पत्तिं करोति भव्यानामिति स्वयम्भूः । स्वयं भवति श्रीवानां जीवनामिप्रार्यं करोति स्वयम्भूः । स्वयं भवति द्रव्यपर्यायान् शत्रुं शक्नोति स्वयम्भूः । स्वयं भवति ध्यानिनां योगिनां प्रत्यक्षतया प्रादुर्भवति स्वयम्भूः । स्वयं भवति ऊर्ध्वं त्रयास्वभावेन त्रैलोक्याग्रे गच्छति स्वयम्भूः (७१) । तथा चोक्तं—

सत्तायां मंगले हृद्भौ निवासो व्याप्तिसम्पदोः ।
अभिप्राये च शक्ती च प्रादुर्भाषे गतौ च भूः ॥

कन्दर्पः—कं सुखं तस्य दर्पोऽतितीव्रत्वा कन्दर्पः, अनन्तलौक्य इत्यर्थः । कं कुत्सितो दर्पो यस्य मते अत्याग्रे वा, स कन्दर्पः । भगवदग्रे यः पुमान् शानादेदर्पं करोति स कुत्सित इत्यर्थः । अथवा अग्नि-तीमरूपत्वाद्भगवान् कन्दर्प उच्यते । अथवा—

ऋशब्दः पावके सूर्यं धर्मं दाने धने पुमान् ।
आ अरौ अर पृतानि अरं चारौ ऋंश्च शक्ति ॥

इति वचनात् कन्दान् कन्दमूलानि रे धर्माय लोकानां पुण्यनिमित्तं पाति रक्षति भक्षितुं न ददाति, कन्दमूलानि धर्माय निषेधति, तेन भगवान् कन्दर्पः कथ्यते । ऋन्वर्णां अर् इति सन्धिकार्ये सति 'कन्द + ऋ + पः' इत्यस्य कन्दर्प इति रूपं निष्पद्यते (७२) । उक्तञ्च समन्तभद्रैः रत्नकरण्डके—

अल्पकञ्जवहुविधातान्मूलकमाद्राणि शृङ्खलेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं केतकमित्येवमवहेषम् ॥

जयनाथः—जयस्य सर्वदिग्विजयस्य नाथः स्वामी जयनाथः, सर्वस्मिन् धर्मक्षेत्रे आर्यखण्डे धर्म-तीर्थप्रवर्त्तक इत्यर्थः । अथवा जयस्य जयन्तस्य इन्द्रपुत्रस्य नाथः स्वामी जयनाथः । अथवा जयाय जयाय जयनिमित्तं संशरदुःखछेदनार्थं नाथ्यते याच्यते जयनाथः । अथवा जय नाथ, जय स्वामिभक्ति धर्मोपदेश-समये पुनः पुनर्भव्या वदन्ति, तत्प्रसिद्ध्या जयनाथ इति नामोच्यते (७३) ।

श्रीविमलः—विमलः कर्ममलकलङ्कुरहितो मतशीलातिचाररहितो वा विमलः भ्रिया बाह्यभ्यन्तर-लक्ष्म्या उपलक्षितो विमलः, भीविमलः । अथवा विविधं मं मलं पापं ह्युनाति क्षिणन्ति भक्तानां विमलः । ओऽसंज्ञायामपि, ङिति टेलोपः । ऊर्ध्वारलोपः । पश्चात् श्रीमांभ्रासौ विमलः भीविमलः इति कर्मचारवः क्रियते (७४) । **दिव्यवाद्** — दिव्योऽभानुषो वादो ध्वनिर्वस्य स दिव्यवादः । अथवा दिवि स्वर्गे व्योम्नि पाताले स्वर्गे व्यन्तरलोके वा मवाः दिव्याभ्यानुषिंकायंदवास्तेषां वा वेदनां संसारसागरपतनादु खं आसमन्तात् घति खंडयति निवारयति दिव्यवादः । अथवा दिव्यान् मनोहरान् त्रिजगज्जन्मनोहरान् अर्थान् पूर्वापर विरोध-रहितान् जीवादीन् पदार्थान् वदति दिव्यवादः । कर्मययन् । अथवा दिव्यं मन्त्रं ददाति दिव्यवादः, पञ्च-त्रिंशद्द्वारमंत्रोपदेशक इत्यर्थः । (७५) ।

अभिलषितकामधेनौ तुरितद्रुमपावके हि मन्त्रेऽस्मिन् ।
हृष्टाहृष्टकले सति परत्र मन्त्रे कथं सज्जतु ॥
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च ।
श्रमुं मन्त्रं समाराव्य तिर्यङ्गोऽपि दिवङ्गतः ॥

अनन्तवीरः—न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य स अनन्तोऽविनश्यतः । स चासौ वीरः सुमहः कर्मशानु-
किमशकः अनन्तवीरः । अथवा न विद्यते अन्तो विनाशो यस्याः सा अनन्ता, सा चासौ धी विशिष्टकैवल्य-
लक्ष्मीस्तां सति आरदाति ददाति वा भक्तानां तोऽनन्तवीरः । अथवा अनन्ते ऊर्ध्वमन्तरिक्षे तनुवातवलये
स्थात्यतीति धीरः अनन्तवीरः । भाविनि भूषणबहुषार इति परिभाषया सिद्ध एव स्वामी कथितः । अथवा
समवसरणे गन्धकुटीमध्ये सिंहासनोपरि तिष्ठन्नापि चतुरंगुलमाकाशं परिदृश्यान्ते विद्यति स्थितत्वात् वीरः अनन्त-
वीरः । अथवा जगति प्रलयं गतेऽपि शिष्यत इति वचनात् अनन्तः शेषनागो नारायणो वा । ताम्यामपि
अधिको वीरः अनन्तवीरः । अथवा अनन्ताः संख्याविवक्षिता धीरा नम्रीभूता यस्य तोऽनन्तवीरः (७६) ।

पुरुषेषोऽथ सुविधिः प्रज्ञापारमितोऽवश्यः ।

पुराणपुरुषो धर्मसारथिः शिवकीर्तनः ॥ ६१ ॥

पुरुषेवः—पुरुषमज्ञान इन्द्रादीनामारभ्यो देवः पुरुदेवः । अथवा पुरुषः प्रभुरा असंख्या देवा यस्य
स पुरुदेवः, असंख्यातदेवसेवित इत्यर्थः । अथवा पुरोः स्वर्गस्य देवः पुरुदेवः, देवदेव इत्यर्थः (७७) ।
सुविधिः—शोभनो विधिर्निष्ठाता सृष्टिकर्ता सुविधिः । अथवा शोभनो निरतिचारे विधिश्चारित्र्यं यस्य स
सुविधिः । अथवा शोभनो निधिर्देवं पुण्यं यस्य स सुविधिः । अथवा शोभनो विधिः कालो यस्य स सुविधिः
(७८) । **प्रज्ञापारमितः**—प्रज्ञायाः बुद्धिबिरोधस्य पारं पर्यन्तं हतः प्राप्तः प्रज्ञापारमितः । अथवा प्रज्ञापारैः
महापण्डितः उभयमीमांसाविचक्षुषीः मितः प्रमाणीकृतः प्रज्ञापारमितः, प्रत्यक्ष-प्रोक्षप्रमाणचतुरैर्गणधरदेवादि-
भिर्मनित इत्यर्थः (७९) । **अवश्यः**—न व्ययो विनाशो यस्य त्वव्ययिकनयेन तोऽव्ययः । अथवा अविना मेघेषा
अयः गमनं यस्य तोऽव्ययः । अव्यया अभिद्रुमार सेवापरा यस्य तोऽव्ययः । अथवा सिद्धिपर्यायं प्राप्तः स न व्येति
नोपचयापचय गच्छतीति अव्ययः, भाविनि भूषणबहुषार इति वचनात् (८०) । **पुराणपुरुषः**—पुराणश्चिरन्तनः
पुरुष आत्मा यस्मैति पुराणपुरुषः । अथवा पुराणेषु त्रिषष्टिलक्षणेषु प्रसिद्धः पुरुषः पुराणपुरुषः । अथवा पुराणे
अनादिकालानैककूपे पुरुषि महति स्थाने शेते तिष्ठति पुराणपुरुषः । अथवा पुरे शरीरे परमौदारिककायं अनिति
जीवति मुक्तिं यावद् गच्छति ताद्यपुराणः । स चासौ पुरुषः आत्मा पुराणपुरुषः । मुक्तिं प्राप्तः सन् न शरीरे तिष्ठती-
त्यर्थः जीवन्मुक्त इत्यर्थः । लोकभते तु पुराणपुरुषो नारायणः कथ्यते, शिरसा ललाटत्वात् (८१) । **धर्म-
सारथिः**—धर्मस्य ब्राह्मिणलक्ष्मणस्य सारथिः प्रवर्तको धर्मसारथिः । अथवा सह रथैर्वर्तते सरथः क्षत्रियः ।
सरथस्य क्षत्रियस्यापत्यं सारथिः । इत्यतः बुद्धिरासौ णिः^१ । धर्मस्य चारित्रस्य सारथिः प्रेरकः धर्मसारथिः ।
अथवा धर्माणां मध्ये सारो धर्मो धर्मसारः श्रीमद्भगवदर्थप्रणीतो धर्मः । धर्मसारं तिष्ठति धर्मसारथिः ।
संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिस्तु यथा^२ कथाचित् । तेन स्थापातोः सकारलोपः, किरत्ययस्य । छात्रोपोऽसक-
भातुके इत्यनेन आकारलोपस्तु न्यायसिद्धः (८२) । **शिवकीर्तनः**—शिवः श्रेयस्करं, शिवं परमकल्याणं
इति वचनात् । शिवं पञ्चपरमकल्याणदायकं तीर्थकरनामगोत्रकारकं कीर्तनं स्तुतिपर्यस्य स शिवकीर्तनः ।
शिवं ज्ञेयकरं सुखकरं वा कीर्तनं यस्य स शिवकीर्तनः । शिवे वेदे कीर्तनं यस्य स शिवकीर्तनः । अथवा
शिवेन वद्रेण कीर्तनं यस्य स शिवकीर्तनः । शिवानां सिद्धाना वा कीर्तनं यस्य स शिवकीर्तनः ।
दीक्षावसरे नमः सिद्धेभ्यः इत्युच्चारणात्वात् । शिवाय मोक्षाय वा कीर्तनं यस्य स शिवकीर्तनः (८३) ।

विश्वकर्माऽसुरोऽच्छुद्धमा विश्वभूविश्वनायकः ।

विगम्बरो निरातङ्को निरारेको भवान्तकः ॥ ६३ ॥

विश्वकर्मा—विश्वं कृच्छ्रं कष्टमेव कर्म यस्य मते स विश्वकर्मा । अथवा विश्वेषु देवविरोधेषु त्रयो-
दशसंख्येषु कर्म तेषां यस्य स विश्वकर्मा । अथवा विश्वस्मिन् जगति कर्म लोकजीवनकरं क्रिया यस्य स विश्व-
कर्मा । कर्म अत्र अविमपिकृष्णादिकं राज्यावस्थायां शातव्यम् (८४) । **असुरः**—न क्षति, स्वभावात् न

^१ इ इत्यतः मन्दा रासौ सति अ सत्ये । ^२ इ वधाभक्तम् ।

प्रच्यवते, आत्मन्येकलोलीभावत्वात् अक्षरः । अक्षरं मोक्षः सत्स्वरूपत्वात् क्षीयकर्मत्वादक्षरः, अर्हमित्यक्षररूपत्वा-
दक्षरः, परमब्रह्मकर्मतपोमूर्त्तित्वादक्षरः, कर्महोमकारकत्वात् अक्षररूपोऽध्वररूपः अक्षरः, आकाशरूपत्वाद्वाऽक्षरः ।
अथवा अक्षो ज्ञानं केवलस्यं ज्योतिस्तं राति भक्तानां दद्यात्यक्षरः । अथवा अक्षं आत्मानं राति स्वीकरोति
अक्षर । अथवा अक्षाणि इन्द्रियाणि राति मनसा सद् वशीकरोति अक्षरः । अथवा अक्षो व्यवहारः स्वयं
निश्चयनयमाश्रितोऽपि व्यवहारं दानपूर्वादिर्कं राति प्रवर्तयति लोके स भवत्यक्षरः । अथवा अक्षाः पातकानि,
तेषु रोऽभिर्यस्य स अक्षरः, घृतक्रीडा दद्यातामिति वदति सर्वमहापापमुख्यत्वात् अक्षरः (८५) । उक्तञ्च—

नजुंसकेऽक्षरं तुच्छे तथा सौवर्ण्येतिश्रये ।

अथः पुंसि दृश्यामीवपुत्रे विधि तथाऽऽस्त्वयि ॥

कथेऽनसि रथस्यावयथे ष्यवहृती तथा ।

पासकेषु ध्वनिर्भू व मत एकादशस्वपि ॥

अच्छदूमाः—न विद्यते छद्म पातिकर्म यत्येति अच्छदूमा । अथवा न विद्यते छद्म शास्त्रं यत्येति
अच्छदूमा । अथवा न विद्यते छद्मानी ज्ञान-दर्शनावरण्यादयं यस्य स अच्छदूमा (८६) विश्वभूः—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे म्यासि-सम्पदोः ।

अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥

इति वचनात् विरचस्मिन् भवति विद्यते अस्त्येव केवलज्ञानापेक्षया विरचभूः । विरचस्य भवति मंगलं
करोति विरचभूः । विरचस्य भवति वृद्धिं करोति विरचभूः । विरचस्मिन् भवति केवलज्ञानापेक्षया निवसति
विरचभूः । विरचं भवति व्याप्तोति केवलज्ञानापेक्षया विरचभूः । विरचस्य भवति संपदं करोति विरचभूः ।
विरचस्मिन् भूरभिप्राये मनोगतं ज्ञानं यस्य स विरचभूः । विरचस्मिन् भवति शक्तौ विरचभूः । विरचस्मिन्
भवति-प्रादुर्भवति ध्यानेन प्रत्यक्षीभवति विरचभूः । विरचं गच्छति केवलज्ञानेन जानाति विरचभूः । सर्वे
गल्पार्था धातवो ज्ञानार्था इति वचनात् (८७) विश्वनायकः—विरचस्य त्रैलोक्यस्य नायकः
स्वामी विश्वनायकः । अथवा विरूपका विविधा वा क्षान इव क्षानो मिथ्यादृष्टयः, तेषां न अयते
नागच्छति न प्रत्यक्षीभवति विश्वनायकः । अथवा विरचं नयति स्वधर्मं प्रापयति विश्वनायकः (८८) ।
विगम्बरः—दिशो अम्बराणि पञ्चाणि यस्य स दिगम्बरः, नम इत्यर्थः (८९) । उक्तञ्च निरुक्ते—

यो हतासः प्रशान्तासस्तमाशान्बरभूचिरे ।

यः सर्वसंगसत्त्वकः स नमः परिकीर्तितः ॥

निरातङ्कः सद्यः प्राणहरो व्याधिरातंकः स उच्यते । निर्गतां विनष्ट आतङ्को योगो यस्य स निरा-
तङ्कः । आतङ्कः शंका निर्गत आतङ्कः शंका यस्य स निरातङ्कः । अथवा निर्गत आतङ्कः संतापो यस्य स
निरातङ्कः (९०) । निरारेकः—निर्गतां आरेका तत्त्वविषये शंका संदिहो यस्य स निरारेकः (९१) ।
उक्तञ्च—

अहमेको न मे कश्चिदस्ति प्रायं जगत्त्रये । इति व्याधिन्नजोऽकाम्तिमीर्तिं शङ्कां प्रचक्षते ॥

एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्ब्रह्मतमिदं ब्रह्मम् । एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्का विदुः पराम् ॥

इत्वं शङ्कितचित्तस्य न स्वाहर्शनशुद्धता । न चास्मिन्नीक्षितावासिर्वयैवोभवचेतने ॥

एष एव भवेद्देवस्तरवमप्येतदेव च । एतदेव ब्रह्मं मुत्स्ये तदेवं स्वाह्मरङ्गवीः ॥

तस्ये ज्ञाते रियौ हृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते । यस्य दोषायते चित्तं रिकः सोऽभुव वेह च ॥

भवान्तकः— भवस्य संसारस्य अन्तको विनाशको भवान्तक । अथवा भवस्य व्रत्स्य अन्तको मृत्युर्यस्य मते स भवान्तकः । इत्यनेन व्रत्स्य ये मृत्युञ्जयं कथयन्ति ते प्रत्युक्ताः (६२) ।

दृढव्रतो नयोत्तमो निःकलङ्कोऽकलाधरः ।

सर्वज्ञेशापहोऽक्षयः क्षान्तः श्रीवृक्षलक्ष्ण ॥ ६७ ॥

दृढव्रतः— दृढं निश्चलव्रतं दीक्षा यस्य प्रतिष्ठा वा यस्य स दृढव्रतः (६३) । **नयोत्तमः** नयाः नैगमसंग्रहव्यवहारसूत्रशब्दसमभिरुद्धैर्भूताः सन्त । अथवा स्यादेकं स्यादनेकं स्यादुभयं स्यादवाच्यं स्यादेकं चावक्तव्यं च स्यादनेकं चावक्तव्यं च स्यादेकानेकं चावक्तव्यं च । तैश्चतुंग उन्नतः नयोत्तमः, सर्वयैकान्तरहित इत्यर्थः । ततो नाम्न्यः परमगुरुरेकान्ततत्त्वप्रकाशानो हृष्टेहृद्विस्मयबनत्वाद्बिद्यास्यत्वाद्दीर्घकल्पमसमूह-त्वाच्चेति न तस्य ध्यानं युक्तमिति तत्रार्थल्लोकधारिणो उक्तत्वात् । नयोत्तमः (६४) । उक्तञ्च—

अयं स्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणां तदंशधीः ।

नयो ध्यानान्तरापेक्षी दुर्बलस्तत्रिराहृतिः ॥

निःकलङ्कः— निर्गतः कलङ्कः अपवादो यस्य स निःकलङ्कः । यथा गोपनायस्य दुहितं नारायणो जगाम, सन्तनोः कलत्रं ईश्वरोऽजामत्, देवराजो गौतमभार्या बुभुजे । तदुक्तं—

किमु कुत्रलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्ष-

खिदशपरितरहृष्यां तापसीं यक्षिवेव ।

हृदयवृषाकुटीरे दृढमाने स्मराम्ना-

बुधितमनुचितं वा वेत्ति कः पविडतोऽपि ॥

चन्द्रः किल बृहस्पतिभार्यायां व्यभिचचार । तदुक्तं—

विधुरुरोः कलत्रेण गीतमस्यामरेधरः ।

सन्तनोश्चापि बुध्नां समगंस्त पुरा किल ॥

एवं सर्वेऽपि देवाः सकलङ्काः सन्ति, सर्वैश्वरीतयगस्तु निःकलङ्कः (६५) । **अकलाधरः**— कलां कलनं धरतीति कलाधरः । न कलाधरः अकलाधरः, न केनापि कलायितुं शक्य इत्यर्थः । अथवा अकं दुःखं लाति ददाति अकलः संसारः । तं न धरति, न स्वीकरोति अकलाधरः । अकलः संसारोऽधरो नीचो यस्य स अकलाधरः । अथवा न कलां शरीरं धरति अकलाधरः, चरमशरीर इत्यर्थः । अथवा न कलां चन्द्र-कलां धरति शिरसि धारयति अकलाधरः, निरामरखरमात् (६६) । **सर्वज्ञेशापहः**— सर्वान् शारीर-मान-सागान् ज्ञेशान् दुःखानि अपहन्ति सर्वज्ञेशापहः । अथवा सर्वेषां भक्तानां प्राणिनां ज्ञेशान् नरकादिदुःखानि अपहन्ति सर्वज्ञेशापहः । अथात् ज्ञेयतमलोसिति डप्रत्ययः (६७) । **अक्षयः**— न क्षयितुं शक्यः अक्षयः (६८) । **क्षान्तः**— क्षमते स्म क्षान्तः, सर्वपीडाहादीन् स्पष्टवानित्यर्थः (६९) । **श्रीवृक्षलक्ष्णः**— श्रीवृक्षोऽशोकवृक्षो लक्ष्णं यस्य स श्रीवृक्षलक्ष्णः । गन्धकुट्या उपरि मण्डपो यजनैकप्रमाणाः, तदुपरि क्षेत्र-नैकप्रमाणा मण्डपोपरि योजनैकप्रमाणाऽशोकवृक्षो मण्डिमयो दिव्यहंसादिपक्षिमण्डितः । महामण्डपशिखरो-परिस्थितः स्कन्धः, तेन भगवान् दूरादपि लक्ष्यते, तेन श्रीवृक्षलक्ष्णः (१००) ।

इति निर्वाणशतं समाप्तम् । इति 'सुरिर्भूतसागरविरचितयां जिनसङ्ख्य-

नामटीकायां सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

यदि संसार समुद्राद्द्विभ्रो^१ दुःखराशिभीतमनाः ।

तस्मिन्सहस्रनाम्नाभ्ययनं कुर्वन्समाधानः ॥

यो नामानि विनेश्वरस्य सततं संक्षिप्तवेद्वर्षतः,

धीमद्वर्षविबोधनस्य तुवसंराभ्यस्य धीमसिद्धिभिः ।

स स्वापुत्रपचको जगत्प्रपचको तीर्थकरः शंकरो

शोकाशापरिचरुषो गुणनविशिष्टाःशुद्धिः शुद्धधीः ॥

अथ विद्यानन्दिगुरुं सुरिबरं संमथम्य शुद्धमनाः ।

विद्वेषोमि ब्रह्मगतं सुसम्मतं साधुद्वेषानाम् ॥

ब्रह्मा चतुर्मुखो धाता विधाता कमलासनः ।

अञ्जभूरात्मभूः क्षष्टा सुरज्येष्ठः प्रजापति ॥६८॥

ब्रह्मा—एहि इहि इदं, इं हति इदि गच्छति केवलशानादयो गुणा यस्मिन् स ब्रह्मा । इदुः क्व-
 ष्वह्वात्सर्वः इति सूत्रेण मन् प्रत्ययः । अतिदनुबंधानामगुणोऽनुबंधोपः इत्यनेन नकारलोपो न भवति,
 तथापि विशेषातिदिष्टः प्रकृतं न वाधते इति न्यायात् विशेषेण कायानुबन्धप्रत्ययग्रह्यात् नलुक् । इकायात्
 पूर्वः अकारागमश्च तेन रश्चर्याः ब्रह्मन् जातं । इदि चांसुद्धौ, व्यञ्जनाच्च सिलोपः । सिगान्तनकारस्य
 नकारलोपः, तेन ब्रह्मा इति जातम् (१) । चतुर्मुखः— चत्वारि मुखानि यस्य स चतुर्मुखः । चातिबंधात्-
 धातने सति भगवत्सत्तादृशं परमौदारिकशरीरनैर्मल्यं भवति यथा प्रतिदिशं मुखं उन्मुखं दृश्यते, अयमतिशयः
 स्वामिनो भवति तस्माच्चतुर्मुखः । अथवा चत्वारोऽनुयोगाः प्रथमानुयोग कर्यानुयोग-चर्यानुयोग-द्रव्यानुयोगा
 मुखे यत्पार्श्वरूपाः स भवति चतुर्मुखः । अथवा चत्वारो धर्मापेक्षानमोक्षलक्षणाः पदार्थाः मुखे परिपूर्णास्त्वा-
 दनदायका यस्य स चतुर्मुखः । अथवा चत्वारि प्रत्यक्ष-परोक्षागमानुमानानि प्रमाथानि मुखानि यस्य स
 चतुर्मुखः । अथवा चत्वारि सम्पददर्शनशानचारिभूतपांसि मुखानि कर्मज्ञागमनद्वापणि यस्य स चतुर्मुखः ।
 (२) । धाता— दधाति चतुर्गतिपु पतन्तं जीवमुद्धृत्य मोक्षपदे स्थापयतीति धाता । अथवा दधाति प्रतिपा-
 लयति सूक्ष्मबाह्वर-पर्यासापर्याप्तलब्धपर्याप्तिकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तात् सर्वजन्तून् रक्षति परमकारुणिकत्वात्
 धाता (१) । विधाता— विशेषेण दधाति स्वर्ग-मोक्षयोः स्थापयति प्रतिपालयति वा विधाता । अथवा
 वीनां पक्षिणां धाता प्रतिपालकः । तर्हि अनर्थदण्डप्रसंगो भविष्यति ! इति चेन्न, भगवान् सर्वप्रणिनां प्रतिपा-
 लकः । पक्षिणां तु पोषणोऽनर्थदण्डः न तु पालने^१ । अथवा सेवागतानां सुर-नयनकराणां प्रमादपतिततन्तु-
 लादीनां समकसरणाद्वाहिर्मक्षयोऽपि पक्षिणां भावकीभूतानां न कश्चिदनर्थदण्डः, सेवागतानां पादक्षालनजलपाने
 ऽपि न कश्चिदनर्थदण्डः (४) । कमलासनः— पद्मासने स्थित्वा यदा धर्मोपदेशं करोति भगवान् तेन कम-
 लासन उच्यते । अथवा योनेनैकप्रमाथसहस्रदलकनककमलं आसनं उपवेशनस्थानं विद्वरतो भगवतो यस्य
 स कमलासनः । अथवा निःकमलाकाले कमलां राज्यलक्ष्मीं अस्थितिं त्यजति यः स कमलासनः । अथवा
 कमलाः मूमा आसने उपवेशनस्थाने यस्य स कमलासनः । भगवान् यदा वने तपस्वत्वं करोति तदा स्वामिनः
 समीपे सिंह-गजाः व्याघ्र-गावः सर्प-मयूक-रथेन-शशकाः अहि-नकुला-भास्कर-मूषकाः काकोदकाः इर्षव-
 हुरिणा इत्यादयः परस्परवैरिणो जीवाः वैरं परिहृत्य स्वामिनः समीपे उपविशन्ति परस्परं स्नेहं च कुर्वन्ति,
 तेन भगवान् कमलासन उच्यते । तथा समकसरणोऽपि । उक्तञ्च—

सारंगी सिंहशावं स्मरति सुतथिवा नन्दिनी व्याघ्रपोतं ,
 मार्जारी हंसबालं प्रयागपरवशा केकिकान्ता भुजंगम् ।
 वैराण्याजन्मजातान्पि शमितधियो जन्तवोऽप्ये स्वजन्ति,
 श्रित्वा साम्यैकस्यै प्रशमितकक्षुपं योगिनं शीघ्रमोहम् ॥

अथवा कस्य आत्मनो मलानि अष्टकर्माणि अस्यति निसकरोति मूलादुन्मूलयति निर्मूलकापं कथति कमलासनः । अथवा दीक्षाग्रहणकाले कमलां पृथ्वीं नारीं च अस्यति मुञ्चति कमलासनः । अथवा कमलं जलं छुद्यस्यः सन् चारित्र्ये पृथीते सति भोजनान्तरं न कदाचिदपि पिबति, क्षुल्लकानामपि पातुं न ददाति कमलासनः (५) । अञ्जभूः—अञ्जैः कमलैरुपलक्षिता भूर्जन्मभूमिर्यस्य स अञ्जभूः । अथवा मातु-
 रदरे अष्टदलं कमलं निजराक्षसा निषाय तत्कथिक्कायां स्वामी नवमासान् स्थित्वा वृद्धिङ्गतः, योनिमपि अस्पृष्ट्वा सञ्जातस्तेन अञ्जभूदुच्यते । अथवा अञ्जस्य चन्द्रस्य भूर्निवासस्थानं अञ्जभूः, सदा चन्द्रेण वेदित इत्यर्थः । अथवा अञ्जस्य धन्वन्तरेभूः स्थानं अञ्जभूः, वैद्यानामायुषेदस्य गुह्यत्वात् (६) । आत्मभूः—आत्मा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावशिवमत्कारैकलक्षणाः परमब्रह्मैकस्वरूपष्टकोत्कीर्णैस्फटिकमणि मत्सङ्गिकाविम्बसदृशो भूर्निवासस्थानं यस्य स आत्मभूः । अथवा आत्मा चक्षुषामगम्योऽपि सत्त्वारूपतयाऽ-
 त्येव यन्मते स आत्मभूः । अथवा आत्मा भूर्बुद्धिर्यस्य स आत्मभूः । अथवा आत्मना भवति केवलशनेन चराचरं व्याप्नोति आत्मभूः । अथवा आत्मा भूः सम्पद् यस्येति आत्मभूः । आत्मा भूः अग्निप्रायो यस्य स आत्मभूः । अथवा आत्मा भूः शक्तिर्यस्य स आत्मभूः । अथवा आत्मनि भवति प्रादुर्भवति आत्मभूः ध्यानेन योगिनां प्रत्यक्षीभवति आत्मभूः । अथवा आत्मना भवति गच्छति त्रिभुवनस्वरूपं द्रव्य-
 पर्णायतद्विहं उत्पादव्ययमौल्यलक्ष्णं जानाति कस्यकमव्यवधानरहिततया स्फुटं पर्यति च आत्मभूः (७) । उक्तञ्च—

स्थिति-जनन-निरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
 इति जिनसकलज्ञानान्धनं बचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥

स्रष्टा—सृजति करोति निघमानः पापिष्ठैर्नारकतिर्यग्यतौ उत्पादयति, मध्यस्थैर्न सृजते न निघते, तेषां मानवगतिं करोति । यैः सृज्यते पूज्यते आराध्यते तान् स्वर्गं नयति । वैर्यायते तान् मुक्त्वा न करोति । तदुक्तं—

सृजति करोति प्रथयति षट्यति निर्मानि निर्निमीते च ।
 अनुतिष्ठति विद्धाति च रचयति कल्पयति चेति करणार्थं ॥

बुष् तृचौ तृच प्रत्ययः, सृजि दृशी रागमोऽकारः स्वरारपरो घुटि गुणवृद्धिस्थाने छुषीश्च पत्वं, तद्वर्गस्य टकारोऽहवर्गः, आसौ सिलोपश्च स्रष्टा इति जातम् (८) । सुरज्येष्ठः—सुराणां देवानां मध्ये ज्येष्ठो बुद्धो महान् श्रेष्ठो वा । प्रशस्त्यर्थे श्रः । बुद्धस्य च ज्यः । प्रकृष्टः श्रेष्ठः प्रकृष्टो बुद्धो वा ज्येष्ठ उच्यते । प्रकृष्टं गुणवृद्धिपक्षसौ वा । अथवा सुराणां देवानां ज्यावत् मातेव हितकारकः सुरज्येष्ठः । अथवा सुराणां ज्या भूमिः स्वर्गलोकः, तस्यामिष्टः सुरज्येष्ठः । यतः सुराणां ज्या भूमिश्चिदा ततस्ते स्वर्गलोकं त्यक्त्वा सम-
 वसरणं समागच्छति भगवतः समे भूमौ तिष्ठन्ति, स्वामिनः तेषां कुर्वन्ति तेन सुरज्येष्ठः (९) । प्रजापतिः—
 प्रजानां त्रिभुवनस्थित लोकानां स्वामी प्रजापतिः (१०) ।

हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदांगो वेदपारयः ।

अजो मनुः शतानन्दो हंसयानस्त्रयीमयः ॥६१॥

हिरण्यगर्भः—हिरण्येन सुवर्णोपलक्षितो गर्भो यस्य स हिरण्यगर्भः । भगवति गर्भस्थिते नव-
मासान् रत्नकनकवृष्टिर्मातुर्युहांगयो भवति तेन हिरण्यगर्भः । गर्भागमनात् पूर्वमपि षण्मासान् रत्नैरुपलक्षिता
सुवर्णावृष्टिर्भवति तेन हिरण्यगर्भः । अथवा हि निश्चयेन रूप्यो रथो साधुर्गर्भो यस्य स हिरण्यगर्भः । भगवतः
पिता केनापि रथो जेतुं न शक्यो यस्मात्तेन भगवान् हिरण्यगर्भः (११) । **वेदज्ञः**—वेदेन श्रुतज्ञानेन मति-
श्रुतावधिभिर्वा भिमिर्मानैर्विद्वं वेदितव्यं जानाति वेदज्ञः । अथवा वेदान् स्त्रीपुत्रपुंसकवेदान् जानाति वेदज्ञः ।
अथवा वेदं परवेदान् जानाति वेदज्ञः । अथवा येन शरीरगद् भिन्न आत्मा शायते स वेदो भेदज्ञानं तं जानाति
वेदज्ञः (१२) । उक्तञ्च निरुक्ते—

विबेकं वेद्येदुच्छेयं शरीर-शरीरिण्योः ।

स प्रीत्यै विदुषां वेदो नास्तिजघपकारणम् ॥

वेदाङ्गः—शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दो ज्योतिषं निरुक्तं चेति मिथ्यावेदस्य अङ्गानि षड् वदन्ति
कर्मचाण्डालाः अद्भरभ्लेच्छापरनामानः । स्वमते तु वेदो ज्ञानं तन्मयं अङ्गं आत्मा यस्य स वेदाङ्गः । अथवा
वेदस्य केवलज्ञानस्य प्राप्ती मव्यप्राप्तिनां अङ्गं उपायो यस्मादसौ वेदाङ्गः (१३) । **वेदपारगः**—वेदस्य
ज्ञानस्य पारं गच्छतीति सर्वज्ञत्वसाधनात् असम्भवद्वाधकसद्भावात् वेदपारगः । अथवा वेदेन ज्ञानेन संसारसमु-
द्रस्य पारं पर्यन्तं गच्छतीति वेदपारगः । अथवा वेदान् द्वादशाङ्गानि पान्ति रत्नानि जिह्वाप्रे कल्पयन्ति^१ ये ते
वेदपाः श्रुतज्ञानिनः । वेदपानां आ समन्तात् रं कामं गमयतीति निराकरोतीति वेदपारगः । अथवा रणि शंकायां
वेदपान् न रगयति, न शङ्कयति निःसन्देहं तत्त्वमुपदिशति वेदपारगः (१४) । **अजः**—न जायते नोत्प-
द्यते संसारे इत्यज । (१५) **मनुः**—मन्यते जानाति तत्त्वमिति मनुः । पटि असि वसि हनि मनि त्रौपि इदि
कदि त्रंधि वल्लिभ्यश्च^२ उ प्रत्ययः (१६) । **शतानन्दः**—शतमानन्दानां यस्य स शतानन्दः, अनन्तसुख
इत्यर्थः । अथवा शतानामसंख्यानामानन्दो यस्मादसौ शतानन्दः, सर्वप्राप्तिमुखदायक इत्यर्थः (१७) ।
हंसयानः—हंसे परमात्मनि यानं गमनं यस्य स हंसयानः । अथवा हंसैः श्रेष्ठैः सह यानं विहारो यस्य स
हंसयानः । अथवा हंसः श्रेष्ठं यानं वाहनं सहस्रदलकनककमलं यस्य स हंसयानः । अथवा हंसवत् सूर्यवत्
अनीहितं स्वभावेन यानं विहारो यस्य स हंसयानः । अथवा हंसवत् यानं मन्दगमनं यस्य स हंसयानः (१८) ।
त्रयीमयः—त्रयाणां सम्पददर्शनज्ञानचारित्राणां समाहारस्त्री । त्रय्या निर्दूतस्त्रीमयः (१९) । उक्तञ्च—

जातिजरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम् ।

एषा त्रयी दतस्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी मता ॥

विष्णुस्त्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः ।

वैकुण्ठः पुण्डरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वभूः ॥१००॥

विष्णुः—वेवेष्टि केवलज्ञानेन विरवं व्याप्नोतीति विष्णुः । विषेः किञ्चेति नुः । उक्तञ्च—

यज्ञाद्येन विदारितं कररुहेद्वैत्येन्द्रवचःस्थलं

सारध्येन धनञ्जयस्य समरे योऽमारयत्कौरवान् ।

नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ञज्ञानमभ्याहृतं

विरवं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णुर्विशिष्टो मम ॥

इति भट्टकलङ्कः (२०) । **त्रिविक्रमः**—त्रयो विक्रमाः सम्पददर्शनज्ञानचारित्राणां शक्तिस्त्वयो
यस्य स त्रिविक्रमः । अथवा त्रिषु लोकेषु विशिष्टक्रमः परिपाटी यस्य स त्रिविक्रमः (२१) । **शौरिः**—सूर्यस्य
सुमत्स्य क्षत्रियस्य अपत्यं शौरिः (२२) । **श्रीपतिः**—श्रीयां अश्रुदयनिःश्रेयसज्ञानानां लक्ष्मीयां पतिः

भीषतिः (२३) । पुरुषोत्तमः—पुरुषेषु त्रिषष्टिलक्षणेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः (२४) । वैकुण्ठः—विक्रुण्ठा दिक्कुमारीणां प्ररनानामुत्तरदाने विचक्षणया तीर्थकुन्माता, तस्या अपत्यं पुमान् वैकुण्ठः (२५) । पुण्डरीकाक्षः—पुण्डरीकवत् कमलवत् अक्षिणी लोचने यस्य स पुण्डरीकाक्षः । बहुव्रीहौ सक्थ्यपत्नी स्वांगादिषि अच् । अथवा पुण्डरीकः प्रधानभूतः अद् आत्मा यस्य स पुण्डरीकाक्षः । (२६) । उक्तञ्च श्रीगीतमेन—

गायधरचक्रधरेन्द्रप्रभृतिमहाभय्यपुण्डरीकैः पुरुषैः ।

बहुभिः क्षातं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम् ॥

हृषीकेशः—हृषीकायामिन्द्रियाणां ईशो वशिता हृषीकेशः, जितेन्द्रिय इत्यर्थः (२७) । हरिः—हरति पापं हरिः । इः सर्वधातुभ्यः (२८) । स्वभूः—स्वेन आत्मना भवति वेदित.यं वेति स्वभूः । अथवा स्वस्य धनस्य भूः स्थानं स्वभूः । भक्तानां दारिद्र्यविनाशाक इत्यर्थः । अथवा सुष्ठु अतिशयेन न भवति पुनर्मवे स्वभूः (२९) ।

विश्वम्भरोऽसुरध्वंसी माधवो बल्लिवन्धनः ।

अधोक्षजो मधुद्वेषी केशवो विष्टरश्रवः ॥ १०१ ॥

विश्वम्भरः—विश्वं त्रैलोक्यं विभर्ति धारयति, न नरकादौ पतितुं ददाति विश्वम्भरः । नास्ति तू नृ हृ जि धारि तपि दपि सहा संज्ञायां खश् प्रत्ययः । इम्बारुषोर्मोऽन्तः (३०) । असुरध्वंसी—असुरो मोहो मुनिभिरुच्यते, तं ध्वंसते इत्येवंशीलः असुरध्वंसी । नाम्बज्जातौ ऋनिस्ताच्छ्रीहये । अथवा असून् प्राणान् राति यद्वाति असुरो यमः, तं ध्वंसते मारयति असुरध्वंसी, यमस्य यम इत्यर्थः (३१) । उक्तञ्च—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखा सदा ।

त्वामन्तकान्तर्कं प्राप्य ष्यावृत्तः कामकारतः ॥

माधवः—मायाः लक्ष्म्याः समवसरणकेवलशानादिकायाः धवो भर्ता माधव । राज्यकाले राज्य-लक्ष्म्या धवः स्वामी माधवः । अथवा मा शब्देन प्रत्यक्ष पराक्षप्रमाणादय लभ्यते । मायां प्रमाणाद्वये धवो भूतः अतिविचक्षणः माधवः कथ्यते । अथवा मधुर्धन्तः सदा वसन्तः सदा नित्यं सुखानुभवन्त्यात्, लीलाविलासकत्वाच्च तापिता, तस्यापत्य माधवः । अथवा मधुर्मधं क्षौद्र च, पुष्परसश्च, एतत्प्रयास्वादनं पाप-स्वरूपं वेति माधवः (३२) । उक्तञ्च —

मदु लिहिवि मुत्तद् सुखदु एदु ख भग्जहो दोसु ।

मत्तउ बहिषि जि अहिलसह तें सहो खरपपवेसु ॥

तथा—

मदु आसहउ धोडउ वि यासह पुखलु बहुत्तु ।

वद्साखरहं तिडिक्किउ वि काखलु डहह बहुत्तु ॥

तथा च स्मृतिः—

ससप्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसाङ्कते ।

तत्पापं जायते तस्य मधुविन्दुमिषेवयात् ॥

तथा च स्मृतिः—

मण्डिकागर्भसम्भूतबालाण्डकनिःपीडनात् ।

जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाङ्कतिः ॥

कललं गर्भविघ्नम् । तथा च—

प्रायः पुष्पाणि वाऽश्रीषान्मधुप्रतविशुद्धये ।
वस्थापित्वपि मन्वादिप्रयोगं नाहति व्रती ॥

बलिबन्धनः—बलिः कर्मबन्धनं जीवस्य यस्य मते स बलिबन्धनः । उक्तञ्च—

कम्मइं विडवथाचिक्कवाइं गरुवइं वणजसमाइं ।
यायावियक्कसथ जीवइउ उप्पहे पाइहिं ताइं ॥

अथवा बलमस्यास्तीति बलिः, बलवत्तरं त्रैलोक्यदोभकरणकारणं बन्धनं तीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रद्वयं यस्य स बलिबन्धनः । अथवा बलितृ पदेयकरस्तस्य बन्धनं षष्ठांशनिर्धारणं यस्मात् राज्यावसरे स बलिबन्धनः । अथवा बलिः पूजाबन्धनं विशिष्टपुण्यापार्जनकारणं यस्य स बलिबन्धनः । (३३) उक्तञ्च—

देवाधिदेवचरयो परिचरथं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहिं कामदाहिनिं परिचिनुयादाहतो नित्यम् ॥
अर्हचरयासपर्यामहासुभावं महाभनामवदत् ।
भेकः प्रसीदमत्तः कुसुमेनेकेन राजगृहे ।

अधोक्षजः—अधोक्षजाणां जितेन्द्रियाणां दिगम्बरगुरुणां जायते ध्यानेन प्रत्यक्षीभवति अधोक्षजः । शोऽसंज्ञायामपि इप्रत्ययः । अक्षजं ज्ञानं अधो यस्य स अधोक्षजः, केवलज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानामुपरि वर्तते इत्यर्थः । उक्तञ्च—

सञ्चण्डु अक्षिदिउ याएउमउ जो मयमुडु न पस्सियइं ।
सो क्षिदिउ पंचिदिउ थिरउ वइतरिखिहिं पाखिउ पियइं ।

इत्यनेनेन्द्रियजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणमिति बुवाणा नैयायिका निर्मूलमुन्मूलिता भवन्ति (३४) । मधुद्वेषी—मधुशब्देन मधुं सारचं च द्वयमुच्यते । तद्वद्वयमपि द्वेष्टि दूषितं कथयति, पापमूलं महद्व द्रुते इत्येवंशीलः मधुद्वेषी । मिथ्यादृष्टीनां तु मधुशब्देन जरासन्धः कथ्यते, तस्य द्वेषी गोपीवल्लभः । स तु नमस्कृतुं न योग्यः (३५) । तदुक्तं अकलङ्कभट्टेन—

यज्ञाद्ये न विदारितं करुहैद्वैत्येन्द्रवसुःस्थलं
सारभ्येन धनञ्जयस्य समरे योऽमारयत्कौरवान् ।
नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ज्ञानमप्याहृतं
विरवं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णुर्विद्विष्टो मम ॥

केशवः—प्रशस्ता अलिकुलनीलवर्णाः केशा मस्तके विद्यन्ते यस्य स केशवः । केशाद्वोऽन्यतरस्यां इत्यनेन सूत्रेण अस्त्यर्थे वप्रत्ययः । तीर्थकरपरमदवस्य शिरसि केशाः भवन्ति, न तु मुखे श्मश्रुणां कूर्चश्च वर्तते । उक्तञ्च—

देवास्तीर्थकराश्चक्रिबलकेशवनारकाः ।
भोगशूभ्रराः कामाः सर्वे कूर्चविवाञ्छिताः ॥

अथवा के परमब्रह्मणि ईशते समर्था भवन्ति महामुनयस्तेषां यो बालो यत्र स केशवः । ध्यानिनां योगिनां महामुनीनां निवास इत्यर्थः (३६) । विष्टरभवा—विष्टर इव भवती कर्णां यस्य स विष्टरभवा । सर्वबातुन्वोऽमुद्र । अथवा विस्तरे सकलभुतशाने भवती कर्णां आकर्षितवती यस्य स विष्टरभवा (३७) ।

श्रीवत्सलाञ्छनः श्रीमानच्युतो नरकान्तकः ।

विष्वक्सेनश्चक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दनः ॥१०२॥

श्रीवत्सलाञ्छनः—श्रीवत्सनामा वक्षसि लाञ्छनं रोमावतौ यस्य स श्रीवत्सलाञ्छनः । अथवा श्रीवत्सः लक्ष्मीसुतः कामदेवः स लाञ्छनं भंगमापितोऽभिज्ञानं यस्य स श्रीवत्सलाञ्छनः । अथवा श्रीवत्सले लक्ष्मीकान्ते आञ्छनं आयागः संसारदैर्घ्यं यस्य मते स श्रीवत्सलाञ्छनः । यः किल लक्ष्म्यां स्नेहलो भवति लोभिष्टो भवति स दीर्घं संसारं प्राप्नोति, पिण्याकगन्धवत् (३८) । उक्तञ्च—

वहयाः क्षितेस्तुतीयेऽस्मिन् लल्लके दुःखमल्लके ।

येते^१ पिण्याकगन्धेन घनायाविद्धचेतसा ॥

श्रीमान्—श्रीर्षद्विज्ञा समवसरणलक्षणा, अन्तरज्ञा केवलज्ञानादिका विधत्ते यस्य स श्रीमान् (३६) । **अच्युतः**—न च्यवते स्म स्वकृपादच्युतः, परमात्मनिष्ठ इत्यर्थः (४०) । **नरकान्तकः**—मिथ्यादृष्टयः खल्वेवं वदन्ति-नरकनामा दैत्यः, स वरदानवलेन ईश्वरमेव भस्मीकर्तुं लग्नः पार्वतीप्रहृष्टायै । नारायणेन तु पार्वतीरूपं गृहीत्वा स नर्चितः शिरसि आवत्करं करोति तावत्स एव भस्मीभवति । तेन नारायणः किल नरकान्तकः कथ्यते । श्रीमद्भगवद्दृष्टवर्षस्तु सद्धर्ममार्गप्रकाशकत्वात् नरके घर्मा-वंशा-शिलाञ्जना-रिष्टा-मघवी-माघवीनामसप्तप्रकारेऽपि न कर्मापि पतितुं ददाति, तेन नरकान्तक उच्यते । नरकस्य रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा बालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इति सप्तभूमिषु पतितुं न ददाति तेन नरकस्य अन्तको विनाशकः, स्वर्ग-मोक्षप्रदायक इत्यर्थः (४१) । **विष्वक्सेनः**—मिथ्यादृष्टयः खल्वेवं निर्वचन्ति—विश्वञ्चो यादवाः सेनायां यस्य स विष्वक्सेनो नारायणः । भगवद्दृष्टवर्षस्तु विष्वक् समन्तात् सेना द्वादशविधो गणो यस्य स विष्वक्सेनः । अथवा विष्वक् समन्तात् स्वर्गाम-भ्योपाताललोकेषु वा सा लक्ष्मीर्वर्तते, तरयाः इनः स्वामी विष्वक्सेनः, इन्द्र-धरण्येन्द्र-नरेन्द्रादिभिर्निजलक्ष्मीभिः पूजितत्वात् (४२) । **चक्रपाणिः**—मिथ्यादृष्टयः किलैवं निर्वचन्ति—चक्रं भ्रमिलं आ्युधविशेषः पाशौ करे यस्य स चक्रपाणिः । भगवद्दृष्टवर्षस्तु चक्रलक्षणं पाशौ यस्य स चक्रपाणिः । तदुपलक्षणं रथीन्दुकुलिशार्दना अष्टाधिकलक्षण-सहस्रं यस्य । अथवा चक्रं पृथ्वीमण्डलं पाशौ हस्ते यस्य स चक्रपाणिः, त्रिभुवनजनप्रभुत्वात् । अथवा चक्रं पान्तिं रक्षन्ति चक्रपाः, अर्धमण्डलेश्वराधे चक्रवर्तिसकलचक्रवृत्तिपर्यन्ता राजानः, तेषामणिः सीमा चक्रपाणिः; धर्मचक्रवर्तित्वात् । एतादृशश्चक्रवर्ती संसारे कोऽपि नास्तीत्यर्थः । अथवा अथ रथ वथ भय मथ कथ वथ हन ध्वन शब्दे इत्यनेन धातुपाठसूत्रेण तावत् अथ धातुः चक्रपात्रं सुरेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्रान् अणति शब्दं करोति परमधर्मापदेशं ददाति चक्रपाणिः । इः सर्वेषामुभयः इति सूत्रेण इ प्रत्ययः (४३) । **पद्मनाभः**—पद्मवत् कमलपुष्पवत् नाभिर्यभ्य स पद्मनाभः । समासात्तगतानां वा राजादीनाम-दन्तला इत्यधिकारे संसायां नाभिः । अन् प्रत्ययः (४४) । **जनार्दन**—जनान् जनपदलोकात् अर्हति सम्बोधनार्थं गच्छति जनार्दनः । अथवा जनास्त्रिभुवनस्थितमव्यलोका अर्दाना मोक्षयाचका यस्य स जनार्दनः । अथवा जनान् अर्हयति मोक्षं गमयति जनार्दनः । नन्थादेयुः । इन्द्रन्त्यय युप्रत्ययः (४५) ।

श्रीकण्ठः शंकरः शम्भुः कपाली वृषकेतनः ।

मृत्युञ्जयो विरूपाक्षो वामदेवस्त्रिलोचनः ॥१०३॥

श्रीकण्ठः—श्रीमुक्ति लक्ष्मीः कण्ठे आलिंगनपरा यस्य स श्रीकण्ठः (४६) । **शङ्करः**—शं परमा-नन्दलक्षणं सुखं करोतीति शङ्करः । शं पूर्वैभ्यः संज्ञायां अच् प्रत्ययः (४७) । उक्तञ्च—

दुर्धवं येन पुरत्रयं शरमुखा सीतापिषा वङ्गिमा

यो वा वृष्यति मत्तवस्त्रिभुवने यस्यात्मजो वा मुहुः ।

लोड्यं किं मम शङ्करो भयवृत्तारोचार्त्तिमोहहृद्यं
कृत्वा यः स तु सर्वचित्तलुभृतां क्षेमकरः शङ्करः^१ ॥

शम्भुः—शं परमानन्दलक्षणं सुखं भवत्यस्मान्छम्भुः । मुचो बुद्धिर्भोगेषु च (४८) । कपाली-
कान् आत्मनः सर्वजन्तून् पालयतीति कपाली । अथवा कं परमब्रह्मस्वरूपमात्मानं पाति रक्षति संसारपतना-
न्निवारयन्ति कषा मुनयः, तान् लाति भूययति शोभितान् करोतीत्येवंशीलः कपाली । नाम्न्यजातौ विनिस्ता-
च्छीक्ष्ये (४९) । वृषकेतनः—वृषोऽर्हिसालक्षणी धर्मः केतनं ध्वजा यस्य स वृषकेतनः । (५०) ।
मृत्युञ्जयः—मृत्युं अन्तकं यमं कृतान्तं धर्मपणं जयतीति मारयित्वा पातयतीति मृत्युञ्जयः । बाह्वि त्वं नृ
वृ जि धारि तपि द्धि सर्हा संज्ञार्थां लशप्रत्ययः । एजः लश इत्यतो कर्तते, हस्वाक्षोर्मोऽन्तः (५१) ।
विरूपाक्षः—मिथ्यादृष्टयः किलेवं वदन्ति यत् यदो विरूपाक्षः कथ्यते । तन्निवक्तिः—विरूपाणि भित्वात्
अमनोहराणि अर्क्षीणि लोचनानि यस्येति विरूपाक्षो यः । श्रीमद्भगवद्दर्हल्लवर्षस्तु विरुपं रूपपदं सृष्टमस्व-
भाषं अक्षि केवलज्ञानलक्षणं लोकालोकप्रकाशकं लोचनं यस्य स विरूपाक्षः । सवभ्यक्ष्णी स्वामि इत्यनेन
सूत्रेण बहुव्रीहौ अत् प्रत्ययः । अथवा विरुपे विशिष्टरूपे कर्णान्तविभान्ते त्रिभुवनमनोहरे अक्षिणी लोचने
यस्य स विरूपाक्षः । उक्तञ्च—

नेमिर्बिहालनयनो नयनोदितधीरभ्रान्तबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूयः ।

प्राप्तो महाजनगाराक्षगराजि तत्र सूते न चाह जगदे जगदेकनाथः ॥

अथवा विरुप. केवलज्ञानगम्यः अक्ष. आत्मा यस्य स विरूपाक्षः । अथवा विर्गण्डः, तद्रूपः संसार-
विषयनिपथकः अक्ष आत्मा यस्य स विरूपाक्षः (५२) । उक्तञ्च शुभचन्द्रेण सुरिणा—

शिबोऽयं वैनतेयश्च स्मरञ्जालैव कीर्तितः ।

आशिमद्विगुणानर्भ्यैरक्षर्षाधर्षुर्धर्मतः ॥

अन्यच्च—

आत्यन्तिकस्वभावोत्थामन्वज्ञानसुखः पुमान् ।

परमात्मा विपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः ॥

वामदेवः—वामो मनोहरो देवो वामदेवः । अथवा वामस्य कामस्य रुद्रस्य प्रतिकूलस्य शत्रोरुपि
देवः परमाराध्यो वामदेवः । अथवा वामानि वक्राणि त्रिपमाणि रक्षितुमशक्यानि दुर्जयानि देवानि हिन्द-
याणि यस्य मते स वामदेवः । अथवा वामा मनोहरा देवाः सौधमेन्द्रादयः सेवापरा देवा यस्य स वामदेवः ।
अथवा वायां वन्दनायां मा लक्ष्मीर्यस्य स वामः । वामश्वासी देवो वामदेवः । अथवा वायां वन्दनायां मः
सूर्यश्चन्द्रो वदो विधाता च यस्य स वामः, स चासौ देवो वामदेवः । अथवा वामानां शचीप्रभृतीनामत्यर्थं
रगोत्पादिकानां देवीनां राजपत्नीनां देवः परमाराध्यो वामदेवः । याकासौ कीर्तितौ हस्वौ क्वचित् (५३) ।
त्रिलोचनः—त्रयार्थां स्वर्ग-मर्त्य-पातालस्थितानां भव्यजीवानां लोचनप्रायः नेत्रस्थानीयः त्रिलोचनः ।
श्रीमद्भगवद्दर्हल्लवर्षं विना लोका न किमपि परयन्ति अन्धसदृशा एव भवन्ति, तेन त्रिलोचनः । अथवा त्रिषु
भुवनेषु लोचने केवलज्ञान-दर्शने नेत्रे द्वे यस्य स त्रिलोचनः । अथवा जन्मारभ्य मतिभ्रुतावधिलक्षणाणि
लोचनानि नेत्राणि यस्य स त्रिलोचनः । अथवा त्रिणाङ्गं हीनाङ्गं च मिथ्यात्वकर्मोदयान्भवति रुद्रस्य तादृशं
ललाटे लोचनं भवति, तत्तु न क्वाभ्यम् । उक्तञ्च कालिदासेन कुमारसम्भवे महाकाव्ये—

बहुविरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता विगम्भरत्वेन निवेदितं बभु ।

वरेषु यद्वाजस्रगादि सुगन्धे लदस्ति किं स्वस्त्वमपि त्रिलोचने ॥

अथवा त्रिषु मनोवचनकारेण्यु लोचनं मुण्डनं यस्य स त्रिलोचनः । अथवा त्रिकरणशुद्धं पञ्चगुह्यि-
मिलोचनं कैशोत्पाटनं यस्य स त्रिलोचनः । अथवा त्रीणि सम्यग्दर्शनशान्तरित्राणि लान्ति गृह्णन्ति त्रिला
महासुनयः, तेषां त्र्योचनः समवायो यस्य स त्रिलोचनः । चकाराधिकारात् इवचित्पूर्वोऽपि लुप्यते त्रिल-
शब्दस्यावर्णालोपः (५४) ।

उमापतिः पशुपतिः स्मरारिस्त्रिपुरान्तकः ।

अर्धनारीश्वरो रुद्रो भवो भर्गः सदाशिवः ॥१०४॥

उमापतिः—

तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनेन सुहाव ।
उ मेति मात्रा तपसे निषिद्धा पश्चाद्ब्रह्माख्यां सुसुखी जगाम ॥

इति कालिदासः । स्वमते तु उमानाम्नी राजकन्या मातुर्दुर्भाग्यदायिका पर्वते परिहृता सा केनचिद्
विद्याधरेण लब्धा मम पुत्रीति पोषिता परिष्ठापिता च । तत्र भर्तृमरणे विषया सती श्रेयावधृता । सा उमा
कथ्यते । तस्याः पतिरीश्वरः उमापतिः । भगवद्दर्शनार्थं शस्तु उमायाः कान्तेः कीर्त्तेश पतिः स्वामी उमापतिः ।
अथवा उः समुद्रः क्षीरसागरः, तस्य तां च, उमैरुपर्वतः, एतेषां त्रयाणां उराश्चेन लब्धानां मा लक्ष्मीः
शोभा उमा, तस्याः पतिरुमापतिः (५५) । पशुपतिः— पशुनां सुर-नर-तिरिक्तां पतिः स्वामी पशुपतिः ।
पश्यन्ते कर्मकथनंरिति पशवः-^१अपष्ट्वादित्वाद्दुप्रत्ययान्तो निपातः । पशव इति संस्वारिणो जीवारतेषां पतिः
प्रभुः पशुपतिः (५६) । स्मरारिः— स्मरस्य कन्दर्पस्य अरिः शत्रुः स्मरारिः । प्रसंख्यानपविपावक-लुष्टा-
शुल्बानमन्मथमवर्दारिद्रितच्छस्मरारिबन्ध इत्यर्थः । (५७) । त्रिपुरान्तकः— तिसृणां पुरां जन्मजरामरण-
लक्षणां नगराणां अन्तर्को विनाशकस्त्रिपुरान्तकः । अथवा भोजगमनकाले त्रयाणां शरीराणां परमौदारिक-
तेजसकार्मणानाम्नामन्तको विपरिहारकस्त्रिपुरान्तकः । अथवा त्रिपुरं त्रैलोक्यं तस्यान्ते त्रिजगदमे कः आत्मा
ज्ञानकार्यो यस्य स त्रिपुरान्तकः (५८) । अर्धनारीश्वरः— अर्धं न विद्यन्ते अरयः शत्रवो यस्य सोऽर्ध-
नारिः घातिसंघातघातनः । स चासाधीश्वरः स्वामी अर्धनारीश्वरः (५९) । उक्तञ्च उमास्वामिना—
मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणात्क्षयक्षयाच्च केवलम् । रुद्रः— कर्मणां गैर्युक्तित्वात् रुद्रः, रोदिति आनन्दा-
भूषि मुञ्चति आत्मदर्शने सति रुद्रः । स्वायि-तस्त्रि वस्त्रि शक्ति क्षिपि क्षुदि रुद्रि मदि मन्वि चभ्यु न्दीदिभ्यो रक् (६०) ।
भगवः— भवत्यस्माद्दिश्वर्मिति भवः । भगवन्तं यो विराधयति स नरके तिरश्च वा उत्पद्यते । यो मध्यस्थो
भवति स भनुष्यां भवति । यः आराधयति स स्वर्गीभवति । यो ध्यायति स मुक्तो भवति । तेनैवं निरुक्तिः—
भवत्यस्माद्दिश्वर्मिति भवः (६१) । भर्ग— रुद्रि श्रुती भर्जने इत्ययं धातुः भौवादिकः आत्मनेपदी ।
भृष्यन्तेऽनेन कामक्रोधादयो ध्यानाग्निना पच्यन्ते मस्मीक्रियन्ते भर्गः । अकर्त्तरि च कारके संज्ञायां घञ्
प्रत्ययः । नामिनश्चोपधाया लघोर्युष्णः चजोः कर्गो, शुब् धातुबन्धवोः । जस्य गः । अथवा ङुषात् ङुभृत्
धारण-पोषणयोः इत्यय धातुः आदादिको जुहोत्यादिगणौ वर्तते, तेन विभर्त्ति धारयति केवलज्ञानादीन् गुणा-
निति भर्गः । अथवा विभर्त्ति पोषयति स्वर्गमोक्ष-दानेन सुखेन पुष्टान् करोति भव्यजीवानिति भर्गः । घ-
श्रुत्वां गः । उयादौ पञ्चमाध्याये षष्ठितमं सूत्रमिदम् (६२) । सदाशिवः— सदा सर्वकालं शिवं परमकल्याणं
छन्दन्तं सुखं वा यस्य सदाशिवः । अथवा सदा सर्वकालं अरनन्ति दिवायत्रौ च मुञ्जते भोजनं कुर्वन्ति, रात्रि-
भोजनदोषं न मय्यन्ते, ते सदाशिवः । तेषां वः समुद्रः संस्वारसागरनिभजनं यस्य मते स सदाशिवः । उक्तञ्च
प्रभाचन्द्रगणिना—

विक्रपो विकलाङ्गः स्वादस्वानुः रोगपीडितः ।

दुर्मंगो दुःकुलश्चैव नक्तभोगी सदा नरः ॥

अपि च—

निजकुलैकमण्डनं त्रिजगदीशसम्पदम् ।

भजति यः स्वभावतस्त्यजति नक्तभोजनम् ॥

अथवा सत् समीचीनं आ समन्तात् शिवं कल्याणपञ्चकं यस्य स सदाशिवः (६३) ।

जगत्कर्त्ताऽन्धकारातिरनादिनिधनो हूरः ।

महासेनस्तारकजिद् गणनाथो विनायकः ॥ १०५ ॥

जगत्कर्त्ता—जगतां कर्त्ता स्थितिविधायकः मर्यादाकारकः जगत्कर्त्ता । अथवा जगतः कं मुखं इत्यर्तिं गच्छति जानाति जगत्कर्त्ता । अहं ह्य गतौ, अहं गतौ वा । तुचादिसिद्धं रूपमिदम् (६५) । अन्धकारातिः— अन्धश्चक्षुरहितः सम्बन्धविधातकः कः कायः स्वरूपं यस्य स अन्धकः मोहकर्म, तत्यारातिः शत्रुः मूला-दुन्मूलकः अन्धकारातिः । अथवा कुत्सितः अन्धः अन्धकारं तद्योगात्तरकः अन्धक उच्यते, तस्य अराति-रमिमातिर्नरके पतितुं न ददाति स्वर्गादौ गमयति यः स अन्धकारातिः । अथवा अन्धा घोरान्धकारसंहिता यासौ कारा बन्दीशहं शरीरलक्षणं मगुरुदरं वा, तस्यां न अर्त्तिर्न गमनं यस्मादसौ अन्धकाराऽस्तिः, अकारस्य प्ररलेपात् । सर्वैव(तुभ्य इः इति च लक्षणैः रूपमिदम् (६५) । अनादिनिधनः - न विद्येते आदिनिधने उत्पत्तिमरखे यस्य स अनादिनिधनः । अथवा अनस्य जीवितस्य आदिर्जन्म तत्पर्यन्तं न्यतिशयेन धनं लक्ष्मीर्यस्य सोऽनादिनिधनः, आजन्मपर्यन्तं लक्ष्मीवान् इत्यर्थः । भगवान् समयसरखे स्थितोऽपि लक्ष्म्या नवनिधिलक्ष्णया न त्यक्तो यतः (६६) । हूरः अनन्तभवोपाजितानि अघानि पापानि जीवानां हृषति निराकरोतीति हूरः । अथवा हूं हूं अनन्तमुखं राति ददाति आदत्ते वा हरः । अथवा राज्यावस्थायां हूं सहस्रसरं तरलमन्यगं हारं मुक्ताफलदाम राति वह्ःस्थले दधाति, कण्ठे धरति ङ हरः । अथवा हस्य हिंसाया ये अग्निदाहक अश्रमेधादियागाधर्मनिषेधक इत्यर्थः (६७) । महासेनः—महती द्वादशगण-लक्ष्या सेना यस्य स महासेनः । राज्यावस्थाया वा महतीं चतुःसागरतटव्यनवासिनी सेना चमूर्यस्य स महासेनः । अथवा महस्य पूजाया आ समन्तात् सा लक्ष्मीः शोभा महाला, तस्या इनः स्वामी महासेनः । अथवा महतीं केवलशानलक्ष्णोपलक्षिता सा देवी सरस्वती, तस्या इनः स्वामी महासेनः । उक्तञ्च महस्यं सरस्वत्या दुर्गासिंहेन कथिता—

शान्वात्मिकाया त्रिजगद्धिर्भर्ति स्फुरद्विचित्रार्थेषुधां जवती ।

या बुद्धिरिच्छा विदुषां हृदये मुखे च सा मे चरामस्तु नित्यम् ॥

अथवा आसनमासः, आस्यतेऽस्मिन्निति वा आसः । अकर्त्तरि च कारके संज्ञार्यां घञ् प्रत्ययः । महाशब्दात्त्वावसः सिद्धिद्विहरं त्रिमिश्रलापीठोपरि-स्थितवचितागन्धकुटीमये स्थितं भिंशानं महास उच्यते । तदुपरि स्थितो भगवान् इन इव सूर्य इव प्रतिभासते महासेनः (६८) । तारकजिद् - परमते तारको नाम वैश्वविशेषः, स किल इन्द्रादीन् संतापितवान् । तन्मारण्यार्थं कर्त्तव्यं कृत्वा पार्वत्यां कार्तिकेयं पुत्रं कृत्वा अनयित्वा तमिन्द्रः सेनापतिं कृत्वा तारकं मारितवान् । तेन कार्तिकेयं तारकजितमाहुर्मिथ्यादृष्टयः । स्वमते तु भगवदहंस्वरुस्तारकजिद् । कस्मात् ? तारयन्ति संवारसमुद्रस्य पारं नयन्ति मन्वजीवान् तारकाः गन्धधरदेवा-नगारकेवलिसुर्युपाध्यायसर्वसाधवः, तान् जितवान्, सर्वेषामभ्युपरि बभूव, तेन तारकजिदुच्यते । अथवा तारम-त्युच्चैः शब्दः, तं कारयन्ति ध्वनन्ति गर्जनं कुर्वन्ति तारका उद्वेलवजलधराः, तान् निजेन ध्वनिना जितवान् तारकजिद् । उक्तञ्च देवनाम्बिन्वा भट्टारकेन ।

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजापते औन्नद्वयद्वारिगमीरः ।

स सलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रविलसत्साराहावलयम् ॥

अथवा तारं रूपं शुक्लमित्यर्थः । तारवत् रूपवत् शुक्लकः परमात्मा, तं जितवान् इस्ते कृतवान् प्राप्तवानिति यावत् । कर्ममलकलङ्करहितं परमात्मानं प्राप्तवानित्यर्थः । अथवा ताडयति आत्मानं ताडको मोहः तं जितवान् तारकजित् । अथवा तालयति मुद्रयति मोक्षपुरद्वारे कण्ठरूपतया तिष्ठति तालकोऽन्तपयः पञ्च-प्रकारः, तं जितवान् मूलादुन्मूलितवान् तारकजित् । अथवा इस्ततालं दत्त्वा रमशाने दृष्यति तालको रुद्रः, तं व्यथति निजपादाक्रान्तं करोति तारकजित् (६६) । गणनाथः— परमते दण्डी वामन इत्यादयो रुद्रगणा-स्तेषां नाथो रुद्रः गणनाथः । स्वमते गणस्य द्वादशभेदसंबन्धस्य नाथः स्वामी गणनाथः । अथवा गणो संख्यायां नाथः समर्थः गणनाथः, अचलात्मकपर्यन्तगणितशास्त्रे समर्थ इत्यर्थः । अथवा नाष्ट नाष्ट उपतापैरवर्षाशीषु च इति धातुयोगात् गणसंबन्धं नाथते ऐश्वर्यं ददाति आशुर्विषयं वा करोति गणनाथः । अथवा गणनायां मुख्यत्वे तिष्ठति गणनाथः । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिस्तु यथाकथञ्चित् इति वचनात् । आलोपोऽसार्वाधतुके, आकारलोपः सकारलोपश्च (७०) । विनायकः— विशिष्टानां गणान्द्रे सुरेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्र-विद्याधरचार्यादीनां नायकः स्वामी विनायकः । अथवा विगतो नायको यस्य स विनायक सर्वेषां प्रमु-रित्यर्थः । अथवा वेगंरुडय नायकः विनायकः, संसारविषयिनःसुदकलात् । (७१) ।

विरोचनो विद्यद्रन् द्वादशात्मा विभावसुः ।

द्विजाराध्यो बृहद्भानुश्चिभ्रमातुस्तनुपात् ॥१०६॥

विरोचनः—विशिष्टं रोचनं ज्ञातिकं सम्पत्त्वं यस्य स विरोचनः । अथवा विशिष्टं लोकालोकप्र-काशनं लोचनं केवलज्ञानलक्षणं चतुर्ण्यस्य स विरोचनः । अथवा विगतो रोचनः कूटशाल्मर्लर्षत्मादती विरो-चनः, नरकदुःखनिवारक इत्यर्थः । अथवा विशिष्टा रोचना उत्तमा स्त्री मुक्तिवर्तिता यस्य स विरोचनः । अथवा विगतं रोचनं संसारपीतित्यस्य स विरोचनः । अथवा विशिष्टं रोचनं दीर्घित्यस्य स विरोचनः । अथवा विरूपिका जिनपुत्राया विरुद्धा रोचना गोपितं यस्य स विरोचनः । अथवा विशेषेण रोचते शोभते विरोचनः निगमरख्यभासुरत्वात् (७२) । विद्यद्रन्मन्—वियतः आकाशात् रत्नं रत्नदृष्टित्यस्य यस्माद्वा दातुर्दहे विद्यद्रन्मन् । अथवा वियतः आकाशास्य रत्नं अन्तर्निश्चरित्वात् । अथवा वियतस्तनुवातवातवलस्य रत्नं भविष्यति विद्यद्रन्मन् । अथवा विशिष्टं यन्तो गच्छन्तो मन्दगमना महामुनयस्तेषु रत्नं स्वजात्युत्तमाः (७३) । उक्तञ्च—

मदंगमण्यं मोक्षं च भासयं कोह-लोहपरिहरणं ।

इदियवत्पुद्गल्यं समखाद्यं विहृसयं पृथं ॥

द्वादशात्मा—द्वादशानां गणानामात्मा जीवप्रायः द्वादशात्मा । अथवा द्वादश अङ्गानि आत्मा स्वभावो यस्य स द्वादशात्मा । अथवा द्वादश अनुप्रेक्षा आत्मानि छत्रस्थावस्थायां यस्य स द्वादशात्मा (७४) । विभावसुः—कर्मन्धनदहनकारित्वात् विभावसुः अग्निरूपः । मोहान्धकारविघटनपटुत्वात् विभावसुः सूर्यः । लोकलांचनामृतवर्षित्वादिभावसुभ्रन्धः । कर्मदृष्टिप्रलयकरित्वाद् विभावसुः रुद्रः । आत्म-कर्मन्धनविभेदकत्वाद् विभावसुर्मेदज्ञानरूपः । विभा विशिष्टं तेजो वसु धनं यस्य स विभावसुः, केवलज्ञान-धन इत्यर्थः । अथवा विशिष्टया भया दीप्त्या युक्तानि वसूनि रत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारिणाणि यस्य स विभावसुः । अथवा विभा विगततेजस्का आ समन्ताद् वसवो देवविशेषा यस्य स विभावसुः । यादृशो घाति-क्षयन्स्तेजःसमूहो भगवति वर्तते, न तादृशोऽन्येदेवे वर्तते इत्यर्थः । अथवा विशिष्टां मां दीप्तिं अवाति रज्जति विभावा । ईदृशी सूर्जेनी यस्य स विभावसुः । पुंवाचितपुंस्कार्णप्रपण्यादिषु स्त्रियां तुल्याधिकरणे इति विभावा शब्दस्य पुंवात्त्वात् इत्यत्वं । अथवा विभावं रागद्वेषमोहादिपरिणामं विनाशयति विभावसुः । षोऽन्तःकर्मणि इति धातुः । सर्वेषातुभ्यः उः । आलोपोऽसार्वाधतुके (७५) । द्विजाराध्यः—द्विजानां मुनीनामाद्यथो द्विजाराध्यः, जैनप्राज्ञस्यौराराध्यो न तु कर्मचाण्डालैरक्षरम्लेच्छापरनामभिः । अथवा द्विजा विप्रद्विभिवैरया द्विजराभ्येन सम्यग्दृष्टयो लभ्यन्ते, तैराराध्यः । तथा चोक्तं जिनसेनदेवैः—

अङ्गिवाक्च हृत्तस्याः अङ्गिवा एव दीक्षिताम् ।
यतो रत्नत्रयायतजन्मना तेषुपि तद्गुरवाः ॥

तेन मुनिभ्यः शोषा गृह्यत इति तात्पर्यम् । अथवा द्विजैः पद्म्यादिभिरप्राप्यः । उक्तञ्च पूज्यपादैः—

येनाध्वंश्रृंगगिरिहारगिरा विनापि,
नेमिः स्तुतोऽपि पशुनापि गिरा विनापि ।
कन्दर्पवर्षदक्षनः षटमोहसान-
स्तस्य भिक्षो दिक्षु नः षटमोहसानः ॥

अथवा द्विजा ब्राह्मणा आरे मङ्गलः शनैश्चरन् द्विजाराः, तेषामाधिर्मानसी पीडा तस्यां साधुर्मानस-
दुःखनिवारकः द्विजाराप्यः । षड्गुरवादिवः । ईदृशो भगवान् यत् शनैर्मङ्गलप्रहस्यापि मनःपीडां निषेधति,
सर्वे ब्रह्म अपि स्वामिनः शरणं प्रविशन्ति, स भगवांस्तेषां दुःखं निवारयति । अथवा द्विजानां दन्तानामुपरि
दन्तान् धृत्वा योगिजना भगवन्तमेकाग्रतया प्यायन्ति द्विजाराप्यः । स द्विजो यो न जन्मवान् इति निरुक्तः
(७६) । बृहद्भानुः— बृहतः अलोकर्यापि अपर्यन्तकस्यापि ध्यापिनो भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य स
बृहद्भानुः । वृषभ देव बलकल पल भा इति अलंत्तनिपाताः । अथवा भाति शोभते भानु दिनम् । दामासी-
बृहन्भ्यां तुः । तेनायमर्थः बृहत् महत्तरो भानुर्दिनं पुण्यं यस्य स बृहद्भानुः । तीर्थकरनामलक्षणमहा-
पुण्ययुक्त इत्यर्थः । अथवा बृहन्भान् लोफालोकप्रकाशको भानु रयि बृहद्भानुः । अथवा बृहद्भानुर्वैश्व-
नरः, पापकर्मदाहकः पावकरचेत्यर्थ (७७) । चित्रभानुः— चित्रा विचित्रास्त्रैलोक्यलोकाच्चित्तचमत्कार-
कारिण्यो विश्वप्रकाशकत्वाद् भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य स चित्रभानुः । अथवा चित्रा आश्चर्यजनका
भानवो दिनानि पुण्यानि यस्य स चित्रभानुः । अथवा चित्रेण आश्चर्येण शुको भानुः सूर्यो यत्र स
चित्रभानुः, भानोरधिकतेजस्कत्वात् (७८) । तन्नूनपात्— तन्नं कार्यं न पातयति छुद्रस्थावस्थायां नियत-
वृत्तानुपवासान् कृत्वापि लोकानां मार्गदर्शनार्थं पारणां करोति तन्नूनपात् । केवलज्ञाने उत्पन्ने तु भगवान्
कवलाहारं न गृह्णात्येव, तद्ग्रहणे मोहलम्भात् । उक्तञ्च जिनसेनदेवैः^२—

न मुक्तिः क्षीयमोहस्य तवानन्तसुखोदयात् ।
क्षुक्लंशबाधितो जन्तुः क्वत्ताहारमुग्भवेत् ॥
असद्वेषोदयाद् मुक्तिं त्वयि यो योजयेदधीः ।
मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्दृष्टम् ॥
असद्वेषविषं घातिविष्वसम्बस्तज्ञप्तिकम् ।
त्वय्यकिञ्चित्करं मन्त्रज्ञकल्पेवासुपबलं विषम् ॥
असद्वेषोदयो घातिसहकारिभ्यपावतः ।
त्वय्यकिञ्चित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदयः ॥

अथवा तन्नूनपात् भगवान् मुक्तिगतो यदा भविष्यति तदा तनोः परमौदारिकचरभशरीरयत् किञ्चिद्दून-
शरीरकारं निजविद्वेषपर्यायाकारं भव्यजीवान् पातयति आपयतीति तन्नूनपात् (७९) ।

द्विजराजः सुधाशोषिरौषधीशः कलानिधिः ।
नक्षत्रनाथः शुभांशुः सोमः कुमुदबान्धवः ॥१०७॥

द्विजराजः—द्विजानां विप्रक्षत्रियवैश्यानां राजा स्वामी द्विजराजः । तर्हि शाहायां स्वामी किं
न भवति ? भवत्येव, ते तु वर्षात्रयस्य सुभूषकाः, तेषां सद् लमानां विशेषेण स्वामी । अथवा द्वौ वायवु-

१. महापुराण पूर्व ४२ स्तोत्र २८ । २. ज. तेनपादैः । ३. महापुराण पूर्व २५ स्तोत्र ३६-४२ ।

कुडहतया संसारे जायन्त उत्पद्यन्ते द्विजा अहमिन्द्रविरोधाः, विजयादिषु द्विचरमा इति सूत्रकारवचनात् । तेषां राजा द्विजराजः । अथवा द्वे च ते जरे वाधिक्ये द्विजरे, बलित-पलितलक्षणे; ते द्वे अपि जरे द्विप्रकारे अपि जरे न जायेते नोत्पद्येते यस्य स द्विजराजः । भगवति जीवितपर्यन्तेऽपि न बलयः त्वक् संकीर्णाः, न पाण्डुरकेशाः शिरसि जायन्ते, इति भगवान् द्विजराजः । अथवा द्विजरो जराजीर्णः उर्ध्वशीवेश्यायां च बलित-चित्तो विकलबुद्धिश्चात् द्विजोऽजो ब्रह्मा यस्य स द्विजराजः । इयं व्युत्पत्तिरुच्यते लोकसिद्धान्तानुसारीणां शात.या, ब्रह्मणो जैनशासनेऽभाधात् । तदुक्तम्—

आत्मनि मोक्षे शोभे वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।

ब्रह्मेति शीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा^१ ॥

अथवा द्वयोः स्त्रीपुरुषयोः संयोगे सति जायते उत्पद्यते द्विज. कन्दर्पः । तं राति गृह्णन्ति ये ते द्विजराः हरिहरद्विरप्यर्गमाः, तान् अजति क्षिपति तन्मतं निराकरोतीति द्विजराजः (८०) । **सुघाशोचिः**—सुधावत् अमृतवत् लोचनलौक्यदायकं शोची रोचिर्यस्य स सुघाशोचिः (८१) । **श्रौपधीशः**—श्रौपधीनां जन्मजगमरण्यानिवारणभेषजानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यतपसामधीशः स्वामी श्रौपधीशः, जन्मजगमरण्यानिवारणक इत्यर्थः । शरीरणां शरीररोगाद्यामपि निर्मूलने समर्थ इत्यर्थः । अथवा उपस्य शरीरदाहस्य षोः बुद्धिरौपधी-र्दहनप्रवेशादिबुद्धिः स्त्रीणां मृतपुरुषेषु सह गमनं छुरिकगोदरविदारणं गलपाशेन मरणं कूपवापीनदीसागरादिपातः करपत्रदानादिनाऽऽत्महननं सर्वमपि दुर्मरणं श्रौपधीरुच्यते । तां रथति तन्करोति श्रौपधीशः, आत्म-घातनिषेधक इत्यर्थः । उक्तञ्च संहितायां चत्वारिंशत्तमोऽध्याये—

असूयां नाम ते लोका अन्वेन तमसावृताः ।

तां ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महानो जनाः ॥

भातोऽनुपसर्गाकः । अथवा श्रौपधिया तपश्चरणादिना कर्मदाहधिया शं मुञ्चं यस्य मते स श्रौप-धीशः (८२) । **कलानिधिः**—कलानां द्वांसतासंख्यानां लोके प्रसिद्धानां निर्धिर्निधानभूतः कलानिधिः । कास्ताः द्विसप्ततिकला इति चेदुच्यते— गीत^१-घाच^२-बुद्धि^३-शौच^४-नृत्य^५-वाच्य^६-विचार^७-मन्त्र^८-वास्तु^९-विनोद^{१०}-नेपथ्य^{११}-विलास^{१२}-नीति^{१३}-शाकुन^{१४}-क्रीडनक^{१५}-चित्र^{१६}-संयाग^{१७}-हस्तलाघव^{१८}-कुसु-^{१९}-मन्द्रजाल^{२०}-सूचीकर्म^{२१}-स्नेह^{२२}-पाना^{२३}-हार^{२४}-विहार^{२५}-सौम्य^{२६}-गन्ध^{२७}-वस्त्र^{२८}-रत्न^{२९}-पत्र^{३०}-वैद्य^{३१}-देशभाषित^{३२}-विजय^{३३}-वाणिज्या^{३४}-बुध^{३५}-युद्ध^{३६}-नियुद्ध^{३७}-समय^{३८}-वर्तन^{३९}-गज^{४०}-तुरङ्ग^{४१}-पुरुष^{४२}-स्त्री^{४३}-पत्नि^{४४}-भूमि^{४५}-लेप^{४६}-काष्ठ^{४७}-शिल्प^{४८}-वृत्^{४९}-स्रष्ट^{५०}-प्रश्न^{५१}-उत्तर^{५२}-शास्त्र^{५३}-शस्त्र^{५४}-गणित^{५५}-पठन^{५६}-लिखित^{५७}-वक्त्रुत्व^{५८}-कवित्व^{५९}-कथा^{६०}-वचन^{६१}-व्याकरण^{६२}-नाटक^{६३}-कुन्दो^{६४}-संस्कार^{६५}-दर्शना^{६६}-वधान^{६७}-धातु^{६८}-धर्मा^{६९}-धर्म^{७०}-काम^{७१}-शरीरकला^{७२}-श्चेति । अथवा कलानिधिः—कं परमब्रह्म आत्मानं लान्ति ददति स्फुटीकुर्वन्ति यास्ताः कला द्वादशानुप्रेक्षा वैराग्या-दिभावना वा, तासां निधिरुद्धयस्थानं कलानिधिः । अथवा कलानां मञ्जुरालापानां आ समन्तात् चतुर्दिक्कु निधिः प्रश्नोत्तरवादीत्यर्थः (८३) । **नक्षत्रनाथः**—नक्षत्राणां अश्विनीत्यादीनां नाथः स्वामी नक्षत्रनाथः । अथवा नक्षत्रात् अन्त्यायात् नाथ उपतापः संतपः संसारपर्यटनं यन्मते स नक्षत्रनाथः । नाष्ट नाथ उपतापैश्व-र्याक्षीषु च । अथवा शुच शुच षष् गतौ इतिधातोः प्रयोगात् नक्षत्रं नक्षः, गतिरित्यर्थः । सर्वं गत्वर्थां घातवो ज्ञानार्थं अबन्धि, तेन नक्षं ज्ञानं प्रायन्ते पालयन्ति स्वीकुर्वन्ति नक्षत्राः महामुनयो ज्ञानिन इत्यर्थः । नक्षत्राणां ज्ञानिनां नाथः स्वामी नक्षत्रनाथः (८४) । **शुभ्रांशुः**—शुभ्रा उज्वलताः कर्ममलकलङ्कहिताः अंशवः केवलज्ञानकिरण्या यस्य स शुभ्रांशुः । अथवा शुभ्राक्षण्डीधितिसमाना दीप्तिमन्तः अंशवः सूक्ष्मांशा आत्मप्रदेशा यस्य स शुभ्रांशुः, लोकालोकप्रकाशकात्मप्रदेश इत्यर्थः । अथवा शुभ्रा उज्वलताः पापरहिता अंशव इव अंशवः शिष्या यस्य स शुभ्रांशुः । तत्र केचिद् गण्यचरदेशाः, केचित् श्रुतज्ञानिनः, केचित् पूर्व-

^१ वराहसि० ६, १० २६६ । † ३ ३ । ‡ ६ पाठोऽयं नास्ति ।

धराः, केचित् शिद्धकाः, केचिदधिशानिनः, केचित् केवलशानिनः, केचिद्विक्रियार्द्रिवाहिताः, केचिन्मनः-पर्ययशानिनः, केचिद् वादिनः । एते सर्वेऽपि भगवन्नास्करस्य किरणसदृशाः शुभ्रांशव उच्यन्ते (८५) ।
सोमः—सृते उत्पादयति अमृतं मोक्षं सोमः । सृते मेरुमस्तके अग्निभिच्यते वा सोमः । अग्निं ह्यु सु ऋषि-
 षीपवभावास्तुभ्यो मः । अथवा सा लक्ष्मीः सरस्वती च, ताभ्यां उमा कीर्तिर्यस्य स सोमः । अथवा सह
 उमया कान्त्या वर्तते यः स सोमः (८६) । **कुमुदबान्धवः**—कुमुदानां भव्यकैरवाणां बान्धव उपकारकः
 मोक्षप्रापकः कुमुदबान्धवः । अथवा कुषु तिवसु पृथ्वीषु मुदो हर्षो येषां ते कुमुदा हन्द्र-नरेन्द्र-धरस्येन्द्राः,
 तेषां बान्धव उपकारकः कुमुदबान्धवः । अथवा कुत्सिते अश्वमेधादिहिंसाकर्मणि मुद हर्षो येषां ते कुमुदः,
 तेषामबान्धवः, तन्मतोच्छेदकः कुमुदबान्धवः (८७) ।

लेखर्षमोऽनिलः पुण्यजनः पुण्यजनेश्वरः ।

धर्मराजो भोगिराजः प्रचेता भूमिबन्धनः ॥१०८॥

लेखर्षमः—रिषि-ऋषी गौरी तुदादौ परस्मैपदी धातुः, तेन ऋषिपति गच्छतीति ऋषमः । ऋषि-
 हृषिर्भा यणवत् इति उग्रादिसूत्रेण अत्र अमः प्रत्ययः । स च यणवत्, तेन गुणो न भवति । लेखेषु देवेषु
 ऋषमः श्रेष्ठो लेखर्षमः, देवानां मध्ये उत्तमो देव इत्यर्थः (८८) । **अनिलः**—न विद्यते इला भूमिर्यस्य
 स अनिलः, त्यक्तरज्यत्वात् उर्ध्वान्तरिक्षचारित्वाद्वा तनुवातवातवज्जवे निराधारः स्यात्यतीति वा अनिलः ।
 अथवा न विद्यते इरा वाग् यस्य स अनिलः । अथवा न विद्यते इरा मयं यस्य मते स अनिल, रलयोरैक्यं,
 रलेपत्वात् (८९) । **पुण्यजनः**—पुण्याः पवित्राः पापरहिता जनाः सेवका यस्य स पुण्यजनः, पुण्यजनो
 वा पुण्यजन, अन्तर्गमितायमिदं नाम, पुण्यं जनयतीति पुण्यजन इति भावः (९०) । **पुण्यजनेश्वरः**—
 पुण्यवत्पुण्यगणा ईश्वरः पुण्यजनेश्वरः, पुण्यजनानां राजसन्दाया सज्जनानां पंचाश्रयकारकगुणकार्णानां वा ईश्वरः
 स्वामी पुण्यजनेश्वरः । कानि तानि पञ्चाश्रयापीति चेदुच्यते (९१) । उक्तञ्च—

सुरवय साङ्करो गंधोदग-स्वय-पुष्पविट्टीभ्यो ।

तह हुंदुर्हीणिवोषो पंचचक्षुरिवा मुषोयम्बा ॥

धर्मराजः—धर्मस्य अहिंसात्तत्त्वस्य चारित्रस्य गजत्रयस्य उत्तमत्तमादेश्व राजा स्वामी धर्मराजः ।
 अथवा धर्मायां रो अग्निं पशुहोर्मानमत्तः गार्हपत्याहवनीयदक्षिणामिंसो येषां ते धर्मरा, ब्राह्मणास्तानजति
 क्षिपति नियकंतीति धर्मराजः (९२) । **भोगिराजः**—भोगिनां नागेन्द्रादिदेवानां राजा भोगिराजः ।
 अथवा भोगिनां दशाङ्गभागयुक्तानां चक्रवर्तिनां राजा भोगिराजः (९३) । के ते दशाङ्गभोगा इति
 चेदुच्यते—

सरस्वा विषयो देव्यः पुरं शय्यःसने चम्बुः ।

भाजनं भोजनं नाभ्यं भोगस्वस्य दश्रागकः ॥

प्रचेताः—प्रकृष्टं सर्वेषां दुःखदाग्निचनाराणपरं चेतो मनो यस्य स प्रचेताः । अथवा प्रगतं प्रबुद्धं
 चेतो मनोव्यापारो यस्य स प्रचेताः, सङ्कल्प-विकल्परहित इत्यर्थः । (९४) । **भूमिबन्धनः**—भूमिनां
 अधोमन्थोर्ध्वलक्षणत्रैलोक्यलोकान् नन्दयति समृद्धिदानेन धरंयतीति भूमिबन्धनः । नम्बि वसि मदि वृषि-
 साधिशोवादिभ्य हन्न्तेभ्यः संज्ञायां धुः, नंधादेर्युः । त्रिजगदानन्दकारक इत्यर्थः (९५) ।

सिंहिकातनयश्छायानन्दनो हृदतांपतिः ।

पूर्वदेशोपदेशा च द्विजराजसमुद्भवः ॥१०९॥

सिंहिकातनयः—सिंहिका त्रिजगज्यनरीला सिंहिका तीर्थंकरजनी, तस्यास्तनयः पुत्रः सिंहिका-
 तनयः । गह्रुवत्यापकर्मसु क्रूरचित्तत्वाद्वा सिंहिकातनयः (९६) । **छायानन्दनः**—छायां शोभां नन्दयति

वर्षयति छायानन्दनः । अथवा छायायां अशोकतण्डुलायायां त्रैलोक्यलोके सेवायां मिलितं नन्दयति आनन्दितं शोकवर्हितं च करोति छायानन्दनः । अथवा छाया निजशरीरप्रतिबिम्बं अनातरं च न नन्दयति, अछायात्वात् छायानन्दनः । अथवा छाया अर्कभार्या, तत्प्रभृतिका सर्वापि स्त्री नन्दना पुत्री यस्य स छायानन्दनः । अथवा छायाप्रभृतिकानां सर्वासां स्त्रीणां नन्दनः पुत्ररुच्छायानन्दनः । अथवा छायायां सर्व-प्राणिप्रतिपालनं कान्तिं च नन्दयति छायानन्दनः । अथवा छायां अन्वकारं न नन्दति, न तिष्ठति यस्मिन् स छायानन्दनः (६७) । उक्तञ्च—

शोभा समोऽर्कभार्यायां प्रतिभापंकत्यनास्ये ।

कान्ती च पाजने चैवोक्तोचै छाया प्रवर्त्तते ॥

बृहतांपतिः— बृहतां सुरेन्द्र-नरेन्द्र मुनीन्द्राणां पतिः स्वामी बृहतांपतिः । तत्र बृहस्पतेः किमुच्यते ? अत्र अलुक् समासः । क्वचित् विभक्त्यो न ह्युपंत इति वचनात् (६८) । **पूर्वदेवोपदेष्टाः**— पूर्वदेवानामसुरादीनामुपदेष्टा संकेशपरित्यागनिषेधकः पूर्वदेवोपदेष्टा । अथवा पूर्वैरचतुर्दशपूर्वैः श्रुतज्ञानार्थविशेषैर्देवानां सौधर्मेशान-सनत्कुमारमाहेन्द्र ब्रह्मब्रह्मात्तर-लान्तवकापिष्ट-शुक्रमहाशुक्र-शतारसहस्रारानतप्राणतारयाच्युतान्तानां समवसरणरिथताना भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क कल्पोपपन्नानां पूर्वदेवानामुपदेष्टा गुरुः । तर्हि अहमिन्द्राणां नवभ्रंशेयक-नथानुदिश-पञ्चानुत्तराणां किमुपदेष्टा न भवति ? भवत्येव, यतस्ते स्थानरिथता एव भगवद्ब्रह्मचरानि शृण्वन्ति, न समं कस्यो समागच्छन्ति तेन कारणेन पूर्वेषामेवोपदेष्टा भगवान् कथ्यते । अथवा पूर्व प्रथमतो देवानि पञ्चन्द्रियाणि तेषामुपदेष्टा पञ्चन्द्रियविषयव्यावृत्तिनिषेधकर्त्ता पूर्वदेवोपदेष्टा । अथवा पूर्वदेवा गणधरदेवाः श्रुतज्ञानधरचेत्यादयो निर्गन्थास्तेषामुपदेष्टा धर्मकथकोऽधर्मनिषेधकश्च पूर्वदेवोपदेष्टा । अथवा पूर्वोभिमुखः स्थितः सन् देवश्चासाधुपदेष्टा पूर्वदेवोपदेष्टा (६९) । **द्विजराजसमुद्भवः**— द्विजानां गणा च समुत् सवर्षः भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भवः । लौकिकव्युत्पत्तिस्त्वेवं द्विजराजश्चन्द्रस्तस्मात्समुद्भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भवो बुधः । स्वमते तु द्विजेषु मुनिषु राजन्ते द्विजराजानि सम्प्रदर्शनज्ञानचारित्राणि, तेभ्यः समुद्भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भवः, रत्नत्रययोनिः, अयो-निसम्भव इत्यर्थः (१००) ।

इति सूरिभूतसागरचिरचितायां जिनसहस्रनामटीकायां ब्रह्मशतनामाष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

—:०:—

अथ नवमोऽध्यायः

शब्दरत्नोपग्रन्थिप्रभेदो जैनसम्भवे त्रिपुराः ।
विद्वज्जनमान्यसमो जयति श्रुतसागरो वीरः ॥
विद्यान्धकलङ्क-गौतम-महावीर-प्रनाचन्द्रवाक्,
लक्ष्मीचन्द्र-समन्तभद्र-जिनसेनाचार्यवर्षाक्ष^१ ये ।
श्रीसन्महिमुनीन्द्रभूषणायतिः श्रीकुन्डकुन्दप्रभुः
श्रीश्रीपाल-सुपात्रकेसरियुताः कुर्वन्तु मे महत्सास्त्रं ॥
अथ बुद्धवते टीकां करोमि वीरं जितेन्द्रमभिवन्द्य ॥
शृण्वन्तु मोक्षमार्गं विद्यासर्वो भवन्व्यतरास्य ॥

बुद्धो दशबलः शाक्यः षडभिन्नस्तथागतः ।

समन्तभद्रः सुगतः श्रीघनो भूतकोटिदिक् ॥ ११० ॥

ॐ नमः । बुद्धः— बुद्धिः केवलज्ञानलक्षणा विद्यते यस्य स बुद्धः । प्रज्ञादित्वात्प्यः । अथवा बुध्यते जानाति सर्वमिति बुद्धः । अनुबन्धमतिबुद्धिपूर्वार्थेभ्यः कः । वर्तमाने कप्रत्यय (१) । दशबलः— बौद्धमतप्रियाये दश बलानि यस्य स दशबलः । क्वनि तानि दशबलानीति चेदुच्यते—

दानं शीघ्रं क्षान्ति वीर्यं ध्यानं च शान्तिमपि च बलम् ।

प्रादुरुपाय सुद्विषः प्रथिवानं ज्ञानमिति च दश ॥

स्वमते उत्तमज्ञानामार्द्वार्जवसत्यशौचसंयमतपत्यागाकिंचन्यन्नहचर्याणि दश लक्ष्यानि धर्माणाम् । इत्युक्तानां दशानां बलं सामर्थ्यं यस्य स दशबलः । अथवा दो दया बोधप्रद, तान्यां बलः समर्थो दशबलः, श्लेषत्वात्स-शायोनं बलः (२) । शाक्यः— परमते शक्ये जातः शाक्यः, बुद्धावतारः । बुद्धस्य किल एते-ऽवतारः—एकः शाक्यमुनिबुद्धावतारः । शाक्यभ्रातृ मुनिः शाक्यमुनिः । शकोऽभिन्नोऽस्य शाक्यः । शण्डिकदिग्भ्यो भ्यः । यथा शण्डिका अभिन्नोऽस्य शण्डिक्यः, तथा शकाभिन्नोऽस्य शाक्यः । द्वितीयो-वतारः शाक्यसिंहः, सिंह इव शाक्यः शाक्यसिंहः । उपमितं भ्रात्रादिभिरिति समासः । भीमसेनो यथा भीमः कथ्यते, सत्यभामा यथा भामा कथ्यते, तथा शाक्यमुनिः शाक्य उच्यते । तृतीयोऽवतारः सर्वार्थसिद्धिः—सर्वार्थेषु सिद्धा निष्पन्नः सर्वार्थसिद्धिः । चतुर्थोऽवतारः शौद्धोदनि । शुद्धोदनस्य राशोऽपत्यं शौद्धोदनि । इत्यतः । गौतमो गौतमोऽवतारः पञ्चमोऽवतारः । षष्ठोऽर्कबन्धुरवतारः अर्कबन्धुः सूर्यवश्यत्वात् । सप्त-मोऽवतारो मायादेवीसुतः । स्वमते शक्नातीति शकः, तीर्थकृतित्वा । शक्यापत्यं पुमान् शाक्यः । अथवा अक अग कुटिलार्था गतौ, भ्रातृ परस्मैपदी । अन्नं आकः केवलज्ञानम्, शं सुखं अनन्तलौक्यम् । शं च आकश्च शाकौ, तयोर्नियुक्तः शाक्यः । यद्गुणवदितः (३) । षडभिन्नः— बौद्धमते दिव्यं चक्षुर्दिव्यं श्रोत्रं पूर्वनिवासानुस्मृतः पर्वचतुष्टयं आसन्नक्षयः श्रुद्धिश्चेति षट् अभिज्ञा यस्य स षडभिज्ञः । स्वमते षट् जीव-पुद्गलधर्मधर्मकालाकारान् पद्गलव्यसंज्ञान् पदार्थान् अभिसमन्तात् जानातीति षडभिज्ञः (४) । तथा-गतः—तथेति सत्यभूतं गतं ज्ञानं यस्य स तथागतः (५) । समन्तभद्रः—समन्तात् सर्वत्र भद्रं कल्याणं यस्य स समन्तभद्रः । अथवा समन्तं सम्पूर्णां स्वभावं भद्रं श्रुतं यस्य स समन्तभद्रः (६) । सुगतः— शोभनं गतं मन्दगमनं यस्य स सुगतः । अथवा सुष्ठु शोभनं गतं केवलज्ञानं यस्य स सुगतः । अथवा सुगा सुगमना अग्रेऽग्रे गामिनी ता लक्ष्मीर्यस्य स सुगतः (७) । श्रीघनः— भ्रिया लक्ष्म्या घनो मेघ, कनकव-र्णित्वात् श्रीघनः । अथवा भ्रिया लक्ष्म्या केवलज्ञानादिलक्षणाया निर्वृतः श्रीघनः (८) । भूतकोटि-दिक्—भूतानां प्राणिनां कोटीरनन्तजीवान् दिशति कथयति मुक्तिं गतेष्वपि अनन्तजीवेषु संसारे अनन्ता-नन्तजीवाः सन्तीति, न कदाचिदपि जीवप्राणिद्वयो भवतीति सिद्ध्यति भूतकोटिदिक् । उक्तञ्च—

जह्या होहिंसि विष्णुा जिष्णागमे अत्वि उत्तरं तद्व्या ।

एकं निगोवसरौरे भागात्तं सु सिद्धिगया ॥

अथवा भूतानां अतीतानां भवान्तराणां कोटीरनन्तभवान्तराणि दिशति कथयति भूतकोटिदिक् । अथवा भूतान् जीवान् कोटयति कुटिलान् कुर्वन्ति मिथ्यात्वं कारयन्ति भूतकोटिनो विभिन्नि-कपिल-कण्ठ-चार्वाक शाक्याः । तान् दिशति भेदान्तर्भेदान् कथयति भूतकोटिदिक् । अथवा भूतकोटीनां दिक् विभ्रामसयानं भूतकाटिदिक् । अथवा भूतानां जीवानां कोटिं परमप्रकृतं अनन्तज्ञानादियुगात्तथाशयं दिशति भूतकोटि-दिक् (९) ।

सिद्धार्थो मारजिच्छास्ता क्षणिकैकसुलक्षणः ।

बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽद्भयवाद्यपि ॥११॥

सिद्धार्थः—सिद्धाः प्राप्तिमागता अर्था धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो यस्य स सिद्धार्थः । अथवा सिद्धानां मुक्तात्मनामर्थः प्रयोजनं यस्य स सिद्धार्थः; सिद्धपर्यायादपरं प्रयोजनं किमपि भगवतो न वर्तत इत्यर्थः । अथवा सिद्धा विदुषां प्रसिद्धिं गताः अर्था जीवाजीवासम्बन्धसंवरनिर्जरोमौल्यपुण्यपापलक्षणान् नव पदार्थाः यस्मादलौ सिद्धार्थः । अथवा सिद्धो अर्थो हेतुमोक्षकारणं रत्नत्रयं यस्य स सिद्धार्थः (१०) । **मारजित्**—मारं कन्दर्पं जितवान् मारजित् । बौद्धमतानुसारेण तु स्कन्धमारः क्लेशमारो मृत्युमारो देवपुत्रमारश्चेति चतुरो मारान् जितवान् मारजित् । अथवा मां लक्ष्मीं ह्युति^१ गच्छन्ति मारः । अथवा मा लक्ष्मीरारात्मसीपे येषां ते मारः सुरेन्द्र नागेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्रास्तान् जितवान्, निजपादयोर्नामितवान् मारजित् (११) । **शास्ता**—शास्ति विनियवान् धर्मं शिक्षयति शास्ता (१२) । **क्षणिकैकसुलक्षणः**—सर्वे उर्वीपर्वतमेवादिद्यः पदार्था एकस्मिन् क्षणे एकस्मिन् समये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रयेण युक्ता क्षणिका, ईदृशां वचनं एकमद्वितीयं शोभनं लक्षणं सर्पकत्वलाञ्छनं यस्य स क्षणिकैकसुलक्षणः (१३) उक्तञ्च **समन्तभद्रस्वाग्वाचार्येण**—

स्थितिजनननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।

इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां चरस्य ते ॥

बोधिसत्त्वः—रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः; बोधे सत्त्वं विद्यमानत्वं अस्तित्वं सत्त्वरूपतया सर्वेषु प्राणेषु शक्तिरूपतया विद्यते यस्य मते स बोधिसत्त्वः । अथवा निःक्रमणकल्याणावसरे बोधेर्वैराग्यस्य सत्त्वं समीचीनत्वं यस्य स बोधिसत्त्वः (१४) । **निर्विकल्पदर्शनः**—निर्विकल्प दृष्टान्वनरत्नत्वं निर्विचारतया दर्शनं मते यस्य बुद्धस्य स बुद्धो निर्विकल्पदर्शनः । स्वमते तु निर्विकल्पं अविशेषं सत्तावलोकनमात्रं दर्शनं यस्य स निर्विकल्पदर्शनः । उक्तञ्च—

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं
साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
ते मेत्रे^२ क्रमवर्तिनी सरजसा प्रादेतिके सर्वतः,
स्फूर्जन्ती युगापयुनर्विरजसा युष्माकमंगालिगाः^३ ॥

अथवा निर्विकल्पानि विचारहितानि दर्शनानि अपरमतानि यस्य स निर्विकल्पदर्शनः । तथा चोक्तं **सोमदेवेन** सूत्रिणा—

१ धन्तदुर्गतसंचारं बहिराकारसुन्दरम् ।
न अद्भ्यास्फुटर्हानां मतं किपाकसन्निभम् ॥
श्रुतिशाक्यशिवाश्रयः शौद्रमांसासवाश्रयः ।
वदन्ते मत्समोक्षाय विधिरत्रै तदन्वयः ॥
२ अग्निभस्मजटाजूटयोगपट्टकटासनम् ।
मेखला प्रोक्षणां मुद्रां हृत्सी दण्डः करण्डकः^४ ॥
शौचमउज्जमनाचामः पितृपूजानलार्चनम् ।
अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥
को देवः किमिदं ज्ञानं किं तत्त्वं कस्तपःक्रमः ।
को बन्धः करण्य मोक्षो वा मत्तवेदं न विद्यते^५ ॥

१ अ प्रतिरिति । २ व् मेत्रेति । ३ तेत्रैव । ४ प्रतिष्ठा ता० २, ६० । ४ स दूरन्त० । ५ अ मरिम । ६ व् कृबन्धः ।
७ वरास्ति ६, २६६ ।

आज्ञागमाविद्युदत्ते क्रिया दृष्टापि देहिषु ।
नाभिजातफलप्राप्त्यै^१ विजातिष्विव जायते ॥
तत्संस्तवं प्रशंसा वा न कुर्वीत कुहट्टिषु^२ ।
ज्ञान-विज्ञानयोस्तेषां विपश्चिच्च च विन्नमेत्^३ ॥

अथवा निश्चितो विशिष्टः कल्पः स्वर्गो मोक्षश्च दर्शने आर्हते मते यस्य स निर्विकल्पदर्शनः ।
अथवा निर्गतो विशिष्टशास्त्रनिर्भूतो धीरपदकल्याणगर्भापहरणप्रतिपादकः कल्पः प्राकृतशास्त्रविशेषो
दर्शने मते यस्य स निर्विकल्पदर्शनः (१५) । अद्वयवादी—बौद्धमताभिप्रायेण अद्वयं विशानाद्वैतं वदती-
त्यवश्यं अद्वयवादी । स्वमते निश्चयनयमाश्रित्य आत्मा च कर्म च एतदद्वयं न द्वयं वदतीत्येवमवश्यं
अद्वयवादी । उक्तञ्च—

बन्धमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मानौ शुभाशुभौ ।
इति द्वैताश्रिता बुद्धिरसिद्धिरभिधीयते ॥

अथवा न द्वयं रागद्वेषद्वयं वदति मोक्षप्राप्तये अद्वयवादी । न सर्वथा नित्यः, न सर्वथा अनित्यः,
एतदद्वयं न वदतीति अद्वयवादी (१६) ।

महाकृपालुर्नैरात्म्यवादी सन्तानशासकः ।
सामान्यलक्षणचरणः पञ्चस्कन्धप्रयात्मदक् ॥ (१७) ॥

महाकृपालु कृपा विधते यस्य, स कृपालुः । महाश्रामौ कृपालुः महाकृपालुः । तद्धिन् आलुः ।
तथा च । शाकटायनवचनं— शीतोष्णशुभ्रादसह आलुः, शीतं न सहते इत्यर्थे आलुः । शीतालुः
उष्णालुः, तृतालुः । कृपायाश्च आलुः । दधि पवि गृहि स्पृहि अद्वा तन्त्रा निद्राभ्य आलुः । यथा दयालु-
स्तथा कृपालुः (१७) । नैरात्म्यवादीः—बौद्धमते किल निर्गत आत्मा निरात्मा, क्षणविनश्यत्वात् ।
निरात्मनो भावः नैरात्म्यम् । नैरात्म्यं वदतीत्येवमवश्यं नैरात्म्यवादी । तथा च अट्टाकलंकः—

नाङ्कारवशकृतेन मनसा न द्वैविद्या केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ॥
राज्ञः श्रीहिमश्रीतलस्य सदसि ऽगयो विदग्धात्मनो
बौद्धीषान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः ॥

एष वादो बाराणस्यां बभूव । स्वमते नीरस्य जलस्य अकार्यिकस्य भावो नैरं नीरसमूहस्तदुपलक्षणं
पञ्चस्थावराणां, तत्र आत्मा शक्तिरूपतया केवलज्ञानादिस्वभावो नैरात्मा । नैरात्मनो भावः नैरात्म्यम्, तद्वदतीति
नैरात्म्यवादी । अतएव महाकृपालुरिति पूर्वमुक्तम् । (१८) सन्तानशासकः— बौद्धमते किलात्मा क्षण-
विनश्यतो कर्तते, सन्तानेन शानं प्रकाशते । अन्वयं विना सन्तानः कुतस्तवः स्यात् । उक्तञ्च—

सोऽहं योऽभूवं बालवयसि निश्चिन्वन् क्षणिकमर्तं जहासि ।
सन्तानोऽप्यत्र न वासनापि यद्यन्वयभावस्तेन नापि ॥

अन्यञ्च—

सन्तानो न निरन्वये विसृष्टो साक्षरबभेवन्न हि,
प्रार्थानरहिते कुतः समुदयः का वासना वास्थिरे ।
तस्ये वाचि समस्तमानरहिते ताथागतौ साम्प्रतं
धर्माधर्मनिबन्धनो विधिरयं कौतुकतो वर्तताम् ॥

१ अ फलप्राप्ते । २ अ कुहट्टिषु जायते । ३ यथास्ति० ६, २६६ । ४ अकार्यिकस्तो० १४ । ५ यथास्ति० ८, ३८८ ।
६ यथास्ति० ५, २५६ ।

एवं च सति सन्तानं शास्तीति सन्तानशास्त्रक, इति न षट्त्वे । स्वमते तु अनादिशन्तानवान् जीवस्त-
सन्तानं शास्तीति सन्तानशास्त्रकः । (१६) । सामान्यलक्षणञ्च — शुद्धनिश्चयनयमाभित्य सर्वे जीवाः
शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति वचनात् सर्वेषां जीवानां सामान्यलक्षणम् । तत्र चणो विचक्षणः सामान्यलक्षण-
चणः (२०) । पञ्चस्कन्धमयात्मदृक्—बौद्धमते पञ्चस्कन्धाः विज्ञान वेदाना-संज्ञा-संस्कार-रूप-नामानः ।
तन्मयमात्मानं पर्यतीति पञ्चस्कन्धमयात्मदृक् । 'स्वमते तु शुद्धाशुद्धनयमाभित्य पञ्चस्कन्धस्यै पञ्चज्ञानमय-
मात्मानं पर्यतीति पञ्चस्कन्धमयात्मदृक्' (२१) ।

भूतार्थभावनासिद्धः चतुर्भूमिकशासनः ।

चतुरार्यसत्यवक्ता निराश्रयचिदन्वयः ॥११३॥

भूतार्थभावनासिद्धः—चार्वाकमते किलैवं कथयन्ति भूतानां पृथिव्यतेजोवायूनामर्थानां भावनायां^१
संयोगे सति आत्मा सिद्ध उत्पन्नः, पृथगात्मा न वर्तते । उक्तञ्च चार्वाकमतम्—

परवन्धि ये जन्म मृतस्य जन्तोः परयन्ति ये धर्ममदृष्टसाध्यम् ।

परयन्ति येऽन्यं पुरुषं शरीरात्परयन्ति ते नीलक-पीतकानि ॥

प्राण्यापानसमानादान-धानव्यतिकारीणैर्मम. कायाकारपरिणतिसंकीर्णैर्मन्यो जलपदनावनिपदनसंख्यन्तः
पिष्टोदकगुडघातकीप्रमुखस्य इव मदशक्ति, पर्याचूर्णक्रमुकेभ्य इव रागसम्पत्तिस्तदात्मकार्यगुणस्वभावात्तया चैत-
न्यनुपजायते । तच्च गर्भादिमर्यादपर्यन्तपर्यायमतीतं सत् पादपात्स्यतलं पत्रमिव न पुनः प्ररंइति । "उक्तञ्च—
जलबुद्बुदस्वभावेषु जीवेषु मदशक्तिप्रतिज्ञाभे च विज्ञाने किमर्थोऽयं ननु लोकात्थात्मसम्पन्नप्रत्यक्षस्तद-
पह्नायार्थार्थी जीवन्मृतमनीषायां मनीषितमेतत्कुशाशाश्रयैराश्रेयम्" ।

याचञ्जीवेत्सुखं जीवेन्नास्ति स्वल्पोरगोचरम् ।

मत्समीभूतस्य कायस्य पुनरागमनं कुतः ॥

स्वमते तु भूतार्थभावनासिद्धः भूत. सत्यः सत्यरूपो योऽसावर्थो भूतार्थः, शुद्धनिरचयनयस्तस्य भावना
वाचना पुनः पुनश्चिन्तनं भूतार्थभावना । 'भूतार्थभावनाया' कृत्वा स्वामी सिद्धो घातिसंघातघातनो बभूव,
केवलज्ञानं प्राप्तवानित्यर्थः । उक्तञ्च कुम्भकुम्भाचार्यैः समयनारग्रन्थे—

बवहारोऽभूदस्यो भूदस्यो देसिदो तु सुदस्यभो ।

भूदस्यमस्सिदो सद्दु सस्मादिदो इवे जीवो ॥

अतोऽयमेव परमगुरुनेकान्ततत्त्वप्रकाशानो दृष्टेष्टाविषुद्वचनत्वात्प्रतीक्षकल्पसमूहत्वाच्च भूतार्थ-
भावनासिद्ध (२२) । चतुर्भूमिकशासनः— चतस्रो भूमयो यस्य तच्चतुर्भूमिकम् । चार्वाकमते चतुर्भूमिकं
पृथिव्यतेजोवायुभूतचतुष्टयरूपमेव सर्वं जगद्वर्तते । स्वमते तु चतुर्भूमिकं नरक्षतिर्यम्नुप्यदेवगतिलक्षणं शासनं
शिक्षणमुपदेशो यस्य न चतुर्भूमिकशासन । अंग-पूर्व-प्रकीर्णकैश्चतुर्गतीनामेव विस्तरो वर्तते । अथवा
चतुर्भूमिकं प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरखानुयोग-द्रव्यानुयोगलक्षणं शासनं मतं यस्य स चतुर्भूमिक-
शासनः (२३) । चतुरार्यसत्यवक्ता - बौद्धमते किल बुद्धश्चतुरार्यसत्यवक्ता भवति । चत्वारि च तानि
आर्यसत्यानि चतुरार्यसत्यानि । तेषां वक्ता चतुरार्यसत्यवक्ता । कानि तानि बौद्धमते चत्वारि आर्यसत्यानि ?

१ अ स्वमते पंचस्कन्धमयं श्रीदारिकादिपंचशरीरनामकमौदयनिष्पन्नं वा भाहारभाषामनस्तेजः कामंसाकर्णानिष्पन्नं
वा स्पर्शानादिपंचैन्द्रियसमूहमयं वा आत्मानं अशुद्धमन्येन द्रव्यमाकरुषं संसारिपथाय परवति सम्पन्नजानाति पंचस्कन्धमयात्म-
दृक् । ईदृक् पाठः । २ स० प्र० भावना । ३ अ वन० । ४ स० प्र० 'तथा च परलोकाभावे' इति पाठः । ५ अ रामयं ।
६ भूतार्थभावनाप्रकल्पपर्यन्तं शोषिण्यम् । न्यायि० १, ११, । ७ स० प्र० भावनयाव तत्त्वाव स्वामी इति पाठः ।

इति चेदुच्यते—विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-रूपनामानः पंच संसारियाः स्कन्धाः दुःखमित्येकमार्यसत्यम् । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्रनामानि तावत्तच्चैन्द्रियाणि, स्पर्शनरसगंधवर्णशब्दनामानः पंचविध्याः, मानवं धर्मायतनं चेति द्वादश आयतनानि इति द्वितीयमार्यसत्यम् । आत्मा तृतीयमार्यसत्यं मोक्षभूतुर्धर्मायसत्यम् । चतुर्थीमार्यसत्यानां वक्ता प्रतिपादकः चतुरार्यसत्यवक्ता । श्रीमद्भगवद्गैस्तर्षस्तु चतुरार्यसत्यवक्ता—चतुराः मतिभूतावधिमनःपर्ययज्ञानचतुष्टये प्रवीक्षाभूतुराः श्रीमद्भगवददेवाः । अर्चन्ते सेवन्ते गुणैर्गुणवन्निर्वा आर्याः । चतुराश्च ते आर्याभूतुरार्याः, तेषां आर्यभूमिभवमनुष्वादीनां वा सत्यस्य वक्ता चतुरार्यसत्यवक्ता (२४) । निराश्रयचित्—निर्गतो निर्णष्ट आश्रयः स्थानं यस्याः सा निराश्रया, निराश्रया चित् चेतना यस्य बुद्धस्य स निराश्रयचित् । बौद्धमते किल चेतना निराश्रया भवति । उक्तञ्च—

विशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चिन्नैवावनि गच्छति नान्तरिचम् ।

दीपो यथा निर्हृतिमभ्युपेतः खेदृच्यत्केवलमेति ज्ञानितम् ॥

विशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चिन्नैवावनि गच्छति नान्तरिचम् ।

जीवस्तथा निर्हृतिमभ्युपेतः ज्ञेयश्च्यत्केवलमेति ज्ञानितम् ॥

स्वमते तु श्रीमद्भगवद्गैस्तर्षस्तु निराश्रयचित्—निराश्रया रागाद्वेषमोहसमस्तसंस्कारविकल्पादिजाल-रहिता चित् चेतना शुद्धध्यानेकलोलीभाव आत्मा यस्य स निराश्रयचित् (२५) । अन्वयः—अनु पृष्ठतो लमः अयः पुण्यं यस्य सोऽन्वयः (२६) ।

यौगो वैशेषिकस्तुच्छामावमित् षट्पदार्थदृक् ।

नैयायिकः षोडशार्थधादी पञ्चार्थवर्णकः ॥ ११४ ॥

यौगः—यौगो नैयायिकः । भगवांस्तु ध्यानयोगाद् यौगः, मनोवचनकाययोगाद् यौगः । अयथा यः सूर्यश्चन्द्रश्च, या रमा, याः याचकाः, या युक्तिः, यो यथार्थः, यो योगः, उः शंकरः, ऊ रत्नी एते यं गच्छन्ति स यौगः (२७) । वैशेषिकः—वैशेषिकाः कात्यादा^२स्तेषां मते षट् पदार्था भवन्ति । ते के ? द्रव्यं गुणः कर्म-सामान्यं विशेषः समवायश्चेति । तत्र द्रव्यं नवप्रकारम् । के ते नव प्रकाराः—भूमिर्जलं तेजः पवन आकाशः कालो दिक् आत्मा मनश्चेति । चतुर्विंशतिः गुणाः । के ते ? आर्याद्वयेन कथयामि—

स्पर्शनरसनघ्रणाः शब्दाः संख्या वियोग-संयोगौ ।

परिभार्यं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥

बुद्धिसुखदुःखेष्व्वाधर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः ।

द्वेषः स्नेहगुरुत्वे प्रवृत्त्ययोगौ गुणा एते ॥

कर्म पञ्च प्रकारम्—

उच्छेषावच्छेषावाकुंचनकं प्रसारणं गमनम् ।

पञ्चविधं कर्मैतत्परारपरे द्वे च सामान्ये ॥

तत्र परं सत्ताकवं ब्रह्मत्वात्परमथ विशेषस्तु ।

निश्चयतो मित्यप्रव्यवृत्तिरन्वो विनिर्दिष्टः ॥

य इहाद्युतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।

सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स च भवति समवायः ॥

यथा तन्त्व आघारः, तन्तुपट आधेयः । एवं छिदिक्रिया आघारः, छेद्यः आधेयः । अमुना प्रकारेण तन्तुपटयोः समवायः, छिदिक्रिया-छेद्ययोः समवायः । प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति प्रमाणानि त्रीणि ।

नित्यानित्यैकान्तो वादः । श्रीमद्भगवद्दर्हस्तर्वणस्तु वैशेषिकः—हृन्दिजं ज्ञानं सामान्यं अतीन्द्रियज्ञानं विशेषः, केवलज्ञानमित्यर्थः । विशेषेण केवलज्ञानेन सह दीव्यति संसृष्टः तरति, चरति वा वैशेषिकः (२८) । तुच्छाभावात्—तुच्छश्च गुणतुच्छश्च अभावश्च आत्मनाशः, तुच्छाभावौ तौ भिन्नचित् उत्थापयति उच्छेदयति तुच्छाभावात् (२९) । उक्तञ्च —

तुच्छोऽभावो न कस्यापि हानिर्दीपस्तमोऽन्वयी ।
चरादियु धियो हानौ विच्छेदे सिद्धसाध्यता ॥

तथा च पूज्यपादैः—

नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्ते-
रस्यात्मानादिवद्भः स्वकृतजफलमुक् तत्त्वयान्मोक्षभारी ।
ज्ञाता दृष्टा स्वदेष्टप्रमितिरूपसमाहारविस्तारधर्मा-
प्रौढ्योत्पत्तिव्यथात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ॥

पदपदार्थद्वयं—कारणादमते द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायाभावाः (सामान्यविशेषसमवायाः) पद-
पदार्थाः । स्वमते जीवपुद्गलधर्माधर्माकारालाकारानामान पद पदार्थाः । तान् पश्यति जानाति च द्रव्यगुण-
पर्यायतया सम्यग् वेत्ति पदपदार्थद्वयं (३०) । नैयायिकः—न्याये स्याद्वादं नित्युक्तो नैयायिकः । अन्ये तु
शेषादयः सर्वेऽपि अन्यायकारकाः अनैयायिकाः नाममात्रेण नैयायिकाः (३१) । षोडशार्थवादी—
नैयायिकमते षोडशार्थाः । ते के ? प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन दृष्टान्त मिद्वान्तावयव तर्क निरर्थ-वाद-जल्प-
वितण्डा हेत्वाभाव-जल जाति-निग्रहस्थानानि चेति । तेषां विवरणं तु तकपरिभाषादिषु मिथ्याशास्त्रेषु
ज्ञातव्यम् । स्वमते तु षोडश—दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारोऽर्माक्षयज्ञानोपयोऽसंबेगौ
कृत्स्नतस्यागतपत्नी साधुसमाधिर्वाहृत्पकरखमर्हदाचार्यश्चतुश्चतस्रचनभक्तिरवश्यकारिहासिर्मागप्रभावना
ऽवचनवस्तुत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य । इति सूत्रेण सूचितानि षोडशकारणानि षोडशार्थाः, तान् वदतीत्येव-
शालः षोडशार्थवादी (३२) । पञ्चार्थवर्णकः—पञ्चार्थवर्णकः कारणादो वैशेषिकश्च कथ्यते । स तु पञ्चार्थ-
वर्णकः द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान् पञ्च पदार्थान् दर्शयति । अभावास्तु तत्त्वं न वर्तते । श्रीमद्भगवद्दर्हस्तर्व-
णस्तु पञ्च ते अर्थाः पञ्चार्थाः । ते के ? कुन्द चन्द्र हिमपटल-मौक्तिक-मालादयः एकः शुभ्रोऽर्थः ।
इन्द्रनीलमणिर्मिन्नाञ्जनं निरञ्जमाकाशं उद्वर्त्तिततरवारिश्चेत्यादिकः कृष्णोऽर्थः द्वितीयोऽर्थः । ब-धुकपुष्पं रक्त-
कमलं पद्मरागमणिर्मिन्नादिको रक्तार्थवर्णपदार्थस्तृतीयोऽर्थः । प्रियंगुः पण्डितशिल्पिर्ग्रीवा शालिपर्णं शुक्रपद्मो
मरकतमणिश्चेत्यादिकां नीलवर्णंश्चतुर्थोऽर्थः । सततकनकं चेत्यादिः पञ्चमोऽर्थः । पञ्चार्थैः समानो वर्णः
पञ्चार्थवर्णः । पञ्चार्थवर्णः कः कावो यस्य तीर्थंकरपरमदेवसमुदायस्य स पञ्चार्थवर्णकः । तथा चोक्तं—

जम्बुधातकपुष्करार्धवसुधाक्षेत्रप्रये ये भवा-

अन्नाम्भोजशिल्पिकण्ठकनकप्रावृद्धना भाजिनः ।

सम्भ्रजानचरित्रलक्ष्याधरा द्रघाष्टकर्मन्धनाः

भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥

इति पञ्चार्थवर्णकः । अथवा पञ्चानां जीवपुद्गलधर्माधर्माकारालक्षणाणां पञ्चास्तिकायानां वर्णकः
प्रतिपादकः पञ्चार्थवर्णकः । अथवा पञ्चानां नैयायिक-बौद्ध-वैशेषिक-जैमिनीय सांख्यचर्मिष्यादृष्टीनामर्थवर्णकः
पञ्चार्थवर्णकः । के ते पञ्च मिथ्यादृष्टयः, क च तेषामर्था इति चेदुच्यते—नैयायिकाः—याशुपताः जटाधरविशेषाः
तेषां दर्शनं ईश्वरो देवता । प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टा-त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निरर्थ-वाद-जल्प-
वितण्डा-हेत्वाभाव-जल-जाति-निग्रहस्थानानि षोडश तत्त्वानि । प्रत्यक्षमुत्तमानुपमानमागमश्चेति चत्वारि
प्रमाणानि । नित्यानित्यैकान्तवादः । दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानुसृत्योत्तरापाये तदनन्तरापायेऽभावो

मोक्षमार्गः मोक्षः । षडिन्द्रियाणि षट् विषयाः षट् बुद्ध्यः सुखं दुःखं शरीरं चेत्येकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तोच्छेदो मोक्षः ।

बौद्धा-रक्तपदाः भिन्नुकाः, तेषां दर्शने बुद्धो देवता । दुःखायतनसमुदयनिरोधमोक्षमार्गरूपणि चत्वारि आर्यसत्यानि तत्त्वानि । प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे प्रमाणे । क्षणिकैकान्तवादः । सर्वज्ञणि कत्व-सर्वनैरात्म्यवासना मोक्षमार्गः । वासनाह्वेशवमुच्छेदे प्रदीपस्यैव शान्तस्तानस्य अत्यन्तोच्छेदो मोक्षः ।

कात्यादं शैवदर्शनं वैशेषिकमिति । तत्र शिवो देवता । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट्पदा-
र्यास्तत्त्वम् । प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति त्रीणि प्रमाण्यानि । नित्यानित्याद्येकान्तवादः दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्या-
ज्ञानानामुत्तरोत्तरपाथे तदन्तरोत्तरपाथेऽभावे मोक्षमार्गः । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नघर्माधर्मसंस्काररूपाणां
नवानामात्मनिवेशपशुणामत्यन्तोच्छेदो मोक्षः ।

जैमिनीयं भट्टदर्शनं—तत्र देवो नास्ति । नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्य एव तत्त्वनिश्चयः । तत्र चोदानालक्ष्यो
धर्मस्तत्त्वम् । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमोऽर्थापरिभ्रमश्चेति षट् प्रमाण्यानि । नित्यानित्याद्येकान्तवादः ।
वेदविहितानुष्ठानं साक्षमार्गः । नित्यनिर्यतराशयसुखामिभ्यक्तिर्मात्रः ।

सांख्यदर्शनं मरीचिदर्शनम् । तत्र केयाञ्चिदीश्वरो देवता, केयांचित्तु कपिल एव । पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि ।
सत्त्वरजस्तनसां सम्भावस्या प्रवृत्तिः । प्रकृतेर्महान् बुद्धिरित्यर्थः । महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि
एकादश चेन्द्रियाणि । तत्र शब्दतन्मात्रादाकाराम्, रूपतन्मात्रात्तेजः, गन्धतन्मात्रात्सुधी, रसतन्मात्रादापः,
स्पर्शतन्मात्राद्वायुः । स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाण्यपादपायूपस्थानि
पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादश मन इति । अमृतं चैतन्यरूपोऽकर्ता भोक्ता च पुरुषः ।

सूक्ष्मप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

दोदशैक्य विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

पंचकथवत्प्रकृतिपुरुषयोगात् । प्रत्यक्षानुमानशब्दास्त्रीणि प्रमाण्यानि । नित्यैकान्तवादः । पञ्चविंशति-
तत्त्वज्ञानं मोक्षमार्गः । प्रकृति-पुरुषावैकदर्शनाभिष्टुताया प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्षः । अथाहो
भगवान् पञ्चार्थानामेव वर्णको निजं जैनमथं किं न वर्णयति ? सत्यम्, वर्णयत्येव; पूर्वमेव स्वस्वरूपनिष्ठत्वात्स-
यमेव तद् पत्वात् धरिति एव सोऽर्थः । तथापि जडजनानां सम्बोधनार्थं वर्णयते ।

जैनं नैवाथिकं बौद्धं कम्प्याद् जैमिनीयकम् ।

सांख्यं षट् दर्शनान्याहुर्नास्तिकीयं तु सप्तमम् ॥

देवं तत्त्वं प्रमाथ्यं च ब्रह्मं मोक्षं च निर्दूषितं ।

तेषां चारं प्रणम्यादौ षष्येऽहं तद्यथागमम् ॥

जैनदर्शनंऽहं देवता, तेन ते आर्हता उच्यन्ते । जीवाजीवास्यवपुष्यपापबन्धसंघननिर्जामोक्षास्तत्त्वानि ।
प्रत्यक्षं परंत्वं चेति द्वे प्रमाणे । नित्यानित्याद्येकान्तवादः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । कृतकर्म-
त्त्वो नित्यनिर्यतराशयसुखाविर्भावश्च मोक्षः । पञ्च मतानि तु पूर्वमेवोक्तानि । तर्हि चार्वाकदर्शनं कीदृशं भवति ?
चार्वाका नास्तिका लांकार्यतिकारश्चेति तस्मान्मानि । तेषां दर्शने देवो नास्ति, पुण्यं नास्ति, पापं नास्ति, जीवो
नास्ति, नास्ति मोक्ष इति । गृथियतेजोवाक्यश्रवणारि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि । प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् । गृथि-
व्यादेः समवायान्महागैभ्यो मदशक्तिश्चेतन्यशक्तिः । अहङ्कृत्यपरित्यागेन हृद्यसुखोपभोग एव पुरुषार्थः ।
दुर्गोचजलप्रभादितलसचाका हि जल्पते प्रवादाः । तथाहि—

नैगमनयानुसारिणौ नैयायिक-वैशेषिकौ । संग्रहनयानुसारिणः सर्वेऽपि मीमांसकविरोधाः अद्वैतवादाः
सांख्यदर्शनं च । व्यवहारनयानुसारिणः प्रायश्चार्वाकाः । श्रुतसूत्रनयानुसारिणो बौद्धाः । शब्दादिनयाच-

सम्बन्धो वैशाकरणादयः । ते एते नित्यानित्याद्यनन्तात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतैकधर्मसमर्थनप्रवृत्त्याः शेषधर्म-
तिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्ण्या इत्युच्यन्ते । स्वाभिप्रेतैकधर्मसमर्थनप्रवृत्त्याः शेषधर्मस्वीकार-तिरस्कारपरिहारण्य
प्रवर्तमाना नयाः । सर्वनयमत् तु जिनमत् स्याद्वादरूपं प्रमायामिति (३३) ।

ज्ञानान्तराध्यक्षबोधः समवायवशार्थमिदम् ।

भुक्तैकसाध्यकर्मान्तो निर्विशेषगुणामृतः ॥११५॥

ज्ञानान्तराध्यक्षबोधः—ज्ञानान्तरेषु मतिश्रुतावधिमनःपर्येषु अप्यक्षः प्रत्यक्षीभूत उपरि मुक्तो^१
नियुक्तो बोधः केवलज्ञानं यस्य स ज्ञानान्तराध्यक्षबोधः (३४) । **समवायवशार्थमिदम्**—समवायस्य वशा
ये अर्थास्तन्तुपटवत् मिलितास्तान् भिनत्ति पृथक्त्वा जानाति यः स समवायवशार्थमिदम् (३५) । तथा
चोक्तम्—

अण्योर्ण्यं पविसंता दिता अोग्गासमण्यमण्यसस ।

मेळंता वि य शिषं सगसन्नाथं थ विजहंति ॥

भुक्तैकसाध्यकर्मान्तः—भुक्तेन अनुभवनेन एकेन अद्वितीयेन साध्यः कर्मणामन्तः स्वभावो
यस्य स भुक्तैकसाध्यकर्मान्तः । उक्तञ्च—

अलंघ्यशक्तिर्भवितास्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यक्षिणाः ।

अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहस्य कार्येष्विति साध्यवादीः ॥

अथवा अनादौ संसारे कर्मफलं मुञ्चानो जीव आयातः कदाचित्त्सामग्रीविशेषं सम्प्राप्य कर्मणामन्तं
विनाशं करोति । ईदृशं मतं यस्य स भुक्तैकसाध्यकर्मान्तः (३६) । एवं च सतीदं प्रत्युक्तं भवति—

कृतकर्मण्यो नास्त कल्पकोटिशतैरपि ।

अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

निर्विशेषगुणामृतः—निर्विशेषा विशेषपरिहृतास्तीर्धकरपरमदेशानां अनगारकेवल्यादीनां च घाति-
संघातघातने घति गुणा अनन्तशानानन्तदर्शनानन्तवीर्यान्तसुखादयो यस्य मतं स निर्विशेषगुणामृतः ।
गुणा एवामृतं पीयूषं जन्मजरामर्यादुःखनिवारकत्वात् । निर्विशेषं गुणामृतं यस्य स निर्विशेषगुणामृतः ।
अथवा निर्विशेषैर्गुणोपलक्षितं अमृतं मोक्षो यस्य मतं स निर्विशेषगुणामृतः (३७) ।

सांख्यः समीक्ष्यः कपिलः पञ्चविंशतितत्त्ववित् ।

व्यक्ताव्यक्तज्ञाविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेददृक् ॥११६॥

सांख्यः—संख्यानं संख्या, तस्यां नियुक्तः साख्यः ।

प्रथमोऽप्यथमेव संख्याते मध्यमोऽप्यथमेव कथ्यते ।

अन्योऽप्यमेव भगवान् तेन सांख्यः स सांख्यवान् ॥

स सांख्यो यः प्रसंख्यावान् इति तु निवक्तिः (३८) । **समीक्ष्यः**—सम्यक् र्ज्ञितुं दृष्टुं योग्यः
समीक्ष्यः । अथवा समिनां योगिनामीक्ष्यो दृश्यः समीक्ष्यः । अन्ये त्वेनमवलोकयितुमसमर्थाः, सूक्ष्मकेवल-
ज्ञानदृष्टिद्वित्वादित्यर्थः । येनाथं दृष्टस्तेन सर्वं दृष्टमिति वचनात् । अतएव वेदान्तवादिभिरप्युक्तं—**दृष्टव्यो**
रेड्यमात्मा औतथ्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्याऽऽत्मनि वा अरे दृष्टे श्रुतेऽनुमिते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् (३९) ।
कपिलः—कपिरिव कपिः, मनोमर्कटः । कपिं लाति विषय-कषायेषु गच्छन्तं लाति आत्मनि स्थापयति निश्चली-

करोति यो भगवान् तीर्थंकरपरमदेवः स कपिल उच्यते । अन्यस्तु विषयकथायचलितचित्तः शापेन पट्टिदृष्टान् समरपुत्रान् भस्मीकरोति, स पापीयान् कपिलः कुक्कुर एव ज्ञातव्यः । अथवा कपिलः कं परमब्रह्मस्वरूप-मात्मानमपि निम्नयेन लाति पृष्ठाति आत्मना सहैकलोलीभावो भवति कपिलः । अवाप्योरस्त्रोपः इति व्याक- र्यासूत्रेण अपिशब्दस्य अकारलोपः (४०) । उक्तञ्च—

षष्टि-भागुरिरस्त्रोपमवाप्योरसर्गोः ।

आपं चैव हस्तानां यथा वाचा जिज्ञा गिरा ।

पञ्चविंशतितत्त्वषड्- सांख्यमतस्य पञ्चविंशति तत्त्वानि पूर्वोक्तानि ज्ञातव्यानि । स्वमते पञ्चविं- शतिभावनानां तत्त्वं स्वरूपं वेत्तीति पञ्चविंशतितत्त्ववित् । कास्ताः पञ्चविंशतिर्भावनाः ? अहिंसाग्रहणतत्त्वस्य पञ्च भावना - वाङ्मनोमुखीर्वादाननिक्षेपसमित्याजोकिरणभोजनानि पञ्च । सत्यवचनस्य पंच भावनाः— क्रोधलोभभीस्त्वहास्यप्रत्याख्यानव्यनुवाचभाषणं च पञ्च । अचौर्यमतस्य पंच भावनाः—शुभ्यगाराशिमोषिता- वस्त्रपरोपरोधाकरणाभैक्ष्यशुद्धिसंघर्माविसंवादाः पञ्च । ब्रह्मचर्यमतस्य पञ्च भावनाः— स्त्रीरागकथाश्रवणतन्म- नोहरागनिरीक्षणं पूर्ववतानुस्मरणं दृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च । आर्कित्यमतस्य पञ्च भावनाः— मनो- शासनोद्देश्यविषयग्राह्यं च वर्जनानि पञ्च ।

अथवा त्रयोदश क्रियाः द्वादश तपांसि चेति पञ्चविंशतिभावनाः । कास्तास्तत्रयोदश क्रियाः ? षडा- वश्यकानि, षडनमस्काराः, अस्सही निस्सही चेति । अथवा पंचविंशतेः क्रियायां तत्त्ववित् स्वरूपज्ञायकः । कास्ताः पंचविंशतिः क्रियाः ? उच्यन्ते—शुभाशुभकर्मादानहेतवे व्यापाराः पञ्चविंशतिक्रियाः । तथाहि— चैत्यगमन-गुरुप्रवचनपूजादिलक्षणं सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया ? । अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्व- हेतुका कर्मप्रवृत्तिः मिथ्यात्वक्रिया २ । गमनागमनादिप्रवर्तनं कार्यादिभिः प्रयोगक्रिया ३ । संयतस्य सत्ता अविर्ति प्रत्यामिमुखं समादानक्रिया ४ । ईर्ष्यापथनिमित्ता ईर्ष्यापथक्रिया ५ । एताः पञ्च क्रियाः । क्रोधा- दिवशात् प्रादाधिकी क्रिया १ । प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया २ । हिंसोपकरणादानात् आधिकर- णिकी क्रिया ३ । सत्त्वदुःखोत्पत्तिवत्त्वात् पारितापिकी क्रिया ४ । आशुरिन्द्रियबलप्राप्त्यानां वियोगकरणात् प्राणातिपातकी क्रिया ५ । एताः पञ्च क्रियाः । रागाद्यधिकृतत्वात्प्रमादिनो रमणीयरूपावलोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया १ । प्रमादवशात् स्पृष्टव्यसंचेतनानुक्चः स्पर्शनक्रिया २ । अपूर्वाधिकरयोत्पादनात् प्रात्ययिकी क्रिया ३ । स्त्रोपुरुषपशुपाषण्डसम्प्रातदेशे अन्तर्मलोत्सर्गकरणां समन्तानुपातक्रिया ४ । अप्रमृष्टादृष्टभूमी कार्यादि- क्षेपां अनामोगाक्रिया ५ । एताः पञ्च क्रियाः । यां परेषां निर्वर्त्या क्रियां त्यज करोति स स्वहस्तादान- क्रिया १ । पापादानादिप्रवृत्तिविशेषान्यनुष्ठानं निसर्गाक्रिया २ । पराचरितवाष्यादिप्रकाशनं विदरणाक्रिया ३ । यथाक्तमावश्यकार्थादिषु चारित्रमोहोदयात् कषु मशकनुवतोऽन्यथाप्ररूपणात् आशान्यापादाका क्रिया ४ । शास्त्रालस्याभ्या प्रवचनोपदिष्टधिकर्तव्यतानादयोऽनाकाञ्चक्रिया ५ । एताः पञ्च क्रियाः । छंदन-भेदन-विंश- सनादिक्रियादिपत्त्वं अन्येन वाऽऽऽरम्भे क्रियमाणो प्रकर्षः प्रारम्भक्रिया १ । परिग्रहार्थविनाशार्थां परिग्रहिकी क्रिया २ । ज्ञानदर्शनादिषु निवृत्तिवचनं मायाक्रिया ३ । अन्यं मिथ्यादर्शनक्रियाकारणकारणाविष्टं प्रशंसा- दिभिर्नृदयति यथा साधु करोषीति मिथ्यादर्शनक्रिया ४ । संयमपातिकर्मोदयवशात् अनिवृत्तिप्रत्याख्यान- क्रिया, ५ । एताः पञ्च क्रियाः । एतासु पञ्चविंशतिक्रियासु मध्ये या प्रथममुक्ता सम्यक्त्ववर्धनी सम्यक्त्वक्रिया सा शुभा, अन्या अशुभाः । इति पञ्चविंशतिक्रियायां तत्त्वं स्वरूपं वेत्तीति पञ्चविंशतितत्त्ववित् (४१) ।

व्यकाशयकञ्चिद्विज्ञानी—सांख्यमते फिल व्यक्तं विवेकवत् । अन्यकल्प प्रकृतेशस्य आत्मनश्च विवेके सति विकानं ज्ञानरहितत्वं मोक्षो भवति । तदुक्तं—

स यदा दुःख चरोत्यवसंचेतस्त्वह्निवापकहेतुजिज्ञासोत्सेकितविवेकज्ञोदाः स्फाटिकारमानमिवाग्नात्साम- ममप्यात्मानं सुखदुःखसोमाहपरिवर्तितमहर्हकारादिविवेचैश्च कञ्चुचयन्त्याः सत्त्वरजस्तमःसाम्भावस्थापर-

नामवत्याः सनातनव्यापिगुणाधिकृतेः प्रकृतेः स्वरूपमवगच्छति तदाऽयोमयगोत्रकालतनुस्यवर्गीस्य षोडशब्रह्म-
धानकसंसारस्य सति बिसर्गे सकलज्ञानशेषसम्बन्धवैकल्यं कैवल्यमवलम्बते । तदा ब्रह्मः स्वरूपेऽवस्थानमिति
वचनान् । ततश्च --

अनुभवत पिबत खादत विलसत मानयत कामितं लोकाः ।
आत्मव्यक्तिविवेकान्मुक्तिर्ननु किं बुधा तपत ॥

एवं सति तन्मतसंज्ञनायायं श्लोकः --

अव्यक्तनरयोर्मित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः ।
विवेकेन कथं ख्यातिं साक्यमुकथाः प्रवचते ॥

श्रीमद्भगवद्दर्शनवैश्वानरुत् व्यक्ताव्यक्तज्ञविशानी । अस्यायमर्थः -- व्यक्ता लोचनादीना गोचराः संसारिणो
जीवाः, अव्यक्ताः केवलज्ञानस्य गम्याः सिद्धपरमेष्ठिनः व्यक्ताश्चाव्यक्ताश्च व्यक्ताव्यक्ताः, ते च ते हा जीवाः
व्यक्ताव्यक्तज्ञाः तेषां विशिष्टं शानं शक्तितया व्यक्तितया केवलज्ञानं विद्यते यस्य मते स व्यक्ताव्यक्तज्ञविशानी ।
सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इत्यभिप्रायवानित्यर्थः (४२) । ज्ञानचैतन्यभेददृक् -- चेतना त्रिविधा-
ज्ञानचेतना कर्मचेतना कर्मफलचेतना चेति । तत्र केवलज्ञानं ज्ञानचेतना । त्रिसां कर्मचेतना कर्मफलचेतना
चेति द्वे । रथावराणां कर्मफलचेतनेषु । चेतनायाः भावः चैतन्यम्, ज्ञानस्य चैतन्यस्य च भेदं पर्यतीति
ज्ञानचैतन्यभेददृक् । अथवा शानं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानमेवात्यज्जविधम् मार्गशाश्रितत्वात् कुमति-
कुश्रुति-कदवधिभेदात् त्रिविधं बु-शानमपि शानोपचारात् ज्ञानमर्थावधिम् । दर्शनं चतुर्भेदमेव -- चक्षुरचक्षुर-
वधिकेवलदर्शनभेदात् । तत्सर्वं द्वादशविधगणं उपयोगाश्रितवान् ज्ञोवलक्षणत्वात् ज्ञानमेव चैतन्यं तु
सूक्ष्मानित्यनिर्गोदादीं ज्ञानलक्षणात् चैतन्यमुच्यते संग्रहणयवलात् । तदुक्तं --

शिखरिणोवृषज्जस्तयस्त जादस्त पदमसमयसिंह ।
हचदि द्वा सव्वजहण्यं निश्वरणादं निरावरणं ॥

इति गाथया पर्यायान्मो लब्धत्तरापरगभिधेयस्य भावश्रुतभेदस्य लक्षणं प्रोक्तम् । भावश्रुतस्य भेदा
विशतिर्भवन्ति । ते के ?

पर्यायचरपदसंज्ञातप्रतिपत्तिकालुयोगविधिन् ।
प्राश्रुतकप्राश्रुतकं प्राश्रुतकं वस्तु पूर्वं च ॥
तेषां समासतोऽपि च विज्ञातिभेदात् समश्रुतज्ञानं तत् ।
वन्दे द्वादशशोके गभीरवरशास्त्रपदव्या ॥

सूक्ष्मनित्यनिर्गोदजीवस्य अपर्यायस्य यत्प्रथमममये प्रवृत्तं सर्वज्ञधन्यज्ञानं तत्पर्याय इत्युच्यते, तदेव
लब्धत्तरमुच्यते । तथा चोक्तम् --

त्वं लब्धत्तरबोधनेन भविनो नित्यशुतायीयस-
स्तत्तत्तत्कलया परास्मिन्नानुप्राहिणीः सर्गाया ।
चिप्लुक्त्वाऽखिलवेदिनः परमया सञ्जीवयन्त्या तया
मुक्तानप्यनुगृह्णीती भगवति ध्येयाऽसि कस्येह न ॥

इत्यत्र पर्यायस्य लब्धत्तरमित्यपरनाम सूचितं भवति । अक्षरश्रुतानन्तभागपरिमाणात्त्वात् सर्वज्ञज्ञाने-
भ्यस्तज्जधन्यं नित्योद्भाटितं निरावरणं च वर्तते । न हि भावतस्तस्य कदाचिदप्यभायो भवति । आत्मनोऽपि
अभावप्रसंगात्; उपयोगलक्षणत्वाञ्जीवत्व । तदेव ज्ञानं अनन्तमागृह्यत्वात् असंख्येयभागदृष्टत्वात् संख्येयभाग-

वृद्ध्या संख्येयगुणवृद्ध्या असंख्येयगुणवृद्ध्या अनन्तगुणवृद्ध्या च वर्धमानं असंख्येयलोकपरिमाणं प्रागक्षर-
श्रुतज्ञानात् पर्यायसमाप्तः कथ्यते । अक्षरश्रुतज्ञानं तु एकाक्षराभिधेयावगमरूपं श्रुतज्ञानसंख्येयभागमात्रम् ।
तस्योपरिष्ठादक्षरसमाप्तोऽक्षरवृद्ध्या वर्धमानो द्वित्र्याद्यक्षरावबोधस्वभावः पदावबोधानुरस्तात् । उक्तञ्च—

षोडशशतं चतुर्विंशत्कोटीनां व्यशीतिमेव लक्षणि ।
शतसंख्याष्टासप्ततिमष्टासीति च पदवर्णान् ॥

पदात्परतः पदसमाप्तः अक्षरादिवृद्ध्या वर्धमानात्प्राक् संघातात् । संख्यातपदसहस्रपरिमाणाः संघातो
नारकाद्यन्तमगतप्रपञ्चप्ररूपणप्रवणः प्रतिपत्तिक्रात् संख्यातसंघातपरिमाणाद् गतिचतुष्टयव्यावर्णनसमपर्याप्त्यर्थ-
मक्षरादिवृद्ध्या वर्धमानः संघातसमाप्तः । एवमुत्तरत्रायन्येव दिशा समासवृद्धिः प्रतिपत्तव्या । प्रतिपत्तिका-
स्यै प्रतिपत्तिसमाप्तः संख्यातप्रतिपत्तिकरूपादनुरयोगात् समस्तमार्गाणानिरूपणसमर्थात् । तस्मादनुपरिष्ठादनु-
योगसमाप्तः संख्यातानुरयोगस्वरूपात् प्राभूतकप्राभूतकादवस्तात् प्राभूतकप्राभूतात् चतुर्विंशत्याः भवति प्राभूतकं
प्राभूतकात्प्राक् प्राभूतकप्राभूतकसमाप्तः । प्राभूतकसमाप्तोऽपि प्राभूतकविंशतिपरिमाणाद्दस्तुनः पूर्वं दस्तुस-
माप्तः । पुनर्वस्तुनः परतो दशादिवस्तुपरिमाणात् पूर्वान् प्रागवगन्तव्यः । ततः पूर्वसमाप्त एव पूर्वसमुदये परं
श्रुतसंशया अमानादिति ।

अथ के ते द्व्यश्रुतभेदा इति चेदुच्यते— अष्टादशपदसहस्रपरिमाणं गुणिसमित्यादित्यत्राणसूचक-
माचारांगम् १८००० (१) । पट्विंशत्यदसहस्रपरिमाणं शानविनयार्दिकाविशेषरूपकं सूत्रकृतमंगम्
३६००० (२) । द्विचत्वारिंशत्यदसहस्रसंख्यं जीवादिद्रव्यैकाद्येकोत्तरस्थानप्रतिपादकं स्थानम् ४२००० (३) ।
चतुःषष्टिसहस्रैकलक्षपदपरिमाणं द्व्यथो धर्माधर्मलोकान्नाशकजीवानां क्षेत्रतो जम्बूद्वीपावधिष्ठाननरक—नन्दी-
श्वरवापी—सर्वाभ्यन्दिभिमानादीना, कालत उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यादीनां भावतः क्षाधिकज्ञान-दर्शनादिभावानां
सम्बन्ध प्रतिपादकं समवायनामधेयम् १६४००० (४) । अष्टाविंशतिसहस्रलक्षद्वयपरिमाणा जीवः किमस्ति
नारतीत्यादिगणधर्याष्टिसहस्रप्रनव्याख्याविधायिका व्याख्याप्रश्रुतिः २२८००० (५) । पट्विंशत्यदसहस्रा-
धिकपञ्चलक्षपदपरिमाणा तीर्थेकगत्या गणधराणां च कथोपकथाप्रतिपादिका ज्ञानुकथा ५५६००० (६) ।
सप्ततिसहस्रैकादशलक्षपदसंख्यं आद्यकानुष्ठानप्ररूपकमुपासकान्ययनम् ११७०००० (७) । अष्टाविंशति-
सहस्रत्रयोविंशतिलक्षपदपरिमाणं प्रतितीर्थं दश-दशानगाराणां निर्जितदारुणोपसर्गाणां निरूपकमत्कृद्दशम्
२३२८००० (८) । चतुश्चत्वारिंशत्यदसहस्रद्विनवतिलक्षपदपरिमाणं प्रतितीर्थं निर्जितदुर्गोपसर्गाणां समासादि-
तपंचानुरोपपदानां दश दशमुनीनां प्ररूपकमनुत्तरोपपादिकदशम् ६२४४००० (९) । षोडशसहस्रत्रिनव-
तिलक्षपदपरिमाणां नष्ट-मुष्टबादीन् परप्रनानाभित्य यथावत्तदर्थप्रतिपादकं प्रनानां व्याख्यातु प्रनव्याकरणम्
६३१६००० (१०) । चतुरशीतिलक्षधिकैककोटीपदपरिमाणं सुकृत-दुःकृतविपाकसूचकं विपाकसूत्रम्
१८४००००० (११) । एकदशानां पदसमुदायांकः ४१५०२००० ।

द्वादशमङ्गं पञ्चप्रकारं । के ते पञ्च प्रकाराः—एकं परिकर्म द्वितीयं सूत्रं तृतीयः प्रथमानुरोगः चतुर्थं
पूर्वगतं पंचमी चूलिका चेति । तत्र परिकर्मणः पंच भेदाः । ते के ? चन्द्रप्रश्रुतिः १ सूर्यप्रश्रुतिः २ जम्बू-
द्वीपप्रश्रुतिः ३ द्वीपसागरप्रश्रुतिः ४ व्याख्याप्रश्रुतिश्चेति ५ । तत्र पञ्चसहस्राधिकषट्विंशत्तिलक्षपदपरिमाणा
चन्द्रानुरागतिवैभवादिप्रतिपादिका चन्द्रप्रश्रुतिः ३६०५००० । त्रिसहस्रपञ्चलक्षपदपरिमाणा सूर्यानुरागतिवैभवादि-
प्रतिपादिका सूर्यप्रश्रुतिः ५०३०००० । पञ्चविंशतिसहस्रलक्षत्रयपदपरिमाणा जम्बूद्वीपत्याखिलवर्ष-वर्षधरादि-
समन्वितस्य प्ररूपिका जम्बूद्वीपप्रश्रुतिः ३२५००० । पट्विंशत्यदसहस्रद्विपञ्चाशत्तिलक्षपदपरिमाणा असंख्यात-
द्वीपसमुद्रस्वरूपप्ररूपिका द्वीपसागरप्रश्रुतिः ५२३६००० । चतुरशीतिलक्षषट्विंशत्यदसहस्रपदपरिमाणा जीवादि-
द्रव्याणां रूपित्वादिस्वरूपनिरूपिका व्याख्याप्रश्रुतिः ८४३६००० । अष्टाशीतिलक्षपदपरिमाणां जीवस्य कर्म
कर्तृत्वतदकलभोक्तृत्वस्वर्गगतत्वादिधर्मविधायकं ग्रथिव्यादिप्रभेवत्वाद्युमात्रत्व-सर्वागतत्वादिधर्मनिषेधकं च सूत्रम्

८८००००० । पञ्चसहस्रपदपरिमाणञ्चिषट्शिलाकापुरुषपुराणानां प्ररूपकः प्रथमानुयोगः ५००० । पंचनवति-
कोटिपंचाशत्सहस्रपदपरिमाणं निखिलार्थानां उत्पादव्ययमौल्याद्यभिधान्यकं पूर्वगतम् ६५५०००००५ । जल-
गता स्थलगता मायागता रूपगता आकाशगता चेति पंचविधा चूलिका । तत्र कोटीद्वयनवल्लौकिकवतिसहस्र-
शतद्वयपरिमाणा जलगमन-स्तम्भनादिदेवतां मन्त्र-तन्त्र तपश्चरणाणां प्रतिपादिका जलगता २०६८२०० ।
स्थलगताप्येतावत्पदपरिमाणैव भूमिगमनकारणमन्त्र-तन्त्रादिसूचिका पृथिवीसम्बन्धिवास्तुविद्यातिप्रतिपादिका
च । मायागताप्येतावत्पदपरिमाणैव, इन्द्रजालादिक्रियाविशेषप्ररूपिका । रूपगताप्येतावत्पदपरिमाणैव व्याम्र-
सिंह-हृत्विद्यादिरूपेण परिगमनकारणमन्त्र-तन्त्रादिक्षेत्रकर्मादिलक्षणस्य प्रतिपादिका । आकाशगताप्येताव-
त्पदपरिमाणैव आकाशगतिहेतुभूतमन्त्र तन्त्र तपःप्रभृतीनां प्रकाशिका ।

अथ चतुर्दशपूर्वस्वरूपं निरूप्यते—जीवादेरुपादव्ययप्रौढ्यप्रतिपादकं कोटिपदमुत्पादपूर्वम् १००००००० ।
षण्णवतिलक्षणपदमंगानामप्रभृतार्थस्य प्रधानभूतार्थस्य प्रतिपादकमप्रायशीर्षयम् ६६०००००० । सप्ततिलक्षणपदं
चक्रधर-सुरपति धरणेन्द्र-केन्द्रीयदीनां वीर्यमाहात्म्यव्याख्याकं वीर्यानुप्रवादम् ७००००००० । षड्विधलक्षणपदं
षट्पदार्थानामनेकप्रकारैरितित्व-नारितित्वधर्मसूचकं अस्तित्वास्तित्प्रवादम् ६००००००० । एकोनकोटिपदं अष्ट-
शानप्रकाराणां तदुदयहेतूनां तदाचारणां च प्ररूपकं शानप्रवादम् ६६६६६६६६ । षडधिकंकोटिपदं
वामुक्ति-वाक्संस्काराणां काण्डादिरथानानां आविष्कृतवक्तृत्वपर्यायद्वीन्द्रियादिकृत्पाणां शुभाशुभरूपवचःप्रयोगस्य
च सूचकं मत्प्रवादम् १०००००००६ । षड्विंशतिकोटिपदं जीवस्य शानसुखादिमयत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-
धर्मप्रतिपादकं आत्मप्रवादम् २६०००००००० । अशीतिवत्कौटुम्हिकोटिपदं कर्मणां बन्धोदयोदीरणोपशम-
निर्जारादिप्ररूपकं कर्मप्रवादम् १८०००००००० । चतुरशीतिलक्षणपदं द्रव्यपर्यायाणां प्रत्याख्यानस्य निवृत्तेर्या-
वर्णाकं प्रत्याख्याननामधेयम् ८४००००००० । दशलक्षैककोटिपदं सुद्विधायासशरी मर्हाविधापञ्चशरी-
महांगनिर्मितानि च प्ररूपयन्तुषु विद्यानुप्रवादम् ११०००००००० । षड्विंशतिकोटिपदं अर्हद्वचलदेव-
यासुदेव-चक्रवर्त्यादीनां कल्याणप्रतिपादकं कल्याणनामधेयम् २६०००००००० । त्रयोदशकोटिपदं प्राणायान-
विभागानुषेद-मन्त्रवाद गाण्डादीनां प्ररूपकं प्राणायाम्यम् १३०००००००० । नवकोटिपदं द्वांसप्ततिकलानां
छंदोऽलंकारादीनां च प्ररूपकं क्रियाविशालम् ६००००००००० । पञ्चाशत्सहस्रपददशकोटिपदं लोकादिन्दुवारं
मोक्षसुखमाधनानुष्ठानप्रतिपादकम् १२५०००००००० । पूर्वार्थामनुक्रमेण वस्तुसंख्या दश १ चतुर्दश २, अष्ट
३, अष्टादश ४, द्वादश ५, द्वादश ६, षोडश ७, त्रिंशतिः ८, त्रिंशत् ९, पञ्चदश १०, दश ११, दश
१२, दश १३, दश १४ । एवमेकत्र वस्तुसंख्या १६५ । एकैकस्मिन् वस्तुनि प्राभृतानि २० । एवं प्राध-
तानि ३६०० । द्वादशानामंगानां समुदितपदसंख्या — ११२८३५८००५ ।

कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो लक्षाद्यश्रीतिस्यधिकानि चैव ।

पञ्चाशदहै च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुतं पञ्चपदं नमामि ॥

त्रिविधं हि पद-अर्थपदं प्रमाणपदं मध्यमपदं चेति । तत्र अनियताक्षरं अर्थपदं समासगतमसमासगतं
क्रियापदं अव्ययं च अर्थपदमुच्यते । यावत्स्यक्षराणि अर्थान्दनेपेतानि तावत्प्रमाणमर्थपदम् । प्रमाणापदं तु अष्टा-
क्षरं अंगवाद्यभुतसंख्यानिरूपकं श्लोकचतुर्थपादरूपम् । मध्यमपदं तु अंगप्रविष्टभुतसंख्याख्यापकम् । तस्य
मध्यमपदस्य वर्णान्तु एते भवन्ति—चतुर्विंशदधिकषोडशशतकोटयः श्वशीतिलक्षाणि सप्तसहस्राणि अष्टशतानि
अष्टाशीतिश्चेति । १६३४८३०७८८८८ । अंगवाद्यभुतं प्रकीर्णकसंशकम् । तस्य वर्णाः अष्टौ कोटयः एको लक्षः
अष्टौ सहस्राः एकं शतं पंचसप्ततिश्चेति ८०१०८१७५ । कानि तानि चतुर्दशप्रकीर्णकानि । अनगारजागार-
यतीनां नियतानियतकालः समयः समता, तत्प्रतिपादनं प्रयोजनं यस्य तस्मान्यधिकम् (१) । श्वषमादीनां
चतुर्विंशदतिशयप्रातिहार्यलाञ्छन-वर्णादिन्या वर्णाकं चतुर्विंशतित्तयम् (२) । अर्हदादीनामेकैशान्तिवन्दना-
भिधानबोधिका वन्दना (३) । दिवस-रात्रि-पद्म-चतुर्माससंवरसौर्यापयोत्तमार्थप्रभवसप्तप्रतिक्रमणप्ररूपकं प्रति-
क्रमणम् (४) । शान-दर्शन-तपश्चारित्र्योपचारलक्षणपंचविधविनयप्ररूपकं वैनयिकम् (५) । दीक्षाग्रह्यादि-

क्रियाप्रतिपादकं कृतिफर्म (६) । हुमपुष्यितादिदशाधिकारैर्मुनिजनाचरणवृत्तकं दशवैकालिकम् (७) । नानो-
पसर्गसहजतत्फलानिनिवेदकं उत्तरपुष्यनम (८) । यतीनां कल्पं योग्यमाचरणं आचरणव्यवने प्रार्थक्षिच-
प्ररूपयत्कल्पव्यवहारम् (९) । सागरानगारयतीनां कालविशेषमाश्रित्य योग्यायोग्यविकल्पमाचरणं निरूपयत्क-
ल्पाकल्पम् (१०) । वीक्षा शिद्धा गणपोषणालम्बस्कारमावनोत्तमार्थभेदेन षट्कालप्रतिबद्धं यतीनामाचरणं प्रति-
पादयत् महाकल्पं (११) । भवनवात्पादिदेवैषूत्यक्तिकारणतपःप्रभृतिप्रतिपादकं पुण्डरीकम् (१२) । अम-
रामरांगनाःसरःसूत्यसिहेतुप्ररूपकं महापुण्डरीकम् (१३) । सूक्ष्म-स्थूलदोषप्रार्थक्षिचं पुरुषवयः-सत्त्वाद्यपेक्षया
प्ररूपयन्ती अशीतिका (१४) । परमावधि-सर्वावधी चरमदेहानां भवतः । देशावधिसु सर्वाधामपि । मनः-
पर्ययस्तु अर्धतृतीयद्वीपक्षेत्रम् । केवलं सर्वव्यापकम् । मतिज्ञानस्य तु षड्विंशदधिकत्रिंशतभेदाः पूर्वभेदोक्ताः । एवं
ज्ञानचैतन्यभेददृक् । अथवा चैतन्याद् ज्ञानं भिन्नं वर्तते, हिमवन्मकराकरवत्; इति केचिन्मन्यन्ते । भगवांस्तु
नययोगेन ज्ञानचैतन्यभेददृक्; तत्प्रमाणाशाब्जादुच्येयम् (४३) ।

अस्वसंविदितज्ञानवादी सत्कार्यवादसात् ।

त्रिप्रमाणाऽक्षप्रमाणः स्याद्वाहकारिकाक्षदिक् ॥११७॥

अस्वसंविदितज्ञानवादी—सांख्यमते किलात्मा मुक्तः सन् स्वं आत्मानं न वेत्ति, ईदृशं ज्ञानं
वदतीति अस्वसंविदितज्ञानवादी । स्वमते तु निर्विकल्पसमाधौ स्थित आत्मा रागद्वेषमोहादिसंकल्प-विकल्प-
रहितवान्न सौ विदितो येन ज्ञानेन तत् अस्वसंविदितज्ञानम् । ईदृशं ज्ञानं वदतीत्येषोशीलः अस्वसंविदितज्ञानवादी
(४४) । **सत्कार्यवादसात्** - सत्कार्यैः सांख्यैः । सत्कार्यैः सांख्यकपिषी इति वचनात् । सत्कार्यस्य सांख्यस्य
वादः सत्कार्यवादः । असत्कार्यवादः सन् सत्कार्यवादो भवति सत्कार्यवादः, अभूततत्त्वात्वे सातिर्वा सात् ।
सत्कार्यवादसात् । तन्न घटते । किं तर्हि संगच्छते ? सत्समीचीनं कार्यं संवर-निर्जरादिलक्षणं कार्यं कर्तव्यं करणीयं
कृत्यं सत्कार्यम् । तस्य वादः शास्त्रं सत्कार्यवादः । असत्कार्यवादः सन् भगवान् सत्कार्यवादो भवति सत्कार्य-
वादसात् । अभिभ्याहो संपन्नतो सातिर्वा इत्यनेन सूत्रेण साध्वत्प्रत्ययः, सादन्तमव्ययं ज्ञातव्यम् । अथवा सत्कार्य-
वादस्य सा शोभा लक्ष्मीस्तां अति भक्तयति चर्वात चूर्णां करोति निराकरोतीति सत्कार्यवादसात् । एवं सति
दक्षारान्तोऽयं शब्दः (४५) । **त्रिप्रमाणाः**—सांख्यमते त्रीणि प्रमाणाणि प्रत्यक्षमनुमानं शब्दरचेति । तानि
त्रीणि प्रमाणाणि न संगच्छन्ते न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रमाचन्द्रेण भगवता शतखण्डीकृतत्वात् । भगवान्
त्रिप्रमाणां घटते । तत्कथम् ? त्रीणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि प्रमाणां मोक्षमार्गतयाऽभ्युपगतं यस्य स
त्रिप्रमाणः । अथवा त्रिषु लोकेषु इन्द्र-धरयोन्द्र मुनीन्द्रादीनां प्रमाणतयाऽभ्युपगतः त्रिप्रमाणः । अथवा
तिस्रः प्रमाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अनिति जीवयति त्रिप्रमाणः (४६) । **अक्षप्रमाणः**—सांख्यादिमते
अक्षैश्चतुरादीन्द्रियैर्ग्लब्धं तत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, तेन अक्षप्रमाणः सांख्यादिकः । भगवांस्तु अक्ष आत्मा
प्रमाणां यस्य सोऽक्षप्रमाणः (४७) । **स्याद्वाहकारिकाक्षदिक्**—स्याद्वा इत्यस्य शब्दस्य अहंकारो वादः
स्याद्वाहकारः । स्याद्वाहंकारे नियुक्तः स्याद्वाहंकारिकः अक्ष आत्मा स्याद्वाहंकारिकाक्षः, ईदृशमज्ञात्मानं दिशति
उपदेशयति स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक्, स्याच्छब्दपूर्वकत्वादविधायीत्यर्थः (४८) । उक्तञ्च **समन्तभद्राचार्यैः**—

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।

स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो नरो ना चेतनः पुमान् ।

अकर्त्ता निगुणोऽमूर्त्तो भोक्ता सर्वगतोऽक्रियः ॥११८॥

क्षेत्रज्ञः—क्षिप्रमति अधिवसति तदिति क्षेत्रम् । सर्वधातुस्यङ्गम् । क्षेत्रं अघोमभ्योर्ध्वलोकक्षेत्रां
त्रैलोक्यं अलोकाकारां च जानाति क्षेत्रज्ञः । नभ्युपधाभीकृन्हृजां कः । आलोपोऽसार्वभानुकः । अथवा क्षेत्रं
मगं भगस्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः । उक्तञ्च भगस्वरूपं शुभचन्द्रेण मुनिना—

मैथुनाचरणे मूढ त्रियन्ते जन्मुकोटयः ।
बोनिरन्ध्रसमुपपन्नाः खिगसंघट्टपांडिताः ॥

एकैस्मिन् घाते असंख्येयाः पंचेन्द्रियादयो जीवा त्रियन्त इत्यर्थः । वाए वाए असंख्येया इति वच-
नात् । अथवा क्षेत्राणि वंशपत्र-कूर्मोन्नत-शंखावर्तयोनीजानातीति क्षेत्रज्ञः । वंशपत्रयोनिः सर्वलोकोत्पत्ति-
सामान्या । कूर्मोन्नतयोनी शलाकापुटथा उत्पद्यन्ते । शंखावर्तयोनी न कश्चिदुत्पद्यते । अथवा क्षेत्रं स्त्री, तस्व-
रूपं जानतीति क्षेत्रज्ञः । उक्तञ्च—

एतामुत्तमानाधिकामभिजनान्वज्यां मुनिप्रेयसीं
मुक्तिस्त्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि ।
तां त्वं संस्करु वज्रयान्यवनितावार्त्तमपीह स्पृष्टं
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण संप्र्याः स्त्रियः^१ ॥

अथवा क्षेत्रं शरीरं शरीरप्रमाणमात्मानं जानातीति क्षेत्रज्ञः । न हि श्यामाककणमात्रः, न चांगुष्ठ-
प्रमाणाः, न च घटस्थितचटकवदेकदेशस्थितः, न च सर्वव्यापी जीवपदार्थः । किन्तु निश्चयनयन लोकप्रमा-
णोऽपि व्यवहारेण शरीरप्रमाण इति जानातीति क्षेत्रज्ञः (४६) । आत्माः—अत सातत्यगमने, अतति
सततं गच्छति लोकालोकस्वरूपं जानातीति आत्मा । सर्वत्रालुभ्यो मन्, घोषवत्याश्च कृतिः, इट् निषेधः
(५०) । पुरुषः—पुरुषि महति इन्द्रादीनां पूजिते पदे शेते तिष्ठतीति पुरुषः (५१) । नरः— नृणाति
नयं करोतीति नरः । नृ नये । अर्च्यवादिभ्यश्च । अथवा न राति न किमपि गृह्णाति नरः । दोऽसंज्ञायामपि ।
परमनिर्ग्रन्थ इत्यर्थः । उक्तञ्च समन्तभद्रेण भगवता—

प्रातिहार्याविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशेषरामाराक्षापि शासनकलौषयातुरः^२ ॥

अथवा न विद्यतेऽऽः कामो यस्य स नरः । उक्तञ्च—

कन्दर्पस्योद्पुरो दर्पक्षलोक्यविजयाजितः ।
हंपयामास तं घोरे त्वधि प्रतिहन्तोद्दयः^३ ॥

अन्यच्च—प्रसंख्यानपविपावकफ्लुष्टानुधानमन्मथमद्दरिद्रिनरुद्रस्मरविजयः । अथवा न विद्यते रा
रमणी यस्य स नरः (५२) । उक्तञ्च—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षवाणविह्वोऽपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥

तथा चाह भोजराजः—

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमर्चति कश्चि-
न्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौखिम् ।
मोघीकृतत्रिदशबोपिद्रपांगपात-
स्तस्य त्वमेव विजयी जिनराजमल्लः^४ ॥

ना नयति समर्थतया भव्यवीर्यं मोक्षमिति ना । नयतेर्हिच्चेति तुन्प्रत्ययः (५३) । चेतनः—चेतति
लोकालोकस्वरूपं जानाति शपयति वा चेतनः । नन्दादेयुः (५४) । पुमान्—पुनाति पुनीते वा पवित्रयति

१ आस्थानुरा० श्लो० १२२ । २ स्वयम्भूतो० श्लो० ७३ । ३ स्वयम्भूतो० श्लो० ६४ । ४ भूपालचतुर्वि० श्लो० १२१

आत्मानं निजानुगं त्रिभुवनस्थितमव्यजनसमूहं च पुमान् । पूजो हस्वश्च सिमंनन्तश्च पुमन्च । पातीति पुमानिति केचित् (५५) । अकर्ता—न करोति पापमिति अकर्ता । अथवा अं शिवं परमकल्याणं करोतीति अकर्ता । अथवा अस्य परमब्रह्मणः कर्ता अकर्ता संसारिणं जीवं मोचयित्वा सिद्धपर्यायस्य कारक इत्यर्थः । अः शिवे केशवे बावौ ब्रह्मचन्द्रमिमानुषु इति बिम्बप्रकाशे (५६) । निर्गुणः—निश्चिताः केवलज्ञानादयो गुणा यस्य स निर्गुणः । अथवा निर्गता गुणा रगद्वेषमोहक्रोधादयोऽशुद्धगुणा यस्मादिति निर्गुणः । उक्तञ्च—

सुत्पिपासाजरातकजन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागाद्वेषमोहाद्य यस्यासः स प्रकीर्त्यते^१ ॥

चकाराश्विन्तारतिनिद्राविषादस्वेदखेदचित्तमया लभ्यन्ते । अष्टादशदोषरहित इत्यर्थः । अथवा निर्गता समुदिता गुणास्तन्तवो ब्रह्माणि यस्मादिति, निर्गुणो दिग्मन्त्र इत्यर्थः । अथवा निर्नीचैः स्थितान् पादपद्मसेवा-तत्परान् भव्यजीवान् गुणयतीति आत्मसमानगुणयुक्तान् करोतीति निर्गुणः (५७) । उक्तञ्च—

आत्मा मनीषिभिरथं त्वदभेदबुद्धया
ध्यातो जिनेन्द्र भवतीहि भवत्प्रभावः ।
पानीयमप्यशुतमित्यनुविन्ध्यमानं
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति^२ ॥

इति कुमुदचन्द्रैः । तथा च मानतुङ्गैरपि—

नास्य दुःसुतं सुवनभूषण भूतनाथ,
भूतर्गुणैस्तु वि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याऽऽश्रितं य इह नामसमं करोति^३ ॥

अमूर्त्तः—मूर्च्छां मोह-समुच्छ्वाययोः । मूर्च्छयते स्म मूर्त्तः । निष्ठा कः । नामिनोर्वोरकुङ्कुरोर्ष्वङ्गने इत्यनेन मूर्च्छः, राश्वोर्ष्वी इत्यनेन लुकाप्लोपः । निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः इत्यनेन चकारलोपः । राश्विष्ठातो नोऽप्यमूर्च्छिमदिव्याध्याभ्यः इत्यनेन निष्ठातकारस्य तकार एव, न तु नकारः । आदनुचन्धाश्च निष्ठा-वेद्, मूर्त्त इति निष्पन्नम् । कोऽर्थः ? मूर्त्तो मोहं प्रातः, न मूर्त्तो न मोहं प्रातः अमूर्त्तः । अथवा अमूर्त्तो मूर्त्ति-रहितः सिद्धपर्यायं प्रातः । ननु

अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपचङ्गेर्जयात्
कटाक्षशरमोचहीनमविकारितोद्रेकतः ।
विषादमदहामितः प्रहसितायमानं सदा
मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्^४ ॥

इत्यादि शौतमेन भगवता जिनरूपवर्णनात् । अमूर्त्तः कथमिति चेन्न, भाविनि भूतवदुपचारः, इति परिभाषासूत्रबलेन भगवान् मूर्त्तोऽपि अमूर्त्त उच्यते । अमूर्त्तभाषित्वात् । अथवा न विद्यते मूर्त्तिः प्रतिनमस्कारो यस्य स अमूर्त्तः । प्रज्ञादित्वाण्यः । अथवा न विद्यते मूर्त्तिः काठिन्यं यस्य स अमूर्त्तः, मादौत्तमद्यमौपेत-त्वात् । अख्यमते तु—

अकक्षां निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।

अमूर्तश्चेतनो भोक्ता पुमान् कपिलशासने' ॥

एतन्न जाघटिति^२ । कस्मात् ? सोमदेवेन सृष्टिा खण्डितत्वात् (५८) ।

अकक्षापि पुमान् भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता ।

नित्योऽपि जातसंसर्गो सर्वगोऽपि विभोगमाक् ॥

शुद्धोऽपि देहसम्बद्धो निर्गुणोऽपि स मुच्यते ।

इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तं न युक्तं कापिलं वचः^३ ॥

भोक्ता—मुंक्ते परमानन्दरुखिमात् भोक्ता (५६) । **सर्वगतः**—सर्वं परिपूर्णं गतं केवलज्ञानं यस्य स सर्वगतः । अथवा ज्ञानापेक्षया, न तु प्रदेशापेक्षया, सर्वस्मिन् लोकेऽलोके च गतः प्राप्तः सर्वगतः । अथवा लोकपूरणान्तसमुदातापेक्षया निजात्मप्रदेशैस्त्रिभुवनव्यापकः सर्वगतः (६०) । **अक्रियः**—भगवान् खलु प्रमादपहितस्तेन प्रतिक्रमणादिक्रियापहितत्वादक्रियः (६१) ।

द्रष्टा तदस्थः कूटस्थो ज्ञाता निर्वन्धनोऽभवः ।

बहिर्विकारो निर्मोक्षः प्रधानं बहुधानकम् ॥ ११६ ॥

द्रष्टा—केवलदर्शनेन सर्वं लोकांशकं पश्यतीत्येवंशीलः द्रष्टा । तुन् (६२) । **तदस्थः**—तटे संसार-पर्यन्ते मोक्षनिक्ते तिष्ठतीति तदस्थः । नान्नि स्थश्च कप्रत्ययः (६३) । **कूटस्थः**—अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरकः स्वभावत्वात्कूटस्थः, त्रैलोक्यशिखरग्रे स्थित इत्यर्थः । तदपि भाविनयापेक्षया शातव्यम् (६४) । **ज्ञाता**—ज्ञानातीत्येवंशीलो ज्ञाता, केवलज्ञानवानित्यर्थः (६५) । **निर्वन्धनः**—निर्गतांनि बन्धनानि भांशज्ञानापरस्या-दर्शनावस्थान्तपर्ययकारिण्यस्य स निर्वन्धनः (६६) । **अभवः**—न विद्यते भवः संसारो यस्य सोऽभवः (६७) । **बहिर्विकारः**—बहिर्बाह्ये विकारो विकृतिर्यस्य स बहिर्विकारः । अनन्तरपरिहृतो नम इत्यर्थः । कलादिकस्वीकारो विकारः, तस्माद् रहितो बहिर्विकारः । अथवा विरूपिकाकारा बन्दीग्रहं विकारा प्राणिनां शरीरम् । बहिर्गता आत्मना भिन्ना विकारा यस्य ते स बहिर्विकारः । अथवा विशाष्टपरनीदाविकारपरि कर्म च बहिर्यस्येति बहिर्विकारः । अथवा वयः पर्क्षुणः, वय एव पिका दिव्यपर्क्षुणः नहिः श्रीमंडपाद्वाक्षे अशोक-वृक्षापरिस्थितः पिका दिव्यपर्क्षुण आरात् समीपे यस्य स बहिर्विकारः । याजनकप्रमाणश्रीमण्डपापरिस्थित-योजनककटप्रमाणशोकवृक्षापरिनानादिव्यपर्क्षुणोभित्तमीप इत्यर्थः, बहिर्विकारः । अथवा बहिर्गता विकारो-ऽपिमादिविक्रिया यस्य स बहिर्विकारः । आण्मा-महिम्नदया विक्रिया विकृतयः पपटं गुणस्थानं भवन्ति, भग-वांस्तु त्रयोदशे गुणस्थाने वर्तते (६८) । **निर्मोक्षः**—निश्चितो नियमेन मोक्षो यत्प्रेति निर्मोक्षः, तद्भव एव मोक्षं यास्मतीति नियमोऽस्ति भगवतो निर्मोक्षस्तेनोच्यते (६९) । **प्रधानम्**—साख्यमते प्रधानं चतुर्वि-शतिप्रकृतिसमुदाय उच्यते, अत्यक्तं बहुधानकं च कथ्यते । स्वमते बहुधात् बहुभूत् धारण-रोषणयोरेति ताव-द्वावर्तते । प्रधीयते एकाग्रतया आत्मनि आत्मा धार्यते इति प्रधानं परमशुक्लव्यग्नम्, तद्योगाद्भगवानपि प्रधानमित्यादिब्रह्मलिंगतयोच्यते (७०) । **बहुधानकम्**—बहु प्रचुर निजं, तयोपलक्षितं धानकं पूर्वोक्त-लक्षणां परमशुक्लव्यग्नः बहुधानकम्, तद्योगाद् भगवानपि बहुधानकं अब्रह्मलिंगतया तयोच्यते । अथवा बहुधा बहुप्रकार आनकाः पट्टानि यस्मिन् समवशरणं तत्समवशरणां बहुधानकम् ; द्वादशकोटिपञ्चाशत्क्षत्वादि-श्रीपलक्षितं समवशरणां बहुधानकमुच्यते ; तद्योगाद् भगवानप्यादिब्रह्मलिंगतया बहुधानकमुच्यते । उक्तञ्च —

अम्बरचरकुमारहेलास्फाजितवेषुबलकीपणवानक-

धुदंगशंखकाहलत्रिविजतालभङ्गरीभेरीभंभा

प्रभृत्पवनबधियनशुपिरततावनद्वाघनाद्-

निषेदितनिखिलविष्टपाधेपोपासनावसरम्^४ ॥

अथवा अननं आनो जीवितव्यम् । बहुधा बहुप्रकारेणोपलक्षितं कं सुखं बहुधानकम् । तदुपलक्ष्यं बहुधा जीवितेनोपलक्षितं दुःखं चेति लभ्यते तेन तावद् दुःखमेव जीवितव्यं निरूप्यते । निगोतमच्येऽन्तर्मुहूर्तेन षट्त्रिंशद्विंशतिशतषट्त्रिंशद्वापरान् जीवा भ्रियन्ते, तन्मरणापेक्षयाऽल्पजीवितं शतव्यम् । उक्तञ्च—

कुत्सीसा त्रियिषा सया द्वावद्विसहस्रवारमरयाहं ।
अंतोमुहुत्तमन्के पत्तो सि निगोदभवम्भि ॥
विषजिदिपु असीदी सट्टी चाजीस एव जायेह ।
पंचकसे चउवीसं सुहभवंतोमुहुत्तस्त २ ॥

एवं नारकाणां दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् । प्रथमनरके सागरोपमेनैकम् । द्वितीये त्रयः सागराः, तृतीये सप्त सागराः, चतुर्थे दश सागराः, पञ्चमे सप्तदश सागराः, षष्ठे द्वाविंशतिसमुद्राः, सप्तमे त्रयस्त्रिंशद्बुदन्तः । सुखायुर्ध्वंते-कुभोगभूमिमनुष्येषु पत्न्यमेकम् । भोगभूमनुष्य-वतिर्यज्जु अचन्यमप्यमोक्तुष्टायुः पत्न्य-द्विपत्न्य-त्रिपत्न्यानि क्रमात् । भवनवासिषु अचन्यं दशवर्षसहस्राणि । असुरेषु सागरं उक्त्वहम् । नागेषु त्रीणि पत्न्यानि । सुपर्णकुमाराणां त्रायुः सार्धं पत्न्यद्वयम् । द्वीपकुमाराणां पत्न्यद्वयम् । विद्युत्कुमाराणामिन्द्रमारवातकुमारस्तनितकुमारोदधिकुमारदिकुमाराणां प्रत्येकं षट्कुमाराणामायुः सार्धं पत्न्यम् । व्यन्तराणां पत्न्यमेकम् । ज्योतिष्काणां च पत्न्यमेकम् । जघन्यं पत्न्याष्टमो भागः । सौधमैशानयोः सागरद्वयं सातिरेकम् । सानत्कुमारे माह्नेद्रे च सप्त सागराः । ब्रह्मणि ब्रह्मोत्तरे च दश सागराः । तत्र ब्रह्मणि लौकान्तिकानामष्टाष्टावाः, इति विशेषः । लावन्ते कापिष्ठे च चतुर्दशोदधयः । शुके महाशुके च षोडश समुद्राः । शतारे सहस्रारे चाष्टादश जलधयः । आनते प्राण्यते च विंशतिरब्धयः । आरये अच्युते च द्वाविंशतिः सरस्वन्तः । नवसु द्वैधेयकेषु च एकैकैः सागरो वर्धते । नवानुदशेषु द्वाविंशत्सागराः । पंचानुत्तरेषु त्रयस्त्रिंशदब्धयः । अन्यदायुर्मेदस्वरूपमागमाद् बोधव्यम् । एषं बहुधानकनामस्वरूपं व्याख्यातं भवति (७१) ।

प्रकृतिः ख्यातिरारूढप्रकृतिः प्रकृतिप्रियः ।

प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरम्यो विकृतिः कृती ॥२०॥

प्रकृतिः—सांख्यमते प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्थाऽपरनाम्नी चतुर्विंशतिप्रकारा । सा किल नित्यस्वरूपा । पंचविंशतितमः आत्मा । स किल व्यापिस्वभावः । तयोर्भेदज्ञाने ख्यातिर्मुक्तिर्भवति । सा प्रकृतिः पंगुसदृशी, आत्मा तु अन्धसदृशः । तन्मतनिरसार्धमयं श्लोकः—

अव्यक्तनरयोर्नित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः ।
विवेकेन कथं ख्यातिं सांख्यमुक्त्वाः प्रचक्षिरे ॥

प्रकृतिर्नित्या, आत्मा तु व्यापी तयोर्विवेकोऽपि न भवति, कथं मुक्तिः स्यात् ? धीमद्भगवदहंस्तवस्तु प्रकृतिः । कृतिः करणं कर्तव्यं तीर्थप्रवर्तनम्, प्रकृष्टा त्रैलोक्याहितकारिणी कृतिस्तीर्थप्रवर्तनं यस्य स प्रकृतिः । अथवा आविष्टलिङ्गमिदं नाम चेत् तदा प्रकृतिस्वभावान्नामपि प्रकृतिः । अथवा तीर्थकरनामप्रकृतिदुक्त्वात् प्रकृतिः । अथवा प्रकृतिः स्वभावः, धर्मोपदेशादित्यभाव्युक्त्वात् प्रकृतिः (७२) । उक्तञ्च—

न कापि वाञ्छा बहूते च वाक्के काले कृत्स्कोऽपि तथा निभोगः ।
न पूर्यान्व्यम्भुषिमिष्युर्वंशुः स्वर्भं हि शीतशु तिरम्बुदेति ॥

ख्यातिः—सांख्यमते ख्यातिर्मुक्तिरुच्यते । ख्यानं प्रकृष्टं कथनं यथावत्स्वरूपनिरूपणं ख्यातिः तद्योगान्नामपि ख्यातिरित्याविष्टलिङ्गमिदं नाम । सकलतत्त्वस्वरूपप्रकथक इत्यर्थः (७३) । आरूढ-प्रकृतिः—आ समन्ताद् रूढा त्रिभुवनप्रसिद्धा प्रकृतिस्तीर्थकरनामकर्म यत्सेति स आरूढप्रकृतिः (७४) ।

प्रकृतिप्रियः—प्रकृत्या स्वभावेन प्रियः सर्वजगद्गल्लभः प्रकृतिप्रियः । अथवा प्रकृतीनां लोकानां प्रियः प्रकृति-
प्रियः सर्वलोकवल्लभ इत्यर्थः (७५) । **प्रधानभोज्यः**—साख्यमते प्रधानं प्रकृतिरुच्यते, तन्मते प्रधानं
प्रकृतिर्भोज्यमात्मादनीयम् । तदुक्तं—

कृतकर्मैश्च यो नास्ति कल्पकोटिशतरपि ।
अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

एवं च सति मुक्तेरभावो भवति । भगवांस्तु प्रधानभोज्यः । प्रकृष्टं धानं सावधानं आत्मन एकाग्रचि-
न्तनं आध्यात्मरसः तद्भोज्यं आस्वाद्यं यस्य स प्रधानभोज्यः, आत्मस्वरूपामृतखिल्यचर्वणं इत्यर्थः (७६) ।
अप्रकृतिः—दुष्टप्रकृतीनां त्रिषष्टेः कृतज्ञयत्वात् शेषा अप्रातिप्रकृतयः सत्याऽपि असमर्थत्वाच्चात् सत्त्वमपि
असत्त्वं दग्धरज्जुकरुपतया निर्धूलत्वं अकिंचित्करत्वं यतस्तेन भगवानप्रकृतिः । सर्वेषां प्रभुत्वाद्वा अप्रकृतिः ।
(७७) । **विरम्यः**— विशिष्टानामिन्द्र धरयोन्द्र-नेरेन्द्र मुनीन्द्र-चन्द्रादीनां विशेषेण रम्योऽतिमनोहरो विरम्यः,
अतिशयरूपसौभाग्यप्रकृतित्वात् । तथा चोक्तं—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापि वान् ।
द्वयशः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः^१ ॥

अथवा विगतं त्रिणदं आत्मस्वरूपत्वादन्यन्मनोहरं वस्तु इष्टसम्पनिताचन्द्रनादिकं यस्य च विरम्यः ।
आत्मस्वरूपं विना भगवतोऽन्यद्वस्तु रम्यं मनोहरं न वर्तत इत्यर्थः (७८) । तथा चोक्तम्—

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्गामर्थीयकपर्दं तदेव नः ।
स प्रमादं इह मोहजः कच्चिकल्पते यदपरोऽपि रम्यता ॥

विकृतिः—विशिष्टा कृतिः कर्तव्यता यस्मैति विकृतिः । अथवा विगता त्रिणदा कृतिः कर्म यस्मैति
विकृतिः, कृतकृत्यः कृतार्थ इति यावत् (७९) । **कृती**—सद्देवशुभायुनांमगोत्राणि पुरस्य इति वचनात्
कृतं पुण्यं विद्यते यस्य स कृती, निदानदोषरहितविशिष्टपुण्यप्रकृतिरित्यर्थः । अथवा कृती योग्यः हरि-हर-
द्विरण्यगर्भादीनामसम्भविन्याः शक्रादिकृतायाः पूजाया योग्य इत्यर्थः । अथवा कृती विद्वान्—अनन्तकेवल-
ज्ञानानन्तकेवलदर्शनतदुत्थलोकलोकविज्ञानसामर्थ्यलक्षणा नन्तशक्ति-न्तद्विज्ञानोत्थानन्तसौख्यसमृद्धः कृती-
त्युच्यते; अनन्तचतुष्टयविराजमान इत्यर्थः (८०) ।

मीमांसकोऽस्तसर्वज्ञः श्रुतिपूतः सद्गोन्सवः ।
परोक्षज्ञानवादीष्टपावकः सिद्धकर्मकः ॥१२६॥

मीमांसकः—मान पूजायाम् इति तावदयं धातुः, मान्-बध्-दान्-शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य अनेन
सूत्रेण सन् प्रत्ययः । चषपरोक्षोक्तैकैयिनसनन्तेषु इत्यनेन मान् सह द्विर्चनम् । अभ्यासस्वादिष्य-ज्ञनसम्-
शेषम् । अभ्यासस्य नकारलोपः । इत्स्व इति ह्रस्वः । अभ्यासविकारोऽप्यवाद्यो नोत्सर्गं बाधते इति
ज्ञापकात् सन्धवर्थास्य अभ्यासस्य इत्वं । पश्चात् दीर्घश्चाभ्यासस्य इत्यनेन ईकारः । मनोरनुस्वारो वृष्टिः ।
मीमांस इति जातम् । मीमांस्ते मीमांसकः, बुध्-न्-ञौ । युबुलामना कान्ताः, मीमांसक इति जातम् । परसमये
भाष्ट्रप्रभाकरवेदान्तवादिनः सर्वेऽन्यमी मीमांसका उच्यन्ते । श्रीमद्भगवद्देवैस्सर्वैस्तु जीवाजीवास्त्वबन्धसर्व-
निर्जराभोक्षस्तवमिति सप्त तत्त्वानि, पुण्यपापवहितानि नव पदार्थाः, जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशाः षड्
द्रव्याणि । जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशाः पञ्चास्तिकायाः कथ्यन्ते । एतानि स्वप्नयतत्त्वानि । प्रमाणा-प्रमेय-
संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितर्का हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थाननामानि

षोडश नैवाधिकमततत्त्वानि । दुःख-समुदय-निरोध-मोक्षमार्गरूपाणि चत्वारि आर्यसत्यनामानि बौद्धमते तत्त्वानि । इन्द्र-शुभ-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभिधानानि षट् तत्त्वानि काणादमते वर्तन्ते । चोदना-लक्ष्णो धर्मस्तत्त्वं जैमिनीयानाम् । सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान् बुद्धिः, बुद्धेरहंकारः, अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि । सत्त्वादीनि त्रीणि च तत्त्वानि । पृथ्वीतन्मात्रं अप्तन्मात्रं तेजस्तन्मात्रं वायुतन्मात्रं आकाशतन्मात्रं चेत्यष्ट । पृथ्वी अप् तेजो वायुराकारश्च पञ्च । एवं त्रयोदश । स्वर्गान् रसनं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं हृति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपत्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । एवं त्रयो-विंशतिः, चतुर्विंशं मनः, पञ्चविंशतितमो जीवः । एवं पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्यानानाम् । पृथ्वी अप् तेजो वायुश्चत्वारि तत्त्वानि नास्तिकानाम् । एतानि स्वसमय-परसमयतत्त्वानि तत्समयप्रमाणादीनि च मीमांसते विचारयति मीमांसकः । मीमांसको विचारकस्तर्हि पूजार्थः कथं लभ्यते ? युक्तमुक्तं भवता, यो विचारको यथावत्तत्स्वरूपप्रतिपादकः स पूजां लभत एव (८१) । अस्तसर्वज्ञः—मीमांसकानां मते सर्वज्ञ-सर्व-दृश्यादिविशेषणविशिष्टः कोऽपि देवो नास्ति, ततो वेद एव शाश्वतः प्रमाणाभिति अस्तसर्वज्ञः । श्रीमद्भगव-दर्हत्सर्वज्ञस्तु अस्तसर्वज्ञः । तत्कथम् ? उच्यते—सर्वं च ते ज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वविद्वान्सः जिमिनि-कपिल-कण्व-चार्वाक-शाक्यादयः, अस्ताः प्रत्युक्ताः सर्वज्ञा येन सोऽस्तसर्वज्ञः । उक्तञ्च—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति प्रमा ।

साधुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥

एवं हत्तोऽपि सर्वज्ञो न भवति, एकेन कवलेन बहुप्राणिगणमत्तकत्वात् । तदुक्तं पाञ्चकेसरिणा महापाण्डितेन—

पिशाचपरिवारितः पितृवने नरीनुत्यते,

स्रग्भ्रूधिरभीषणद्विरवृकृतिहेलापटः ।

हरो हसति चायतं कहकहाहहासोल्लस्यं

कथं परदेवैति परिपूज्यते पण्डितैः ॥

मुखेन किल दक्षिणेन पृथुनाऽखिलप्राणिनां

समस्ति शशपृन्मज्जरुधिरांश्रमांसानि च ।

गणैः स्वसदृशंभृशं रतिमुपैति रात्रिदिवं

पिबत्यपि च यः सुरां कथनास्ताभाजनम् ॥

कर्मइलु-शुगाजिनाञ्चवलयदिभिर्भ्रूङ्गाः

शुचिस्वविरहादिदोषकलुषत्वमप्यूहते ।

भयं विघृणाता च विष्णु-हरयोः सगच्छत्वतः

स्वतो न रमणीयता परिमूढता भूषणात् ॥

एवं सर्वेऽपि लोकदेवताः सर्वज्ञेन निराकृता भवन्तीति भावः । अतएव अस्तसर्वज्ञो भगवानुच्यते (८२) । श्रुतिपूतः—मीमांसकानां मते श्रुत्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेदाः चत्वारिंशदध्यायलक्षणा संहिता च मन्त्रः सर्वोऽपि ग्रन्थः श्रुतिरुच्यते, तेन पूतः पवित्रो वेदधर्मः । स्वमते श्रुतिः सर्वज्ञस्य प्रथमवचनम् । उक्तञ्च—

सर्वः प्रेक्षति सस्तुत्सासिमचिरात्सा सर्वकर्मचयात्

सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनिवर्तं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः ।

सा चासात्स च सर्वदोषरहितो शमात्रयस्तेऽप्यत-

स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखं सन्तः श्रयन्तु श्रिये^१ ॥

श्रुतिशब्देन सर्वशक्तीतरगणनिः, तथा पूतः पवित्रः सर्वोऽपि पूर्वसर्वशभुल्या^१ तीर्थकरनामगोत्रं बध्वा पवित्रो भूत्वा सर्वशः संजातस्तेन श्रुतिपूत उच्यते । अथवा श्रुतिर्वातः पृथतो गमनेन पूतः पवित्रो यस्य स श्रुतिपूतः, अतएव लोकानां व्याध्यादिकं दुःखं निवारयति (८३) । तथा चोक्तं—

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्च्छिरोलोपवाही
सद्यः पुंसां निरवधिरुजा भूलिबन्धं धुनोते ।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्ट—
स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः ॥

सदोत्सवः—सदा सर्वकालं उत्सवो महो महार्चा यस्य स सदोत्सवः । अथवा सदा सर्वकालं उत्-
उत्कृष्टः सर्वो यज्ञो यस्य स सदोत्सवः (८४) । उक्तञ्च—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

तथा चामरसिद्धः—

पादो होमश्चातिथीनां सपर्यां तर्पणं बलिः ।
गृते पंच महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनाम्काः ॥

परोक्षज्ञानवादी—नैयायिकमते इन्द्रियजनितं चक्षुर्गदिसानमेव ज्ञानं प्रमाणां वदन्ति । स्वमते अज्ञाणानिन्द्रियाणां परं परोक्षं केवलज्ञानम्, तदात्मनः वदतीत्येवंशील. परोक्षज्ञानवादी । उक्तञ्च खण्डेन महाकविना—

सर्ववद्बुद्धिं शिञ्चिदितुं शाखामउ जो मयमद्बु न पत्तियद् ।
सो शिञ्चिदितुं पञ्चिदितुं शिरउ वइतरशिञ्चि पाण्डितुं पियद् ॥

अग्निन्द्रियं परमकेवलज्ञानं यो न मन्यते स नरके पततीति भावः (८५) । इष्टपावकः—नैयायिक-
मते अग्निमुख्या च देवाः इति वेदवाक्यादमावेव जुहति । स्वमते इष्टा अमीष्टा पावकाः पवित्रकारका गणधर-
देवादयो यस्य स इष्टपावकः । अथवा पावकेषु पवित्रकारकेषु भगवानेवेष्टः सर्वस्मिन् लोके भगवानेव पावकः पवित्र-
कारकतया स्थित इति भव्यलोकेषु प्रतीतिमागत इष्टपावकः । इष्टश्चासौ पावकः इष्टपावकः (८६) । सिद्ध
कर्मकः— प्राभाकरमते यागादिकं कर्म सिद्धमेव वर्तते तद्वाक्यार्थं वदन्ति प्राभाकराः पुनर्नियोगं कुर्वन्ति
अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः । भट्टानु चोदनेन वाक्यार्थं वदन्ति । वेदान्तवादिनस्तु आत्मा सिद्धो वर्तते, तथापि
उपदिशन्ति आत्मप्राप्त्यर्थं ब्रह्मध्यानेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति । एवं परस्परं विरुद्धा
बुधन्ति । आत्मा तु न केनापि लब्धः । प्राभाकरमते यथागादिकं कर्म सिद्धं ब्रुवन्ति, तदुपरि भगवत इदं नाम
सिद्धकर्मक इति । अत्रायमर्थः—सिद्धकर्मकः सिद्धं समाप्तिं गतं परिपूर्णं जातं कर्म क्रिया चारित्रं यथाख्यात-
लक्षणं यस्येति सिद्धकर्मा, यथाख्यातचारित्रसंयुक्त इत्यर्थः । सिद्धकर्मकः आत्मा यस्येति सिद्धकर्मकः, यथा-
ख्यातचारित्रसंयुक्तात्मस्वरूप इत्यर्थः । अथवा कुलितं कर्म कर्मकं सिद्धं आगमे प्रसिद्धं कर्मणो शानावरण्यादिः
कुलितत्वं यस्येति सिद्धकर्मकः (८७) ।

चार्याको भौतिकज्ञानो भूताभिव्यक्तचेतनः ।
प्रत्यक्षैकप्रमाणोऽस्तपरलोको गुरुश्रुतिः ॥१२२॥

चार्वाकः—चुवाकस्यापत्यं शिष्यो वा चार्वाको नास्तिकाचार्यः । तन्मते जीवो नास्ति, पुष्यं नास्ति, पापं नास्ति, परलोको नास्ति, पृथिव्यप्तेजोवायुसंयोगे चैतन्यमुत्पद्यते । गर्भादिमरण्यपर्यन्तं तद्भवति । प्रत्यक्षमेकं प्रमाणम् । एवंविधो लोकव्यतिक्रानामा चार्वाक उच्यते । भगवांस्तु चार्वाक इत्यस्य नाम्नो निश्चिकिः क्रियते— अत्र अग कुटिलान्यां गतो इति तावद्वातुः भ्रष्टादिगणो घटादिमध्ये परस्मैमाणः । अकनं आकाः, कुटिला अकुटिला च गतिरुच्यते । बाधन्तो गन्धर्वाः घातवस्तावन्तो ज्ञानार्थाः इति वचनादाकः केवलज्ञानं चार्थिति विरोधस्यात्वात् चारुर्मनोहरश्चिमुधनरिथतमव्यजीवचिचानन्दकारकः आकः केवलज्ञानं यस्येति चार्वाकः (८८) । **भौतिकज्ञानः**— चार्वाकमते चतुर्षु भूतेषु पृथिव्यप्तेजोवायुषु भवं भौतिकं ज्ञानं यस्येति भौतिकज्ञानं । स्वमते भूतिर्भूतिरैरवर्षमिति वचनात्, भूतिः समवसरणलक्ष्योपलक्षिता लक्ष्मीरष्टौ प्रातिहाय्याधि चतुर्भिः शदतिशयादिकं देवेन्द्रादिसेवा च भूतिरुच्यते । भूत्या चरतिःविहारं करोति भौतिकम् । भौतिकं समवसरणादिलक्ष्मीधियाजितज्ञानं केवलज्ञानं यस्येति भौतिकज्ञानः । अथवा भूतेभ्यो जीवेभ्य उच्यन्तं भौतिकं ज्ञानं यस्य मते स भौतिकज्ञानः, इत्यनेन पृथिव्यादिभूतसंयोगे ज्ञानं भवतीति निरस्तम् (८९) । **भूताभिव्यक्तचेतनः**— चार्वाकमते भूतैः पृथिव्यप्तेजोवायुभिरभिव्यक्ता चेतना यस्येति भूताभिव्यक्तचेतनः । तदयुक्तम् । स्वमते भूतेषु जीवेषु अभिव्यक्ता प्रकटीकृता चेतना ज्ञानं येनेति भूताभिव्यक्तचेतनः (९०) । **प्रत्यक्षैकप्रमाणाः**— चार्वाकमते प्रत्यक्षमेकं प्रमाणं यस्येति प्रत्यक्षैकप्रमाणाः । स्वमते प्रत्यक्षं केवलज्ञानमेव एकमद्वितीयं न परोक्षं प्रमाणं अभ्रुतादिकत्वात्केवलिनः स प्रत्यक्षैकप्रमाणाः (९१) । **अस्तपरलोकः**— चार्वाकमते परलोको नपक्षस्वर्गमोक्षादिकं जीवस्य नास्तीति अम्युपगत्वाद्दस्तपरलोकः । स्वमते अस्ता निराकृतास्तत्तन्मतलण्डनेन चूर्णाकृत्या अथः पातिताः परे लोकाः जिमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्यादयो जैनबहिर्भूता अनार्हता येनेति अस्तपरलोकः । अथवा भगवान् मुक्तिं विना मोक्षमन्तरेणान्यां गतिं न गच्छतीति अस्तपरलोकः (९२) । **गुरुभ्रुतिः**— चार्वाकमते गुरुणां बृहस्पतिनाम्ना दुर्यचारेण कृता भ्रुतिः शास्त्रान्तरं येनेति गुरुभ्रुतिः । स्वमते गुरोर्केवलज्ञानसमाना भ्रुतिः शास्त्रं यस्येति गुरुभ्रुतिः । तथा चोक्तम्—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।

भेदः साक्षात्साक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्^१ ॥

अथवा गुरुर्योजनेकव्यापिका सजलजलधरवद्गर्जनशीला क्षुमितसमुद्रवेलेव गंभीरवा भ्रुतिर्वनि-यस्येति गुरुभ्रुतिः । उक्तञ्च देवचन्द्रना भट्टारकेन—

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजात्यते श्रोत्रहृदयहारिगर्भीरः ।

ससल्लिखजलधरपदलज्वनितमिव प्रविततान्तराशावलयम्^२ ॥

अथवा गुरुषु गन्धधरदेवेषु भ्रुतिर्वादाशांगप्रन्यो यस्येति गुरुभ्रुतिः । उक्तञ्च—

कोकासोक्तदशः सदस्यसुकृतैरास्याद्यदर्थंभ्रुतं

निर्घातं प्रधितं गणेश्वरदृषेयान्तसुं हूत्तं न यत् ।

आरातीयमुनिप्रवाहपतिं यत्पुस्तकेभ्यर्षितं

तत्तुनेन्द्रमिहार्षधामि विधिना यद्दुं भ्रुतं ज्ञानवत् ॥

अथवा गुरुर्दुर्बरा मिव्यादृष्टीनामभ्यन्तानां भ्रुतिर्वाग्यस्य स गुरुभ्रुतिः (९३) ।

पुरन्दरविद्धकर्णो वेदान्ती संविद्धयी ।

शब्दाद्धैती स्फोटवादी पाण्ड्यज्ञो नयोद्युक् ॥१२३॥

पुरन्दरविद्धकर्णः—पुरन्दरेण विद्धौ वज्रसूचिकया कर्णो यस्य स पुरन्दरविद्धकर्णः । भगवान् सल्लु छिद्रसहितकर्णं एव जायते । परं जन्माभिवेकावधरे कोलिकपटलेनेव त्वचा अचेतनया मुद्रितकर्णाच्छिद्रो

१ आसमीमांसा १०५ । २ नन्दारकरम० श्लो० २१ ।

भवति । शकस्तु वज्रसूचीं कौ हेत्वा तल्पटलं दूरीकरोति, तेन भगवान् पुरन्दरविद्वधार्थः कथ्यते (६४) ।
वेदान्ती - वेदस्यान्तश्चतुर्दशः काण्डः उपनिषद् । मिथ्यादृष्टीनामभ्यात्मशास्त्रं ह्यन्यं एकवार्त्ता अथर्वप्रश्न-
 काण्ड-अथर्ववेध-आष्टाध्यायी-अभिरहस्य सूचीकाण्ड-सञ्जीकाण्ड इत्यादयः प्राप्ते उपनिषद् चतुर्दशः काण्डः,
 स वेदान्तः कथ्यते । वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती । स्वमते वेदस्य मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान-
 लक्षणज्ञानस्य अन्तः केवलज्ञानं वेदान्तः । वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती, केवलज्ञानवानित्यर्थः । अथवा
 ज्ञीपुत्रपुंसकलिगानि त्रीणि त्रयो वेदाः कथ्यन्ते । तेषामन्तो विनाशो विद्यते यस्य स वेदान्ती (६५) ।
संविद्वह्यथी - बौद्धाः केचित् ज्ञानमात्रमेव जगन्मन्यन्ते, तत्र संगच्छते । उक्तञ्च -

अद्वैतं तत्त्वं वदति कोऽपि सुधिर्वा चिद्यमातनुते न सोऽपि
 यत्पञ्चहेतुदृष्टान्तवचनसंस्था कुतोऽत्र शिवाशर्मसदन-
 हेतावनेकवर्मप्रसिद्धिः 'शक्यति ज्ञिनेश्वरतत्त्वसिद्धि-
 मन्यपुत्रसिद्धिमत्' इत्यतीतमुज्जति सर्वमुह 'नयनिकेत' ॥

संविद् समीचीनं ज्ञानं केवलज्ञानम्, तस्य न द्वितीयं ज्ञानं संविद्वह्यम् । उक्तञ्च—

ज्ञापिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगापदवभासम् ।
 सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम् ॥

संविद्वह्यं विद्यते यस्य स संविद्वह्यी । केवलज्ञानिनः खलु मतिज्ञानादिचतुष्टयं न योजनीयम्, सर्वमपि
 तदन्तर्गमित्वात् । तेन संविद्वह्यी भगवानुच्यते (६६) । **शब्दाद्वैती** - मिथ्यादृष्टयः किलैवं वदन्ति—शब्द
 एव संपारे वर्तते, शब्दादन्यत्किमपि नास्ति, ते शब्दाद्वैतिन उच्यन्ते । स्वमते तु यावन्तो वाग्वर्गाणां विद्यन्ते
 शक्तिरूपतया तावन्तः शब्दहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यं सर्वं शब्द एव, इति कारणान्नगवान् शब्दाद्वैतीत्युच्यते
 (६७) । उक्तञ्च आशाधरं महाकविना—

लोकेऽन्योन्यमनुप्रविश्य परितो याः सन्ति वाग्वर्गाणाः
 अब्यात्मक्रमवर्तिवर्षापरता ता लोकयात्राकृते ।
 नेतुं संविभजस्युरः प्रभृतितु स्थानेषु धन्मास्तं
 तत्रायुष्मति जग्मिस्तं तव ततो दीर्घायुरानौमि तत् ॥

स्फोटवादी—भट्टमते स्फुटत्यर्थो यस्मादिति स्फोटः शब्दगतं वदतीत्येवमवश्यं स्फोटवादी । शब्दं
 विना संवारे किमपि नास्तीत्यर्थः । स्वमते स्फुटयति प्रकटीभवाति केवलज्ञानं यस्मादिति स्फोटः निजशुद्धबुद्धैक-
 स्वभाव आत्मा, तं वदति मोक्षहेतुतया प्रतिपादयति स्फोटवादी । उक्तञ्च कुन्नुकुन्दाचार्यवैद्यैः समय-
 सारग्रन्थे—

याश्चाम्भि भावशा खलु कादृष्वा दंसव्ये षरिते य ।
 ते पुञ्ज तिष्ण वि आदा तम्हा कुञ्ज भावस्य आदे ॥

स्फोटमाल्भानं मोक्षस्य हेतुतया वदतीत्येवंशीलः स्फोटवादी । वाक्यस्फोटस्य क्रियास्फोटवत् तत्त्वाथ-
 श्लोकावर्तिचिकारलंकारे निगृह्यतयात् (६८) । **पाषण्डज्ञः**—पार्थं पापकथनं खण्डयतीति पाषण्डाः । पाषण्डाः
 सर्वलिगिनः, पाषण्डान् हन्ति शुद्धान् कर्तुं गच्छति पाषण्डिनः । अथवा पाषण्डा खण्डितप्रतास्तान् हन्ति योग्यमाय-
 क्षितेन शोधनदण्डेन ताडयति कच्छ-महाकच्छादिकानिव वृषभनाथवत् पाषण्डिनः । अमनुष्यकर्तृकेऽपि

१ वरा० प्रवृद्धिः, २ वरास्ति० मति । ३ वरास्ति० नयनाक्ति । ४ यरास्ति० न, ३८८ । १ अ तुमक्ति स्त्री० २६ ।

चतक प्रत्ययः । भगवान् देवत्वादमनुष्यः । गम-हन-जन-खन-धसामुपधायाः स्वरदावनप्यगुणे उपधा-
लोपः । लुतोपधस्य च हस्य धत्वम् (६६) । नयोषयुक्—नयानामोषः समृहस्ते युनक्तीति नयोषयुक् ।
अत्र समाससद्भावासद्भावात् युनेरसमासे नुष्पुंटीणि वचनात् त्वागमो न भवति, अरवयुगादिवत् । अथ
के ते नयाः, यान् भगवान् युनक्ति, इति चेदुच्यते—अनिराकृतप्रतिपन्नो वस्त्वराप्राही शत्रुभिप्रायो नयः ।
स द्विधा, द्व्यार्थिक-पर्यायार्थिकमेदात् । तत्र द्व्यार्थिकस्त्रिविधः, नैगम-संग्रह-व्यवहारमेदात् सामान्य-
प्राहकः । पर्यायार्थिकस्त्रिविधः, श्रुतुसूत्रशब्दसमभिरुद्धैवम्भूतमेदाद् विशेषप्राहकः । तत्रानिप्यन्तार्थसंकल्प-
मात्रप्राही नैगमः । यथा कश्चित्पुरुषः परिग्रहीतकुठारो वने गच्छन् केनचित्पुरुषेण पृष्ठः किमर्थं भवान्
गच्छतीति ? स आह—प्रस्थमानेतुमिति । प्रस्थ इति कोऽर्थः ?

शार्थं पाण्डित्यं मुष्टिं कुड्ढत्वं प्रस्थमावकम् ।

श्रींश्च वदं च क्रमज्ञो विजानीयाश्चतुर्गुणश्च ॥

द्वादशवक्ष्यो भवेत् शार्थः इति गणितशास्त्रवचनात् चतुःसेरमात्रो मापविशेषः प्रस्थ उच्यते ।
नासौ प्रस्थपर्यायो निष्पद्यो वर्तते, तस्मिन्प्रत्यये संकल्पमात्रे काष्ठे प्रस्थव्यवहार इति । एवं मञ्जकपाटकेवाहला-
दिष्वपि ज्ञातव्यः १ । स्वजात्यवरोधेनैक्यमुपनीय अर्थान् आक्रान्तमेदान् अवशिष्टेषु समस्तग्रहणं संग्रहः ।
स च परापरमेदाद् द्विविधः । तत्र सदात्मना एकत्वमभिप्रेति सर्वमेकं सदाविशेषादिति परः । द्व्यत्वेन
सर्वद्व्यार्यामेकत्वमभिप्रेति, कालत्रयवर्चिद्व्यमेकं द्व्यत्वादित्यपरः २ । संग्रहग्रहीतार्थानां विधिपूर्वक-
मवहरणं विभजनं भेदनं प्ररूपणं व्यवहारः । संग्रहार्थं विभागमभिप्रेति—यत् सत्, तद् द्वयं पर्यायो
वेति । यद् द्वयं तज्जीवादिपद्विधं । यः पर्यायः, स द्विविधः—सहभावी क्रमभावी चेति ३ ।
श्रुतु प्राजलं वर्तमानलक्षणमात्रं सूत्रयतीति श्रुतुसूत्रः । सुखक्षणं सम्प्रत्यस्तीत्यादि ४ । कालकारक-
संख्यासाधनोपग्रहमेदाद्भिन्नमयं शपति गच्छतीति शब्द ५ । नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रुद्रः
समभिरुद्रः । इन्द्रः शक्र पुरन्दर इति ६ । एवमित्थं विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणतमर्थं
योऽभिप्रेति स नय एवम्भूतः । शकनाक्रियापरिणतिक्षण एव शक्रमभिप्रेति, इन्दनक्रियापरिणतिक्षण एवेन्द्रम-
भिप्रेति, पुरदारणाक्रियापरिणतिक्षण एव पुरन्दरमभिप्रेति ७ । इति नयाः आगमभाषया कथिताः । अत्र्यात्म-
भाषया तु नयविभागः कथ्यते-सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति शुद्धनिश्चयलक्षणम् । रगादय एव जीवा
इत्यशुद्धनिश्चयलक्षणम् । गुणगुणिनोऽभेदेऽपि भेदोपचार इति सद्भूतव्यवहारलक्षणम् । भेदेऽपि सत्यभेदोपचार
इत्यसद्भूतव्यवहारलक्षणं चेति । तथाहि जीवस्य केवलक्षणादयो गुणा इत्यनुपचरितसंशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् ।
जीवस्य मतिक्षानादयो विभागगुणा इत्यनुपचरितसंशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । मदीयो देह इत्यादिसंश्लेष-
म्बन्धसहितपदार्थं पुनरनुपचरितसंशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । यत्र तु संश्लेषसम्बन्धो नास्ति तत्र मदीयो गेह
इत्याद्युपचरिताभिधानासद्भूतव्यवहारलक्षणमिति नयचक्रमूलभूतं संश्लेषेण नयपदकं ज्ञातव्यमिति । तथा स्यात्
नित्यमेव स्यादनित्यमेव स्यादुभयमेव स्यादवक्तव्यमेव स्यान्नित्यावक्तव्यमेव स्यादनित्यावक्तव्यमेव स्यादुभया
वक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम् । एवं सत् अस्तु, एकं अनेकं, आपेक्षिकमनापेक्षिकं हेतुसिद्धमागमसिद्धं भ्रान्त-
मभ्रान्तं दैव पौरुषं पापं पुण्यमित्यादौ सप्तमंगनया योजनीयाः । एवं नयानामसंख्यत्वात् तत्स्वरूपरूपकत्वा-
द्भगवान्नयोषयुक् कथ्यते (१००) ।

इतीह बुद्धादिरातं निवृत्तं स मुक्तमप्याहंसदशमेऽर्षितम् ।

अधीवसे येन स्वभावनाधिना स मंशु मोक्षोत्थसुखं समरनुते ॥

इत्याचार्यश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिनसहस्रनामस्तुतिटीकायां बुद्धरातविवरणो नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ दशमोऽध्यायः

अथ जिनवरचरकयुगं प्रथम्य भक्त्या विनीतमतश्चिद्वयम् ।

अन्तकृदाविज्ञातस्य क्रियते विवरयमनावरययम् ॥

जिह्वामे बसतु सदा सरस्वती बिभ्रविदुषजनजननी ।

मम सुजयुगे च विधानंशकलकौ भराज्ञचताम् ॥

अन्तकृतपारकृत्तीरप्राप्तः पारेतमःस्थितः ।

त्रिदण्डी दण्डितारातिर्नामकर्मसमुच्चयी ॥ १२४ ॥

अन्तकृतः—अन्तं संसारस्यावसानं कृतवान् अन्तकृतः । अथवा अन्तं विनाशं मरणं कृन्ततीति अन्त-
कृतः । अथवा अन्तं आत्मनः स्वरूपं करोतीति अन्तकृतः । अथवा अन्तं मोक्षस्य सामीप्यं करोतीति अन्तकृतः ।
अथवा व्यवहारं परित्यज्य अन्तं निश्चयं करोतीति अन्तकृतः । अथवा अन्तं सुकरोत्वयभूतमालानं करोति
युक्तिस्थानस्यैकपार्श्वे तिष्ठतीति अन्तकृतः (१) । उक्तञ्च—

निश्चयेऽवश्ये प्रान्ते विनाशो निकटे तथा ।

स्वरूपे षट्सु चार्थेषु अन्तराण्डोऽत्र मण्यते ॥

पारकृतः—पारं संसारस्य प्रान्तं संसारसमुद्रस्य पारतटं कृतवान् पारकृतः (२) । **तीरप्राप्तः**—
तीरं संसारसमुद्रस्य तटं प्राप्तस्तीरप्राप्तः (३) । **पारेतमःस्थितः**—तमसः पापस्य पारे पारेतमः । पारेतमिति
पापपङ्क्तस्थानं **अष्टापद-सम्मद-चम्पापुरी-पावापुरी-ऊर्जयन्तादौ** तिष्ठन्नेत्रे स्थितः योगनिर्वाधार्य गतः
पारेतमःस्थितः । अथवा अज्ञानादतिदूरे स्थितः पारेतमःस्थितः । पारे मध्ये अन्तः षट्पदां वा अव्ययीभाव-
समासः । अथवा **तृतीया-सप्तम्योः** स्थितशब्देन उद्भासनं पर्यकासने वा मोक्षगमनार्थं स्थितः, तिष्ठन्शिलाया
मुपावष्टः (४) । **त्रिदण्डी**—मिथ्यादृष्टयः केचित् त्रिदण्डिनो भवन्ति, केचिद्देकदण्डिनो भवन्ति । श्रीमद्भग-
वद्दर्शनसर्वशस्यु त्रयो दण्डा मनोवाकायलक्षणा योगा विद्यन्ते यस्य स त्रिदण्डी । अथवा त्रीणि शल्यानि माया-
गिभ्यानिदाननामानि दण्डयतीत्येवंशीलान्त्रिदण्डी । अथवा त्रयाणां छत्राणामेकमेव दण्डं विद्यते यस्मिन् स
त्रिदण्डी (५) । **दण्डितारातिः**—दण्डिता जीवन्तंऽपि मृतसदृशाः कृता मोहप्रभुपातनादसद्वेद्यादिशत्रवो
येन स दण्डितापतिः । अथवा दण्डिताः दण्डं संजातं येषां ते दण्डिताः, तारकित्वादिदर्शनात् संजायेऽर्थे
इतच्प्रत्ययः । अत्रायं भावः—निर्ग्रन्थलक्ष्यं मोक्षनार्थं धिलोपर्यन्ति, समन्यानामपि गृहस्थानां मार्गं स्थाप-
यन्ति तेन ते सितपदादयः पञ्चप्रकाराः जैनाभासाः दुर्जनस्पृष्टान्भोजिनः श्रीमद्भगवद्दर्शनसर्वशस्य अरातयः
कथ्यन्ते, निर्ग्रन्थमार्गाधिलोपकृत्वात् । ते स्वपापैर्नैव दण्डकराः कम्बलकक्षा रंकवत् एहे एहे अवंदिता अपि
धर्मलाभाशीर्वादं ददति, बहुवारान् मुञ्जते, ते उपचारंश्च उच्येन वीतरणेश्च दण्डिताः । दण्डिता अरातयो
येनेति दण्डितापतिः । उक्तञ्च तेषां मतम्—

सेवंबरो व भासंबरो व सुद्धो व सह व अक्षो व ।

समभावभाविष्य्या खदेह मोक्षं य संदेहो ॥

अथ के ते पञ्चविधा जैनाभासा ये सर्वशरीतरागेश्च दण्डिता इति चेदुच्यते—

गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्वाविहो वापनीचकः ।

निपिपच्छरयेति पञ्च ते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

तथा च—

इत्पीर्यं पुष्य दिक्का सुसलचलोभस्त वीरचरियस्तं ।

कक्षसकैसगाहयं दृष्टं च गुणध्वदं याम् ॥

इत्यादिभिर्बचनैस्त्वत्रवादिन आहारदानायापि योग्या न भवन्ति, कथं मुक्तैर्योग्या इति सर्वज्ञेन दृषिता परमार्थभूतश्रीमूलसंघोचुंगमन्दिरात् श्रीमूलसंघमहापत्तनात् श्रीमूलसंघधर्मेशात् निर्वाचिताः, तेन भगवान् दंडितापतिरुच्यते (६) । ज्ञानकर्मसमुच्चयी—ज्ञानं च केवलज्ञानम्, कर्म च पापक्रियाया विरमणालक्षणापलक्षिता क्रिया यथाख्यातचारित्रमित्यर्थः । (ज्ञानं च कर्म च) ज्ञानकर्मणी, तयोः समुच्चयः समूहः ज्ञानकर्मसमुच्चयः । ज्ञानकर्मसमुच्चयो विद्यते यस्य स ज्ञानकर्मसमुच्चयी । प्रशंसायामिन् । अथवा सह मुदा हर्षेण परमानन्दलक्षणासौख्येन वर्तत इति समुत् । समुच्चसौ चयो द्वादशविधो गथाः समुच्चयः । ज्ञान-कर्मभ्यां सम्यग्ज्ञान-चारित्र्याभ्यां कृत्वा समुत्सहर्षक्षयो विद्यते यस्य स ज्ञानकर्मसमुच्चयी (७) ।

संहतध्वनिकरुत्सङ्गयोगः सुप्तार्णवोपमः ।

योगक्षेत्राहापहो योगकिङ्कितिलोपनोद्यतः ॥ १२५ ॥

संहतध्वनिः—संहतः संकोचितो मोक्षगमनकालनिकटे ध्वनिर्वाणी येन स संहतध्वनिः । यथाऽऽत्मा-मवसर्पिण्यां वृषभादयस्तीर्थकरा नियतकाले ध्वनिं संहरन्ति इति नियमः (८) । उक्तञ्च पूज्यपादेन भगवता—

आद्यसप्तदशदिनैर्दिनिवृत्तयोगः

वष्टेन निश्चितिकृतिर्जिनवर्षभागः ।

शेषा विभूतघनकर्मभिश्चपाहा

मासेन ते जिनवरास्त्वभवन् वियोगाः^१ ॥

उत्सङ्गयोगः^२—उत्सङ्गा विनाशं प्राप्ता मनोवचनकायानां योगा आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनहेतवे यस्येति उत्सङ्गयोगः । अथवा उच्छ्वसो विच्छित्ति गतो योगो विश्वासघाती पुमान् दस्मिन् धर्मोपदेशिनि स उच्छ्वस-योगः । परमेश्वरे धर्मोपदेशके एति कश्चिदपि पुमान् विश्वासघाती नाभूत्, विश्वध्वघातिनो महापातकप्रको-त्वात् (९) तदुक्तं—

उपाये भेषजे लज्जलाभे युक्तौ च कर्मयो ।

सङ्गाहे संगतौ ध्याने धने विश्वध्वघातिनि ॥

विष्कम्भादौ तनुस्थैर्धर्मयोगे योग उच्यते ।

तथा—

न सन्ति पर्वता भारा नात्र सर्वेऽपि सागराः ।

कृतज्ञो मे महाभारो भारो विश्वासघातकः ॥

सुप्तार्णवोपमः—सुप्तः कञ्जोलर्यहृतो योऽयावर्षवः समुद्रः तस्य उपमा सादृश्यं यस्येति सुप्तार्ण-वोपमः, मनोवाकायव्यापाररहित इत्यर्थः (१०) । योगक्षेत्राहापहः—योगानां मनोवाकायव्यापारणां स्नेहं प्रीतिमपहन्तीति योगक्षेत्राहापहः । अपाङ्कङ्ग-धमसोदित्यनेन इनोर्धातोर्हप्रत्ययः (११) । योगकिङ्कितिलोपनोद्यतः—योगानां मनोवाकायव्यापारयां या कृता किङ्किरचूर्णं मण्डूरादिदलानिवत्, तस्या निलोपनं निजात्मप्रदेशेभ्यो दूरीकरणं तत्र उद्यतो यज्ञपरः योगकिङ्कितिलोपनोद्यतः (१२) ।

स्थितस्थूलवपुर्योगो गीर्मनोयोगकार्श्यकः ।

सूक्ष्मवाक्क्ष्विद्ययोगस्थः सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः ॥१२६॥

स्थितस्थूलवपुर्योगः—स्थितस्तावद्गतनिवृत्तिमामगतः स्थूलवपुर्योगो बादरपरमौदारिककाषयोगो यस्य स स्थितस्थूलवपुर्योगः (१३) । गीर्मनोयोगकार्श्यकः—गीर्भ वाक् मनश्च चित्तं तयोर्योग आत्मप्र-

देशपरिस्फुरोः, तस्य कारयकः कृशकारकः सूक्ष्मकारकः इलक्षणविधायकः गीर्मनोयोगकारयकः (१४) ।
सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थाः—पश्चाद्भगवान् सूक्ष्मवाग्यमनयोगे तिष्ठति सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थाः (१५) ।
सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः—असूक्ष्मा सूक्ष्मा कृता सूक्ष्मीकृता वपुषः क्रिया काययोगो येन स सूक्ष्मीकृतवपुः-
 क्रियः (१६) ।

सूक्ष्मकायक्रियास्थाधी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा ।

एकदण्डी च परमहंसः परमसंवरः ॥१२५॥

सूक्ष्मकायक्रियास्थाधी—सूक्ष्मकायक्रियाया सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठतीत्येवंशीलः सूक्ष्मकायक्रिया-
 स्थाधी । पश्चाद्भगवान् कियत्कालपर्यन्तं सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठति (१७) । **सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा** वाक्
 च चित्तं च वाक्चित्ते, तयोयोगे वाक्चित्तयोगः । सूक्ष्मभावौ वाक्चित्तयोगः सूक्ष्मवाक्चित्तयोगः, तं हन्ति
 विनाशयतीति सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा (१८) । **एकदण्डी**—एकोऽसहायो दण्डः सूक्ष्मकाययोगो विद्यते
 यस्य स एकदण्डी भगवानुच्यते । कियत्कालं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातनामनि परमशुक्लध्याने स्वामी तिष्ठतीति एक-
 दण्डी कथ्यते । न तु काष्ठदिदण्डं (करं) करोति भगवान्, दण्डग्रहणस्य हिंसानन्दरौद्रध्यानसम्भवात् । एतावता ये
 केचिद्दण्डं करे कुर्वन्ति तेषां धर्मध्यानस्यापि लेशोऽपि नास्तीति ज्ञातव्यम् । उक्तञ्च—**लकडिषा केच कञ्जेव**
इति वचनान् । (१९) । परमहंसः—परम उल्लङ्घो हंस आत्मा यत्येति परमहंसः, भेदज्ञानवानित्यर्थः ।
 तथा च **निरुक्तिशास्त्रम्**—

कर्मात्मनो विवेका यः क्षीर-नीरसमानयोः ।

भवेत्परमहंसोऽसौ नाद्रिवत्सर्वभक्षकः ॥

विन्दुच्युतमिदं भगवतो नाम, तेनायमर्थः—परस्य उल्लङ्घस्य मह्यस्य पूजायाः सा लक्ष्मीर्यस्य स
 परमहंसः (२०) । **परमसंवरः**—परम उल्लङ्घः संवरो निर्जराहेतुर्यस्य स परमसंवरः । आश्रयनिरोधः संवरः २
 इति वचनात् (२१) ।

नैःकर्म्यसिद्धः परमनिर्जरः प्रज्वलत्प्रभः ।

मोघकर्मा न्युत्कर्मापाशः शैलेश्यलंकृतः ॥१२८॥

नैःकर्म्यसिद्धः—निर्गतानि कर्माणि शानावरणानि यस्येति निःकर्मा । निःकर्मणो भावः कर्म वा
 नैःकर्म्यम्, नैःकर्म्यं सिद्धः प्रसिद्धो नैःकर्म्यसिद्धः । परमते यद्विषयमैवादिर्कं हिनायज्ञकर्म न कुर्वन्ति ते वेदान्त-
 वादिन उपनिषाद पाठका नैःकर्म्यसिद्धा उच्यन्ते । ते दृष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निर्विध्यासित्तव्यः
 इत्यादि उपनिषदः पाठ पठन्ति, परं परमात्मानं न लभन्ते । तेषां वाक्यार्थो नास्ति, नियोग'वादिप्रभृतिवत् ।
 भगवांस्तु प्रत्यक्षमात्मानं लब्ध्वा कर्माणि मुक्त्वा लोकाग्रे गत्वा तिष्ठति स साक्षात्नैःकर्म्यसिद्ध उच्यते (२२) ।
परमनिर्जरः—परमा उल्लङ्घा श्रंसंख्येयगुणा कर्मनिर्जरा यस्येति परमनिर्जरः । तथा चोक्तम्—

**सम्यग्दृष्टिश्चावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशामकोपशान्तमोहक्षपकोपशामकोपशान्त-
 अंसंख्येयगुणनिर्जराः ॥**

अस्यायमर्थः—सम्यग्दृष्टिश्च श्रावकश्च विरतश्च अनन्तवियोजकश्च दर्शनमोहक्षपकश्च उपशमकश्च उप-
 शान्तमोहश्च क्षपकश्च क्षीणमोहश्च जिनश्च सम्यग्दृष्टिश्चावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशामकोपशान्त-
 मोहक्षपकोपशामकोपशान्तमोहक्षपकोपशामकोपशान्तमोहक्षपकोपशामकोपशान्तमोहक्षपकोपशामकोपशान्त-
 थिकलक्षणे च प्रभुत्तरकालं आत्वा पञ्चेन्द्रियस्येति कालादिलक्षितविशुद्धपरिणामक्रमेणापूर्वकस्यापन्त्यो-
 त्तलवमानोऽयं जीवः प्रभुत्तरनिर्जयवान् भवति । स एव तु औपशमिकसम्पत्प्रतिष्कारण्यनैकत्वे सति
 सम्यग्दृष्टिः सन् श्रंसंख्येयगुणनिर्जरा लभते । स एव तु प्रथमसम्पत्त्वभारित्रमोहकर्मभेदात्प्रत्यास्थानज्यो-

पशमहेतुपरिणामप्राप्त्यवसरे प्रकृष्टविशुद्धः श्रावकः सन् तस्मादसंख्येयगुणानिर्जयं प्राप्नोति । स एव तु प्रत्याख्यानावरणकथायत्नबोधोपशमहेतुभूतपरिणामिविशुद्धो विरतः सन् श्रावकादसंख्येयगुणानिर्जयं विन्दति । स एव तु अनन्तानुबन्धिकथायचतुष्टयस्य यदा वियोजो वियोजनपरो विचटनपरो भवति तदा प्रकृष्टपरिणामविशुद्धः सन् विस्तादपि असंख्येयगुणानिर्जयमासादयति । स एव तु दर्शनमोहप्रकृतित्रयशुक्लतृणारशि यदा निर्दग्धुमिच्छन् भवति तदा प्रकृष्टपरिणामविशुद्धः सन् दर्शनमोहक्षपकनामा अनन्तवियोजकादसंख्येयगुणानिर्जयं प्रपद्यते । एवं स पुमान् ज्ञाधिकसदृष्टिः सन् श्रेण्यारोहणमिच्छन् चारित्रमोहोपशमे प्रवर्तमानः प्रकृष्टविशुद्धः सन् उपशमकनामा सन् क्षपकनामकादसंख्येयगुणानिर्जयमधिगच्छति । स एव तु समस्तचारित्रमोहोपशमकारणनैकत्वे सति संप्राप्तोपशान्तमोहनामक. संप्राप्तोपशान्तकथायापरनामक. दर्शनमोहक्षपकादसंख्येयगुणानिर्जयं प्रतिपद्यते । स एव तु चारित्रमोहक्षपयो सन्मुखो भवन् प्रवर्धमानपरिणामविशुद्धि. सन् क्षपकनाम दधत् उपशान्तमोहात्-उपशान्तकथायापरनामकात् असंख्येयगुणानिर्जयमश्नुते । स पुमान् यस्मिन् काले समप्रचारित्रमोहक्षपणपरिणामेयु सम्मुखः क्षीणकथायामिधानं गृह्णमाणो भवति तदा क्षपकनामकादसंख्येयगुणानिर्जयमासीदति । स एव चैकत्ववितर्काविचारनामशुक्लध्यानाग्निभस्मसात्कृतधातिकर्मसमूहः सन् जिननामपेयो भवन् क्षीणमोहादसंख्येयगुणानिर्जयमादत्ते तेन जिना भगवान् परमनिर्जर इत्युच्यते (२३) । **प्रज्वलत्प्रभः**—प्रज्वलन्ती लोकलोकं प्रकाशयन्ती प्रभा केवलज्ञानतेजो यस्य स प्रज्वलत्प्रभः (२४) । **मोघकर्मा**—मोधानि निःफलानि कर्माणि श्रवद्वेद्यादीनि यस्येति मोघकर्मा, फलदानासमर्थाधातिकर्मैत्यर्थः, वेदनीयायुर्नामगोत्रसंरक्षकनामधातिकर्मणामनुदय इत्यर्थः । (२५) । **ब्रुट्कर्मापाशः**—ब्रुट्ति स्वयमेव विद्यित्ते कर्माण्येव पाशा यस्येति ब्रुट्कर्मापाशः, उत्कृष्टनिर्जयानित्यर्थः । (२६) । **शैलेश्यलंकृतः**—शीलानामष्टादशसहस्रसंख्यानामीशः शीलेशः । शीलेशस्य भावः शीलेशी । यथ च क्षीणपुंसकाक्षयः । शैलेश्या शीलप्रमुत्वेन अलंकृतः शैलेश्यलंकृतः । (२७) ।

एकाकाररसास्वादो विश्वाकाररसाकुलः ।

अजीवन्नमृतोऽजाग्रदसुप्तः शून्यतामयः ॥१२६॥

एकाकाररसास्वाद्—एकश्रावकाकारः एकाकारः, एकं विशेषज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । एकाकार एव रसः परमानन्दमृतं तस्यास्वादोऽनुभवनं यस्य स एकाकाररसास्वादः, निबन्धुद्वन्द्वैकत्वभावात्मज्ञानामृतसामुभवनवानित्यर्थः (२८) । **विश्वाकाररसाकुलः**—विश्वस्य लोकालोकस्य आकारो विशेषज्ञानं स एव रसः अनन्तमौख्योत्पादनं तत्र आकुलो व्यापृतः विश्वाकाररसाकुलः (२९) । **अजीवन्**—आनप्राणवायुरहितत्वात् अजीवन् (३०) । उक्तञ्च—

यास-विधिगगत सासदा अंबरि जत्थु विताह ।
तुष्टइ मोडु तडित्तु तहि मखु अत्यवणाहं जाइ^१ ॥

अमृतः—न मृतः अमृतः, जीवन्मुक्तत्वात् (३१) । **अजाग्रत्**—न जागतीति अजाग्रत्, योगनिद्रास्थितत्वात् (३२) । **असुप्तः**—आत्मस्वरूपे स्ववधानत्वात् न मोहनिद्रां प्राप्तः (३३) । **शून्यतामयः**—शून्यतया मनोवचनकायव्यापाररहितत्वात् शून्यतामयः (३४) । उक्तञ्च—

मखवयकायसुण्णो खयसुण्णो असुदसम्भावे ।
ससहावे जो सुण्णो हवइ सो मखवकुसुमणिहो ॥
प्रेयानयोगी चतुरशीतिलक्षगुणोऽगुणः ।
निःपीतानन्तपर्यायोऽविद्यासंस्कारनाशकः ॥१३०॥

प्रेयान्—अतिशयेन प्रियः प्रेयान् (३५) । **अयोगी**—न विद्यन्ते योगा मनोवाकायव्यापारा यस्येति अयोगी (३६) । **चतुरशीतिलक्षगुणः**—चतुरशीतिलक्षा गुणा यस्येति चतुरशीतिलक्षगुणः ।

के ते चतुरशीतिलक्षगुणा । हिसान्दत्तेयाब्रह्मपरिग्रहवर्जनानि पञ्च । श्लोषमानमायालोभवर्जनमिति नव । सुगुप्तामयत्परिवर्जनमिति त्रयोदश । मनोवाकायबुद्धत्ववर्जनमिति षोडश । मिथ्यात्वप्रमादपिशुनत्वाज्ञानवर्जनमिति विशतिः । हृन्दिन्यनिग्रहचेत्येकविंशतिः । अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारगनाचारवर्जनचतुर्विंशतिः । दशशुद्धि-दशकायसंयमैशुषिताभ्यतुरशीतिशतानि ८५००० । ते आकम्पितादिभिर्दशभिर्गुषिताभ्यतुरशीतिसहस्राणि ८५०००० । ते च दशधर्मैशुषिताः चतुरशीतिलक्षाणि ८५०००००० । के ते दश कायसंयमाः ? एकैन्द्रियादिगन्धेन्द्रियपर्यन्तजीवरक्षामिति पञ्च । निजपञ्चेन्द्रियविषयवर्जनं चेति पञ्च, इति दश कायसंयमाः ।

आकं पिय अशुभाधिप जं दिदुं बाबरं च सुदुमं च ।

सुन्नं सहाउलयं बहुजयामव्वत्त सस्सेवी ॥

हत्याकम्पितादयो दश । धर्मास्तु दश प्रसिद्धाः सन्ति (३७) । अगुण्यः—न विद्यन्ते गुण्या रगादयो यस्य सोऽगुण्यः (३८) । निःपीतानन्तपर्यायः—निःपीताः अविचक्षिता केवलज्ञानमध्ये प्रविशिता अनन्ता पर्याया सर्वद्वेष्याणां येन स निःपीतानन्तपर्यायः (३९) । अविद्यासंस्कारनाशकः—अविद्या अज्ञानं तस्याः संस्कार आसंसारमभ्यासोऽनुभवर्त तस्य नाशकः मूलादुन्मूलकः निर्मूलकार्पकशकः । अथवा अविद्यां अज्ञानं संस्कारैश्चत्वारिंशत्ता नाशयतीति अविद्यासंस्कारनाशकः । अथ के ते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा इति चेदुच्यते— १ सदर्शनसंस्कारः, २ सम्मग्नानसंस्कारः, ३ सञ्चारित्रसंस्कारः, ४ सत्पःसंस्कारः, ५ वीर्यचतुष्कसंस्कारः, ६ अष्टमातृप्रवेशसंस्कारः, ७ अष्टशुद्धिसंस्कारः, ८ परोपहजयसंस्कारः, ९ त्रियोगासंयमच्युतिशीलनसंस्कारः, १० त्रिकस्यामंथमारतिसंस्कारः, ११ दशासंयमोपरमसंस्कारः, १२ अहनिर्जयसंस्कारः, १३ शंशानिग्रहसंस्कारः, १४ दशधर्मधृतिसंस्कारः, १५ अष्टादशशीलसहस्रसंस्कारः, १६ चतुरशीतिलक्षगुणसंस्कारः, १७ विशिष्टधर्मध्यानसंस्कारः, १८ अतिशयसंस्कारः, १९ अप्रमत्तसंयमसंस्कारः, २० दृढभ्रुततेजोऽङ्कप्रकरणाश्रेण्यारोहणसंस्कारः, २१ अनन्तगुणशुद्धिसंस्कारः, २२ अप्रवृत्तिवृत्तिसंस्कारः, २३ पृथक्स्ववितर्कवीचारध्यानसंस्कारः, २४ अपूर्वकरणासंस्कारः, २५ अनिशुक्तिकणसंस्कारः, २६ बादरकपायाकट्टिकरणसंस्कारः, २७ सूक्ष्मकपायाकट्टिकरणसंस्कारः, २८ बादरकपायाकट्टिनिलेपनसंस्कारः, २९ सूक्ष्मकपायाकट्टिनिलेपनसंस्कारः, ३० सूक्ष्मकपायचरणसंस्कारः, ३१ प्रक्षीणमोहत्वसंस्कारः, ३२ यथाश्रयातचारित्रसंस्कारः, ३३ एकत्ववितर्काविचारध्यानसंस्कारः, ३४ धातिघातनसंस्कारः, ३५ केवलज्ञानदर्शानुद्गमसंस्कारः, ३६ तीर्थप्रवर्तनसंस्कारः, ३७ सूक्ष्मक्रियाध्यानसंस्कारः, ३८ श्लेशीकरणासंस्कारः, ३९ परसंबवर्धतिसंस्कारः, ४० योगाकट्टिकरणसंस्कारः, ४१ योगाकट्टिनिलेपनसंस्कारः, ४२ समुच्छिन्नक्रियसंस्कारः, ४३ परमनिर्जरप्रयणसंस्कारः, ४४ सर्वकर्मक्षयसंस्कारः, ४५ अनादिभवपर्ययविनाशसंस्कारः, ४६ अनन्तसिद्धत्वादिगतिसंस्कारः, ४७ अदहसहजज्ञानोपरयोगीश्वर्यसंस्कारः, ४८ अदेहसहोत्पाद्योपयोगीश्वर्यसंस्कारः (४०) ।

वृद्धो निर्वचनीयोऽगुणरीयाननणुप्रियः ।

श्रेष्ठः स्थेयान् स्थिरो निष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः सुनिष्ठितः ॥१३१॥

वृद्धः—वर्धते स्म वृद्धः । केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोति स्मेति वृद्धः । समुद्धातापेक्षया लोकप्रमाथो वा वृद्धः (४१) । निर्वचनीय —निर्वक्तुं निरुक्तमानेनं शक्यः निर्वचनीयः । अथवा निर्गतं वचनीयमपकीर्तिर्यस्य यस्माद्वा निर्वचनीयः (४२) । अथ रथ वय भय भय कथ वचथ ह्यन ध्वन शब्दे । अर्थात् शब्दं करोति अगुणः । पति-असि-वसि-हनि-अनि-अपि-हृ-दि-कंदि-वंधि-वध्वादिभ्यश्च उपत्ययः, अगुणिति जातम् । कोऽर्थः ? अगुणः अविभागी अतिसूक्ष्मः पुद्गलपरमाणुराणुरभ्यते । स अगुणरतिसूक्ष्मत्वाद् द्विलण्डो न भवति, अत्यल्पत्वात् । उक्तञ्च—

परमाद्योः परं नार्थं नभसो न परं महत् ।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षिन्मैौ दीनाभिमानिनौ ॥

इति वचनात्पुत्रलपरमाद्युचितवृत्तमो भवति । स उपमानभूतो नो भगवान्, तदगुणसदृशत्वात्, योगि-
नामप्यगम्योऽगुणश्च्यते (४३) । अणीयान्—अथोरप्यतिसुखमत्वादतिशयेन अगुः सुखमः अणीयान् ।
प्रकृष्टेऽर्थे गुणादिष्वेयन्सौ वा इति सूत्रेण ईयन्स् प्रत्ययस्तद्धितम् । पुत्रलपरमाद्युस्तावत्सुखमो वर्तते, सोऽपि
अवधि-मन-पर्ययज्ञानवतां गम्योऽस्ति । परं भगवान् तेषां योगिनामप्यगम्यस्तेन सः अणीयानुच्यते (४४) ।
अनगुमिथः—न अणवः न अल्पाः अनणवो महान्तः, इन्द्र-धरयोन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्र-चन्द्रादयः । तेषां
प्रियः, अतीवामीष्टः अनगुमिथः, चरुणसेवकजिज्ञासयतीनामाराध्य इत्यर्थः । अणवः न अणवः पुत्रलपरमा-
णवः प्रिया यत्येति अनगुमिथः । भगवतः समर्थं समर्थं प्रति अनन्यसामान्याः पुत्रलपरमाणवः समाग-
च्छन्ति, स्वामिनः शरीरं संस्लष्यन्ति । तैः किल भगवतः शरीरं तिष्ठति । ते परमाणवो नोआहार उच्यते ।
योगनिरोधे सति न अणवः प्रिया यत्येति अनगुमिथः (४५) । प्रेष्टः—अतिशयेन इन्द्र-धरयोन्द्र-नरेन्द्र-
मुनीन्द्र-चन्द्रादीनां प्रियः प्रेष्टः । गुणादिष्वेयन्सौ वा इष्टप्रत्ययः । इष्टप्रत्यये सति प्रियशब्दस्य प्रश्नादेशः ।
इद्विष्टेमेयस्य बहुलमिति वचनात् । प्रियस्थिरस्फिरोस्तुस्वदुजत्प्रदीर्घह्रस्वद्वृत्तद्वन्द्वारकाणां प्रस्थस्कुवरगर-
वंह्रप्रपद्मावहसवर्षद्वन्द्वः । प्रियशब्दस्य प्रश्नादेशः । अस्मिन् सूत्रे तुप्रशब्दः तुष्यन्ति पितरोऽनेनेति तुप्रः,
पुरोडाशः यज्ञशेषाजमित्यर्थः । स्फाधि-संधि-बंधि-शक्ति-क्षिपि-क्षुधि-सहि-मदि-मंदि-मंदि-नुंदादिभ्यो रक् । इत्य-
धिकारेषु सूत्रात् शुभिक्षिति इति क्षिदि मुवि रूपि हपि^१ शुभिम्यश्च इति सूत्रेण रक् प्रत्ययः (४६) ।
स्थेयान्—अतिशयेन स्थिरः स्थेयान् । गुणादिष्वेयन्सौ वा इति सूत्रेण ईयन्सप्रत्ययः । तद्विष्टेमेयःसु
बहुल मित्यनेन सूत्रेण स्थिरशब्दस्य स्थ आदेशः । प्रियस्थिरस्फिरोस्तुस्वदुजत्प्रदीर्घह्रस्वद्वृत्तद्वन्द्वारकाणां
प्रस्थस्कुवरगरवंह्रप्रपद्मावहसवर्षद्वन्द्वः इति वचनात् स्थिरशब्दस्य स्थआदेशः, अथर्था-इवर्थे ए
स्थेयञ् जातम् । प्रथमैकवचनं सिः । सान्तमहत्तोर्नोपधायाः दीर्घः, व्यञ्जनाच्च विलोपः, संयोगान्तस्य खोपः,
स्थेयान् (४७) । स्थिरः—योगनिरोधे सति उद्भासनेन पद्मासनेन वा तिष्ठति निश्चलो भवतीति स्थिरः ।
तिमि-रुधि-मदि-मंदि-बंधि-बंधि-रुधि-सुधिम्यः किरः इत्यधिकारे अजिरादयः अजिर-क्षिप्तिर-क्षिप्तिर-स्थिर-सुधिराः
इत्यनेन सूत्रेण किरप्रत्ययान्तो निपातः (४८) । निष्ठः—न्यतिशयेन तिष्ठतीति निष्ठः । आठञोपसर्गे आक्
प्रत्ययः (४९) । श्रेष्ठः—अतिशयेन प्रशस्तः श्रेष्ठः । गुणादिष्वेयन्सौ वा । प्रशस्तस्य अः (५०) ।
ज्येष्ठः—अतिशयेन वृद्धः प्रशस्तो व ज्येष्ठः । गुणादिष्वेयन्सौ वा । वृद्धस्य च ज्यः । चकारात् प्रशस्तस्य
च ज्यः (५१) । सुनिष्ठितः—सुष्ठु शोभनं यथा भवति न्यतिशयेन स्थितः सुनिष्ठितः । धृति-स्थिति-
मास्थान्त्यगुणे इत्वम् । अथवा शोभना निष्ठा योगनिरोधः संजातोऽत्येति सुनिष्ठितः । शक्तितादिदर्शनात्
संजातेऽर्थे इतच् प्रत्ययः (५२) ।

भूतार्थशूरो भूतार्थदूरः परमनिर्गुणः ।
व्यवहारसुषुप्तोऽतिजागरूकोऽस्ति सुस्थितः ॥ १३२ ॥

भूतार्थशूरः—भूतार्थेन परमार्थेन सत्यार्थेन शूरो भूतार्थशूरः, पापकर्मसिनाविध्वंसनसमर्थत्वात् ।
उक्तञ्—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षवायविक्षोडपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥
१ यो न च याति विकारं कर्मसमितिब्रवायविक्षोडपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥

१ इ दमिशुमि० । २ इ प्रतापयं श्लोको नास्ति ।
३२

अथवा भूतानां प्राणिनाम् अयं प्रयोजने स्वर्ग-मोक्षसाधने शूरः सुभटः भूतार्थशूरः । अथवा भूतः प्रातः अर्थः आत्मपदार्थो येन स भूतार्थः । स चासौ शूरः कर्मक्षयसमर्थः भूतार्थशूरः । अथवा भूतार्थो युक्तार्थस्तत्र शूरः । अकाररः । भूतार्थशूरः (५३) । **भूतार्थदूरः**—भूतार्थः सत्यार्थो दूरः केवलज्ञानं विना अगम्यत्वात् विप्रकृष्टः । अथवा भूता अतीता येऽर्थाः पञ्चेन्द्रियविषयाः मुक्तमुक्ताः, तेभ्यो दूरो विप्रकृष्टः सर्वेन्द्रियविषयाभामनिकट इत्यर्थः । अथवा भूतानां प्राणिनामर्थः स्वर्ग-मोक्षादिसाधनम्, स दूरमतिशयेन यस्मात् स भूतार्थदूरः । अथवा भूताः पिशाचप्रायाः अमव्यजीवा, ये सम्बोधिता अपि न सम्बुध्यन्ते, तेषामर्थात् प्रयोजनात् दूरो दवीयस्तरः भूतार्थदूरः, भव्यानामर्थसाधने समर्थ इत्यर्थः । तथा चोक्तम् **भ्रात-मीमांसायाम्**—

इरीयमासमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।

सम्यग्मिथोपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ।

तत्र विहितयमासमीमांसा सर्वशक्तिशेषपरीक्षाहितमिच्छतां निःश्रेयसकामिनां मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्यापि हितत्वघटनात्, तदिच्छतामेव; न पुनस्तदनिच्छतामभव्यानां तदनुपयोगात् । तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्यानामेव नियताधिकृतिः, तथा मोक्षकारणानुष्ठानान्मोक्षप्राप्त्युपपत्तेः (५४) । **परमनिर्गुणः**—निर्गता गुणा रागद्वेषमोहादयोऽशुद्धगुणा यस्मादिति निर्गुणः । परम उल्लुङ्घो निर्गुणः परमनिर्गुणः । अथवा परं निश्चयेन अनिर्गुणः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसंयुक्तः परमनिर्गुणः । इत्यनेन ज्ञान-सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्यावसरयामात्मगुणानामत्यन्तान्मुक्तिर्मुक्तिरिति वदन्तो वैशेषिकाः कात्यादापरनामानः प्रत्युक्ता भवन्तीति । उक्तञ्च—

बोधो वा यदि वाऽऽनन्दो नास्ति मुक्तौ भवोज्ज्वलः ।

सिद्धसाध्यं तदाऽऽस्माकं न काचित्कतिरीक्ष्यते ॥

अथवा पण उल्लुङ्घा मा लक्ष्मीमौल्लक्षणोपलक्षिता कर्मक्षयोद्भूता यस्येति परमः, पुंनञ्जाहित-पुंस्कारद्वन्द्वपूरण्यादिषु चिन्वा तुल्याधिकरणे इति वचनात्पराशब्दस्य पुंनञ्जावः । निश्चिताः परमार्थभूताः परमविशानैर्गुणधरदेवादिभिर्निर्धारिता गुणा अनन्ताः केवलज्ञानादयो यस्येति निर्गुणः । परमश्वासौ निर्गुणः परमनिर्गुणः (५५) । **व्यवहारसुषुप्तः**—व्यवहारे विहारकर्मणि धर्मोपदेशादिके च सुष्टु अतिशयेन सुप्तो निश्चिन्तः, अव्यापृतः व्यवहारसुषुप्तः (५६) । **अतिजागरूकः**—जागतौत्येवंशीलः जागरूकः आत्मस्वरूपे सदा सावधानम् । अतिशयेन जागरूकः अतिजागरूकः । जागरूक इति वचनात् जाग्रधातो रूक्प्रत्ययः (५७) । **अतिसुस्थितः**—अतिशयेन सुस्थितः सुखीभूतः अतिसुस्थितः (५८) ।

उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिमः ।

अमेयमहिमात्यन्तशुद्धः सिद्धिस्वर्धरः ॥२३३॥

उदितोदितमाहात्म्यः—उदितादप्युदितं परमप्रकार्यमागतं माहात्म्यं प्रभावो यस्य स उदितोदित-माहात्म्यः (५९) । **निरुपाधिः**—निर्गत उपाधिर्धर्मचिन्ता धर्मोपदेशविहारकर्मादिको यस्येति निरुपाधिः । अथवा निर्गत उप समीपात् आधिः मानसी पीडा यस्येति निरुपाधिः, जन्मज्वरमरणव्याधिष्वपहितत्वात् निश्चिन्त इत्यर्थः । अथवा निश्चित उपाधिवात्मधर्मस्यात्मस्वरूपस्य चिन्ता परमशुद्ध्यान् यस्येति निरुपाधिः (६०) । **अकृत्रिमः**—अकरणेन अविधानेन धर्मोपदेशादेरकृत्रिमः । इदञ्चञ्चालिमक् तेन निश्चये इति सूत्रेण श्रिमप्रत्ययः । ककारो गुणार्थः । उच्चरित-प्रभंसिनो ह्यनुबन्धाः इति परिभाषणात् ककारप्रत्ययः (६१) । **अमेयमहिमा**—महतो भावो महिमा । श्रुतिव्यादिभ्य इमन् । वा अमेयोऽमर्यादीभूतो लोकालोका-व्यापी महिमा केवलज्ञानव्याप्तिर्यस्याभावमेयमहिमा (६२) । **अत्यन्तशुद्धः**—अत्यन्तमतिशयेन शुद्धः

कर्ममलफलकरहितः अत्यन्तशुद्धः, रागद्वेषमोहादिरहितो वा द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितो वा, सन्निकटतर-सिद्धपर्यायत्वात् अत्यन्तशुद्धः (६३) । सिद्धिस्वयंवरः—सिद्धैरत्नोपलब्धेः कन्यायाः स्वयंवरः परिणेतो सिद्धिस्वयंवरः (६४) ।

सिद्धानुजः सिद्धपुरीपान्थः सिद्धगणातिथिः ।

सिद्धसंगोन्मुखः सिद्धालिङ्ग्यः सिद्धोपगृहकः ॥१३४॥

सिद्धानुजः—सिद्धानां मुक्तात्मनां अनुजो लघुभ्राता, पश्चाज्जातत्वात् सिद्धानुजः (६५) । सिद्ध-पुरीपान्थः—सिद्धानां मुक्तात्मनां पुरी नगरी मुक्तिः, ईषत्प्राग्भारसंज्ञं पत्तनम्, तस्याः पान्थः पथिकः सिद्धपुरीपान्थः (६६) । सिद्धगणातिथिः—सिद्धानां मुक्तजीवानां गणः समूहः अनन्तसिद्धसमुदायः सिद्धगणाः, तस्य अतिथिः प्राधुर्यकः सिद्धगणातिथिः (६७) । सिद्धसंगोन्मुखः—सिद्धानां मवविच्यु-तानां संगो मेलस्तं प्रति उन्मुखो बद्धोत्कण्ठः सिद्धसंगोन्मुखः (६८) । सिद्धालिङ्ग्यः—सिद्धैः कर्मविच्युतैः सत्युच्यैः महापुरुषैरालिङ्गितुं योग्य आश्लेषोचितः सिद्धालिङ्ग्यः (६९) । सिद्धोपगृहकः—सिद्धानां मुक्तिवल्लभानां उपगृहकः आलिंगनदायकः अंकपालीविधायकः सिद्धोपगृहकः (७०) ।

पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलारवः पुण्यशंखलः ।

वृत्ताग्रयुग्यः परमशुक्लेशयोऽपचारकृत् ॥१३५॥

पुष्टः—पुष्पाति स्म पुष्टः, पूर्वसिद्धसमानानन्ददर्शनसुखधोर्याद्यनन्तरुच्यैः खलः (७१) । उक्तञ्च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।

तयोर्मेत्री विवाहश्च न तु पुष्ट-विपुष्टयोः ॥

अष्टादशसहस्रशीलारवः—अरनुवते क्षण्येन अमीष्टस्थानं प्राप्तुवन्ति जातिशुद्धत्वात् स्वस्वामिन-मभिमतस्थानं नयन्तीति अरवाः । अष्टभिर्यथका दश अष्टादश । अष्टादश च तानि सहस्राणि अष्टादशस-हस्राणि । अष्टादशसहस्राणि च तानि शीलानि अष्टादशसहस्रशीलानि, तान्येव अरवा वाजिनो यस्य सोऽष्टा-दशसहस्रशीलारवः । कानि तानि अष्टादशसहस्राणि शीलानांति चेदनुद्यते—

शीलं व्रतपरिरक्ष्यमुपैत शुभयोगवृत्तिमिवरहितम् ।

संज्ञाच्चरितरोषी क्षमादियममलात्ययं क्षमादीश्च ॥

शुभाः संयमवीकक्षपाः शुद्धयः कायसंयमाः ।

सेव्या हिंसाकम्पितातिक्रमाद्यभ्रवर्जनाः १ ॥

शुभयोगवृत्ति उपैत, शुभमनोवचनकाययोगानामौत इतरहति उपैत, अशुभमनोवचनकायान् वीन् शुभमनसा हन्तु इति श्रीणि, अशुभमनोवचनकायान् शुभवचसा हन्तु इति षट् अशुभमनोवचनकायान् शुभकायेन हन्तु, इति नव । एते नव । आहारभयमधुनपरिग्रहसंज्ञापरिहारैश्चतुर्भिर्गुणिताः षट्त्रिंशद्भवन्ति । ते षट्त्रिंशदिन्द्रियजयपंचकेनाहताः अशरीत्यग्रं शतं भवन्ति । क्षमादियममलात्ययं-शुधिव्यसेजोवायुवनस्पतिद्वी-न्द्रियत्रीन्द्रियचतुर्दिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियसंज्ञिपंचेन्द्रियदशानां विषयनापरिहारदशकेनाहता अष्टादशशतानि भवन्ति । ते दशधर्मैराहता अष्टादशसहस्राणि जायन्ते १८००० । अथवा अपरेण्य प्रकारेण शीला उच्यन्ते— अशरीत्यग्रदशताधिकसप्तदशसहस्रारचेतनसम्बन्धिनः १७२८० । विंशत्यग्रसप्तशतान्यचेतनसम्बन्धिनः ७२० । तथाहि—देवी-मानुषी-तिरश्चीपरिहारारव्यः । कृतकारितानुमतपरिहारैस्त्रिभिर्गुणिता नव भवन्ति । मनोवचन-कायपरिहारैस्त्रिभिराहताः सप्तत्रिंशतिर्भवन्ति । स्पर्शरसगंधवर्णशब्दलक्षणापंचविषयपरिहारपंचकेनाहताः पंचत्रिं-

शब्धिकं शतं जागर्ति । इत्यभावरित्यागद्वयेन गुणिताः सप्तत्यधिकं द्विशतं जायते । चतस्रसंज्ञापरिहारचतु-
ष्टयेनाहता अशीत्यधिकं सहस्रं समरित १०८० । अनन्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्र.याख्यानसंज्वलनचतुष्कैः षोडश-
कषायपरिहारैराहता अशीत्यधिकं द्विशताप्रसप्तदशसहस्राः संजायन्ते १७२८० । इति चेतनसम्बन्धिनो भेदाः ।
अचेतनसम्बन्धिनः प्रकारा कथ्यन्ते । तथाहि— काष्ठपापाण्यलेपकृताः क्षियरितस. मन.कायपरिहारद्वयेन गुणिताः
षट् भवन्ति । इतकारितानुमतपरिहारैरिभिराहता अष्टादश स्युः । १२परादिष्वधिक्यपरित्यागैर्गु णिताः नवति-
र्भवति । इत्य-भावरित्यारद्वयेनाहता अशीत्यधिकं शतं स्यात् । कषायचतुष्टयपरिहृतिपरिणितं विशत्यग्राथि
सप्तशतनि जाग्रति (७२०) । एवं एकत्रीकृता अष्टादशसहस्राः संजायन्ते । १८००० । (७२) पुण्यशंखलः—
पुण्यं सद्देशुमातुनोमंगोत्रलक्षणं शंखलं पथ्योऽदनं यस्य स भवति पुण्यशंखलः (७३) वृत्ताप्रयुज्यः—वृत्तं
चारित्रं अमं सुख्यं युज्यं वादनं यत्येति वृत्ताप्रयुज्यः (७४) । परमशुक्लेश्वर्यः—कषायानुरजिता योगवृत्ति-
लेश्वर्योच्यते । जीर्णं हि कर्मणा लिप्यतीति लेश्वर्या । कृत्ययुटोऽन्यत्रागि च इति सूत्रेण कर्त्तारि ध्यय्, नामिन-
श्लोपभाषा लघोरिति गुणः । धृषोदरत्वात्पकारस्य शकारः । क्षियामादा । उक्तञ्च—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापतौ वर्णविकारनाशौ ।
घातोस्तदर्थानां तद्वयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥
वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः ।
षोडशादौ विकारस्तु वर्णनाशः धृषोदरे ॥

परमशुक्ला लेश्वर्या यस्य स परमशुक्लेश्वर्यः (७५) । उक्तञ्च नैमिचन्द्रेण मुनिना गोस्मटसारग्रन्थे
लेश्वर्यानां षोडशाधिकारप्रस्तावे शुक्लेश्वर्यस्य लक्षणं—

या कुण्डलपक्षवायं ण वि य णियार्थं समो य सत्वेसि ।
याथि य रायं दोसं येदो वि य मुकलेस्सत्स ॥

अपचारकृत्—अपचरणमपचाये मारणम्, कर्मशत्रूणामपचाये घातिकर्मणां विचन्द्रनि-
त्यर्थः । अपचारं घातिसंघातनं पूर्वमेव कृतवान् भगवानित्यर्थः । यथा कश्चिद्विजिगीषुः शत्रूणां मन्त्रविप-
प्रयोगादिभिः शत्रूणामपचारं मारणं करोति तथा भगवानपि कर्मणां मारणं ध्यानमन्त्रविषप्रयोगेण कृतवानि-
त्यर्थः । इत्यनेनास्मिन्नन्तकृच्छ्रं भगवतो विजिगीषुस्वरूपानरूपकानि नामानि स्वयमेवार्थापयितव्यानि ।
अथवा अपचारं मारणं कृन्तिति उच्छेदयतीति अपचारकृत् । वेऽक्षरभ्लच्छ्वाः शङ्खणे ब्राह्मणमालभेत्,
क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भयो वैश्यं, तपसे शूद्रं, तपसे उत्करं, नारकाय वारहस्यं पाप्मने क्लृप्तमाक्रयाय ज्योतिं,
कामाय पुंस्त्र्यं, अतिकुष्ठाय मागधं, गांताय सुतमादित्याय शिख्यं गर्भिर्षामित्यादीनि हिंसाशाल्वचनानि
पोषयन्ति, तेषां मतमुच्छेदितवान् भगवान्; परमकारुणिकत्वादिति शतव्यम् (७६) ।

क्षेपिष्ठोऽन्त्यक्षसखा पंचलष्वक्षरस्थितिः ।

द्वांसप्ततिप्रकृत्यास्तो त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥ १३६ ॥

क्षेपिष्ठः—अतिशयेन क्षिप्रः शीघ्रतरः क्षेपिष्ठः । स्थूलवृत्तुवर्षिप्रभुद्वाद्यामन्तस्यादेर्लोपो गुणश्च
इत्यनेन इष्टप्रत्यये रकारलोप इकार एकारश्च क्षेपिष्ठः, अतिशयेन शीघ्रः एकेन क्षणेन त्रैलोक्यशिरसरगमि-
त्वात् (७७) । अन्त्यक्षसखा—अन्त्यक्षस्य सखा अन्त्यक्षणसखा, संसारस्य पश्चिमः समयः, तेन
सह गामुक्तो मित्रमित्यर्थः । उक्तञ्च—

सर्वा सप्तपदं मैत्र्यं सत्सर्ता य पदत्रयम् ।

सत्सत्तामपि ये सन्तस्तेषां मैत्र्यं पदे पदे ॥

अथवा अन्त्यक्ष्णस्य पञ्चमकल्याणस्य सखा मित्रं अन्त्यक्ष्णसखा । अथवा अन्त्यक्ष्णसखः इति पाठे अन्त्यक्ष्णः सखा मित्रं यस्येति अन्त्यक्ष्णसखः । समाप्तान्तगतानां वा राजादीनामवन्सखा इत्यधिकारे राजन् आहन् सखि इत्यनेन अतुप्रत्ययः (७८) । पञ्चलक्ष्णक्षरस्थितिः—पञ्च च तानि लक्ष्णक्ष्णस्य पञ्चलक्ष्णक्ष्णस्य, अ इ उ श्रु ल् इत्येवंरूपाणि, क च ट त प इति रूपाणि वा, क ख ग घ ङ इत्यादि-रूपाणि वा । यावत्कालं पञ्चलक्ष्णक्ष्णस्युच्चार्यन्ते तावत्कालपर्यन्तं चतुर्दशे गुणस्थाने अयोगिकेवत्यपरनाम्नि स्थितिर्यस्येति पञ्चलक्ष्णक्ष्णस्थितिः । स पञ्चलक्ष्णक्ष्णोच्चारमात्रोऽपि कालपर्यायोऽन्तसुहृत् उच्यते । उक्तञ्च—

आवलि असंखसमया संखेज्जावलि होइ उस्सालो ।

सत्तुस्सालो धावो सत्तयोओ जवो भविओ ॥

अट्टत्तीसद्धलवा नाओ दो नाखिया सुहुत्तं तु ।

समऊर्यं तं मिह्वं अंतसुहुत्तं अयोवविहं ॥

एकावलि-उपरि एकः समयो वर्धते स जघन्योऽन्तसुहृत् उच्यते । एवं द्वि-त्रि-चतुरादिसमया वर्धन्ते यावत् तावत् षट्काद्वयमध्ये समयद्वयं द्वीनं तावदन्तसुहृत् उच्यते । एकेन समयेनोर्न नालीद्वयं भिन्नसुहृत्ः कथ्यते । एकस्यापि अक्षरस्य (उच्चारणे) असंख्येयाः समया भवन्ति (७९) । द्वासप्ततिप्रकृत्यासी—पञ्चानामक्षराणां मध्ये अन्त्याक्षरस्य येऽसंख्याताः समयाः भवन्ति तेषां समयानां मध्ये द्वौ द्वौ समयौ, तयोर्द्वयोः समययोर्मध्ये यः पूर्वः समयः, स समयो द्विचरमः समयः कथ्यते, उपान्त्यसमयं चापिधीयते । तस्मिन्नुपान्त्यसमये द्विसप्ततिप्रकृतीर्भगवान् क्षिपति । द्विसप्ततिप्रकृतीरस्यति क्षिपते इत्येवंशीलो द्वासप्ततिप्रकृत्यासी । कास्ता द्वासप्ततिप्रकृतयो या भगवानुपान्त्यसमये चतुर्दशे गुणस्थाने क्षिपयतीति चेदुच्यते- द्वौ गन्धौ सुप्रि-दुरमी २ । मधुराम्लकटुतिक्तकषयाः पञ्च रसाः ७ । श्वेतपीतहरिताम्यकृष्णपञ्चवर्णाः १२ । औदारिकवैक्रियिका-हारकतेजसकार्मण्यशरीराणि पञ्च १७ । औदारिकवैक्रियिकाहारकतेजसकार्मण्यशरीरवर्धनानि पञ्च २२ । औदारिक-वैक्रियिकाहारकतेजसकार्मण्यशरीरसंघाता पञ्च २७ । वज्रशृपमनाराच-वर्धनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलिफा-ऽसंप्राप्तासुर्पाटका पट्टं संहनानि ३३ । समचतुस्रं त्रयोधपरिमंडल-वाल्मीकिं कुञ्जक वामन-हुंडकसंस्थानानि पट्टं ३९ । देवगतिः ४० देवगत्यानुपूर्व्यं ४१ प्रशस्तविहायोगतिः ४२ अप्रशस्तविहायोगतिः ४३ परघातकः ४४ अगुस्लघु ४५ उच्छ्रंतां ४६ उपघातः ४७ अयशः ४८ अनादेयं ४९ शुभं ५० अशुभं ५१ सुस्तरं ५२ दुःस्तरं ५३ स्थिरं ५४ अस्थिरं ५५ स्निग्धरुक्कशकोमलागुस्लघुशरीतोष्णस्पर्शाष्टकं ६३ निर्माणं ६४ औदा-रिकवैक्रियिकाहारकांगोपांगत्रयं ६७ अपर्षातं ६८ दुर्मगं ६९ प्रत्येकं ७० नीचैर्गोत्रं ७१ द्वयोर्वैद्ययोर्मध्ये एकं वैद्यं ७२ इति द्वासप्ततिप्रकृत्यासी (८०) । त्रयोदशकालप्रणुत्—त्रयोदशकालीनं त्रयोदशकर्मप्रकृती नुदति क्षिपते त्रयोदशकालप्रणुत् । के ते त्रयोदश कलय इत्याह—आदेयं १ मनुष्यगतिः २ मनुष्यगत्यानुपूर्व्यं ३ पञ्चेन्द्रियजातिः ४ यशः ५ पर्षातः ६ व्रसः ७ बादरं ८ सुमगं ९ मनुष्यायुः १० उच्चैर्गोत्रं ११ द्वयोर्वैद्य-योर्मध्ये एकं वैद्यं १२ तीर्थकरत्वं च १३ इति त्रयोदशकालप्रणुत् (८१) ।

अवेदोऽयाजकोऽयज्योऽयाज्योऽनक्षिपरिग्रहः ।

अनक्षिहोत्रो परमनिःस्पृहोऽत्यन्तनिर्दयः ॥ १३७ ॥

अवेदः—न विद्यते वेदः क्षीपुंक्षपुंसकत्वं यस्येति अवेदः, लिंगत्रयरहित इत्यर्थः । किं क्षीत्वं किं वा पुंस्त्वं किं च नपुंसकत्वमिति चेदुच्यते—

श्रीषिमाद्वैवनीरुक्त्वमुग्धत्वक्षीबतास्तनाः ।

पुंस्कामेन समं सप्त क्षिगानि क्षैवसूचने ॥

खरत्वं मेहनं स्वाग्ध्यं क्षौण्डीयैरमभुच्छ्रुता ।

क्षीकामेन समं सप्त क्षिगानि भरवेदने ॥

यानि स्त्री-पुंसलिंगानि पूर्वाणीति चतुर्दश ।

उक्तानि तानि मिश्राणि षण्ढमाचनिवेदने ॥

अथवा अवेद. न विद्यन्ते ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदायर्वेदानामानः कालासुरादिबिहिता हिंसाशास्त्राणि वेदा यस्येति अवेदः । तर्हि सर्वज्ञः कथं यदि पापशास्त्राणि न जानातीति चेन्न, जानात्येव, परं हेयतयाऽवैति । नञा निर्दिष्टस्यानित्यत्वादेव उच्यते । अथवा अत्र समन्तात् ई स्वर्गापवर्गलक्षणोपलक्षितां लक्ष्मीं ददातीति अवेदः, अभ्युदय-निःश्रेयससंपत्तिप्रदायक इत्यर्थः । अथवा अस्य शिवस्य ईशानस्य केशवस्य च वायुदेवस्य ब्रह्मण्यश्विनस्य भानोश्च वस्य वरुणस्य इदं^१ पापं घृति खडयति अवेदः । ध्यायमानः स्तुयमानः पूज्यमान-श्चैतेषां देवानां तदपत्याना उपलक्षणत्वात्सर्वेषां पापविध्वंसक इत्यर्थः । तथा चोक्तं विश्वप्रकाशशास्त्रे—

अः शिषेः केशवे वायौ ब्रह्मचन्द्राग्निमानुषु ।

वो वरुणे । ई कुत्सायां पापे च । अवेद इति गतं सिद्धमित्यर्थः (८२) । अयाजकः—न याजयति, न निजां पूजा कारयति, अतिनिःस्पृहत्वात् अयाजकः । तर्हि पूर्वं किं स्पृह इदानीमेव निःस्पृहः संजातः ? इति चेन्न, पूर्णमपि निःस्पृहः, इदानीमपि भगवान्निःस्पृह एव । परं पूर्वं समकारणस्थितः इन्द्रादिकृतामर्चना लोचनाभ्यां स्वभावेन विलोकते, तदा भव्यानामानन्द उत्पद्यते—स्वाम्यस्मत्कृतां पूजां स्वीकरोतीति याजकवत्प्रतिभासते । इदानीं तु योगनिरोधकत्वात् साक्षादयाजक इव भव्यात्मनां पूज्यमानोऽपि चेतसि प्रतिभासते, तेन भगवानयाजक उच्यते । अथवा अयं अयः अष्पचादिभ्यश्चेति अच्चा सिद्धत्वात् । कृत्सि कृदिति षचनात् अय इति गतिरुच्यते । सा तु तीर्थप्रवर्तनकाले भवति, सूक्तमक्रियत्वादापि इदानीं तु व्युपस्तक्रियो भगवान् बोधयतीति स्म । तेनायमर्थः—अयस्य गमनस्य तीर्थप्रवर्तनपर्यटनस्य विहारस्यामावात् अयाजकः परिहारकः अयाजकः । अयजमानो वा (८३) । अयज्यः- यष्टुं शक्यो यज्यः, न यज्य, अयज्यः । शक्ति-सहि-पवर्गान्ताश्च यत्रत्यः । शक्ति ग्रहणात् शक्त्यायौ ग्राहः, स्वामिनोऽलक्ष्यस्वरूपत्वात् केनापि यष्टुं न शक्यते तेन 'अयज्य' इत्युच्यते (८४) । अयाज्यः—इज्यते याज्यः, न यष्टुं शक्यते अयाज्यः । ऋषयः-स्वर्जनास्ताद् षष्णु । शक्त्यार्थं विना यो न भवति । किं सामान्येन प्यशेष भवति, अयाज्योऽपि अलक्ष्यस्वरूपत्वात् (८५) । अनग्निपरिग्रहः—कर्मसमिधा भग्मीकरणेन अग्नेर्गाहपत्याह-वनीयदक्षिणाग्निनामत्रयैश्वानरस्य न परिग्रहः स्वीकारो यस्यासौ अनग्निपरिग्रहः । अथवा अग्निश्च परि-ग्रहश्च पत्नी अग्निपरिग्रहौ, न अग्निपरिग्रहौ यस्य साऽनग्निपरिग्रहः । आम्यगीणा तु अग्नेर्भायाश्च परिग्रहो भवति, भगवांस्तु ध्यानाग्निर्दग्धकर्मन्धनत्वात् अनग्निपरिग्रहः (८६) । उक्तञ्च—

प्रसंख्यानपविषावकद्रुष्टानुस्थानमन्मथमद्वरिद्रितश्चस्मरारविजयः ।

अनग्निहोत्री—अग्निहोत्रो यशविशेषः । अग्निहोत्रो विद्यते यस्य सोऽग्निहोत्री ब्राह्मणविशेषः । न अग्निहोत्री अनग्निहोत्री, अग्निं विनापि कर्मन्धनदहनकारित्वात् । ननु प्रान्तं शब्दरूपं^२ नपुं सके प्रोक्तत्वा-त्कथमत्र अग्निहोत्रस्य पुं स्त्वम् सूचितम् ?

सामान्यज्ञास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् ।

परेण पूर्वबाधो वा प्रायशो द्रयतामिह ॥

विशेषेण यशानाम् : पुं स्त्वम् । तथा चोक्तं दुर्गासिंहेन कविना—

स्वर्गादिब्रह्मानसंबत्सरमस्यशक्रुचकेशमासतुः ।

अरिगिरिबलदजलधिविषसुरास्तासम्^३ मुजमुजगा ॥

शरनसकपोलकदन्तर्पकमुहमीष्ट^४ कण्ठररमातीलाः ।

पूर्वा संज्ञा ध्याम्युक्ता नास्तीत्यथाः षण्ढः ॥

१ संस्कृत पञ्चसंग्रह १६७-१६८ । २ अ स्वरूपं । ३ इ स्वात्मज० । ४ इ रप्रमानीलाः ।

तथा श्रान्ते नपुंसके उक्तेऽपि पुत्रद्वाराभामिभ्रात्र बृध्नमञ्जी च विशेषत्वात्पुत्रिणि एव (८७) । परम-
निःस्पृहः— परम उत्कृष्टो निःस्पृहः परमनिस्पृहः । अथवा परा उत्कृष्टा केवलशानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणापो-
लक्षिता मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः । परमभावी निःस्पृहः परमनिःस्पृहः । ननु यो भगवान् उत्कृष्ट-
लक्ष्मीवान् सः निःस्पृहः कथम्, विरुद्धमेव ? परिह्रियते—परं निश्चयेन अनिःस्पृहः परमनिःस्पृहः, मुक्ति-
कान्तायां संयोजितात्मद्वयस्वरूपत्वात् (८८) । अत्यन्तनिर्दयः—अत्यन्तं नितरां निर्दयो दयारहितः
अत्यन्तनिर्दयः । ननु भगवतः परमकारुणिकत्वाभिर्दयत्वं कथम्, इदमपि विरुद्धम् ? परिह्रियते—अतिगते
विनष्टोऽन्तो विनाशो यस्येति अत्यन्तः । निश्चिता सगुण्य-निर्गुण्य प्राणिवर्गरक्षणलक्षणा दया करुणा यस्येति
निर्दयः । अत्यन्तभावी निर्दयः अत्यन्तनिर्दयः । अथवा अतिशयेन अन्ते अन्तके यमे निर्दयो नि.कषणः
अत्यन्तनिर्दयः । उक्तञ्च समन्तभद्रेश उल्लर्षिणीकाले भविष्यतीर्थकरपरमदेवेन महाकविना—

अन्तकः ऋन्दुको नृप्या जन्मज्वरसखः सदा ।

त्वामन्तकान्तकं प्राप्य भ्यावृत्तः कामकारतः १ ॥

अथवा अत्यन्ता अतिशयेन विनाशं प्राप्ता निर्दया अक्षरभ्लेच्छादयो यस्मादिति अत्यन्तनिर्दयः ।
तीर्थकरपरमदेवे सति मिथ्यादृष्टीनां निस्तेजस्कता भवतीति भावः । तथा चोक्तं तेनैव भगवता समन्तभद्र-
स्वाम्याचार्येण—

त्वया धीमन् ब्रह्मप्रशिषिमनसा जन्मनिगलं

समूलं जिभिन्नं त्वमसि विदुषां भोषणदवी ।

त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरसौमिति भगव-

न्नभूवन् स्वधोता इव शुचिरवावन्यमतयः २ ॥

अथवा अतिशयेन अन्ते मोक्षगमनकाले निश्चिता दया त्वपरजीवरक्षणलक्षणा यस्येति अत्यन्त-
निर्दयः । तदप्युक्तं तेनैव देवाशमस्तुतिकारिणा समन्तभद्रेश—

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुचते ।

तस्माद्यावाद्द्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ३ ॥

अलमतिविस्तरेण (८९) ।

अशिष्योऽशासकोऽदीक्ष्योऽदीक्षकोऽदीक्षितोऽक्षयः ।

अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥ १३८ ॥

अशिष्यः—न केनापि शिष्यते अशिष्यः । अथवा मोक्षगमनकाले मुनिशिष्यतहसादिगणनैवेष्टि-
तोऽपि परमनिःस्पृहत्वात् निरीहत्वाच्च अशिष्यः (९०) । अशासकः—न शास्ति न शिष्यान् धर्मं ब्रूते
अशासकः, योगनिरोधत्वात् (९१) । अदीक्ष्यः—न केनापि दीक्ष्यते अदीक्ष्यः, स्वयंबुद्धत्वात् (९२) ।
अदीक्षकः—न कमपि दीक्षते अतं प्राहयति अदीक्षकः, साधुचरितार्यत्वात् (९३) । अदीक्षितः—न
केनापि अतं प्राहितः अदीक्षितः, स्वयमेव स्वस्य गुरुत्वात् । (९४) । अक्षयः—नास्ति क्षयो विनाशो यस्य
सोऽक्षयः । अथवा न अक्षयि इन्द्रियाणि याति प्राप्नोति अक्षयः । आतोऽनुपसर्गाकः (९५) । अगम्यः—
न गन्तुं शक्यः अगम्यः । इकि-सहि-पवर्गान्ताच्च यप्रत्ययः, अविशेषस्वरूप इत्यर्थः (९६) । अगमकः—
न कमपि गच्छतीत्यगमकः, निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थित इत्यर्थः (९७) । अरम्यः—आत्मस्वरूपं विना न
किमपि रम्यं मनोहरं वस्तु यस्येति अरम्यः (९८) । उक्तञ्च—

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्गाम्भीर्यकपदं तदेव नः ।

स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्पते यत्परंऽपि रम्यता ॥

अरमकः—आत्मस्वरूपमन्तरेण न क्वापि रमति अरमकः (६६) । शाननिर्भरः—शानेन केवलशानेन निर्भरः परिपूर्णो शाननिर्भरः, आकण्ठममृतभृतसुवर्षाघटवदित्यर्थः (१००) ।

इत्यन्तकृष्णतम् ।

महायोगीश्वरो ब्रह्मसिद्धोऽद्भेहोऽपुनर्भवः ।

शानैकखिञ्जीघनः सिद्धो लोकाप्रगामुकः ॥ १३६ ॥

महायोगीश्वरः—महायोगिनां गणधरदेवादीनामीश्वरः स्वामी महायोगीश्वरः (१०१) । ब्रह्म-सिद्धः—ब्रह्मरूपेण सिद्धो ब्रह्मसिद्धः, साक्षात्सिद्ध इत्यर्थः (१०२) । अद्भेहः—न विद्यते देहः शरीरं यत्येति अद्भेहः, परमौदारिकतेजस्वकार्मण्यशरीरत्रयरहित इत्यर्थः (१०३) अपुनर्भवः—न पुनः संवारे संभवतीति अपुनर्भवः । अथवा न विद्यते पुनर्भवः संसारे यत्येति अपुनर्भवः । अथवा न पुनः भवो रुद्र उपलक्ष्याद् ब्रह्मविष्णवादिको देवः संवारेऽस्ति, अयमेव श्रीमद्भगवद्दृष्टवर्ष एव देव इत्यर्थः (१०४) । शानैकचित्—शानमेव केवलशानमेव एका अद्वितीया चित् चेतना यत्येति शानैकचित् (१०५) । जीवघनः—जीवेन आत्मना निर्वृतेो निष्पन्नो जीवघनः जीवमय इत्यर्थः । शूक्तौ घनिष्ठा (१०६) । उक्तञ्च—

असरीरा जीवघना उच्युक्ता दंसखे य शाये य ।

साधारमयायो लक्ष्मणमेवं तु सिद्धाव्यं^२ ॥

सिद्धः—सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः संजाता यत्येति सिद्धः (१०७) । लोकाप्रगामुकः—लोकस्य त्रैलोक्यस्य अग्रे शिखरे तनुवातवलये मुक्तिशिलाया उपरि मनागुनैकगव्युत्तिप्रदेशे गच्छतीत्येवंशीलः लोकाप्रगामुकः । शुकमगमहनृषभृथालपपवत्सुकम् इति सूत्रेण उक्तम्प्रत्ययः । अकारः सिद्धिरिज्ज्वद्वृथासुबन्धे इति विशेषणार्थस्तेन अस्योपधाया दीर्घो वृद्धिर्नामिनमि च चट्सु (१०८) । इत्यन्ताष्टकम् । एवमेकव १००८ ।

इदमष्टोत्तर नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम् ।

योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां मुक्तिमश्नुते ॥ १४० ॥

इदं प्रत्यक्षीभूतं अनन्तानां अतीतानागतवर्तमानकालापेक्षया अनन्तसंख्यानां अर्हतां श्रीमद्भगवद्दृष्टवर्षानां अष्टोत्तरं अष्टाधिक सहस्रं दशशतप्रमाणं यः पुमान् आसन्नमव्यजीवः भक्तितः परमधर्मनुरागेण विनयतः अधीते पठति असौ भव्यजीवः मुक्त्यन्तां मुक्तिरन्ते यस्याः साः मुक्त्यन्ता, तां मुक्तिं अभ्युदयलक्ष्मीमोगं अश्नुते भुंक्ते, संवारे उत्तमदेशोत्तममनुष्यपदस्य अभ्युदयसौख्यं भुक्त्वा मोक्षसौख्यं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

इदं लोकोत्तमं पुंसामिदं शरणमुत्त्वणम् ।

इदं मंगलमप्रीयमिदं परमपावनम् ॥ १४१ ॥

इदमेव परं तीर्थमिदमेवैष्टसाधनम् ।

इदमेवाखिलक्लेशसंक्लेशक्षयकारणम् ॥ १४२ ॥

इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं लोकोत्तमं अर्हल्लोकोत्तमसिद्धलोकोत्तमसाधुलोकोत्तमकेवलप्रशस्तधर्मलोकोत्तमवत् । इदं जिनसहस्रनामस्तवनमेव लोकोत्तमं शतव्यं अर्हत्सिद्धसाधुधर्मलोकोत्तमवत् अनुसरणीयमित्यर्थः । पुंसा भव्यजीवानां इदं शरणं, अर्हच्छरण-सिद्धशरण-साधुशरण-केवलिप्रशस्तधर्मशरणवत् । इदं जिनसहस्रनामस्तवनमेव शरणं अस्तिमथनसमर्थं शतव्यम् । अर्हत्सिद्धसाधुधर्मशरणवदनुसर्तव्यमित्यर्थः । शरणं कर्मभूतं उल्लेखं उक्तिम् । इदं मंगलमप्रीयं—इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं मंगलं मं मलं पापं अनन्तमवोपावर्तितमशुभं कर्म गालयतीति मंगलम् । अथवा मंगं सुखं अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणं लाति ददातीति मंगलम् । अर्हन्मंगल-सिद्धमंगल-साधुमंगल-केवलिप्रशस्तधर्ममंगलवत् इदं जिनसहस्रनामस्तवनमेव मंगलं शतव्यम् । कर्मभूतं मंगलम् ? अप्रीयं—अप्राय त्रैलोक्यशिखरया मोक्षाय हितं

अग्रीयं मुख्यं मंगलमित्यर्थः । इदं परमपावनम्—इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं परमपावनं परमपवित्रं, तीर्थं परमदेवपंकौ मानुषमात्रस्यापि स्थापकमित्यर्थः । इदमेव परं तीर्थम्—इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव परमुत्कृष्टं तीर्थं संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं—अष्टापद्-गिरिनार-चम्पापुरी-पाषाणपुरी-अयोध्या-शत्रुघ्न-नुक्कीगिरि-गजध्वजापरनाम-नाभेयसीमापरनाम-गजपंथ-चूलगिरि-सिद्धकूट-भेदगिरि-तारा-गिरि-पाषाणगिरि-गोमट्टस्वामि-भाणिक्यवेश जीरावलि-रेवातट-रत्नपुर-हास्तिनपुर-भारत-खसी-राजशृङ्गादिसर्वतीर्थकर्मक्षेत्रस्थानातिशयक्षेत्रदर्शन-यात्राकरणपरमपुण्यदानपूजादिसमुद्भूतसुकृतदानसमर्थमित्यर्थः । इदमेवेष्टसाधनम्—इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव इष्टसाधनं मनोऽभीष्टवस्तुदायकम् । इदमेवाखिलक्लेशसङ्केशक्षयकारणम्—इदमेव इदं जिनसहस्रनामस्तवनमेव अखिलानां शारीर-मानसागन्धु-कानां क्लेशानां दुःखानां संक्लेशानामार्चरौद्रध्यानानां क्षयकारणं विभ्रंशविधायको हेतुरित्यर्थः ॥१४१-१४२॥

एतेषामेकमप्यर्हन्नाम्नामुच्चारयन्नधैः ।

मुच्यते किं पुनः सर्वाण्यर्थं हस्तु जिनायते ॥१४३॥

एतेषां पूर्वोक्तानां अष्टाधिकसहस्रसंख्यानां अर्हन्नाम्नां श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वशरीर्यंकरपरमदेवानां मध्ये एकमपि नाम उच्चारयन् जिह्वाग्रे कुर्वन् पुमान् अधैः अनन्तजन्मोपाजितपापैर्मुच्यते परिह्रियते परित्यज्यते । किं पुनः सर्वाणि—यः सर्वाणि अर्हन्नामानि अष्टाधिकैकसहस्रसंख्यानि उच्चारयति पठति भक्तिपूर्वमधीते स पुमान् पापैर्मुच्यते इति किं पुनश्च्यते, सर्वाणि नामान्युच्चारयन् पुमान् मध्यबीवोऽनन्तमवोपाजित-महापातकैरपि मुच्यते एजात्र संदहो न कर्तव्यः । अर्थं हस्तु जिनायते—तुशब्दो भिन्नप्रक्रमे । अष्टाधिक-सहस्रान्नां यो विद्वज्जनशिरोरत्नं अर्थं जानाति अर्थज्ञः स पुमान् जिनायते—जिन इवाचरति जिनायते । उपमानादाचारे, आद्यन्ताच्चेति सूत्रद्वयेन क्रमादायिप्रत्ययः आत्मनेपदं च सिद्धम् । स पुमान् सदृष्टिभिर्गुणव-द्भिर्दानपूजातपश्चरणाशरीर्महामव्यवशरपुण्डरीकै रामस्वामिपाण्डवसमानैर्चर्मानुरागयज्ञितहृदयकमलैः सर्वशरीरतपागवन्मान्यत इत्यर्थः ।

इति सूत्रश्रुतिसागरविरचितायां जिनसहस्रनामटीकायामन्तकच्छत-

विवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥



टीकाकारस्य प्रशस्तिः

अर्हन्तः सिद्धनाथास्त्रिविधमुनिजना भारती चार्हतीश्या

सहन्वः कुन्दकुन्दो विभुषजनहृदामन्दनः पूष्यपादः ।

विद्यामन्दोऽकलंकः कलिमलहरणः श्रीसमन्तादिभद्रो

भूयान्मे भद्रबाहुर्भवभयमथनो मंगलं गौतमादिः ॥ १ ॥

श्रीपद्मानन्दिपरमात्मपरः पवित्रो देवेन्द्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवन्द्य ।

विद्यादिनन्दिचरसूरिनरवपुत्रोः श्रीमच्छिष्यव्य इतोऽस्तु च मंगलं मे ॥ २ ॥

अथः पट्टे भद्राधिकमतवटाघट्टनपट्टः

घट्टकर्मभ्यानः स्फुटपरमभट्टारकपदः ।

प्रभापुञ्जः संयद्विजितचरवीरस्मरनरः

सुधीर्लक्ष्मीचन्द्रश्रव्याचतुरोऽसौ विजयते ॥ ३ ॥

आलम्बनं सुविदुषां हृदयाम्बुजानामानन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिहेतोः ।

सटीकनं विविधशास्त्रविचारचारुचेतश्चमत्कृति कृतं श्रुतसागरेण ॥ ४ ॥

श्रीश्रुतसागरकृतिचरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितम् ।

जन्मजरामरव्यहरं निरन्तरं तैः शिवं लब्धम् ॥ ५ ॥

अस्ति स्वस्तिसमस्तसंघटिलके श्रीमूलसंघेऽनघं

वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिष्यदं संसेवितं साधुभिः ।

विद्यानन्दिगुरुस्त्वहास्ति गुणवद्गच्छे गिरः साम्प्रतं

तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नन्दतु ॥ ६ ॥

॥ इति श्रीश्रुतसागरी टीका समाप्ता ॥



परिशिष्ट

प० आशाधरजीके प्रस्तुत जिनसहस्रनामका नवां शतक दार्शनिक दृष्टिसे बहुत महत्वपूर्ण है, यह बात प्रस्तावनामें बतला आये हैं। इस शतकके सौ नामोंमें से केवल तीन नाम छोड़कर शेष सत्तानवे नाम बौद्ध, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, चार्वाक और वेदान्तियों जैसे प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिकोंके ही हैं। प० आशाधरजीने इन नामोंकी निरुक्ति करके किस पाण्डित्यके साथ उनका अर्थ बदल कर जिनेन्द्र-परक अर्थका उद्घाटन किया है, यह उनकी स्वोपन्न विधुत्ति और श्रुतसागरी टीकाके देखनेसे ही भली-भांति ज्ञात हो सकेगा। श्रुतसागरसूरिने अपनी टीकामें उक्त दार्शनिकोंके द्वारा माने गये देव, तत्त्व, प्रमाण, वाद और मोक्षकी भी चर्चा की है। जो पाठक संस्कृत भाषासे अपरिचित हैं, उनकी जानकारीके लिए यहां संक्षेपमें उक्त विषयों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है—

(१) भगवान् महावीरके समयमें हुए गौतमबुद्धके अनुयायियोंको बौद्ध कहते हैं। बौद्धोंने गौतमबुद्धको ही अपने इष्ट देवके रूपमें स्वीकार किया है। बुद्धने दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध-रूप चार तत्त्व माने हैं, जिन्हें कि चार आर्यसत्य कहा जाता है। नानाप्रकारके संकल्प-विकल्पोंके अनुभवको दुःख कहते हैं। बौद्धोंने रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार नामसे दुःखकी पांच जातियां मानी हैं, जो पंचस्कन्धके नामसे प्रसिद्ध हैं। बौद्धमतमें जिस प्रकार वेदना दुःख है, उसी प्रकार विज्ञान, संज्ञा, संस्कार और चित्र-विचित्र स्वरूप रूपको भी दुःख माना है, क्योंकि ये सब अशान्ति या क्लेशरूप ही हैं। इस प्रकारके विचारको दुःख नामका आर्यसत्य कहते हैं। “यह मैं हूँ, और यह मेरा है” इस प्रकारके राग और यह पर है, यह परका है, इस प्रकारके द्वेषके समुदायको समुदयनामका आर्यसत्य कहते हैं। सर्व संस्कार क्षणिक है, इस प्रकारकी नैरात्म्य वासनाको मार्ग या मोक्षमार्ग नामका आर्यसत्य कहते हैं। सर्व प्रकारके संस्कारोंके अभाव होने को निरोध कहते इसीका दूसरा नाम मोक्ष है, यह चौथा आर्यसत्य है। बौद्धोंका सारा दर्शन या तत्त्वज्ञान इन चार आर्यसत्योंमें ही निहित है। वे प्रत्यक्ष और अनुमानरूप दो प्रमाण मानते हैं। बौद्धमत क्षणिकै-कान्तवादी है, अतएव आत्मा नामका कोई स्थायी या नित्य पदार्थ उनके यहां नहीं है। वे मोक्षको भी दीपक बुझ जानेके समान शून्यरूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि बुझनेवाला दीपक न आकाशमें जाता है, न पतालमें जाता है और न इधर-उधर पृथिवी पर ही कहीं जाता है। किन्तु शून्यतामें परिणत हो जाता है, इसीप्रकार ज्ञान-सन्तान भी मुक्त होती हुई ऊपर-नीचे या इधर-उधर कहीं नहीं जाती है, किन्तु शून्यतामें परिणत हो जाती है। उपर्युक्त चार आर्यसत्योंके बक्ता होनेसे बुद्धको चतुरार्यसत्यबक्ता कहा जाता है।

(२) योग दर्शनके दो भेद हैं, वैशेषिक दर्शन और नैयायिक दर्शन। दोनों ही दर्शनकार शिवको अपना इष्ट देव मानते हैं, और उसे ही जगत् का कर्ता हर्ता कहते हैं। इतनी एकमात्र समता दोनों दर्शनों में है किन्तु तत्त्वव्यवस्था दोनों में भिन्न भिन्न है। वैशेषिक दर्शनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायरूप छह पदार्थ माने गये हैं। द्रव्यके नौ भेद माने हैं—पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा; आत्मा और मन। इस मतमें आत्मानामक द्रव्यसे ज्ञानादि गुणोंको सर्वथा भिन्न माना गया है। ये लोक समवाय सम्बन्ध नामके एक स्वतंत्र पदार्थकी कल्पना करके उसके द्वारा द्रव्य और गुणका सम्बन्ध होना मानते हैं। इस मतमें गुणके २४ भेद माने हैं।—स्पर्श, रस, गन्ध, बर्ण, शब्द, संख्या, संयोग, वियोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, स्नेह, योग, गुरुत्व, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। उत्तरेण, अवक्षेपण, आङ्गुचन, प्रसारण और गमनके भेदसे कर्म पांच प्रकारका है। पर और अपरके रूपसे सामान्यके

दो भेद हैं। नित्य द्रव्योंमें रहनेके कारण विशेषके अनन्त भेद हैं। समवाय एक ही रूप है। वैशेषिक दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार प्रमाण माने गये हैं। यह मत नित्यानित्यैकान्तकान्तवादी है। इसके अनुसार दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञानका उत्तरोत्तर अभाव मोक्षमार्ग और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार रूप नौ आत्मिक-गुणोंका अत्यन्त उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है। इनके मतानुसार मोक्षमें जैसे दुःखका अभाव है, वैसे ही सुखका भी अभाव है। यहां तक कि मोक्षमें ज्ञानका भी अभाव रहता है।

(३) नैयायिक दर्शनमें सोलह पदार्थ माने गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल जाति, और निग्रहस्थान। इस मतमें इन सोलह तत्त्वोंके ज्ञानसे दुःखका नाश होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति मानी गई है।

(४) कपिलके द्वारा प्रतिपादित मतको सांख्य दर्शन कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं। एक भेदवाले तो ईश्वरको मानते हैं, पर दूसरे भेदवाले ईश्वरको नहीं मानते हैं। कपिलने तत्त्वके पचीस भेद निरूपण किये हैं—प्रकृति, महान्, अहंकार, ये तीन, स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दरूप ५ तन्मात्राद्यं, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये ५ ज्ञानेन्द्रियां, वाक्, पाणि (हस्त) पाद (पैर) पायु (टट्टीका द्वार) उपस्थ (मूत्रका द्वार) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाशरूप पाँच भूत और पुरुष। इनमें से एकमात्र पुरुष या आत्मा चेतन है और शेष चौबीस तत्त्व अचेतन हैं। एक पुरुषको छोड़कर शेष तेईस तत्त्वों की जननी प्रकृति है, क्योंकि उससे ही उन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। सांख्य दर्शनमें पुरुष या आत्माका अमूर्त, अकर्ता, और भोक्ता माना है। इस मतमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने हैं। यह मत सर्वथा नित्यैकान्तवादी है। पचीस तत्त्वोंके ज्ञानको मोक्षमार्ग कहते हैं। जन्मक प्रकृति और पुरुषका संयोग बना रहता है, तब तक संसार चलता है और जब दोनों पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, तब पुरुषका मोक्ष हो जाता है। सांख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुषके संयोगसे संसार चलता है। इन दोनोंके संयोगको अंधे और पंगु पुरुषके संयोग की उपमा दी गई है। जिस प्रकार अन्धा चल सकता है, पर देख नहीं सकता और पंगु देख सकता है पर चल नहीं सकता। किन्तु दोनोंका संयोग दोनोंकी पारस्परिक कमीको पूरा कर देता है, इसी प्रकार स्वतंत्र रूपसे प्रकृति और पुरुष भी अपांग है, किन्तु दोनोंके संयोगसे संसार चलता है। जब विवेक प्राप्त होने पर पुरुषसे प्रकृतिका संयोग छूट जाता है, तब पुरुषको मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

(५) मीमांसक लोग सर्वज्ञता-युक्त किसी पुरुष-विशेषको देव नहीं मानते हैं। वे लोग वेदको ही प्रमाण मानते हैं, और वेद-वाक्योंसे ही पदार्थका यथार्थ बोध मानते हैं। इस मतमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने गये हैं। मीमांसक नित्यानित्याद्येकान्तवादी हैं। इनके मतानुसार वेद-विहित यज्ञादिका अनुष्ठान करना ही मोक्षमार्ग है और नित्य, निरतिशय सुखकी अभिव्यक्ति होना ही मुक्ति है।

(६) जो लोग पुण्य, पाप, ईश्वर, आत्मा आदिका अस्तित्व नहीं मानते हैं, उन्हें नास्तिक कहते हैं। इनके मतमें पृथिवी, जल, अग्नि और वायु, ये चार भूतरूप तत्त्व माने गये हैं। इनका कहना है कि जिस प्रकार अनेक पदार्थोंके समुदायसे मद् उत्पन्न करनेवाली एक शक्तिविशेष उत्पन्न हो जाती है, जिसे कि मदिरा कहते हैं, उसी प्रकार भूत-भूतपृथक्के संयोगसे एक जीवन-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसे कि लोग जीव, आत्मा आदि कहते हैं। जब आत्मा नामका कोई पदार्थ है ही नहीं, तो परलोक या पुण्य-पापकी क्यों चिन्ता की जाय? क्यों न आरामसे रहा जाय और जीवन-पर्यन्त भोगोंका आनन्द लूटा जाय।

जिनसहस्रनामकी अकाराद्यनुक्रमणिका

प्रथम अङ्क शतक या अध्यायका और द्वितीय अंक नाम-संख्याका बोधक है ।

अ		अक्षीयान्	१०, ४४
अकर्त्ता	६, ५६	अक्षु	१०, ४३
अकलाघर	७, ६६	अत्यन्तनिर्दय	१०, ८६
अक्रमवाक्	४, ४६	अत्यन्तशुद्ध	१०, ६३
अक्रिय	६, ६१	अत्रभवान्	३, ११
अकृत्रिम	१०, ६१	अतिजागरूक	१०, ५७
अक्षप्रमाणा	६, ४७	अतिस्तुस्थित	१०, ५८
अक्षय	१०, ६५	अतीन्द्रिय	२, ७६
अक्षय्य	७, ६८	अर्धवाक्	४, २७
अक्षर -	७, ८५	अद्वयवादी	६, १६
अक्षुद्	१, ८१	अदीक्षक	१०, ६३
अक्षोभ्य	६, ५२	अदीक्ष्य	१०, ६२
अखिलार्थहक्	२, ११	अदीक्षित	१०, ६४
अग्रद	१, ८५	अदह	१००३
अग्रमक	१०, ६७	अद्वेष	१, ८२
अग्रम्य	१०, ६६	अद्वैतगो	४, ४६
अग्रुण	१०, ३८	अधर्मधक्	६, ८४
अग्रणी	५, ६१	अधिदेव	५, २५
अग्रयाजक	३, ७६	अधिप	५, १६
अग्नि	७, १०	अधिपति	५, १५
अचलास्थिति	२, ६८	अधिभू	५, २०
अचलौष्ठवाक्	४, ३८	अधिराट्	५, ३३
अचिन्त्यवैभव	२, ८४	अधीश	५, १०
अचिन्त्यात्मा	२, ६१	अधीश्वर	५, ६
अच्युत	८, ४०	अधीशान	५, ११
अच्छेत्ता	७, ८६	अधीशिता	५, १२
अच्छेद्य	५, ८५	अर्धनारीश्वर	८, ५६
अज	८, १५	अर्धमागधीयोक्ति	४, २८
अजन्मा	१, ६३	अधोक्षण,	८, ३४
अजम्य	५, ८१	अन्धकाराति	८, ६५
अजाग्रत्	१०, ३२	अन्तकृत्	१०, १
अजित	७, २६	अन्त्यक्षयसत्ता	१०, ७८
अजीवन्	१०, ३०	अग्निपरिग्रह	१०, ८६

अनमिहोनी	१०, ८७	अमूर्त	६, ५८
अनघ	१, ७६	अमृत	{ १०, ३१ ३, ७१
अनष्टुप्रिय	१०, ४५	अमृतोद्भव	६, ४४
अनन्तग	६, १००	अमेयमहिमा	१०, ६२
अनन्तचित्	२, ६०	अमोघवाक्	४, ४५
अनन्तजित्	७, ३८	अयज्य	१०, ८४
अनन्तधी	२, ५५	अयाज्य	१०, ८५
अनन्तमुत्	२, ६१	अयाजक	१०, ८३
अनन्तविक्रम	२, ५	अयोगी	१०, ३६
अनन्तवीर	७, ७६	अर	७, ४२
अनन्तवीर्य	२, ६	अरमक	१०, ६६
अनन्तशक्ति	२, ५७	अरम्य	१०, ६८
अनन्तसुखात्मक	२, ७	अरत्यतीत	१, ६७
अनन्तलौख्य	२, ८	अर्घवाक्	३, १६
अनन्तात्मा	२, ५६	अर्हन्	३, ३
अनन्तानन्तधीशक्ति	२, ५६	अरिजित्	१, ७०
अन्वय	६, २६	अरिजय	६, ७३
अनादिनिधन	८, ६६	अलक्ष्यात्मा	२, ६७
अनाश्वान्	६, ७८	अव्यक्त	२, ८२
अनिल	८, ८६	अव्यय	७, ८०
अनीश्वर	५, ४७	अवर्णागी	४, ४२
अनेकान्तादिक्	४, ३०	अवाक्	४, ४८
अपचारकृत्	१०, ७६	अवाच्यानन्तवाक्	४, ४७
अपुनर्भव	१००४	अव्याहृतायवाक्	४, २५
अपूर्ववैद्य	६, ८१	अविद्यासंस्कारनाशक	१०, ४०
अपौरुषेयवाक्लास्ता	४, ३६	अवेद	१०, ८२
अप्रकृति	६, ७७	अशात्मक	१०, ६१
अप्रतर्क्यात्मा	२, ७०	अशिष्य	१०, ६०
अप्रतिघ	५, ६४	अरोपवित्	२, १५
अप्रतिक्रम	६, ७	अष्टमंगल	३, १००
अप्रतिशासन	४, २१	अष्टादशसहस्ररीलाश्व	१०, ७२
अप्रयत्नोक्ति	४, ३४	असंग	१, ८८
अञ्जभू	८, ६	असुप्त	१०, ३३
अभयकर	५, ६७	असुरध्वंसी	८, ३१
अभव	६, ६७	अस्तपरलोक	६, ६२
अभिनन्दन	७, २८	अस्तसर्वश	६, ८२
अमर	१, ६६	अस्वप्न	१, ६१
अमलाम	७, ८	अस्वसंविदितरानवादी	६, ४४
अमितप्रभ	२, ६२		

श्री	पृ.	श्री	पृ.
आशार्यान्त्रकृतासेव	३, ५७	एकान्तध्वान्तामिव्	४, ३१
आशासिद्ध	४, ८८	एकी	६, १८
आनन्द	२, १६	श्रीषषीश	८, ८२
आत्मनिकेतन	२, ३६		
आत्मभू	८, ७	कर्त्ता	५, ४८
आत्ममहोदय	२, ३५	कन्दर्प	७, ७२
आत्मा	६, ५०	कपाली	८, ४६
आराध्य	३, १७	कपिल	६, ४०
आरूढमङ्कति	६, ७४	कमलासन	८, ५
		करणनायक	६, १६
इद्धवाक्	४, २६	कर्ममर्माविव्	१, ७७
इन	५, १७	कर्मसाक्षी	२, ६५
इन्द्र	५, १८	कर्महा	१, ७८
इन्द्रस्यन्तपितृक	३, ५५	कलानिधि	८, ८३
इष्टपावक	६, ८६	कवीन्द्र	४, ६६
		कृतु	३, ६६
ईश	५, १४	कुन्धु	७, ४१
ईश्वर	५, ८	कुबेरनिर्मितास्थान	३, ६१
ईशान	५, १६	कुमुदवान्धव	८, ८७
ईशिता	५, १३	कूटस्थ	६, ६४
ईहापितवाक्	४, ३७	कृतकृतु	६, ८८
		कृतकृत्य	६, ८७
उत्तमजिन	१, ६८	कृती	६, ८०
उदयदेव	७, ५६	कृतार्थितराचीहस्त	३, ५१
उदक	७, ६१	कृप्या	७, २०
उद्धर	७, ६	केवल	२, ८१
उद्भूतदेवत	३, ३५	केवलालोक	२, ७८
उदितोदितमाहात्म्य	१०, ५६	केवली	२, ७७
उमापति	८, ५५	केराव	८, ३६
उत्सन्नयोग	१०, ६	कृष्णकैकमुलक्षय	६, १३
उत्साह	७, १५	ज्ञानत	७, ६६
		क्षीरक्षीरी	४, ५४
शुद्धीश	५, ६६	क्षेत्रज्ञ	६, ४६
शुद्धि	६, २२	क्षीपिष्ठ	१०, ७७
एकदंडी	१०, १६	ख्याति	६, ७३
एकविध	२, ४८		
एककर्मस्वास्वाद	१०, २८	गणनाथ	८, ७०

गति	५, ६६	जगद्गुरु	३, ८७
गन्धाम्बुपूतनैलोक्य	३, ४६	जगदिकापितामह	६, ६८
गर्भोत्सवोच्छ्रत	३, २७	जगद्धित	५, ८०
ग्रामाधी	५, ६२	जगन्नाथ	५, ४०
गिरांपति	४, ८५	जगत्पति	५, ३७
गीर्मनोयोगकार्यक	१०, १४	जगत्पूज्य	३, ८१
गुणाकर	६, ८६	जगत्प्रभु	५, ४१
गुणाम्भोधि	६, ६०	जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त	४, ६०
गुणोच्छेदी	६, ६०	जनार्दन	८, ४५
गुण्य	६, ७०	जय	७, ६३
गुण्युति	६, ६३	जयनाथ	७, ७२
		जयदेव	७, ५८
घातिकर्मान्तक	१, ७६	जयध्वजी	३, ६०
		जितेन्द्रिय	६, १३
		जिन	१, १
चक्रपाणि	८, ४३	जिनकुंजर	१, ३६
चन्द्रप्रभ	७, ३२	जिनग्रामाधी	१, ५८
चतुर्भूमिकशासन	६, २३	जिनचन्द्र	१, ३३
चतुर्मुख	८, २	जिनज्येष्ठ	१, ६४
चतुरशीतिलक्षगुण्य	१०, ३७	जिनदेव	१, २४
चतुर्ग्यसत्यवक्ता	६, २४	जिनधुर्य	१, ३६
चतुःषष्टिचामर	३, ६२	जिनधौरैय	१, ३८
चारणार्पितोत्सव	३, ४३	जिननाग	१, ५५
चार्याक	६, ८८	जिननाथ	१, १०
चित्रगु	४, ५८	जिननायक	१, २१
चित्रगुप्त	७, ६६	जिननेता	१, १८
चित्रमानु	८, ७८	जिनप	१, २७
चेतन	६, ५४	जिनपति	१, ११
		जिनपरिवृद्ध	१, २३
छत्रत्रयराट्	३, ६५	जिनपालक	१, ३२
छायानन्दन	८, ६७	जिनपुङ्गव	१, ५२
		जिनपुरोगम	१, ६२
जगच्चक्षु	२, ६६	जिनप्रष्ट	१, ४
जगजयी	५, ६०	जिनप्रभु	१, १४
जगजिष्णु	५, ५६	जिनप्रवर्ह	१, ६०
जगज्जेता	५, ५७	जिनप्रवेक	१, ५७
जगज्जेत्र	५, ५८	जिनभर्ता	१, १६
जगत्कर्ता	८, ६४	जिनमुख्य	१, ६५
जगदर्चित	३, ८३	जिनराज	१, १२

परिशिष्ट

२६५

जिनराट्	१, ३	जिनोत्तंश	१, ५४
जिनरत्न	१, ४७	जिनोरस	१, ४८
जिनवर	१, ४२	जिष्णु	५, ४६
जिनवर्य	१, ४१	जीवधन	१००६
जिनाधिभु	१, १५	जेता	५, ४५
जिनवृन्दारक	१, ६६	ज्ञाता	६, ६५
जिनवृष	१, ४६	ज्ञानकर्मसमुच्चयी	१०, ७
जिनशार्दूल	१, ५०	ज्ञानचैतन्यभेददृक्	६, ४३
जिनशाखिता	१, २६	ज्ञाननिर्भर	१०, १००
जिनश्रेष्ठ	१, ६३	ज्ञानमति	७, २१
जिनर्षभ	१, ४५	ज्ञानसंशक	७, १६
जिनसत्तम	१, ५६	ज्ञानान्तराध्यक्षबोध	६, ३४
जिनसिंह	१, ४३	ज्ञानैकचित्	१००५
जिनस्वामी	१, ८		
जिनहंस	१, ५३	तटस्थ	६, ६३
जिनार्क	१, ३५	ततोदीर्घायु	३, १५
जिनाप्रणी	१, ५६	तत्रभवान्	३, १०
जिनाप्रथ	१, ५१	तत्रायु	३, १४
जिनाप्रिम	१, ६६	तथागत	६, ५
जिनादित्य	१, ३४	तनूनपात्	८, ७६
जिनाधिनाथ	१, ३०	तारकजित्	८, ६६
जिनाधिप	१, ६	तन्त्रकृत्	४, ६५
जिनाधिपति	१, ३१	त्रयीनाथ	४, ८३
जिनाधिभू	१, १७	त्रयीमय	८, १६
जिनाधिपराज	१, २६	त्रयोदशकलिप्रणुत्	१०, ८१
जिनाधिराट्	१, १३	त्रिजगत्परमेश्वर	५, ८२
जिनाधीश	१, ७	त्रिजगन्मंगलोदय	५, ८६
जिनेट्	१, २२	त्रिजगद्बल्लभ	५, ८७
जिनेन	१, २०	त्रिदण्डी	१०, ५
जिनेन्द्र	१, २	त्रिभुवनेश्वर	५, २८
जिनेन्दु	१, ३७	त्रिमंगीश	४, ८४
जिनेश	१, ४६	त्रिपुरान्तक	८, ५८
जिनेश्वर	१, ६	त्रिप्रभाण	६, ४६
जिनेशान	१, १६	त्रिलोचन	८, ५४
जिनेशिता	१, २५	त्रिविक्रम	८, २१
जिनेशी	१, २८	त्रिषष्टिजित्	१, १००
जिनोत्तम	१, ५	तीर्थंकर	४, ३
जिनोत्तर	१, ४०	तीर्थंकर	४, ४
जिनोद्ग्रह	१, ४४	तीर्थकर्ता	४, ६

त

तीर्थकारक	४, १२	ददवत	७, ६३
तीर्थकृत्	४, १	ददात्मदक्	२, ४७
तीर्थकृत्वगी	५, ५५	ददीयान्	५, ६६
तीर्थनायक	४, ६	देव	५, २७
तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत्	४, ७७	देवदुन्दुभि	३, ६३
तीर्थप्रयेता	४, ११	देवदेव	३, ८६
तीर्थप्रवर्तक	४, १३	देवर्षीष्टशिषोद्यम	३, ५८
तीर्थभर्ता	४, ७	देवाधिदेव	३, ८४
तीर्थविधायक	४, १५	देहा	४, ७८
तीर्थविधा	४, १४	देहा	६, ६२
तीर्थसूट्	४, २	देव्यसिद्ध	१००२
तीर्थसेव्य	४, १७	दंडिताराति	१०, ६
तीर्थप्राप्त	१०, ३	द्वादशात्मा	६, ७४
तीर्थेश	४, ८	द्वासप्ततिप्रकृत्याशी	१०, ८०
तीर्थेशमन्यदुग्धाब्धि	३, ४७	द्विजराज	८, ८०
दुच्छामावभित्	६, २६	द्विजराजसमुद्रव	८, १००
दुह	५, ८८	द्विजाराध्य	८, ७६
तैथिकतारक	४, १८	धर्म	७, ३६
पुटल्कर्मपारा	१०, २६	धर्मचक्रायुध	५, ६०
त्रैलोक्यनाथ	५, ३८	धर्मचक्री	२, ७१
त्रैलोक्यमङ्गल	५, ६२	धर्मतीर्थकर	४, १०
दत्त	७, ७	धर्मदेशक	४, ८१
दयाध्वज	६, ४१	धर्मध्याननिष्ठ	६, १५
दयायाग	३, ८०	धर्मनायक	५, ६५
दशबल	६, २	धर्ममूर्ति	६, ८३
दान्त	६, ४८	धर्मराज	८, ६२
दिगम्बर	७, ८६	धर्मवृत्तायुध	६, ५१
दिव्यगी	४, २३	धर्मशासक	४, ८०
दिव्यध्वनि	४, २४	धर्मश्रुति	४, ६६
दिव्यबाद	७, ७५	धर्मसाम्राज्यनायक	५, १००
दि-वारोक	३, ६७	धर्मसारथि	७, ८२
दिव्योपचारोपचित	३, २८	धर्माध्यक्ष	६, ४०
दिव्योज	३, २३	धात	८, ३
दीक्षाक्षणाध्वजगत्	३, ५६	धारखाशीश्वर	६, १४
दुन्दुभिस्वन	४, १००	धीर	५, ७६
दुराधर्ष	५, ७६	ध्रुवश्रुति	४, ७२
दुर्णयान्तकृत्	४, ३२	नक्षत्रनाथ	८, ८४
हरिःशुद्धिगणोदप्र	३, २०	नमि	७, ४५

ध

द

न

नयोत्तुंग	७, ६४	निर्विघ्न	१, ७१
नयौषयुक्	६, १००	निर्वचनीय	१०, ४२
नर	६, ५२	निर्विशेषगुणामृत	६, ३७
नरकान्तक	८, ४१	निर्विषाद	१, ६६
ना	६, ५३	निःकलंक	७, ६५
नाथ	५, १	निश्चिन्त	१, ६८
निगुंश	६, ५७	निःश्रम	१, ६२
निर्ग्रन्थनाथ	६, २०	निष्कल	३, ३०
निर्जर	१, ६५	निष्कषाय	७, ६५
नित्यानन्द	२, २०	निष्ठ	१०, ४६
निर्द्वन्द्व	६, ६८	निस्तमस्क	१, ७४
निर्निमेष	६, ६१	निःस्वेद	१, ६४
निःपीतानन्तपर्याय	१०, ३६	नृत्यदेरायतासीन	३, ४०
निःप्रमाद	६, ६	नेता	५, ६३
निर्वन्धन	६, ६६	नेमि	७, ४६
निर्भव	१, ८६	नेःकर्म्यसिद्ध	१०, २२
निर्भ्रमस्वान्त	६, ३६	नैयायिक	६, ३१
निर्मद	१, ८४	नैरात्म्यवादी	६, १८
निर्मम	१, ८७	न्यद्वहक्	२, १२
निर्मल	७, ६८	न्यायशास्त्रकृत्	४, ६६
निर्मोक्ष	६, ६६		
निर्मोह	१, ८३	पति	५, २
निःशतकालगु	४, ६३	पद्मनाभ	८, ४४
निरालोक	७, ६०	पद्मप्रभ	७, ३०
निराबाध	२, ६६	पद्मभू	३, २६
निरारेक	७, ६१	पद्मथान	३, ८६
निराश्रय	६, ६२	पर	५, ४३
निराश्रयचित्	६, २५	परतर	५, ४४
निरुक्तोक्ति	४, ६४	परमजिन	१, ६१
निष्पलव	६, ६५	परमनिगुंश	१०, ५५
निरुपाधि	१०, ६०	परमनिर्जर	१०, २३
निरुस्तुक	५, ७८	परमनिःस्पृह	१०, ८८
निरुदात्मा	२, ४६	परमधि	६, ६६
निरौषम्य	५, ६६	परमशुक्लेश्वर्य	१०, ७५
निरंजन	१, ७५	परमलंकर	१०, २१
निलोप	६, ३८	परमहंस	१०, २०
निर्वाण	७, १	परमात्मा	२, ३६
निर्वाणमार्गदिक्	४, ७३	परमार्थगु	४, ५६
निर्विकल्पदर्शन	६, १५	परमानन्द	२, १७

परमाराध्य	३, १८	पुष्पवृष्टिभाक्	३, ६६
परमेश्वर	७, १७	पुष्पाञ्जलि	७, १३
परमेशिला	५, २४	पूजार्ह	३, ८२
परमेष्ठी	२, ४०	पूज्य	३, ८
परमोज	२, २४	पूर्यांबुद्धि	७, ६४
परमौदासिता	६, ७७	पूतात्मा	६, ४६
परत्मा	२, ३८	पूर्वदिवोपदेष्टा	८, ६६
परानन्द	२, २२	पञ्चकल्पाद्यपूर्जित	३, १६
परिवृढ	५, ३	पञ्चब्रह्ममय	२, ५१
परोक्षज्ञानवादी	६, ८५	पञ्चलप्यक्षरस्थिति	१०, ७६
परोदय	२, २३	पञ्चविंशतितन्त्रवित्	६, ४१
परंज्योति	२, २६	पञ्चस्कन्धमयात्मदृक्	६, २१
परंतेज	२, २५	पञ्चार्यवर्णक	६, ३३
परंघाम	२, २६	प्रकृति	६, ७२
परंब्रह्म	२, ३०	प्रकृतिप्रिय	६, ७५
परंमह	२, २७	प्रज्ञापारमित	७, ७६
परंरह	२, ३१	प्रज्ञीयावन्ध	६, ६७
पशुपति	८, ५६	प्रचेता	८, ६४
पाल्लडम्ब	६, ६६	प्रजापति	८, १०
पाता	५, ७०	प्रज्वलत्प्रभ	१०, २४
पारङ्कत्	१०, २	प्रतितीर्थमदम्बवाक्	४, ३५
पारैतमःस्थित	१०, ४	प्रत्यगात्म	२, ३२
पार्श्व	७, ४७	प्रत्यग्योति	२, २८
पिता	५, ४२	प्रत्यक्षैकप्रमाण	६, ६१
पुण्यजन	८, ६०	प्रधान	६, ७०
पुण्यजनेश्वर	८, ६१	प्रधाननियम	६, ६
पुण्यशंखल	१०, ७३	प्रधानभोज्य	६, ७६
पुण्यवाक्	४, २६	प्रपूतात्मा	६, ५३
पुण्यांग	३, ३३	प्रबुद्धात्मा	२, ३३
पुण्यापुण्यनिरोधक	६, ६१	प्रभविष्णु	५, ५१
पुण्डरीकाक्ष	८, २६	प्रभादेव	७, ६०
पुमान्	६, ५५	प्रभु	५, ७
पुरन्दरविद्वकर्णा	६, ६४	प्रभूष्णु	५, ४६
पुराणपुरष	७, ८१	प्रव्यक्तनिर्वेद	६, २
पुरवेव	७, ७७	प्रशान्त्यु	४, ६०
पुरष	६, ५१	प्रशान्तात्मा	२, ३७
पुरषोत्तम	८, २४	प्रश्नकीर्ति	७, ६२
पुष्ट	८०, ७१	प्राच्यामचया	६, ११
पुष्यदन्त	७, ३३	मारिचक्यु	४, ६१

प्रेयान्	१०, ३५	भूतार्थकतपूष्य	३, ७
प्रेष्ठ	१०, ४६	भूतार्थकतपुष्य	३, ६
वलिक्रमण	८, ३३	भूतात्मा	२, ७३
बहल	७, ६७	भूर्भुवःस्वरधीश्वर	५, ६४
बहिर्विकार	६, ६८	भूर्भुवःस्वःपतीकित	३, ६०
बहुचानक	६, ७१	भूमिनन्दन	८, ६५
बुद्ध	६, १	भोक्ता	६, ५६
बोधिसत्त्व	६, १४	भोगिण्य	८, ६३
ब्रह्मज्ञ	६, ४४	भौतिकज्ञान	६, ८६
ब्रह्मतत्त्ववित्	६, ४५		
ब्रह्मनिष्ठ	२, ४४	म	
ब्रह्मयोनि	६, ४२	मयवार्चित	३, ५
ब्रह्मवित्	३, ६५	मज्जिमेयी	८, ३५
ब्रह्मसम्भव	६, ५८	मनु	८, १६
ब्रह्मा	८, १	मल्लि	७, ४३
ब्रह्मो ट्	६, ८५	महतिमहावीर	७, ५२
ब्रह्मो ङ्य	३, ६४	महर्षि	६, २६
		महाकावयिक	६, ६६
भगवान्	३, २	महाकृपालु	६, १७
भट्टारक	३, ६	महाकृष्णांकुश	६, ७१
भदन्त	६, ४६	महाक्षम	६, ३४
भर्ग	८, ६२	महादम	६, ३७
भर्ता	५, ५	महादेव	५, २६
भव	८, ६१	महात्मा	२, ३४
भवान्ताक	७, ६२	महाध्यानी	६, ३२
भव्यबन्धु	५, ७७	महान्	३, १२
भव्यैकप्रव्यगु	४, ५६	महानन्द	२, २१
भामण्डली	३, ६१	महानिष्ठ	२, ४५
भाव	३, ७६	महापद्म	७, ५३
भास्वान्	३, ३४	महाबल	२, १००
भाजिष्णु	५, ५०	महाबोधि	२, ६४
भूक्तैकताध्यकर्मान्त	६, ३६	महाब्रह्मपति	६, ८६
भुवनेश्वर	५, ८६	महाब्रह्मपदेश्वर	२, ५०
भूतकोटिदिक्	६, ६	महाभाग	५, ६८
भूतनाथ	५, ६७	महाभोग	२, ६६
भूतशत्रु	५, ६८	महापति	३, ७७
भूतार्थदूर	१०, ५४	महामहार्ह	३, १३
भूतार्थभावनासिद्ध	६, २२	महाबुनि	६, ३०
भूतार्थशर	१०, ५३	महामैत्रीमय	६, ६५
भूताभिव्यक्तचेतन	६, ६०	महामौनी	६, ३१

महावश	३, ७८	यम	६, ८
महायोगीश्वर	१००१	यशोधर	७, १६
महालाम	२, ६५	योष्य	३, ६७
महागिध	२, ४६	याज्यभ्रुति	४, ६६
महावीर	७, ४६	योजनव्यापिगी	४, ५३
महाव्रती	६, ३३	योगकिट्टिनिलेपनोद्यत	१०, १२
महाशान्त	६, ३६	योगश	६, ८२
महाशील	६, ३५	योगस्लेहापह	१०, ११
महाभ्रुति	४, ६८	योगी	६, १
महाम्नाथु	७, ३	योगीन्द्र	६, २१
महालेन	८, ६८	योगीश्वरार्चित	३, ६३
महाहँ	३, ४	योग	६, २७
महिष्वाक्	४, ६७		
महिष्वात्मा	२, ४१	रत्नगर्भ	३, २५
महेश	५, २३	रुद्रवाक्	४, ४०
महेशान	५, २२	रुद्र	८, ६०
महेश्वर	५, २१	रैदपूर्णमनोरथ	३, ५६
महोदक	६, ६६		
महोदय	२, ६६	लेखर्षभ	८, ८८
महोपाय	६, ६७	लोकजित्	५, ५३
महोपभोग	२, ६७	लोकनाथ	५, ३६
महोदार्य	२, ६३	लोकपति	५, ३५
मायव	८, ३२	लोकाग्रगामुक	१००८
मानमर्दी	३, ६८	लोकाप्यत्	५, ७५
मारजित्	६, ११	लोकालोकविलोकन	२, ७६
मार्गदेशक	४, ७४	लोकेश	५, ३६
मीमांसक	६, ८१	लोकेश्वर	५, ३४
मुनि	६, २५		
मुनीश्वर	६, २६	वज्रसूचीशुचिश्रवा	३, ५०
मृत्युञ्जय	८, ५१	वरद	५, ६३
मोचकमर्	१०, २५	वर्षमान	७, ४८
मंत्रकृत्	५, ७३	वर्ष	५, ७२
मंत्रमूर्ति	६, ५५	वसुधामार्चितास्पद	३, २०
		वागस्तृष्ठासन	३, ६४
यज्ञ	३, ७२	वाग्मीश्वर	४, ७६
यज्ञपति	३, ६८	वामदेव	८, ५३
यशार्ह	३, १	वागीश्वर	४, ८२
यशस्त्र	३, ७०	वासुपूज्य	७, ३६
यति	६, २४	विकृति	६, ७६
यतिनाथ	६, २८	वितृष्य	१, ८६

य

र

ल

व

विदांवर	२, ७२	विश्वेश	५, २६
विघाता	८, ४	विश्वेश्वर	५, ३२
विनायक	१, ७१	विष्टरभवा	८, ३७
विभव	५, ८५	विष्णु	८, २०
विभावसु	८, ७५	विष्णुपदारक्षा	३, ५५
विभु	५, ६	विष्णुकलेन	८, ४२
विमल	७, ३७	वीतमत्सर	६, ५०
विमलप्रभ	७, ६६	वीतराग	१, ८०
विमलाम	७, ४	वीतविल्मय	१, ६०
विमलेश	७, १८	वीर	७, ५०
विषद्वरत्न	८, ७३	वृद्ध	१०, ४१
विश्रजा	१, ७२	वृष	५, ७१
विश्रम्य	६, ७८	वृषकेतन	८, ५७
विरूपाक्ष	८, ५२	वृषभ	७, २५
विरोचन	८, ७२	वृष्टतांपति	८, ६८
विद्विक्त	२, ८०	वृष्टद्भानु	८, ७७
विश्वकर्मा	७, ८४	वेदज्ञ	८, १२
विश्वचन्द्र	२, १४	वेदपारंग	८, १४
विश्वजित्	५, ५४	वेदांग	८, १३
विश्वजित्स्वर	५, ५६	वेदान्ती	६, ६५
विश्वज्ञ	२, ६	वेद्य	३, ६६
विश्वज्योति	२, ७५	वैकुण्ठ	८, २५
विश्वतश्चन्द्र	२, १३	वैशेषिक	६, २८
विश्वतोमुख	२, ८८	प्रताप्रयुग्य	१०, ७४
विश्वदृश	२, १०	व्यक्तवर्णगी	४, ४४
विश्वदेवागमाद्भुत	३, ३७	व्यक्ताव्यक्तशविशानी	६, ४२
विश्वनायक	७, ८८	व्यवहारसुप्त	१०, ५६
विश्वभू	७, ८७	व्योम	३, ४४
विश्वभूतेश	५, ३०		
विश्वभर	८, ३०	शकार्च्य	३, ८५
विश्वभृत्	२, ८५	शकार्च्यनन्ददृश्य	३, ५३
विश्वरूपात्मा	२, ८६	शक्रोद्बुद्धेष्टनामक	३, ५२
विश्वविजेता	५, ५५	शचीविस्मापिताम्बिक	३, ५४
विश्वविशातसंभृति	३, ३६	शचीसुष्टप्रतिच्छन्द	३, ३८
विश्वव्यापी	२, ८६	शचीसेवितमातृक	३, २४
विश्ववाकाररसाकुल	१०, २६	शतानन्द	८, १७
विश्वाल्मा	२, ८७	शब्दाद्वैती	६, ६७
विश्वामी	५, ८३	शम्भु	८, ४८
विश्वेष्ट	५, ३१	शमी	६, ६६

श

शरण्या	२, ८३	षट्पदार्थकम्	६	६ ३०
शाक्य	६, ३	षडभिन्न	६, ४	६, ४
शास्ता	६, १२	षोडशार्थवादी	६	६ ३२
शान्त	७, २४			
शान्तनायक	६, ८०	सत्कार्यवादसात्	६, ४५	
शान्ति	७, ४०	सत्यतीर्थकर	४, १६	
शिव	७, १२	सप्तमंगिवाक्	४, ४१	
शिवगण	७, १४	सत्यवाक्याधिप	४, १६	
शिवकीर्त्तन	७, ८३	सत्यशासन	४, २०	
शीतल	७, ३४	सत्यानुभयणी	४, ५१	
शुचि	६, ७२	सत्याशी	६, ७६	
शुचिभवा	४, ६३	सदाभृति	६, ७६	
शुद्ध	१, ७३	सदानन्द	२, १८	
शुद्धमति	७, २२	सदाप्रकाश	२, ६२	
शुद्धाम	७, ५	सदाभोग	६, ७५	
शुभलक्षण	५ ७४	सदायोग	६, ७४	
शुभ्रांशु	८, ८५	सदाशिव	८, ६३	
शून्यतामय	१०, ३४	सद्गु	४, ५७	
शैलेश्यलङ्कृत	१०, २७	सद्योदय	२, १६	
शौरि	८, २२	सद्योत्सव	६, ८४	
शंकर	८, ४७	सद्योजात	५, ६१	
शंभव	७, २७	सन्तानशासक	६, १६	
श्रीकण्ठ	८, ४६	सम्भति	७, ५१	
श्रीधन	६, ८	समग्रधी	२, ६४	
श्रीजिन	१, ६७	समन्तभद्र	६, ६	
श्रीधर	७, ६	समवायवशा र्थभिन्	६, ३५	
श्रीपति	८, २३	समाधिगुप्त	७, ७०	
श्रीपूतगर्भ	३, २६	समाधिघट्	६, १६	
श्रीमद्र	७, २३	समी	६, ६६	
श्रीमान्	८, ३६	समीक्ष्य	६, ३६	
श्रीयुक्	३, ६२	सर्वगत	६, ६०	
श्रीवत्सलाङ्कन	८, ३८	सर्वज्ञ	२, १	
श्रीविमल	७, ७४	सर्वज्ञेरापद्	७, ६७	
श्रीश्चलक्षण	७, १००	सर्वदर्शी	२, ३	
श्रुतिपति	४, ७०	सर्वनायामयणी	४, ४३	
श्रुतिपूत	६, ८३	सर्वनागैदिक्	४, ७५	
श्रुत्युद्धर्त्ता	४, ७१	सर्वचित्	२, २	
श्रेयान्	७, ३५	सर्वविद्येश्वर	२, ५३	
श्रेष्ठ	१०, ५०	सर्वलोकेश	५, ८४	
श्रेष्ठत्मा	२ ४२			

सर्वायुध	७, ५७	सुहृक्	४, ५
सर्वार्थसाक्षात्कारी	२, ६३	सुधारोचि	८, ८१
सर्वावलोकन	२, ४	सुनयतस्वस्व	६, ६४
सर्वीयजन्मा	३, ३२	सुनिष्ठित	१०, ५२
सहजज्योति	२, ७४	सुपारर्षक	७, ३१
सर्वशक्रनमस्कृत	३, ४१	सुतार्थबोधम	१०, १०
महत्साक्षरगुत्सव	३, ३६	सुप्रम	७, ५५
सागर	७, २	सुप्रसन्न	६, ५६
साधु	६, २३	सुमति	७, २६
साधुधैरिय	६, २७	सुस्नेह	८, ६
सामयिक	६, ५	सुविधि	७, ७८
सामयिकी	६, ४	सुव्रत	७, ४४
सामान्यलक्षणचरण	६, २०	सुभुत्	४, ६७
साम्यारोहणतत्पर	६, ३	सुभुत	४, ६५
सार्थवाक्	४, ३३	सुभुति	४, ६४
सार्थ	२, ५२	सुसिद्धवाक्	४, ६२
सारस्वतपथ	४, ७६	सुस्वमदर्शी	३, २२
सिद्ध	१००७	सुसंवृत	६, ६
सिद्धकर्मक	६, ८७	सूतगी	४, ५०
सिद्धगणातिर्थाथ	१०, ६७	सूक्ष्मकायक्रियास्थायी	१०, १७
सिद्धपुरीग्रन्थ	१०, ६६	सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थ	१०, १५
सिद्धप्रत्याहार	६, १२	सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा	१०, १८
सिद्धमंत्र	४, ६१	सूक्ष्मीकृतवपुःक्रिय	१०, १६
सिद्धवाक्	४, ८७	सूरदेव	७, ५४
सिद्धसंगोन्मुख	१०, ६८	सूरि	६, ६३
सिद्धाज्ञ	४, ८६	सोम	८, ८६
सिद्धार्थ	६, १०	संगीताई	३, ६६
सिद्धानुज	१०, ६५	संभव	७, २७
सिद्धात्मा	६, ६१	संयम	७, ११
सिद्धालिङ्ग	१०, ६६	संविदद्वयी	६, ६६
सिद्धस्वयंवर	१०, ६४	संहृतदेवसंघाट्य	३, ८८
सिद्धैकशासन	४, ८६	संहृतध्वनि	१०, ८
सिद्धोपग्राहक	१०, ७०	सांख्य	६, ३८
सिद्धिकासनय	८, ६६	स्नातक	६, ४७
सुगत	६, ७	स्नानपीठायितात्रिराट्	३, ४६
सुगति	२, ६८	स्नानाम्बुस्नातवासव	३, ८८
सुगी	४, ५२	स्मरारि	८, ५७
सुयु	४, ६२	स्थात्कारध्वजवाक्	४, ३६
सुयुतात्मा	६, ६३	स्थावादी	४, २२

स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक्

स्वज

स्वतंत्र

स्वव्यस्तपरमासन

स्वभू

स्वयंज्योति

स्वव्यग्रम

स्वयग्रम

स्वयम्बुद्ध

स्वयम्भू

स्वचौम्यात्मा

सह्य

स्वात्मनिष्ठित

स्वामी

स्थितस्थूलवपुयौग

स्थिर

सुतीरवर

सुख्य

सुखस्मरसीभाव

स्थेयान्

स्रोतवादी

हर

हरि

हवि

हर्षाकुलामरखग

हिरण्यगर्भ

हृषीकेश

हंसयान



स्वोपहृटीकागत-पद्यसूची

आद्यौ स्थानानि वर्षानां (पाणि०शि०१३)

नियमो यमश्च विहितौ (रत्नक० ८७)

पुलाक सर्पशास्त्रो

पृथुं मृदुं दृढं चैव

सत्तायां मंगले वृद्धौ

स्नातकः केवलशानी

स्यैऽप्री पवने चित्ते

६, ४८

३, ३१

६, ५७

६, १०

{ ७, ५४

{ ८, १६

७, ६०

७, ५६

५, ५२

६, ४३

७, ७१

६, ५६

८, ८

२, ४३

५, ४

१०, १३

१०, ४८

३, ७५

३, ७४

६, १७

१०, ४७

६, ६८

८, ६८

८, २८

३, ७३

३, ४२

८, ११

८, २७

८, १८

स्वोपहृटीकागत-गद्यांशसूची

आशा शिष्टिप्रदेशः

७४

श्रुपयः सत्यवचनः

७८

क्रियांसहितानि कारकाणि वा वाक्यं कथ्यन्ते

७८

स्यादि-स्यादिचयो वाक्यमुच्यते

७८

भूतिर्विभूतिरैश्वर्यम्

१२८

यावन्तो गत्यर्थाः घातवस्तावन्तो ज्ञानार्थाः

१२८

श्रुति सर्वाथप्रकाशिका

८७

सर्वे गत्यर्थाः घातवो ज्ञानार्था

६७, १०१

स्वोपहृटीका गतव्याकरण-सूत्रानुक्रमणिका

अकतरि च कारके संशयां वच् (कात० ४।५।४) ११४

अगिशुषियुवहिभ्यो निः

६६

अच्पचादिभ्यश्च (कात० ४।२।४८)

१२५

अचि इन् लोपः

५७

अजेर्वी (कात० ३।४।६१)

६४

असिद्धुसुधुक्षिणी० (शा० उ० १।१३७) १०१, ११७

अधि वशीकस्याधिज्ञानाप्ययनंश्वयंयु

१७३

अन्यत्रापि (चड्प्रत्ययः) (कात० ४।३।६२) ६२

अन्यत्रापि चेति

८४

अपरपदेऽपि कचित्सकारस्य षत्वम्

१०४

अप्राक्केशतमयोः (कात० ४।३।५१) १३१

अभिव्याप्तौ संपद्यतौ सार्तिर्वा (का० ४० १०५) १२४

अवाप्योरल्लोपः

१०२

अर्हण्यग्यः

७०

अशिलच्छिद्यिविशिभ्यः कः

६८

आतोऽनुपसर्गाकः (कात० ४।३।४) ५६, ६१,

{ ७३, १३८

आय्यन्ताच्च (कात० ३।२।४४)

१४०

इन अस्त्यथे

६०

इः सर्वघातुभ्यः

११०

इषाविकृषिभ्यो नक्

५८, ८५

इंपददुःखसुखकृष्णकृच्छ्राथेषु (का०४।५।१०२) ८८

उपसर्गं त्वा तो डः (कात० ४।२।५२) ८५, १०३

उपसर्गं दः किः

१०४

उपमानादाचारे (कात० ३।२।७)

१४०

उरः प्रधानार्थं राजादौ (कात० ४० १०६) ५६

श्रुक्कृतुवृत्त्यमिदार्थनिभ्यः उन्

५७

श्रुक्वर्षाव्यञ्जनान्ताद् व्यष् (का०४।२।३५) १३७

करस्याधिकरणयोश्च (कात० ४।५।६५) ५७, १३५

५७, १३५

कर्मण्येषु (जैनेन्द्र० २।२।१)	७०
कृत्ययुगेऽन्यथापि च (कांतं ४।५।६२)	६६
कुत्रापिचित्स्वदिसाध्यं (का० उ० ७४२)	६२
केशाद्रोऽन्यतरस्याम् (जैने० ४।१।३५)	१११
कमलश्च हात्पूर्वः	१०८
कचिन्न लुप्यते	८३
कं मुकानौ परोक्षावश्च (का० ४।४।१)	६६
गनाम्युपधा क्तिः	६२
गौरप्रधानस्यान्तस्य स्त्रियामादा०	८२
घोषवत्योश्च कृति नेट् (कांतं० ४।६।८०)	६६
ङि-भुवोः ष्णुक् (कांतं० ४।४।१६)	८७
डोऽसंज्ञायामपि (कांतं० ४।३।४७) ६१, १११, १२५	६१, १११, १२५
ड्वनुष्वात्स्विमक् (कांतं ४।५।६८)	१३५
तदस्यास्तीति मत्वं स्वीन् (कांतं० २।६।१५)	८६
तारकित्तादिदर्शनात्	१३४
तिवृत्तौ च संज्ञायामाशिपि (का० ४।५।११२)	१०१
टरोः कनिप् (कांतं० ४।३।८८)	६३
घातित्यतिमास्थान्यगुणे इत्वं, कांतं० ४।१।७६) १३४	६३ ७१ ७४
नघन्ताच्छेयाद्वा बहुव्रीहौ कः	६३ ७१ ७४
नभ्राट्नुर्पादिति (पाणि० ६।३।७५)	६६
नयतेर्ङिञ्च (उणादि० २६५)	१२५
नद्विवृतिवृत्तियविरुचिसदि० (जै० ४।३।२१६)	६०
नामिनश्चोपधायाः लघाणुःश्चः	१३५
नाम्नि स्थश्च	१२६
नाम्प्यनातौ णिनित्ताच्छील्ये (कांतं० ४।३।७६) ८२	८२
नाम्पुपधात्प्रीकृद्गमर्शां कः (कांतं० ४।२।५१)	६३
निर्वाणोऽजाते (कांतं० ४।६।११३)	६८
नंघादेर्युः (कांतं० ४।२।४६)	११२, १२५
पदि अस्मि वसि इनि०	१३३
परिवृद्धदौ प्रभुबलकतोः (कांतं० ४।६।१५)	५६
पातेर्ङिति (शाकटा० उणा० ४६७)	८४
पूजो ह्रस्वश्च सिर्मनसश्च (शाक० उ० ६६३)	१२५
पृथिव्यादिभ्य इमन् (जैने० ३।४।१२)	१३५
बृहेः कमलश्च हात्पूर्वः	२०७
भावे घञ् (कांतं० ४।५।३)	६६
भुवो बुधिसंप्रेषु च (का० ४।५।५६)	८५
भू स् अदिभ्य क्तिः	६७
मन्यतेः किरत उश्च	६२
यश् च स्त्रीननुंसकाख्या	१३२

यदुगवादिः (कांतं० २।६।११)	५७, ११६
याकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ कचिच् (का० २।५। ७) ८०	८०
याचिचिच्छिष्टच्छिद्यनि (कांतं० ४।५।६४)	७०
यथागमत्वात् मोन्तः	७८
वित्ते चञ्चयौ	६०
विपेः क्तिश्च	७३
शक्तिवहिपवर्गान्ताश्च (का० ४।२।११) १३७, १३८	१३७, १३८
श्वन् युवन् मपोनां च शौ च	७०
सम्पन्नराणामिदुती ह्रस्वादेशे	८२
समासान्तगतानां वा (कांतं० २।६।४१)	११२
सर्वधातुभ्यः इः	१०२
सर्वधातुभ्यो मन्	६७, १२४
सर्वधातुभ्यङ् (शाकटा० उ० ५६८)	१२४
सर्वधातुभ्योऽङ् (शाकटा० उ० ६ः८)	१११
स्वयम्भादेशेयश्च	६२
स्त्रियां क्तिः	७४
स्त्रियामादा	१३५
स्त्रियामादादीनां च	८२
स्वराद्यः (जैनेन्द्र० २।१।४२)	७५
स्वत्येति सुपत्वं च	८५
स्वायं शेषिक इष् (जैनेन्द्र० २।१।४२)	६०
संपूर्णे विभ्य संज्ञायाम् अच् (का० ४।३।१७)	१००

स्वोपपन्नविवृतिगत धातुपाठः

अक अग कुटिलायां गतौ	११६
अगारणवर्णमयामकणकणखन ध्वन शब्दे	१३३
अत सातल्पगमने	६७, १२४
के गै रै शब्दे	६३
डुधाञ् डुभञ् धारण-पोषणयोः	१२६
टृहि वृहि वृद्धौ	१०८
नाधु नाधु याचनं	८६
मान पूजायां	१२६
मूर्च्छा मोह-समुद्गाययोः	१२५
रिपि श्रुषी गतौ	६२
६ भूतसागरी-ट्टीकागत-सूत्रानुक्रमणिका	
अकर्तरि च कारके संज्ञायां (का० ४।५।५) १४१, १४२,	२१४, २१५
अगिगुभियुवहिभ्यो निः	१६६

अच् पचादिभ्यश्च (कातं० ४।२।४८)	{ १४१, १६६ २३४, २५३	उपमितं व्यामादिभिः (पाणि० २।१।५६)	२२१
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	उपसर्गं त्वातो डः (कातं० ४।२।५२)	१७३
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	श्रु कृतवृत्त्यभिदायार्थिभ्य उन्	१४१
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	श्रु वर्णव्यञ्जनास्ताद् व्यष् (कातं० ४।२।३५)	२५४
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	श्रु पि-वृषिभ्यां षण्वत् (शा० उ० ४१०)	२१६
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	एजेः खश् (कातं० ४।३।३०)	२१३
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कर्तरि कृत् (कातं० ४।६।४६)	२५४
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कर्मण्यष् (कातं० ४।३।१)	१५४
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	करणाधिकरणयोश्च (कातं० ४।५।६५)	१०१
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कलिषिभिभासीशस्था प्रमदां च	१७२
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कारितस्यानामिड्विकरणे (कातं० ३।६।४४)	१८८
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च (कातं० ४।५।६२)	१६७, २५२
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कुवापार्जिभिरस्वादि (उणादि १)	१८५
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	केशाद्भोऽन्यतरस्याम् (जेनेन्द्र० ४।१।३५)	२११
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कमलाच्च हात्पूर्वः	२०७
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कचित्पूर्वांऽपि लुप्यत	२१४
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	कंसु-कानौ परंदाश्च (कातं० ४।४।१)	१६१
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	गम-हन-जन-खन-घसां (कातं० ३।६।४३)	२४३
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	गुणादिष्टेयन्सौ वा (कातं० २।६।४० वृत्तिः)	{ १६८ २४६
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	गुनाभ्युपधा क्तिः	१८४
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	गारप्रधानस्यान्तस्य स्त्रियां (कातं० १। ३२)	१६०, १६६, १६६
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	घुटि चासम्बुद्धौ	२०७
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	घोषवत्याश्च कृति (कातं० ४।६।८०)	१७२, १६१, २३४
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	चण्परंदाचेक्रीयितवन्नन्तु (कातं० ३।३।७)	२३८
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	जागरुकः (४।४।४३)	२५०
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	जिघ्रसोः षणुक् (कातं० ४।४।१८)	१०४, १७५
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	जीष्वादिषिभिर्परिभु (कातं० ४।४।३७)	१७५
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	ज्यनुबन्धमतिष्ठिपूर्वाभ्यः क्त (का० ४।४।६६)	२१४
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	डोऽसंशयामपि (कातं० ४।३।४७)	{ १५५, २०३ २११, २३४
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	इनुबन्धात्त्रिमक् (कातं० ४।५।६८)	२५०
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	तदस्यास्तीति मत्वं स्वीन् (कातं० २।६।१५)	१८०
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	तद्वदिष्टेमेयसु बहुलम्	२४६
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	नारकितादिदर्शनात्	१७५, २४४, २०६
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	तिक्कृतौ च संशयामाशिषि (का० ४।५।११२)	१६६
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	तिमि षधि मदि मंदि चंदि-	२४६
अचिष्वाचिह्रस्वपि (शाक० उणादि० २६५)	१६२	तृतीयान्तभ्योः (का० २।४।२)	२५४

दधि पति परि स्थिति	(का० ४१।४।३८)	२२३
ददोऽधः	(का० ४१।१।८०)	१९६
धतिस्वमित्तास्थान्यगुणो	(का० ४१।१।७६)	२४६
दाहस्य च	(का० ४१।६।१०२)	१४१
दाभारीकृष्णयो नुः		२१७
दिवादेयन्		१४२
दीर्घश्वाभ्यासस्य		२३८
दशो कनिष्	(कातं० ४।३।८८)	४७
धातोस्ताऽन्तः पानुबन्धे	(कातं० ४।१।३०)	१६५, १७५
धुद्धातुबन्धयोः		२१४
नघन्ताच्छेषाद्वा बहुव्रीहौ कः	१४७ १५७, १६०	
नंघादेयुः	(कातं० ४।२।४६)	२१६ २३४
न भ्राट् न पात् (पाणि० ६।३।७५)		१६२
नन्दिनासिमदिदूधि		२१६
नन्यतेऽिश्च (उणादि० २६५)		२३४
ननु कर्नाचित्		१६६
नद्विद्वित्तुपिब्यधिसिद्धितानिपु		१४५
नाम्नि तमुबुधिर्भाषि (कातं० ४।३।४४)		२१०, २१३
नाम्यन्तातो िनिस्ताच्छ्लेष्ये (कातं० ४।३।७६, १८०		२१०, ११३
नामिनश्चापधाया लघोः (कातं० ३।५।२)		२१४, २५२
नामिनोवाङ्कुछु गेर्व्यञ्जनं (कातं० ३।८।१४)		२३५
नौमिन स्यश्च (कातं० ४।३।५)		२३६
नाम्युपधाप्रोक्तासां क. (का० ४।२।५१)		१४७, १७६
		१६६, २३३
नाम्यन्तयोर्धातुनिकरणयोग्यं वा (कातं० ३।५।१)		१६६
निवायोऽधते (कातं० ४।६।११३)		१६५
निष्ठा कः		२३५
नीदलित्भ्यां मिः		१६६
परिदृढद्वी प्रमुचलवतोः (का० ४।६।६५) १४३, १७२		
परि अथि नसि हनि मनि		१६६, २०६, २४८
पातेऽति (शाकटायन उणादि, ४६७)		१७२
पादे मध्ये अन्तःपद्यो वा (शाकटायन २।१।६)		२४४
पुत्रक्यात्रामिवाश्च इव-मंत्रो च		२५५
पुं क्त्राशितपुंस्काददृक् (का० २।५।१८)		२१६, ५०
पूषो ह्रस्वश्च विभक्तश्च (शाक० उणादि० ६६३)		२३५
पृथिव्यादिभ्य इमन् (जैनेन्द्र० ३।४।११२)		१५०
पञ्चमोपधाया धुटि चागुणो (का० ४।१।५५)		१७५
प्रसादित्वात् वाः		१६२, २२१

प्रशस्य धः (जै० ४।११ ११६)		१६८, २०८ २४६
प्रशंसायामिन्		२४४
प्रियस्थिरस्फुरेद्युस्वहुल शा० २।३।५२)		२४६
भावे (कातं० ४।५।१३)		१६६
भ्राज्यलङ्कृष्णसिद्धिचिह्निति (का० ४।४।१६)		१७४
भियो दल्लुको च (कातं० ४।४।५६)		१४१
मुनो बुधिराग्रेषु च (कातं० ४।४।५६)		१७२
भूत्स्त्रादिभ्यः क्रिः		१६५
भूमत् चरिततरित (शाक० उ० ७)		१६६
भनोरन्तस्थाये धुटि (का० ४।२।४४)		२३८
भन्यतेः किरत उच्च		१८५
भान्वधदानशान्त्यो (का० ३।२।३)		२३८
भूलौ घनिश्च (कातं० ४।५।५८)		२५६
यष् च स्त्री-नपुंसकाख्या		२४७
यदुगधादितः (कातं० २।६।११)		१४१, २२१
यमनतनगमां क्तौ पंचमलोपः		१७५
याकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ कचित् (कातं० २।५।२७)		२१३
याचि-विद्धि-प्रच्छि-याजि (का० ४।५।६६)		१५४
युजि-समासे नुष्ठाटि (कातं० २।२।२८)		२४३
युजशामना कान्ताः (कातं० ४।६।५४)		२३८
यिवाभिकृपियात्-चिचिचि		१६५
रयुवर्षाः (का० १।२।१०)		२०७
राजन अहन् सखि (कात० घृ० १०६)		१६६, २५३
राजिघ्रातो नोपभृच्छिन्नादि (का० ४।६।१०१)		२३५
राल्लोपौ		२३५
धर्वागमत्वान्ताऽन्तः		१६५
दन्तानं शन्तुञ्जानशाय (का० ४।४।२, १४२)		१५४
विचं चंनु-चयौ		१८३
दिशोपातिदिष्टः प्रकृतं न बाधते		२०७
विषेः किञ्च (शा० उणादि० ३।६)		१५६, २०६
वुष-तुची (कात० ४।२।४७)		२०८, २३८
वृद्धस्य च ज्यः (शाकट० २।३।४८)		२०८, २४६
वृज्जुवृणीष्शासुगुणां क्यप् (का० ४।२।२३)		१६२
शक्तिर्षपवद्विभ्योऽलः		२०२
शं पूर्वभ्यः संशयां अच् (कातन्त्र ४।३।१७)		२१२
शक्तिर्षपवद्विभ्योऽलः (का० ४।२।११)		१६५
		२५४, २५५
शक्ये यः स्वरपत्		१८०
शमादीनां दीर्घो यनि (कात० ३।६।६६)		१४२

शंभामहानां चिनिष् (का० ४।४।२१)	१८
शीतोष्णानुप्रादसह आलुः (शाक० ३।३।४८)	२२३
शुकमगमहनवभू (का० ४।४।३४)	२५६
राण्डिकादिभ्यो ज्यः	२२१
शैफिकोऽय् (पा० ४।३।६२)	१५०
श्वन् सुवन्सघोनां च	१५५
शोऽन्त कर्मणि	२१६
सम्बन्धायौ स्वाने (का० पु० ११३)	२१०, २१३
सम्बन्धायामिदुतौ ह्रस्वादेशे	१६६
समासान्तगतानां वा (का० २।६।४१)	२१२, २५३
सर्वधातुभ्योऽनुन् (शाक० उणादि ६२८)	२११
सर्वधातुभ्यो मन् (का० ३०७७५)	१५१, २३४
सर्वधातुभ्य इः	१८५, १६६ २१२, २१५
सर्वधातुभ्य उः	२१६
सर्वधातुभ्यङ् (शाक० उणादि० ५६८)	२३३
सान्तामहतानोपधाया (का० २।२।१८)	२४६
सिद्धिरिज्वद्भूयानुक्थे (का० ४।१।११)	२५६
सुधाभ्युपधिभितकृति	२४२
सृजिहशोगगमोऽकारः (का० ३।६।२५)	२०८
सृजीष्णनां कर्प् (का० ४।६।४८)	१७५
सृधभ्यां गः	२१४
स्यूलदूरयुवच्चिप्रबुद्धाया (का० पू० ३०२)	२५२
स्फापितञ्चिञ्चिञ्चिञ्चि (शा० उ० १७०)	१७३, २१४, २१६
स्वसुनपुनेभ्रत्वभ्रत्	१७४
स्यञ्च्यदरेयष् (का० २।६।४)	१८५
स्वरवृष्टगमिप्रहामल् (का० ४।५।४१)	१६६
स्वरालस्यो धुटि शुभि वृद्धिस्थाने	२०८
स्वराद्यः (का० ४।२।१०) १६१, १७६, १८०	१८८
स्वरो ह्रस्वो नपुसके (का० २।४।५२)	१६७
स्वत्येति सुपत्यं चेत	१७२
स्वायें अय्	१७५
स्वायें शैपिकं इकष्	१८२
स्त्रियामादा (का० २।४।४६)	२५२
स्त्रियां क्तिः (का० ४।५।७२)	१६०
ह्रस्वाद्योमोऽन्तः (का० ४।१।२२)	२१०, २१३
भ्रतसागरो टीकागत धातुपाठः	
अक अग कुटिलायां गतौ	२२१ २४१
अचरयवयामयमयकषणध्वन शब्दे	२१२, २४८

भ्रत सातत्यगमने	१५१ २३४
भ्र गतौ	१६६ २१५
भ्र स्र गतौ	१६६, २१५
कुथि पुथि लुथि मथि हिवा-संज्ञेरायोः	१६६
कै गै रै शब्दे	१४७
डुघाम् डुभ्रम् धारण-पोषणयोः	२१४
वृहि वृहि वृद्धौ	२०७
वृह वृहि वृह वृहि वृद्धौ	१७२
वृत् वृत् वृत् गतौ	२१८
नाभृ नाभृ उपतापैश्वर्याशीर्षु च	२१६, २१८
नृ नये	२०४
भ्राज् भ्रास्त डुभ्लास्त दीप्तौ	१७४
मल मल्ल धारणे	१६६
मूच्छां मोह-समुच्छ्राययोः	२३५
यज देवपूजासंगतकरणदानेषु	१५४
यध साध संसिद्धौ	१६६
रिष चोवृ आदान-संवरणयोः	१८४
रिषि भ्रपी गतौ	१८४ २१६
रञि भ्रञी भर्जनं	२१४
लोक लोच दूराने	१७४
विचिर पृथग्वाने	१६२
विद् शाने अदादौ	१७१
विद् विचारणे रुधादौ	१७
विद् सत्तायां दिवादौ	१७
विद्वत् लाभे तुदादौ	१७
भ्रुतसागरी टीकागत संस्कृत-पद्यानुक्रमणी	
अकर्ता निगुंथः शुद्धः (यश० ५ २५०) १७४, २३६	
अकर्ताऽपि पुनान् भोका (यश० ५ २५३, १७४, २३६)	
अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः (महापु० पर्व ४२ स्तो० २८) २१७	
अमीप्राधाधनैर्वायां	१६३
अन्वैयमाद्यं सुमना मना (पार्श्व० २)	१६६
अजो मथिसुपाविष्यत्	१६७
अशौ जन्तुरनीशोऽय	१८३
अताम्रनयनोत्पलं (चैत्यम० स्तो० ३१)	२३५
अयोपाध्यायसम्बन्धि	१६४
अयंत्यानेकरूपस्य (अष्टय० उद्धृत २६०) २०६	
अद्वैतं तत्त्वं वदति कोऽपि (यश० ८ ३६८) २४२	
अध्यात्मं बहिरध्याय (आत्ममी० कारिका २) २०१	
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः	१६३, २४०

अनभयनविद्याप्तो (वाग्भयल० ४, ६८)	१६६	इत्थं शकितचिचस्य (यश० ६, २८३)	२०५
अनुभवत पिशत खाद्यत (यश० २, २५०)	२३०	उत्त्रेपावक्षेपा (बह्दशर्न० श्लो० ६४)	२२५
अन्तकः कुन्दको नृपा (स्वयम्भू० ६६)	२१०, २५५	उद्युक्तत्वं तपस्याधिक (आत्मानु० २५५)	१८८
अन्तःक्रियाधिकरणं (रत्नक० १२३)	५५	उर्वरयामुदपादि रागबहुलं (अकलं० ४)	१५८
अन्तर्दुःस्तस्त्वारं (यश० ६, २६६)	२२२	एकस्तम्भं नवद्वारं (यश० ८, ४००)	१४८
अन्वाः पर्यन्ति रूपाणि (समव० ६०)	१५६	एकादशांगद्विसप्त	१६४
अपूर्वकरणेऽप्येवं (महापु० २०, २५५)	१८४	एतत्तत्त्वमिदं तत्त्व (यश० ६, २८३)	२०५
अभिलषितकामधेनौ (यश० आ० ८, ३६०)	२०३	एतामुत्तमनायिकामभिजना (आत्मानु० १२८)	२३४
अन्वरचरकुमारहेलास्फालित	२३६	एतैतेऽप्रतिस्वरितं ज्योति (नन्दी० श्लो १२)	१६४
अग्निहनन-रजोहनन (आचारखार० १)	१५५	एष एव भवेदेव (यश० ६, २८३)	२०५
अलक्ष्यशक्तिर्भूतव्यतेयं (स्वयम्भू० ३३)	२२८	ऐश्वर्यस्य समग्रस्य (अने० ना० ४३)	१५४
अल्पफलबहुविधात (रत्नक० ८५)	२०३	कन्तोः सक्तात्ममि मङ्गमवैति (भूषा० १२)	२३४
अव्यक्तनरयोर्निर्व्यं (यश० ६, २७१)	२३०, २३७	कन्दर्पस्योद्भूरो दर्प (स्वयम्भू० श्लो ६४)	२३४
अश्वकर्णाक्रियावृष्टि (महापु० २०, २५६)	१८४	कमण्डलुमुगाजिनाक्ष (पात्रकेतरि स्तो०)	२३६
अष्टौ स्थानानि धर्याना (पाणि० शि० १३)	१६४	कर्मात्मनो विवेका यः (यश० ८ ४१०)	२४६
असद्वेषविषं घाति (महापु० २५, ४१)	२१७	करणात्रययाथात्म्य (महापु०, २०, २४६)	१८४
असद्वेषोदयादभुक्ति (महापु० २५, ४०)	२१७	करणाः परिष्णामाः ये (महापु० २०, २५०)	१८४
असद्वेषोदयो घाति (महापु० २५, ४२)	२१७	करणे त्वनिवृत्ताख्ये (महापु० २०, २५३)	१८४
असुर्या नाम ते लोकाः (शुक्लय० अ० ४० मंत्र३)	२०८	करतलेन महीतलमुद्धरेत्	१४६
अहमेको न मे कश्चिदस्ति (यश० ६, २८३)	२०५	कायबालप्रदोर्ध्वग (अष्टाङ्ग० श्लो० ५।६)	१६२
अर्द्धचरणसपर्या (रत्नक० श्लो० १२०)	२११	किमु कुवलयनेत्राः	२०६
अर्द्धद्वन्द्व प्रसृतं गणधरचितं	१६२	किं शौच्यं कार्पण्यं (अमोचवर्ष)	१७५
आकर्ण्यचारस्त्रं (आत्मानु० श्लो० १३)	१६४	कुदेवशास्त्रशास्त्र्यां	१५६
आक्रुष्टोऽहं हतो नैव	१८५	कुशेशयसमं देवं (महापु० पर्व १२, श्लो० २६५)	१५७
आचार्याणां गुण्या एते	१६४	कुडाः प्राणहरा भवन्ति (आत्मानु०, १२७)	१४२
आशानागंसमुद्भव (आत्मानु० श्लो० ११)	१६४	कृतकर्मचयो नास्ति	२२८, २३८
आशासम्भक्त्वमुक्तं (आत्मानु० श्लो० १२)	१६४	कृत्वा पापसहस्राणि	२०३
आत्मा मनीषिभिरव (कल्या० श्लो० १७)	२३५	कृष्योऽभावात्मनीष्टौ च	१६२
आत्माऽप्युद्धिकरैर्यस्य (यश० ८, ४११)	१६१	कोटीरातं द्वादश चैव कोट्यो (भुतमक्ति)	२३२
आत्यन्तिकत्वभावोत्था	२१३	को देवः किमिदं ज्ञानं (यश० ८, २६६)	२२२
आद्यश्चतुर्दशदिनेर्बिनिवृत्तयोगः (निर्वा० २६)	२५५	क्षायिकमेकमनन्तं (भुत० २६)	१४६, २४२
आद्येन हीनं जलधावदृश्यं	१६८	क्षुत्पिपासाज्वरतक (रत्नक० श्लो० ६)	१६४, २३५
आफगासागरस्नान (रत्न० श्लो० २२)	१५५	खरत्वं मेहनं स्ताण्यं (सं० पंच० १६७)	२५३
आतासगमाविशुद्धत्वे (यश० ८, २६६)	२२३	गञ्जभसिङ्कमला	१५७
आयात भो मेघकुमारदेवाः (प्रतिष्ठा० २, १३२)	१६३	गणधरचक्रधरेन्द्र (चैत्यम० २६)	२०६
आयतं तस्य पर्यन्ति (बृहदा० ४, ३, १४)	१७६	गत्योरपाद्ययोर्नाम (महा० २०, २५७)	१८४
आशागतः प्रतिप्राणि (आत्मानु० ३६)	१८७	गिरिभित्तबदानवतः (स्वयम्भू० १४२)	१६३, १६८
आशाकम्बकचिचर्त्ति	१८७	गुणदोषाकधी साधोः	१६३
इतीयमात्तमीमांसा (आसमी० ११४)	२५०	गुणाः संयमवीकल्याः (अन० ४, १७३)	१८५, २५१

गोपुच्छिक. श्वे सवास	२४४	देशप्रत्यक्षविकेवल	१८४
गोष्टधान्तनमस्कार (यश० ६, २८२)	१५५	दोषानाकृत्य लोके	१९१
गंगावर्ते कुरावर्ते	१६६	द्वादशवर्तते भवेत् शायः	२४३
चतुर्वर्द्धा. सहस्राणि	१६०	द्युतिमद्रथांगरविबम्बिकरण (स्वयम्भू १२५)	१९८
जम्बूघातकिपुष्करार्धवसुधा (अश्रु० चैत्य०)	२२६	धनिरपि योजनमेकं नन्दीश्वर० २१)	२१५, २४१
जातिर्जाय मृतिः पुंसा (यश० ८, ४१२)	२०६	न कापि वाद्या वधुते (विद्याप० ३०)	१६८, २३७
जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि (यश० ८, ४१०)	१८३	नखचन्द्ररश्मिकवचातिवजिर (स्वयम्भू० १२४)	१८६
जैन नैयायिकं चौडं	२२०	न भुक्तिः क्षीणमांसस्य (महापु० २५, ३६)	२१७
जंघाभ्रेण्यमिशिराला	१५६	न मन्ति पर्वता भाराः	२४५
शानं पूजां कुलं जाति (रत्नक० २५)	१४५, १५६	नात्यद्भुतं भुवनभूयसा भूतनाथ (भक्ताम० १०)	२३५
ततश्चाथ प्रवृत्ताख्यं (महा० २०, २५२)	१८४	नाभावः सिद्धिरिष्टा (सिद्धभ० २)	२३६
तत्त्वे ज्ञाते निपी दृष्टे (यश० ६, २८३)	२०५	नार्यत्यान् धिस्मयान्तर्हित	१५३
ततोऽष्टौ च कार्यास्तात्र (महा० २०, २५८)	१८४	नाईकारवशीकृतेन मनसा (अकलं० १४)	२२३
तत्र परं सत्ताख्यं	२२५	निःकिंचनोऽपि जगते न कानि जिन	१५२
तत्राद्ये करणे नाग्ति (महापुत्र० २०, २५४)	१८४	निजकुलैकमण्डनं	२१५
तत्र रूपस्य सौन्दर्यं (सायम्भू० ८६)	१५८, २३८	नियमां यमश्च विहितौ (रत्नक० ८७)	१८३
तथा धीमन ब्रह्मप्रणिवि (स्वयम्भू० ११७)	२५५	निगमरथाभासुरं	२०१
त्वं लब्धत्वरवोधनन	२३०	निग्रं-धकल्पवनिताव्रतिका	१५६
तत्संस्तवं प्रशंसा वा यश० ६, २६६)	२२३	निग्रन्थाः शुद्धमूलोत्तर	१८४, २०२
तां पार्श्वतीत्याभिजनेन नाम्ना (कुमारस० १, २६)	२१४	निर्वेदनीडवतपद्मपुरात्मभेद	१७५
त्यामेव धीततमसं परिशा० (कल्याण० १८)	१७२	निर्मविशालनयनो (जाम्भ० ४, ३२)	१६५, २१३
तिलसर्पपमारं च (यश० ४, ११५)	१६६	पक्षियां काकचाण्डाल.	१८५
त्रिदशेन्द्रमौलिनगिरजकिरण (स्वयम्भू० ११३)	१८६	पयोत्रतो न दध्यति (आसमी० ६०)	१७१
तुच्छोऽभावो न कस्यापि (यश० ६, २७३)	२२६	परमाणाः परं नाल्यं	२६४
तुंगात्कलं यतदकिंचनाच्च (विद्या० १६)	१८०	पर्याशान्तरयदमंघात (श्रुतम० श्लो० ५)	२३०
तृतीये कल्पेऽयेवं (महा० २०, २५६)	१८४	परीपहादिभिः साधो	१६३
तेषां समासतोऽपि च (श्रुतम० ६)	२३०	पश्यन्ति ये जन्ममृतस्य जन्तोः (यश० ५, ५४२)	२२४
दग्धं येन पुत्रयं शरभुजा (अकलंकन्तो० २)	२१२	पाठो ह्यमभ्यातिथीनां	२४०
दानं प्रियनाकसहितं	१७४	पापमर्यातिधर्मो (रत्नक० श्लो० १४८)	१८०
दानं शीलं ज्ञानि	२०१	पिशाचपरिवारितः पितृवने (पात्रके०)	२३६
दिवाकरसहस्रभासुरं (श्री गौतम)	२००	पुलाकः सर्वशास्त्रशे	१८८
दिशं न काचिद्विदिशं न (सौन्द० १६, २८)	२२५	पंचस्थावररक्षा	१८६
दिशं न काचिद्विदिशं न (सौन्द० १६, २६)	२२५	पंचाचारधरः संघ	१६३
द्वितीयक्षयसम्बन्धि (महा० २०, २५१)	१८०	पंचाचारतो नित्यं	१६५
दीक्षाप्रभृति नित्यं च	१६४	प्रथमोऽप्ययमेव संख्याते	२२८
दुष्टमन्तर्गतं चित्तं	१६७	प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे	१६०, १६२
देवं तत्त्वं प्रमाणं च	२२७	प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो (स्वयम्भू० ७३)	२३४
देवाधिदेवचरणे (रत्नक० श्लो० ११६)	२११	प्रायः पुण्याणि नाभीयात् (सागार० ३, १३)	२१०
देवास्तीर्थकगम्बिकि	२११	कथमोक्षौ रतिद्वौपौ	२२३

शुद्धिसुखदुःखेच्छा (षड्दर्शनसं० ६३)	२०५	रगादिदोगान् सततानुभवकान् (वाग्भट)	१६२
बोधो वा यदि वाऽऽनन्दो	२५०	रेष्याङ्केशराशीना (यश० ८, ४११)	१८५
मर्मिमसमजयबोध (यशस्ति० ६, २६६)	२२२	लोकालोकदशः सदस्यसुकृते	१६८, २४१
मुञ्जानोऽप्युदयं चार्हन्	१६१	लोकैऽन्योन्यमनुप्रविश्य	२४२
संगारतालकलशाश्वजसुप्रतीक	१६५	वपुर्विरुपाक्षमलक्ष्यजन्ता (कुमार० ५, ७२)	२१३
महिक्रागर्मसंभूत	२१०	वर्णागमो वर्णाविपर्ययश्च (का० वृत्ति उद्धृत)	२५२
मनसः शुद्धिविनाशो	१६०	वर्णागमो शबेन्द्रादौ (, ,)	२५२
मनोवाकायदुष्टत्वं	१८६, ६८६	वरपद्मरागकेशर (नन्दोत्तरम० ६)	१६४
मन्दं मन्दं क्षिपेद्वायुं (यशस्ति० ८, ३६६)	१८३	वरोपलिप्तयाऽऽशावात् (रत्नक० २३)	१५६
मल्लिमल्लजये मल्लः	१६६	वशिष्ठापुरिल्लोप (कातंत्र० उ०)	२००, २२६
महोक्तो वा महानो वा (यशस्ति० ७, ३५८)	१६६	विभ्रुगुः कलत्रेषा (यश० ७, ३६६)	२०६
मानसम्भाः स्वर्गसि (महापु० पर्व० ३, १६२)	१६१	विरूपो विकलांगः (प्रभाचन्द्रराषी)	२१४
मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् (स्वयम्भू० ७५)	१६३	विषेकं वेदेयवृषाः (यश० ८, ४१०)	२०६
मिथ्यादृष्टिरभव्यो (समव० स्तो० ५८)	१५६	विषयेभ्यतिवक्तिरियं	१६०
मुखेन किञ्च दक्षिणेन (पात्रके० स्तोत्र)	२३६	वेदायं शानसंपत्ति (यश० ८, ३६०)	१६२
मूढत्रयं मदाश्चाद्यै (यशस्ति० ६, ३२४)	१५५	शब्दात्मिकाया भिजगादिभिर्चिति (दुर्गासिंह कवि)	२१५
मूलप्रकृतिरविकृति (सांख्यतत्त्वकौ०)		शाखां पाण्डितलं सुष्टि	२४३
मैथुनाचरयो मूढ (शाना० १३१२)	२३४	शिवोऽयं वेनतयश्च (शुभचन्द्रसूरि)	२१३
मोहादिसर्वदोषापरि (चैतन्यम० ५)	१५४	शीलं व्रतपरिरक्ष्य (अनगारध० ४, १०८)	१८५ २५१
य इहायुतिसिद्धाना (षड्दर्शनसं० ६६)	२०५	शुद्धबोधभयमस्ति वस्तु यद्	२३८, २५५
यशस्य पशवः मृश्राः (यशस्ति० ४, ६१)	१६७	शुद्धोऽपि देहसम्बद्धो (यश० ५, २५३)	१७४, २३६
यज्ञाद्येन विदारितं (अकलंकरतो० ३)	२०६, २११	शुभ्रया श्रवणं चैव (महापु० १, १४६)	१५०
यत्रैकापि स्फुटयति नष्टद्	१६५	शोभा तमोऽर्कभाषायां	२२०
ययोरैव समं त्रिजं	२५१	शौचमज्जनमाचामः (यश० ६, २६६)	२२२
यस्य शानदशासिन्धो (अमरको० १, १)	१५३	श्रुतिशाक्यशिवाम्नायः (यश० ६, २६६)	२२२
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि (शुक्लयजुर्वेद० ४०, ६)	१८३	श्रोत्रिमार्दवभीतत्व (सं० पंचसं० १६६)	२५३
यानि ह्यौपसल्लिगानि (सं० पंचसं० १६८)	२५३	शडंगानि चतुर्वेदाः (मनुस्मृति)	१५०
यावज्जीवेशुखं जीवेत् (यश० ५, २५३)	२२४	शष्पास्योगी मासद्वि	१६४
येनोर्ध्वंशृंगगिरिनार० गिराविनापि	२१७	शष्पाः क्षितेस्तृतीयेऽस्मिन् (यश० ७, ३७०)	२१२
ये वीरपादौ प्रथमन्ति नित्यं (वीरमार्क ३)	२००	शोडशशतं चतुस्त्रिंशत् (भुतम० ३३)	२३१
योऽज्ञस्तेनेषु विश्वस्तो (यश० ८, ४११)	१६१	सप्तन्याऽऽऽऽग्मदिवानां (रत्नक० २४)	१५६
योगतो हि लभते विभन्धनं (पद्मनन्दि)	१६२	सतां सप्तपदं मैत्र्यं	२५२
यो न च याति विकारं	१३४, २००, २४६	सत्कायं संख्य कपिलौ	२३३
यो इत्याशः प्रशान्ताशः (यश० ८, ४१०)	२०५	सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं	१४६, २२२
यः पापपाशानाशाय (यश० ८, ४११)	१८५	स द्विजो यो न जन्मवान्	२१७
यः श्रुत्वा द्वादशांगीं (आत्मानु० १४)	१६४	सद्यो जातश्रुतिं विभ्रत (महा० १४, ३७)	१८०
रत्नत्रयपरिप्राप्ति	१५३	सन्तानो न निरन्वये किंसदृशे (यश० ५, २५६)	२२३
रागद्वेषौ यदि स्यातां	१८०	सप्तग्रामेषु यत्पाप (यश० ४, ११६)	२१०

सखा निचयो देव्यः (महा० ३७, १४३)	२१९	कम्महं दिदधणचिकण्णहं (परमा० १, ७८)	२१०
सर्वथा नियमत्यागी (स्वयम्भू० १०२)	१६७, २३३	गहं इदियं च काये (गो० जी० १४१)	१५६
सर्वध्वनिजन्य	१७१	छतीरा तिण्णत्तया (भावपा० २८)	२३७
सर्वः प्रोचति सत्सु (आत्मानु० ६)	३३६	अहया होहिसि पिच्छा	१५०, २२१
सामान्यशास्त्रतो नूनं	२५४	जीवा जिणवर जो मुण्णइ (योगीन्द्रदेव)	१४८
साम्यं स्वास्थं समाधिम्	१८२	जीवो उवन्नोगमन्नो (द्रव्यसं० २)	१७४
सारंगी सिद्धारां	२०८	अं मुण्णि लहवि अर्यत्तु सुहु (परमा० १, ११७)	१८७
सत्तमीकृतं ततो लोभं (महा० २०, २६०)	१८४	य कुण्णइ पक्खवायं (गो० जी० ५, ६)	२५२
सुगतो यदि सर्वज्ञः	१५०, २३६	यात्थम्मि भावणा ललु (समयसा० ११)	२४२
सुहृत्त्वयि श्रीसुमगलमरनुते (स्वयम्भू० ६६)	१६३	यासविण्णिगात्त सासडा (परमा० २, १६०)	१८३, २४७
सूर्याधो ग्रहणत्पानं (यशा० ६, २८२)	१५५	विच्चण्णिगोदपन्नजत्तयस्स (गो० जी० ३१६)	२३०
सुजति करोति प्रणयति	१६३, २०८	योगामावे बैल्लि जिमि (परमात्मप्र० १, ४७)	१७३
सोऽहं योऽभवं बालवयसि (यशा० ५, २५६)	२२३	योरइय भववावासिय	१४६
संयोगमूला जीवेन (सं० सामा० ११)	१८२	तित्थयरा तप्पियरा	२०२
स्नातकः केवलशानी	१८८	ते पंदत्त सिरिसिद्धराय (परमात्मप्र० १, २)	१४८
स्पर्शरसगन्धवर्षाः (षट्दर्शनसमुच्चय ६२)	२२५	दंसणपुत्वं गार्या (द्रव्यसं० ४४)	१४६
स्फुरदरसहस्रधरं (नन्दीश्वर० श्लो० १३)	१५१	धण्णुचीसड दत्त य कदी (गो० जी० १६७)	१७६
स्याद्वादकेवलशाने (आत्ममी० १०५)	२४१	धम्मो वत्थुसहावो (स्वामिकात्ति० ४७६)	१७०
स्वर्गदिनमानसंवत्सर (दुर्गासिंह)	२५४	धिदिवंतो खमज्जतो	१६१
स्वितिकल्पं श्युकल्यागी	१६४	निच्चिरा तत्तत्तवा	१८८
स्वितिकनननिरोधल० (स्वयम्भू० ११४) २०८, २२२		पुवण्णे मज्जण्णे (स्वामिका० ३५४)	१७०
स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिंडितेन (कल्याणम० २७) २०२		जुद्धि तवो वि य लदी (वसु० भाव० ५१२)	१७५
इकारं पंचमैर्युक्तं (पाणिनीयसिद्धान्त श्लो० १४) १६४		भवत्तण्णभोयविरत्तमण्णु (पर० प्र० २, ३२) १४१, १८२	
इलभुच्च ते स्वजनभक्ति (स्वयम्भू० १२६) १६६		मण्णवययकायसुण्णो	२४७
हिंसाऽनृतं तथा स्तेयं	१८६, १८६	मण्णुमिलियत्तं परमेसरहो (पाहुडदो० ४६)	१६३
इयः प्रातो मरुदपि भव० (एकीभाव० १०) २४०		महु आसइत्त थोडत्त (सावयधम्म० २३)	२१०
धुतसागरीटोकागतप्राकृतपयाजुक्रमणिका		महु लिधिवि मुत्तइ	२१०
अद्भुतसदलवा (गो० जी० ५७४)	२५३	मिच्छो सासणमित्तवो (गो० जी० ६ पं० १, ४)	१५६
अण्णोण्यं पविस्तंता (पंचास्तो ७)	२२८	मंदं गमण्यं मोअं च	२१६
अरहंतभाषियर्थं (सुत्रपा० १)	१६४	रिसिणो रिद्धिवण्णा	१८५
अरहंता छायाला	१६३	लकाडिया केण कजेण	२४६
असरीग जीवधना (तत्त्वसं० ७२)	२५६	वत्ताण्णुहाणो जण्णुधयादायो (प्रा० देव० पूजा)	१४६
आर्कपिय अण्णुमाणिय (भग० आ० ५६२) १८६, २४८		वत्थुसहावो धम्मो	१७०
आवलि असंखलमया (गो० जी० ५७३)	२५३	वदसमिदी गुचीओ (द्रव्यसं० ३५)	१६०
इगतीस सत्त चत्तारि (त्रिलोकसा० ४६२)	२०१	ववहारो भूदत्थो (समयसार ११)	२२४
इत्थिविखयाहिलावो (भग० आ० ८७६)	१८६	विकहा तह व कसाया (गो० जी० ३४)	१८२
इत्थीर्यं पुण्य दिक्खा (दर्शनसा० ३५१)	२४४	वियल्लिदिए अवीदी (भावपा० २६)	२३७
इह परलोयचार्यं (मूला० ५३)	१४५	सकार पुरकारो	१८६
उत्कलं खीयामोहो (गो० जी० १०, १५)	१५६	सण्णित्तस वार सोदे (गो० जी० १६८)	१७६

सव्यङ्गु अर्धदिठ शायामल (लंड कवि०)	{ १४७, १५२ २११, २४०
सुरयण साहुकारो	२०१, २१६
सेर्वकरो व आसंबकरो व	२४४
संसारसंभवायां जीवायां	१७१

श्रुतसागरी टीकागत अनेकार्यक

पद्यानुक्रमशिक्षा

अक्षमिन्द्रियमित्युक्तं	१८७
अधिभूर्नायको नेता	१७३
अप्यापनं ब्रह्मयसः	१६३, २४०
अव्यक्तमधुराप्याने	१५७
अः शिषे केशवे वायौ (विश्वप्रकारा)	२३५, २५३
अर्हिद्यादौ तथा न्याये	१६३
आत्मनि मोक्षे ज्ञाने (यश० ६, २६६) १४६	१८८, २१८
आरोहणं स्वात्मोपानं	१५४
आशाब्धकचिचर्तितं	१८७
इति कर्तव्यतायां च	१८६
उच्चदेशे स्थले	१६७
उपाययज्ञौ विद्वान्त	१६६
उपाये मेपजे लब्ध	२४५
श्रुशब्दः पावके सूर्ये	२०३
करौनं प्रति रथस्यावयवे	२०५
ज्योतिश्चक्षुषि तारके (धन० अ० ना० ०६)	१५६
तत्त्वे पुनान् मनः पुंसि (यश० ८, ४११)	१८२
तत्त्वे रते च गुह्ये च रहः	१४८
दयायां दमने दीने	१८७
दर्शनं क्षीरजो योनिः	१६६
द्वे दाने पूजने क्षीणे (विश्वशम्भुमुनि)	१८७
घने वृद्धौषधे रजे	१५७
घातु तेजो बलं दीप्ति	१५७
नपुं सकेऽक्षरं तुच्छे	२०५
निश्चयेऽवयवे प्रान्ते	२४४
पः सूर्योपयो वह्यौ	१६७
पालने च गतौ कान्तौ	१६२
पाराकं शकटं क्रीलो	१८७
पुरःश्रेष्ठे दशस्त्रेव	१७५
पृथुं सूनुं दृढं चैव	१८१
प्रधाने च परच्छेदे	१८६
प्रवेशे च क्रियायां च	१६२

प्रान्तसंघातयोर्मिज्ञा	१७५
भूर्तिर्विभूतिरेक्षर्यम्	२४१
मत्सलिका मन्चरिका (अमरदत्त)	१४७
मत्स्यानि चोपनिषदि	१६३
मल्लिका शीतमीरुष (अमरदत्त)	१४७, १६६
मोक्षे मुधायां पानीये	१६८
मो मंत्रे मन्दिरे माने	२०१
मं मौलौ मोऽवभृत्तौ मं	२०१
स्तायनेऽग्ने च स्वर्गे	१६८
वक्षोविभूषण्यो साष्टशते	१५८
वस्तुद्रव्यप्रकाराभिषेयेषु	१६७
वार्षिकी त्रिपुटा त्र्यह्ला (धन्वतरि वैद्य)	१६६
विदोषेऽपि पुमानेव	१८७
विष्कम्भादौ तनुस्यौ	२४५
वेदोर्विदितं विन्तेर्विदं	१४१
वो दन्त्योऽस्त्योऽस्त्यश्च (विश्वप्रकारा)	१६८
वन्दने वन्दने वादे	१६८
शब्दप्रवृत्तिवैदुष्य	१६२
शस्ये स्वभावेऽप्यधरे	१६८
श्वेतद्रव्येऽशने वापि	१८७
शोभा तमोऽर्कभार्यायां	२२०
षोडशोऽशो विषोमूलं	१५७
सत्तायां मंगले वृद्धौ १५१, १७२, १७३, २०३, २०५	
सत्ता स्वभावो जन्तुश्च	१६२
सूर्येऽग्नौ पवने चित्ते	१४८
इस्ति किन्दौ मतं पद्यं	१६७

श्रुतसागरीटीकोद्घृत-सूत्रवाक्यांशसूची

अग्निमुखा वै देवाः	२४०
अग्निद्वोमेन यजेत स्वर्गकामः	२४०
अग्नीध्र-पैतृ-प्रशास्तु	१६३
अतोऽन्यत्पापम् (तत्त्वा ०८, २६)	१६०
अन्यासविकारेण्यवाधो नेत्सर्गो बाधते	२३८
अम्बत्तरकुमारद्वेला (यशस्ति ० ८, ३८४)	२३६
आसन्ननिरोधः संवर (तत्त्वा ०६, १)	२४६
इषेत्योर्जित्वा वायवः स्थ देवो वः (शुक्लय० १, १)	१८६
श्रुषयः सत्यवचसः	१६६
ॐ भूर्भुवः स्वस्तत्सवितुर्वरेण्यं (गायीत्रीमंत्र)	१६१
ॐ ह्रीं श्रीं वासुपुण्याय नमः	१६८
कचिन्न लुप्यन्ते विमकयः	१५१, १७१, २२०

श्लेषलोमभीकल (तत्त्वार्थ० ७, ५)	२२६
गोक्षये ब्राह्मणो गोक्षयेनेहवा	१६६
चिन्ताभोगो मनस्कारः	१५३
बलबुद्धदस्वभावेषु जीवेषु	२२४
ततो नान्यः परमगुह (तत्त्वार्थस्थे०)	२०६
वदेन्नति तन्नेजति (शुक्लयजुर्वेद ४०, मं० २)	१६२
दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता (तत्त्वार्थ० ६, २४)	२२६
देवः सवितः प्रसुव यमं (शुक्लय० ४०, १)	१६१
दृष्टव्योऽरेऽयमान्ना श्रोतव्यो २२८, २४०, २४६	२२८, २४०, २४६
नमः सिद्धेभ्यः	१६३, २०४
निमित्ताभावे नैनिकित्याप्यभावः	२३५
पुलाकचक्रशकुशील निर्ग्रन्थ (तत्त्वा० ६, ४६)	२०२
प्रसंख्यानपविपावकलुहानुत्थान २१४, २३४, २५४	२१४, २३४, २५४
ब्रह्मचारी सदा शुचिः	१६६
ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं (शुक्ल० ३०, ५)	१६३
	१६६, २५२
ब्राह्मणो न हन्तव्यः, सुरा न पेया	१६६
ब्राह्मोदनं पचति	१६२
भाविनि भूतवदुपचारः	२०३
मनोशामनोशैन्द्रिय तत्त्वार्थसू० ७, ८)	२२६
मोहज्ञयाज्जानदर्शनावरणा (तत्त्वा० १०, १)	२१४
वाचन्तो गत्यर्थाः धातवस्तावन्तो ज्ञानार्थाः	२४१
येनायं दृष्टस्तेन सर्वं दृष्टम्	२२८
वाङ्मनोगुतीर्वादान (तत्त्वार्थ० ७, ४)	२२६
विजयादिषु द्विचरमाः (तत्त्वार्थ० ४, २६)	२१८
शून्यागार्यमोर्चितावाच (तत्त्वार्थसू० ७, ७)	२१६
सद्वेषशुभायुर्नामगो (तत्त्वा० ८, २५)	१६, ३३८
समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दाः अवयवेषु वर्तन्ते	१५४
सम्यग्दृष्टिभावनविरतानन्त (तत्त्वा० ६, ४५)	२४६
स यदा दुःखचयोरत्यतसचेता	"
सर्वद्वन्द्वपर्यायेषु कवलस्य (तत्त्वा० १, २६)	१५१
सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था (५१, १६६, २१८)	५१, १६६, २१८
सहस्रशीर्षः सहस्रपात्	१५२
सोपस्कराणि वाक्यानि भवन्ति	१४१
स्त्रीरागकथाश्रवण (तत्त्वार्थसू० ७, ८)	२२६
स्त्रीषु अक्रुद्धेन भक्षितव्यम्	१४२
संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिस्तु यथाकथञ्चित्	२१६
संयमश्रुतप्रतिषेधनातीर्थलिंग (तत्त्वार्थ० ६, ४७)	२०२
इयाय कारिमानं दायकीपत्वं	२०१

श्रुतसागर-विरचित-पद्यानुक्रमसूचिका	
अकलंकपुण्यपादा	१६५
अथ जिनवरचरणयुगं	२४४
अथ बुद्धराते टीकां	२२०
अथ विद्यानन्दिगुहं	२०७
अदः पङ्के महादिकमत	२५८
अहन्तः सिद्धनायास्त्रिषिध	"
अस्ति स्वस्तिसमरतसंधातिलकं	"
अस्मान्मनं सुविदुषां	"
इतोह बुद्धादिशतं निदर्शनं	२४३
जिह्वाग्रे वस्तु सदा	२४४
प्यात्वा विद्यानन्दं	१४१
नाथशतमेतदित्यं	१८१
नामसहस्रज्ञानं	१७२
यदि संसारसमुद्राद्बुद्धिमो	२०७
यो नामानि जिनैर्यवस्य	"
विद्यानन्दिसुनीन्द्रात्	१८१
विद्यानंथकलंकं	१७२
विद्यानंथकलंकप्रौढम	२२०
शब्दरत्नेषुप्रथमप्रभेदो	२२०
श्रीपद्मनन्दिपरमात्म	२५८
श्रीवीरगीतमगुणाधिककुन्दकुन्द	१६५
श्रीश्रुतसागरगुण्या	"
श्रुतसागरकृतिवचनाना	२५८
सर्वशत्रुचरचना	१५४
श्रुतसागरी टीकागत-पौराणिक नामसूची	
कच्छ	२४२
महाकच्छ	"
वृषभनाथ	"
श्रुतसागरी टीकागत-ग्रन्थनाम सूची	
अश्वमेध	१६२
आसमीमांसा	२४६
एकाक्षरनाममाला	१८७
कुमारसम्भव	२१३
गोमट्टसार	१५६, २५०
चारित्रसार	१५५
तर्कपरिभाषा	२२६
तत्त्वार्थतात्पर्यवृत्ति	२०२

परिशिष्ट

२८५

त्वयार्थश्लोकवार्तिकालंकार	१६६, २०६, २४२	पद्मनन्दि	१६२
त्रिलोकसार	२०१	पात्रकेवरी	२००, २३६
देवागमस्तुति	२५५	पूज्यपाद	१४६, १६३, २१७
देवागमालंकार (अष्टसङ्ख्यी)	१६६	प्रभाचन्द्र	२४०, २३३
नन्दीश्वरभक्ति	१६३	प्रभाचन्द्रगणी	२१४
निवक्त (यशस्तिलक)	२०५, २०६	भद्रबाहु	१६५
निवक्तशास्त्र	१६१	भोजराज	२३४
निवक्तिशास्त्र	२४६	मदनकीर्ति	५७, १४२
नेमिस्तुति (स्वयम्भूस्तोत्र)	१६८	मल्लिभूपत्य	२२०
न्यायकुमुदचन्द्र	१६६, २३३	महावीर	५७, १४२, २२०
न्यायविनिश्चयालंकार	१६६	मानतुंग	२३५
प्रमेयकमलमार्तण्ड	१६६	मुनीन्द्रभूपत्य	२२०
महापुराण	१५७	योगीन्द्रदेव	१०८
मूलाचार (अनागारधर्माभूत)	१८५	लक्ष्मीचन्द्र	२२०
रत्नकरण्डक	२०३	वाग्भट	१६६, १६१
विश्वप्रकाश	१६७, १६८, २३१, २५३	विद्यानन्दि	१६५, २०७, २२०
सङ्गोचन्द्रोदय	१६२	विश्वशम्भुमुनि	१८७
समयसार	२२४	वीरनन्दि	१६२
संहिता	१६१, २१८	शाकटायन	२३३
श्रुतसागरीटीकागत-ग्रन्थकारनामसूची		शुभचन्द्र	२१३, २३३
अफनक	१५८, २६, २११, २००, २२३	श्रीपाल	२२०
अ-रदत्त	२५७	समन्तभद्र	{ १५८, १६५, २०३, २२०, २२१, २३३, २३४, २३४
अमोघवर्ष	१७१	सोमदेव	१६८
आशाचर	१५३, १७५	श्रुतसागरीटीकागत दार्शनिकनामसूची	
उदयसेन	५७, १४२	काथाद	२२७
उमास्वामी	२१४	चार्वाक	२२७, २४१
कालिदास	२०३, २१४	जैमिनीय	२२७
कुन्दकुन्द	१६५, २२०, २२१, २४८	नास्तिक	"
कुमुदचन्द्र	२३५	नैयायिक	२२६
कान्यपिशाच	१४७	पाशुपत	"
खण्डमहाकावि	२७०	बृहत्पति	२४१
गुणभद्र	१८८	बौद्ध	२२७
गौतमस्वामी	{ १५४, १६५, २०० २१०, २२०, २३५	भाट्ट	"
चासुण्डयय	१५५	मरीचिदर्शन	"
जिनचन्द्र	१६५	मीमांसक	"
जिनसेन	१८४, २१६, २१७, २२०	रक्तप्रतिभु	"
दुर्गासिंह	२१५, २५४	लोकायतिक	"
देवनन्दि	१५१, २१५, २४१	वैशेषिक	"
देवेन्द्रकीर्ति	१६५	शैव	"
धन्वन्तरिविद्य	१६६	सांख्य	"
नेमिचन्द्र	१५६, २५२		

ग्रन्थनाम-संकेतसूची

अकलंकरस्तोत्र	अकलं० स्तो०	पंचसंग्रह संस्कृत	पंच० सं०
अनगरधर्मामृत	अनगा०	पंचास्तिकाय	पंचास्ति०
अमरकोश	अमरको०	बृहदारण्यक	बृहदा०
अष्टशती	अष्टश०	भक्तामरस्तोत्र	भक्ता० स्तो०
आचारसार	आचार०	भगवती आराधना	भग० आरा०
आप्तनीर्मासा	आप्तमी०	भावपाहुड	भावपा०
आत्मानुशासन	आत्मानु०	भूपालचतुर्विंशतिका	भूपालच०
एकीभावस्तोत्र	एकीभा०	मनुस्मृति	मनु०
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	कल्याण०	महापुराण	महापु०
कातन्त्रव्याकरण	का०, कातं०, कातंत्र०	मूलाचार	मूलाचा०
कुमारसम्भव	कुमारसं०	यशस्तिलक	यश०, यशस्ति०
गोम्भटसारजीवकाण्ड	गो० जी०	रत्नकरण्डभावकाचार	रत्नक०
चैत्यमक्ति	चैत्यम०	वसुनन्दिभावकाचार	वसु० आ०
जैनेन्द्रव्याकरण	जै०, जैनेन्द्र०	वाग्भटालंकार	वाग्भटा०
शनार्थव	शाना०	विद्यापहारस्तोत्र	विद्याप०
तत्त्वसार	तत्त्वसा०	वीरभक्ति	वीरभ०
त्रिलोकसार	त्रिलो०	शाकटायन उषादिसूत्रपाठ	शाक० उषा०
दर्शनसार	दर्शन०	शाकटायन व्याकरण	शाक० व्या०
देवागमस्तुति	देवाग०	शुक्ल यजुर्वेद	शुक्लयजु०
द्रव्यसंग्रह	द्रव्य०	श्रुतभक्ति	श्रुतभ०
धनंजय अनेकार्यनाममाला	धन० अ० ना०	षड्दर्शन समुच्चय	षड्दर्श०
नन्दीश्वरभक्ति	नन्दी०	समयसार	समयसा०
निर्वाणभक्ति	निर्वा०	समयसरणस्तोत्र	समव०
परमात्मप्रकाश	परमा०	सावयधम्मदोहा	सावय०
पाणिनीयशिखा	पाणि० शि०	सूत्रपाहुड	सूत्रपा०
पाहुडदोहा	पाहु०	सौन्दरानाट	सौन्दरा०
पात्रकेसरस्तोत्र	पात्रके०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	सां० त०
प्रतिष्ठासारोद्धार	प्रतिष्ठा०	संस्कृतसामाधिकपाठ	सं० सामा०
पार्श्वनाथस्तोत्र	पार्श्व०	स्वयम्भूस्तोत्र	स्वयम्भू०
प्राकृतदेवपूजाजयमाला	प्रा० देवपू०	स्वामिकार्तिकियानुप्रेक्षा	स्वा० का०
पंचसंग्रह प्राकृत	पंच० प्रा०		



ज्ञानपीठके सांस्कृतिक प्रकाशन

[प्राकृत, संस्कृत ग्रंथ]

१. महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्त शास्त्र]—प्रथम भाग, हिन्दो अनुवाद सहित १२)
२. महाबन्ध—[महाधवल सिद्धान्तशास्त्र]—द्वितीय भाग ११)
३. करलक्ष्ण [सामुद्रिक शास्त्र]—इस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ [स्थाक समाप्त] १)
४. मदनपराजय [भाषानुवाद तथा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना] ८)
५. कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची १३)
६. न्यायविनिश्चयविचरण [प्रथम भाग] १५)
- ७ न्यायविनिश्चयविचरण [द्वितीय भाग] १५)
८. तत्त्वार्थवृत्ति [भुतसागर सूरिचित टीका । हिन्दी सार सहित] १६)
९. आदिपुराण भाग १ [भगवान् श्रृपमदेवका पुण्य चरित्र] १०)
१०. आदिपुराण भाग २ [भगवान् श्रृपमदेवका पुण्य चरित्र] १०)
११. नाममाला सभाष्य [कोश] २॥)
१२. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि [ज्योतिष ग्रन्थ] ४)
१३. सभाष्यरत्नमंजूषा [छन्दशास्त्र] २)
१४. समथसार—[अंग्रेजी] ८)
१५. धिककुरल—तामिल भाषाका पञ्चमवेद [तामिल लिपि] ४)
१६. वसुनन्दि-ध्रावकाचार ५)
१७. तत्त्वार्थवार्तिक [राजवार्तिक] भाग १ [हिन्दी सार सहित] १२)
१८. जातक [प्रथम भाग] ६)
१९. जिनसङ्घनाम ४)

[हिन्दी ग्रन्थ]

२०. आधुनिक जैन काष्ठ [परिचय एवं कविताएँ] ३॥)
२१. जैनशासन [जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करनेवाली सुन्दर रचना] ३)
२२. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न [अध्यात्मवादका अद्भुत ग्रन्थ] २)
२३. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास २॥॥)

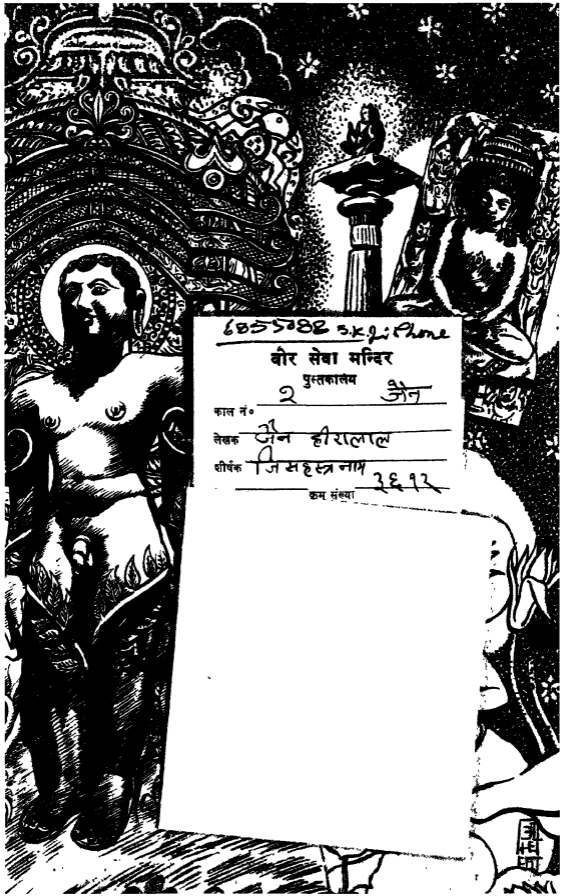
भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ५

ज्ञानपीठके सुरुचिपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी—हमारे आराध्य [ख्यातिप्राप्त विदेशी महापुरुषोंका जीवन-परिचय]	३)
संस्मरण [भारतके नेताओं साहित्यिकोंके मधुर संस्मरण]	३)
रेखाचित्र " " "	४)
श्री अबोध्याप्रसाद गोयलीय—शेरोशायरी [उर्दूके महान् : १ शायरीका परिचय]	८)
शेरोसुखन [चारों भाग] [उर्दू शायरीका प्रामाणिक इतिहास]	१७)
गहरे पानी पैठ [मर्मस्पर्शी छोटी कहानियाँ]	२॥)
जैन-जागरणके अग्रदूत [संस्मरण]	५)
श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आकाश के तारे : धरती के फूल	२)
जिन्दगी मुसकराई [इन्सान बननेकी कुर्जा]	४)
श्री मुनि कान्हिसागर—खण्डहोका भ्रम [मूर्तिकला, चित्रकला आदिपर अणों देखी शोध-खोज]	६)
खोजकी पगडंडियाँ	४)
श्री राजकुमार वर्मा—रजतर्गम [एकाङ्की नाटक]	२॥)
श्री विष्णु प्रभाकर—संघर्षके बाद [कहानियाँ]	३)
श्री राजेन्द्र यादव - खेल खिलाड़ियों [कहानियाँ]	२)
श्री मधुकर— भारतीय विचारधारा [दर्शनशास्त्र]	२)
श्री सम्पूर्णानन्द जी - हिन्दू विवाहमें कन्यादानका स्थान	१)
श्री हरिवंशराय 'बृष्चन' - मिलनयार्मिनी [गीत]	४)
श्री अनूप शर्मा—सङ्गमन [महाकाव्य]	६)
श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी—पर्याचङ्क [संस्मरण]	२)
श्री वीरेन्द्रकुमार एम० ए० - मुक्तिदूत [धार्मिक उपन्यास]	५)
श्री रामगोविन्द त्रिवेदी - वैदिक साहित्य [वेदों पर अधिकार पूर्वक हिन्दीमें प्रथमवार अध्ययन]	६)
श्री मेदिनीचन्द्र ज्योतिषाचार्य - भारतीय ज्योतिष [ज्योतिषकी हिन्दोंमें महान् पुस्तक]	६)
श्री जगदीशचन्द्र जैन - दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ	३)
श्री नारायणप्रसाद जैन—ज्ञानगंगा [सुक्तियाँ]	६)
श्रीमती शान्ति एम० ए०—पञ्चप्रदीप [गीत]	२)
श्री 'तन्मय' बुखारिया—मेरे बापू [महात्मा गाँधीके प्रति श्रद्धाञ्जलि]	२॥)

मुद्रक—शिवनारायण उपाध्याय वी० ए०, 'विशारद', नया संवार प्रेस, मईनी, बनारस ।





685588 B.K. Phone

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० 2 जैन

लेखक जैन हीरालाल

शीर्षक जि सहस्र नाम

क्रम संख्या 3692